ऋत की धुरी

निरंजनलाल गोयनका

प्रकाशक
अणिमा प्रकाशन
पुलिस स्मारक, जयपुर-४

समर्पण

अम्मा !

तेरे द्वारा प्रदत्त प्रसाद तेरे ही श्री चरणो मे समर्पित है। तेरे अकिंचन कनिष्ठ पुत्र के इस तुच्छ उपहार को स्वीकार कर लोगी ना ?

मेरा शरीर आज भी तेरे रक्त से ओत-प्रोत है। माँ, अपना शुभ आशीर्वाद प्रदान करोगी ना ?

माँ,
तेरा किंकर
निरंजन

प्राक्कथन

मेरे मित्र श्री शरद देवडा 'अणिमा' के सम्पादक है। इन्होने ही मेरी प्रथम पुस्तक 'व्यक्ति और सघंष' का सम्पादन किया था। जब उक्त पुस्तक प्राय छप चुकी तो उन्होने कहा कि अपनी तीन आगामी पुस्तको के नाम भी तय कर लीजिये। मैंने उत्तर दिया, 'भाई, मैं तो लेखक नही हू। कोयला जैसे खनिज पदार्थ के उद्योग मे जीवन व्यतीत करने वाला इतनी पुस्तके कैसे लिख सकता है। और इस समय तो कोई खास विषय भी मस्तिष्क मे नही आ रहा जिसका नामकरण किया जा सके। हाँ, एक बात तो है। अंग्रेजी मे कुछ कविताए लिखी पडी हैं और थोडी-बहुत और कविताए लिखकर इनको पुस्तक रूप दिया जा सकता है। इस पुस्तक का नाम 'Inner call' रखा जा सकता है। और शेष दो पुस्तको का नाम क्या होना चाहिये बुद्धि साथ नही दे रही। यह कैसी विडम्बना है कि बच्चा गर्भाशय मे ही नही और उसके पहले ही उसके नामकरण-सस्कार का आग्रह!'

किन्तु हमारे श्रीमान्‌जी मानने वाले कहा थे! हठात् मेरे मुख से निकल पडा—'ऋत की धुरी'!

और यह नाम हम दोनो को ही बहुत आकर्षक लगा। उन्होने कहा कि नाम से ही पता चलता है, यह पुस्तक अपने आप मे एक ही होगी। मैं कहने लगा कि केवल नामकरण से क्या होता है। इस नाम को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त साधन जुटाने की आवश्यकता है, जोकि दृष्टिगत नही हो रहे है। किन्तु उन्होने तो इस नाम से पुस्तक का 'व्यक्ति और सघर्ष' मे विवरण भी दे ही तो दिया।

अब जो भी व्यक्ति मेरी 'व्यक्ति और सघर्ष' पुस्तक पढते वही मुझसे पूछते, यह 'ऋत' की धुरी क्या बला है ! कही 'ऋतु' की धुरी तो गलती से ऐसा नही छप गया है ?

यह सुनकर स्मित कि हल्की-सी रेखा मेरे ओठो पर खेल जाती । मैं उत्तर देता, 'ऋत वेद वाङ्मय का का शब्द है । इसका विशद विवेचन अपेक्षित है ।'

और यही बात खत्म हो जाती ।

अब मै 'ऋत' के साहित्य की खोज मे लगा । इधर-उधर पूछताछ करने पर भी इस पवित्र पदार्थ का पता न चला । हिन्दी साहित्यकार भी मेरे पथ-प्रदर्शक नही बन सके । सम्भवत हिन्दी साहित्य इस ऋत शब्द मे अब तक अछूता ही रहा है । दूसरी बात यह है कि हिन्दी साहित्यकार हिन्दी मे सस्कृत शब्दो के समावेश के पृष्टपोषो नही है । ठीक भी है, सस्कृत शब्दो के समावेश से हिन्दी भाषा क्लिष्ट हो जाती है, और अपना प्रसाद गुण खो बैठती है । फिर मैंने वैदिक साहित्य के विद्वानो की शरण ली । किन्तु वे भी मेरा उद्धार करने मे असमर्थ ही रहे । वे इतना तो इगित कर सके कि यह ऋत शब्द वेदो और उपनिषदो मे कई स्थानो पर प्रयुक्त हुआ है, लेकिन इसके आगे वे मूक बने रहे । थोडे काल मै चुपचाप बैठा रहा किन्तु निरुत्साहित न हुआ; फिर खोज मे निकला किन्तु सफलता की झलक किसी भी दिशा मे न मिल सकी । इतना मै 'उससे' जरूर कह देता कि यह तेरा ही गुप्त रहस्य है, बता न बता, तरी इच्छा है । अन्तरध्वनि होती रहती—'साहस न खो, प्रयत्नशील बना रह, जिन खोजा तिन पाईया उक्ति की रट लगाता जा, एक दिन निर्दिष्ट पथ के दर्शन पा जायेगा ।'

शहरो से दूर प्रकृति की गोद मे कोयला खानो वाले अपनी-अपनी कॉलोनी बनाकर उसी मे सिमटे रहते हैं, अर्थात् जन-सपर्क से जुदा रहते हैं और आवश्यकता पडने पर ही उससे बाहर जाना होता है । इस कारण मेरा सपर्क बाहरी दुनिया से प्राय विलग ही बना रहा । किन्तु 'उसकी' सृष्टि रहस्यमय है । एक दिन हठात् मेरे मुरब्बी सर-परस्त परम हितैषी परम् प्रिय भाई किशनलाल जी पोद्दार ने प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार द्वारा रचित 'एकादशोपनिषद्' की एक प्रति भेज ही तो दी और उसे पढने का आग्रह करते हुये एक अनुज्ञा-पत्र भी । भाईजी स्वय बडे अध्ययन एव मननशील व्यक्ति हैं और बीच-बीच मे सुन्दर-सुन्दर पुस्तको से मुझे उपकृत करते रहते हैं, तदर्थ मैं इनका बडा कृतज्ञ हू । मैने इस पुस्तक का अध्ययन किया, किन्तु प्रथम बार मेरे कुछ

विशेष पल्ले न पडा। फिर भी मै हताश न हुआ। कुछ समय पश्चात् फिर हिम्मत की और इसका अध्ययन शुरू किया, तो कुछ-कुछ समझ मे आने लगा। फिर तो उत्साह बढने लगा और दत्तचित्त हो कर इसका अध्ययन करता रहा। इसमे 'ऋत' शब्द के प्रति मार्ग-दर्शन तो मिल गया।

अव्यक्त प्रकृति मूक और निष्क्रिय है किन्तु जब ब्रह्म ने ईक्षण किया, तो अव्यक्त प्रकृति क्षुब्ध हो चली और इसके तीनो गुण सत, रज, तम—जो साम्य अवस्था मे बने हुये थे—विषम अवस्था को प्राप्त हो गये, फलत बडा भारी विस्फोट हुआ। बडी प्रचण्ड शक्ति का सचार हुआ, और वही शक्ति इस विश्व की रचना मे उपादान कारण बनी, किन्तु यह शक्ति निसर्गत जड थी। इस जड शक्ति को नियन्त्रित करने हेतु ब्रह्म के तप से 'ऋत' और 'सत्य' की उत्पत्ति हुई। ऋत निरपेक्ष सत्य है, इसीको Cosmic law, Absolute truth, Absolute law कहते है, इसी के द्वारा विश्व का कार्यक्रम नियन्त्रित बना हुआ है जिसकी विशद व्याख्या ऋत सम्बन्धी लेख मे दी गई है। हमने देखा है कि अणु के विस्फोट होने पर एक बडी भारी विनाशकारी शक्ति का सृजन होता है, जिसके द्वारा एक साथ बडे-बडे शहर नष्ट किये जा सकते है और नष्ट हुये भी है। इसी शक्ति के बल पर बडे-बडे राष्ट्रो ने बडे-बडे अमोघ और घातक अस्त्र-शस्त्र निर्मित किये हैं और फलस्वरूप सभी राष्ट्र एक दूसरे से भयाकुल बने हुये है। इस ऋत की अवज्ञा करने पर मनुष्य के जीवन मे कितने-कितने दुष्परिणाम होते हैं, उन्ही दुष्परिणामो को इस पुस्तक की लेखमाला मे दर्शाया गया है। इस ऋत की अवज्ञा ही हमारे जीवन मे दु ख, क्लेश, अशान्ति की सृष्टि किये हुये है। इसके द्वारा नियन्त्रित बने रहने से जीवन मे सब प्रकार के सुख, शान्ति, सम्पदा उपलब्ध बनी रहती है।

विशेषत मुझे एक ही बात कहनी है कि वर्तमान समाज मे प्रचलित कलक सदृश बुराइयो का अन्त कर देने के लिए लेखक के हाथ मे राजतन्त्र जैसी सत्ता या व्यवस्था तो होती नही है, किन्तु ये बुराइया लेखक के हृदय मे चुभन अवश्य पैदा करती है और उस चुभन से निस्तार पाने के लिए वह उन पर प्रहार करता है और यह प्रहार उसकी खड्ग रूपी लेखनी के द्वारा ही तो हो पाता है, उसकी लेखनी ही तो उसका वह सक्षम शस्त्र है जिसके प्रहार से बुराइया तिलमिलाए बिना नही रहती, और मिटने के पहले दृढता से विरोध करती है क्योकि इनकी आधार-शिला होती है—कठोर हठ। लेखक की लेखनी के प्रहार शारीरिक न होकर मनुष्य के मानस-पटल पर होते रहते हैं किन्तु होते हैं बडे

गहरे। इनका फल प्रत्यक्ष और स्थायी भी होता है।

ये बुराइया समाज मे घुमने के लिए सदा मुह बाए खडी रहती है, इनका उद्‌भव-स्थान है—रज एव तम और इनका वास-स्थान है—चञ्चल इन्द्रिया, असयत मन और विवेकहीन बुद्धि। जब बुद्धि विवेकहीन हो जाती है तो वह भले-बुरे का निर्णय करने मे असमर्थ हो जाती है, और तब उक्त तीनो का बेडा गर्क हुए बिना रहता नही! इनको तो फिर ऋत की परछाईं तक नही सुहाती। इनकी क्रीडा-स्थली है—अनृत। अनृत मनुष्य की बुद्धि को बडा स्थूल बना डालता है, स्थूलता मृत भार (dead weight) ही तो है। स्थूल बुद्धि मनुष्य को बडा बहिर्मुखी बना डालती है। फलस्वरूप मनुष्य अपना गाम्भीर्य खो बैठता है और बडा सस्ता हो जाता है। बहिर्मुखता समादृत नही हो पाती। महगी सब्जी बडी सुस्वादु लगती है और जब सस्ती हो जाती है तो अपना मान खो बैठती है। साधु-सत जब अपने शिष्यो के दरवाजे खट-खटाते फिरते है तब समाज मे समादृत नही हो पाते। श्री अरविन्द घोष साल मे एक या दो बार ही जनता को दर्शन देने के लिए अपने कमरे मे से निकलते थे और फलस्वरूप नियत तिथि के दिन दूर-दूर से हजारो की सख्या मे दर्शनार्थी इकट्ठे हो जाते और बडी ही ललक के साथ उनके दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते और भेंट मे लाखो की ढेरी लग जाती, जिस धन राशि से पाण्डिचेरी-आश्रम का खर्चा चलता।

आज की स्त्रिया एव स्कूल-कालेजो मे जाने वाली लडकिया रणचण्डी का स्वाग भर कर निकलें और असुरो से उनका युद्ध न हो यह बात कैसे सभव है? फिर ये चिल्लपो मचाये कि गुण्डो ने हमारे साथ बदतमीजी की, हमारी इज्जत लूट ली, तो इसमे दोष किसका? मर्यादित दूरी का उल्लघन अपना रग नही दिखाए, यह कैसे सभव है!

पाठक, इस पुस्तक मे जिस किसी भी स्थान मे अनाचार के प्रति लेखक की प्रतिक्रिया तीव्र देखें जो तुरन्त भडक न पडे वरन् ठण्डे दिमाग मे सोचने का प्रयास करे और देखे कि लेखक की यह प्रतिक्रिया सत्य की कसौटी पर कहा तक खरी उतरती है। सत्य बात तो यह है कि ससार मे ढूढने पर भी ऐसा एक भी मनुष्य न मिल सकेगा जोकि भलाई-बुराई एव स्वच्छ-अस्वच्छ का अन्तर न जानता हो। गदे-से-गदे रहने वाले मनुष्य को साफ-सुथरे कपडे तो पसद आते ही है किन्तु वह स्वभाववश गदे कपडे अपनाता रहता है क्योकि उसे उन गदे कपडो को सहन करने की आदत पडी होती है, अन्यथा तो वह तीज-त्यौहार के

मेलो मे भी कभी साफ कपडे पहन कर नही जाता। शराबी शराब की बुराइया न समझता हो ऐसी बात नही है, उसे भी शराब की बदबू जरूर आती है, मछली खाने वालो को भी मछली की बदबू बरदाश्त नही होती किन्तु करे क्या ? जिह्वा का क्रीत-दास बन जाने पर जब उनकी जिह्वा उन पदार्थों को चखने के लिए विह्वल हो उठती है तब उनको जिह्वा के सामने धराशायी होना ही पडता है। अभ्यास, आदत, स्वभाव—चाहे अच्छा हो या बुरा—उन पर निग्रह नपुसक हो चलता है।

इसलिए पाठको से हमारा सविनय निवेदन है कि समाज के मौजूदा कोढ रूपी अनाचारो-अत्याचारो का जल्दी-से-जल्दी अन्त कर डालें तो व्यक्ति और समाज के हितो के लिए बडा कल्याणकारक होगा। ऋत के निरपेक्ष कार्यक्रम को नजरअन्दाज करने की कोई भी हिमाकत न कर बैठे, कारण ऋत किसी का लिहाज नही करता—यह सत्य-तथ्य मनुष्य के दिमाग से विस्मृत न होने पाये।

हम यह भली प्रकार जानते हैं कि कुछ उच्छृखल किस्म के व्यक्ति इस पुस्तक को पढकर ऊल-जलूल बके बिना न रह पायेंगे और थोडे-बहुत स्वेच्छाचारी लोग लेखक को कोसने मे भी न हिचकेंगे, किन्तु वे भी इस ऋत की धुरी से भाग नही पायेंगे और इसके घर्षण से कुचले बिना नही रह सकेंगे।

हृदयगम करने की एक ही बात है कि ऋत के साम्राज्य के अन्तर्गत ही यह सारा विशाल विश्व गतिशील है, इसके नियम बडे अटल, अचूक हैं, इनकी अवज्ञा ही हमारे कष्टो का कारण है।

इस पुस्तक के अध्ययन से किसी भी पाठक को जीवन का मार्ग-दर्शन प्राप्त हो सका, तो लेखक अपना श्रम सार्थक समझेगा।

इस पुस्तक के प्रूफ पढने मे कुमारी पुष्पा चतुर्वेदी ने मुझे जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उसका आभारी हू।

श्री शरद देवडा ने इस पुस्तक का सम्पादन किया है। इन्होने ही मेरी प्रथम दो पुस्तको (व्यक्ति और सघर्ष एव Inner Call) का सम्पादन किया था। चूकि ये मेरे पुत्र तुल्य हैं इसलिए आभार-प्रदर्शन एक औपचारिकता ही होगी जो असगतिपूर्ण होगी। परन्तु इतना तो अवश्य ही कहना पडेगा कि उन्होने ही मुझे प्रेरित किया था—भविष्य के गर्भ मे छिपी हुई इस कृति का नामकरण कर एक असाध्य कार्य को साध्य करने के लिये—एक कल्पना मात्र को साकार करने के लिए। और फिर वे ही सामने आये अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभा को

लेकर सम्पादक की कलम से सम्पादन करनें। एक युवक सम्पादक, सुविख्यात एव कुशल साहित्यकार होने के साथ-साथ इतना अहकार रहित सम्पादक भी हो सकता है, यह एक अनूठा नमूना है इनके व्यक्तित्व का। मैं इन्हे आशीर्वाद देता हू कि इनकी प्रतिभा उत्तरोत्तर उच्चत्तम शिखर की ओर अग्रसर हो।

—*निरजनलाल गोयनका*

गोयनका हाउस,
ए–५८, शान्तिपथ,
तिलकनगर, जयपुर।

प्रस्तावना

विद्वानो की मान्यता है कि मनीपा और अनुभव जीवन के दो वडे तथ्य है। इन दोनो के अपने-अपने क्षेत्र हैं। इन दोनो का समन्वय जीवन को सार्थक और सफल बनाता है। इनके समन्वय का प्रयत्न जीवन का मार्ग है। मनीपा चिन्तन की प्रेरणा है। वास्तविकता की धुरी है। अनुभूति भी वास्तविकता की धरा से सबध रखती है, किन्तु उसका क्षेत्र अलौकिक और काल्पनिक भी हो सकता है। कल्पना के बिना चिन्तन असपन्न रहता है और अनुभूति अपूर्ण रहती है। अदृश्य सत्ता का दर्शन केवल मनीपा के गर्भ से नही हुआ। मनीपा के वीज मे कल्पना-शक्ति ने समाहित होकर अदृश्य सत्ता के दर्शन को जन्म दिया जो अनुभूति से पृथक् और कुछ नही। दर्शन अपने मूल रूप मे मनीपा की आनुभूतिक पीठिका है। लोकजीवन और शिष्ट जीवन के सभी पक्ष किसी-न-किसी रूप मे अनुभूति से ही सम्पन्न रहते हैं। जिसको कला या कला-कौशल की अभिधा दी जाती है, वह भी अनुभूति सम्पन्न मनीपा की अभिव्यक्ति ही है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यदि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला है तो सौन्दर्य स्वय एक अनुभूति है। सौदर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान होकर अनुभूति से पृथक् नही है। मेरी दृष्टि मे तो अभिव्यक्ति स्वय अनुभूति को साकार करती है, किन्तु अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार और स्तर हो सकते है। सभी प्रकार की अभिव्यक्ति मे अनुभूति की समान मात्रा नही होती। 'ऋत की धुरी' मे अनुभूति की प्रधानता है। इसमे अनुभूति की विविध धराए और उसकी निविडता के विविध स्तर हैं। थोडी देर रुककर पाठक को सोचना पडता है कि इसमे जीवन का कौन-सा पक्ष छूटा है।

वास्तविक चिन्तन से लेकर अनुभूति और सह-अनुभूति तक के अनेक 'परत' इसमे देखे और जमाये गये है । प्रत्येक परत अपने मौलिक रूप मे महत्वपूर्ण है, किन्तु जहाँ अनेक परत जमाये गये है वहाँ कल्पना-गरिमा और कौशल-क्षमता पाठक के लिए ऐन्द्रजालिक व्यामोह हैं । पाठक सहसा यह अनुमान नही कर सकता कि 'ऋत की धुरी' किसी धुरधर की कृति नही है । जिसने इसके लेखक को केवल देखा है, उसके लिए उसकी धुरन्धरता 'शशक-श्रृंग की धूनी' होगी । रमा के स्थूल वैभव के सरल विलासी की क्षमता की प्रतीति और स्वीकृति उसी को हो सकती है जिसकी श्रुति को लेखक के वाग्विलास या वाणी मे चिन्तन की तुग तरलता का साहचर्य प्राप्त हुआ हो । लेखक श्री निरजनलाल गोयनका को मैंने देखा है, इसलिए मेरे श्रवण उनके चिन्तनपरक वाग्वैभव से सुपरिचित हैं । उनकी अनुभूतियाँ जीवन शतक के आठवे दशक मे रमण कर रही हैं, उन्होने शती का उद्भव देखा, आरोह देखा और सच्चे अर्थ मे वे उसका अवरोह भी देख रहे है । अनुभव का इतना बडा धनी देश-विदेश मे अन्यत्र भी मिल सकता है, किन्तु मार्मिक अभिव्यक्ति का इतना सशक्त एव कुशल कलाकार विज्ञान और व्यवसाय की इस चलती दुनिया मे कदाचित् ही मिले । स्थूल काया मे सूक्ष्म बोध सामान्यत एक विसगति है, किन्तु यहाँ स्थूल वैभव मे स्थूल काया ने जिस सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म बोध को पोषित किया है वह आज के साहित्यकार के लिए एक विस्मय-भूमि है । गोयनकाजी का बोध सूक्ष्म और अनुभव तनुता और स्थूलता की एक विलक्षण सहस्थिति है । उनकी यह कृति इसका ज्वलन्त प्रमाण है ।

क्या अपने परिचय के आधार पर मैं यह कहने का साहस कर सकता हू कि श्री गोयनकाजी शैलीकार नही है ! शैली अभिव्यक्ति का एक प्रकार है जिसमे लेखक का व्यक्तित्व सनिहित रहता है । शैली व्यक्तित्व से विलग नही हो सकती । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति की शैली उसकी अपनी सहज सम्पत्ति होती है । शैली अनुकरणीय नही होती, हाँ, उसका विकास होता है । जिस प्रकार पीपल के अनेक पत्ते अपनी रचना-प्रक्रिया मे भिन्न होते है, उसी प्रकार विभिन्न शैली-कारो की शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती है । गोयनकाजी की शैली भी अननुकरणीय है, यद्यपि पाठक को अनुकरण की प्रबल इच्छा व्यामोहित और पीडित करती है ।

श्री गोयनका जी को कोई अध्यापक या व्याख्याता नही कह सकता क्योकि वे जन्म से ही व्यवसायी है । उन्हे कोई व्यावसायिक साहित्यकार भी नही कह

सकता, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति साहित्य-सर्जना द्वारा धनार्जन करने की नहीं है। वे साहित्यिक के दम्भ या दर्प से असंपृक्त एवं मुक्त हैं। उन्हें साहित्यकार बनने की मनोलिप्सा ने भी छूने का साहस नहीं किया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह किसी तथाकथित साहित्यकार से बहुत अधिक लिखा है, किन्तु अपने भावों और अनुभवों की अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य रहा है। सम्भवतः इसी में उन्हें सुख मिला है। अपनी साहित्य-रचना की प्रेरणा को वे क्या नाम देना चाहेंगे, मुझे पता नहीं। यदि वे चाहें तो कह सकते हैं और बिल्कुल सही कह सकते हैं कि "मैंने जो कुछ लिखा है वह स्वान्तःसुखाय लिखा है।" मैं कह सकता हूं कि इस प्रकार श्री निरंजनलालजी अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं।

श्री गोयनकाजी की 'ऋत की धुरी' को मैंने बड़ी रुचि से पढ़ा है—क्योंकि मुझे इसमें 'साहित्य-देवता' का दर्शन हुआ है। लिख तो बहुत से लोग सकते हैं, किन्तु क्या उनका सब कुछ लिखा साहित्य होता है? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर आज के साहित्य के सन्दर्भ में खतरे से खाली नहीं है। क्या साहित्य और लेखन पर्यायी हैं? यदि नहीं तो सब कुछ लिखा हुआ साहित्य-अभिधा पाने की योग्यता नहीं रखता।

साहित्य के चार प्रमुख तत्त्व हैं—चिन्तन, अनुभूति, कल्पना और अभिव्यक्ति। साहित्य में ये चारों तत्त्व इस प्रकार से मिले रहते हैं कि इनको अलग-अलग करना दुष्कर ही नहीं असम्भव है। जिसको हम अभिव्यक्ति कहते हैं वह शेष तीनों तत्त्वों से विरहित नहीं हो सकती। प्रत्येक शब्द कोष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उसका महत्त्व अन्य शब्दों की संगति में संयोजित होने पर ही होता है। यह शब्द-संयोजन अर्थ-संयोजन से पृथक् या विरहित नहीं होता। शब्द-संयोजन को वाक्य और अर्थ-संयोजन को 'प्रेषण-कला' कहते हैं।

अर्थ-संयोजन प्रभावी और अप्रभावी, दोनों प्रकार का हो सकता है। अप्रभावी बात का महत्व तो सामान्य बातचीत में भी नहीं होता, फिर साहित्य में तो उसका प्रश्न ही नहीं उठता। प्रभावी अर्थ-संयोजन ही भाषा की कलात्मकता है और उसमें चिंतन, अनुभूति और कला की समन्विति अनिवार्य है। इनकी कितनी-कितनी मात्रा अभिव्यक्ति में होनी चाहिये, इसका उत्तर कोई आलोचक या भाषाविद् नहीं दे सकता और न कोई कवि या लेखक ही इनके परिमाण के संबंध में कोई निर्णयात्मक मत दे सकता है। अभ्यास और रुचि के साथ परिस्थिति और अवसर ही इसके निकष बन सकते हैं। परिस्थिति के आकलन

से ही साहित्य के मर्म का बोध होता है। मैंने एक स्थान पर नही, स्थान-स्थान पर देखा है कि गोयनकाजी परिस्थितियो के टकमाली बटखरो से तोलकर ही अपनी अनुभूनियो को व्यक्त करते है। इसीलिए अभिव्यक्ति मे प्रभाविता आ जाती है। नीचे के उदाहरण से, जो उनके 'भगवद्‌दर्शन' नामक लेख से उद्धृत है, यह बात स्पष्ट हो जाती है—

'बहुत से आदमी है जिनके हृदय मे भाव ही उत्पन्न नही होते, बहुत से ऐसे हैं जिनके हृदय मे भावो की नदी बहती रहती है। ये चीजे कही से आती-जाती नही है। ये मनुष्य की शक्ति के अन्दर निहित है, इनको पर्दे से जितना बाहर करलें। पूर्णमासी के दिन उगा हुआ चन्द्रमा और शरद् पूर्णिमा के दिन उगा हुआ चन्द्रमा का प्रकाश अलग-अलग दिखाई देता है। क्या इन चन्द्रमाओ मे कोई अन्तर हे ? चन्द्रमा तो एक ही है, लेकिन इसका प्रकाश वातावरण के ऊपर निर्भर करता है। × × × × × धनुष के टूटने के पहले तुलसीदास सीता के मुख की उपमा देते हैं चन्द्रमा से और राम के मुख की उपमा देते हैं शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा से।" यह विवेचन शुष्क आलोचना नही हे। इसमे चिंतन, अनुभूति, कल्पना का गहन, किन्तु सतुलित पुट है। अभिव्यक्ति मे शब्द और अर्थ की सशक्त सयोजना है, अतएव यह प्रभावी है। यहाँ एक साहित्यक आलोचक की दृष्टि है। यह ठीक है कि कवि द्रष्टा होता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति मे बहुत-सी बातें सामान्य पाठक की दृष्टि से ओझल होती है। उसे आलोचक अपनी तीव्र दृष्टि की चिमटी से बाहर निकालता है, जिससे मर्म स्पष्ट होता हे, इस प्रकार आलोचक एक अर्थ मे कवि या साहित्यकार से भी ऊचा होता है। उसके एक ही साथ दो व्यापार है . साहित्यकार की गहराई तक पहुचना और दृष्टिगत मर्म को स्पष्ट करना।

इस धरा पर हम श्री निरजनलालजी की कृतियो को दो वर्गों मे रख सकते हैं, एक तो उनकी वे रचनाए जिनमे वे साहित्यकार हैं, जिनमे वे स्वय पैदा हुए है और व्यापक रूप से उनमे छा गये है। दूसरी रचनाए वे है जिनमे वे आलोचक है, केवल समाज के नही, वरन् धर्म, दर्शन, कला, सस्कृति, मनोविज्ञान, भक्ति, देशप्रेम और व्यक्तिगत जीवन और अनुभवो के।

इसमे तो कोई दो मत नही है कि साहित्यकार साहित्य मे अपने अनुभवो को देता है। इसीलिए वह स्वयभू कहलाता है, किन्तु वह अपनी अभिव्यक्ति मे अपने को 'परिभू' बना देता है। यही उसका अभिव्यजना-कौशल होता है। जिस अभिव्यक्ति मे साहित्यकार की अनुभूतियाँ पाठक की अनुभूतिया बन जाये

यही तो साहित्यिक अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति एक कला है, एक वैयक्तिक अर्जना है जो पाठक को मुग्ध करती है, उसे विस्मित और चमत्कृत करती है। जिस कलाकृति मे दर्शक या पाठक निमग्न हो जाये, जिसमे उसके मन की ग्रंथियाँ खुल जाये, जिसमे उसकी वृत्तिया सकलित हो जाये, वह सर्वदा प्रयास-जन्य नही हो सकती। उसमे क्षमताओ का सहज एव स्वाभाविक सवरण हो जाता है। उसमे छैनी, तूलिका या लेखनी मनोगति और रुचि का साथ देती है। गोयनकाजी का 'हृदय' कितना ललित है! इतना छोटा लेख और इतना ललित!

गोयनकाजी वयोवृद्ध हैं, उनके अनुभव की गठरी बहुत भारी है। उसमे रत्न-मजूषा है। अवस्था या अनुभव की गुरुता साहित्य मे कभी-कभी खुले बिना नही रहती और जब वह खुलने लगती है तब उसमे उपदेश-रत्न बिखरने लगते हैं। उपदेश की कोटि पर पहुच कर साहित्य अपने मर्म को खोने लगता है। सर्जना साहित्यकार की गरिमा है, किन्तु वर्जना उसकी दुर्बलता है। यह ठीक है कि वर्जना के मूल मे कल्याण-कामना सनिहित रहती है। पाठक को साहित्य मे कल्याण की खोज का अवसर मिलना चाहिये। सच्चे गवेषक को गवेष्य अवश्य मिलता है और मिलने पर उसे आनन्द भी मिलता है, किन्तु जो वस्तु बिना प्रयास मिल जाती है उसका उपलाभ-सुख क्षीण हो जाता है। साहित्यकार जब उपदेश देने लगता है तब उसकी जादूगरी का असर कम हो जाता है। श्री गोयनकाजी कभी-कभी लालित्य मे डूबे दिखायी देते है। उनके लेख 'माँ' का प्रारम्भ लालित्य मे ओत-प्रोत है, किन्तु उसके अवसान मे उसे वर्जनात्मक उपदेशो ने घेर लिया है और वही लालित्य किनारा कर गया है।

इस समय मैं एक 'साहित्यकार गोयनकाजी' की बात कह रहा हूँ क्योकि उनकी कुछ कृतियो मे मुझे उत्कृष्ट साहित्य मिला है। यदि गोयनकाजी के शुद्ध साहित्यकार का साक्षात्कार करना हो तो उनका 'गोद' लेख द्रष्टव्य है।

'ऋत की धुरी' मे अनेक विषय सचित हैं जो ६४ लेखो मे विकीर्ण है। इन ६४ लेखो के विषय शुद्ध और मिश्रित दो वर्गों मे विभाजित किये जा सकते हैं जिनमे से १० शुद्ध हैं और ७ मिश्रित है।

इनके विषय समाज, राजनीति, सस्कृति, दर्शन, भक्ति, देश-भक्ति, भाव, मनोविज्ञान, परिवार आदि से सबधित हैं। इनमे से ९ लेख मिश्रित हैं और ये है क्रम सख्या ११, १५, १६, १९, २१, २५, ३४, ३५ तथा ४६ के लेख। विधा की दृष्टि से भी इनमे विविधता है। गद्य काव्य, कहानी, लेख, ललित

निबध आदि अनेक विधाए हैं ।

कृतिकार की विशेषता यह है कि उसका चिन्तन प्रखर, अनुभव गहन, कल्पना तीव्र और अभिव्यक्ति मुक्त, मार्जित एव शिष्ट है । कृति विषय-वैविध्य से सपन्न और सतर्कता एव वैयक्तिकता से सकुल है । भावुकता मे उर्मिलता है, किन्तु अतटता नही । प्रतिपादन वैयक्तिक अनुभवो और उपयुक्त सुपरिचित उद्धरणो से सपन्न है । मैंने बहुत से साहित्यिक और आलोचनात्मक निबध एव लेख सग्रह देखे है, किन्तु ऐसी मौलिक विविधता एव प्रतिपादन-कुशलता एक मे भी नही देखी । लेखक की मनीषा ने वेद से लेकर रामचरितमानस तक की उक्तियो और जीवन की ऊँचाई-नीचाई की नाप-जोख करके कुछ अपने निष्कर्ष निकाले है जो अनुभव की तुला मे तोले गये हैं । ये निष्कर्ष इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि लेखक ने जो बटखरे बनाये हैं उनमे उसके व्यक्तित्व का गुरुत्व है और उनमे देश-काल की सम्पृक्ति होते हुए भी व्यापकता की गरिमा है । मुझे कोई भी तो लेख ऐसा नही मिला जिसमे शाश्वत एव अतुलनीय सत्य को अनावृत करने का प्रयत्न न हो । सापेक्ष सत्य से लेखक निरपेक्ष सत्य की ओर उन्मुख रहा है और उसने 'ऋत की धुरी', जो प्रथम लेख का शीर्षक है, सार्थक कर दिखाया है ।

मुझे विश्वास है कि आस्था और निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास की अनुपम धुरी को धारण करने की प्रेरणा देता हुआ धुरन्धर लेखक 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की माग को पूरी करने मे अपना सफल दिशा-निर्देश देगा । मैं इस अपूर्व साहित्यिक एव दार्शनिक कृति के लिए लेखक को प्रचुर साधुवाद देता हूँ ।

—डॉ० सरनाम सिंह शर्मा

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

अनुशंसा

Thou canst not wave thy staff in air
Or dip the paddle in the lake
But it carves the bow of beauty there
and the ripples in rhyme the oar forsake

(तुम हवा में अपनी छड़ी नहीं घुमाते,
तुम अपनी छोटी पतवार झील में नहीं डुबाते
तुम एक सौन्दर्य का धनुष अंकित करते हो,
और पतवार के छूटते ही लहरियाँ संगीतमय हो उठती हैं।)

इसी प्रकार लेखक की लेखनी का स्पर्श पाते ही भावनाएँ एक सुन्दर वृत्त बनाती हैं और संगीतमय हो उठती हैं।

इसके लेखक हैं श्री निरजनलाल गोयनका। इन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को समझा है, परखा है। भारतीय विचार-धारा का इतना सुन्दर आख्यान न केवल हमारे जीवन की निराशा दूर करता है, वरन् हमारे हृदय मे अपूर्व बल का सचार भी करता है। आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एव पारिवारिक जीवन को स्वस्थ दृष्टिकोण से उपस्थित करने मे श्री गोयनकाजी ने अपूर्व सफलता पायी है। स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'चिन्तामणि' मे चित्त की वृत्तियो की मनोवैज्ञानिक समीक्षा की है किन्तु श्री गोयनकाजी ने जीवन मे घटित होने वाले व्यापारो की न केवल मनोवैज्ञानिक समीक्षा की है वरन् अनेकानेक उदाहरण दे कर अपने अनुभवो से सम्बद्ध कर उसे जीवन के परिष्करण का अमोघ मत्र बना दिया है। यदि वे 'ऋत की धुरी' और 'पुरुषार्थ एव भाग्य' जैसे उदात्त निबन्ध लिखते है तो 'स्त्रैण,' 'शकुन' और 'भिखारिन' जैसे जीवन के प्रत्यक्ष प्रभावपूर्ण सन्दर्भो मे भी अपनी लेखन-कला का परिचय देते है। 'बगाली और राजस्थानी सस्कृति' तो उनका एक मनोरजक सस्मरण है।

मैं इस पुस्तक को एक भारतीय द्वारा आधुनिक जीवन और आदर्श का एक तटस्थ विवेचन मानता हू। मै विश्वास-पूर्वक सस्तुति करता हूं कि इस पुस्तक का अनुवाद समस्त भारतीय भाषाओ मे होना चाहिए तथा राज्य द्वारा इसे सभी सार्वजनिक पुस्तकालयो मे रखा जाना चाहिए।

मैं ऐसी सुन्दर और विचार-पूर्ण पुस्तक लिखने के लिए श्री निरजनलाल गोयनका को हार्दिक बधाई देता हू और यह कामना करता हू कि उनकी लेखनी से इसी प्रकार तथा इससे भी उत्कृष्ट ग्रन्थ-रत्न भारतीय जनता को प्राप्त होते रहे।

—*डॉ० रामकुमार वर्मा*

साकेत,
४, प्रयाग स्ट्रीट,
इलाहाबाद—२

मानवता का संशोधित रूप

आपकी पुस्तक 'ऋत की धुरी' मुझे यथासमय प्राप्त हुई। मैंने सरसरी दृष्टि से इस निबन्धात्मक कृति का अवलोकन किया और आपके द्वारा अभिव्यक्त आपके मन के भावों और विचारों का [illegible] आलोडन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि आपकी यह पुस्तक भारतीय व्यावहारिक जीवन को प्रशस्त करने का एक सुन्दर तथा सफल प्रयत्न है। 'ऋत' निस्सन्देह Absolute truth ही है और इस 'ऋत' के अन्तर्गत ही संयमित रहने से मानव अपने परमार्थ की सिद्धि कर सकता है। आपके 'ऋत की धुरी', 'भगवत्-दर्शन', 'सत्य', 'सत्संग' आदि निबन्ध बड़े ही काम के हैं और इनकी प्रस्तुतीकरण में आपके धैर्य, संयमित उद्गार और निरपेक्ष सर्वहितकारी दृष्टि की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इसके अध्ययन से लोगों को अपने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में बल मिलेगा और मानवता का संशोधित रूप भारतीय संस्कृति के प्रकाश में लोगों के सामने आयेगा।

पत्रालय—गीतावाटिका
जनपद—गोरखपुर।

—चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक—'कल्याण'

अनुक्रम

- [illegible] की धुरी — १
- पुरुषार्थ एवं भाग्य — २६
- प्रवंचना — ३७
- प्रतिशोध — ४०
- गोद — ४५
- [illegible] — ४७
- बंगाली और राजस्थानी संस्कृति — ६१
- मन — ७७
- नारी अबला क्या है ? — ७६
- भगवद् दर्शन — ८३
- स्वाभिमान शक्ति का प्रदाता है — १०५
- कला और कृत्रिमता — १०८
- प्रकृति के संकेत — १२७
- मानव धर्म — १३१
- स्त्रैण — १४३
- मुक्त यौनाचार — १५०
- प्रदर्शन की बहक में बहता मनुष्य — १६१

- जीवन—एक प्रश्न १६६
- हम तो समझे थे १७५
- प्रान्तीयता का अग्निकुण्ड १७६
- शकुन १८५
- सत्य १८८
- मनोभाव १९५
- गगा १९७
- सान्निध्य के विविध रूप २०५
- स्पर्श की अनूठी क्षमता २१२
- प्रकृति के रस-पाश के अधिपति बनिए २१९
- प्रेम गली अति साकरी २२३
- विवाह २२८
- प्रभु से माग २३६
- भिखारिन २४०
- अछूतोद्धार २४२
- छलक न पाये तो २५४
- सज्ञानता २५७
- नकल २६३
- उपेक्षा एव तिरस्कार २७२
- मा २७५
- ईश की सत्ता २८१
- सत्सग २८५
- लोटा २९०
- लोभ २९२
- ढोल गवार शूद्र पशु नारी ३०१
- स्त्री-शिक्षा ३०७
- धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र एव भौतिकवाद ३१९
- गुरु-शिष्य का सम्बन्ध ३२३
- आपस का भय ३३१
- शोषण ३३६
- भारत पुण्य भूमि क्यो है ? ३४३

- नारी का कार्य-क्षेत्र ३५०
- किसे बड़ा कहें, किसे छोटा ३७१
- धर्म की कसौटी ३७४
- हृदय ३८०
- भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद ३८२
- रंग ३८६
- भोजन ३९१
- हे अरे, तू तो सोना है! ३९८
- कर्म की गहन गति ४०५
- कन्या-दान का महत्त्व ४१४
- हृदय की कोमलता ४२०
- मातृ भूमि की पवित्रता ४२३
- प्रमाद ४२६
- भव-सागर की तीन धाराएं ४२८
- एक आदर्श दत्तक पुत्र ४३०
- आकर्षण ४३५

ऋत की धुरी

प्रभु लीलाधर हैं। लीला करना इनको बडा सुहाता है। ठीक ही है, श्रुति वाक्य भी है—ब्रह्म रसोवैस। वह अखण्ड आनन्दमय है। उसका आनन्द परिधि-रहित, असीम है। ब्रह्म भी तो असीम है, शाश्वत है। वह सम्पूर्ण जगत को अपनी योगमाया के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित है। यह विराट विश्व, जिसमे असख्य तारागण आकाश-मण्डल मे विजली के लट्टुओ के सदृश्य इस पृथ्वी पर रहने वाले हम मनुष्यो को दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उसी ब्रह्म का यह व्यक्त रूप है। ये भीमकाय ग्रह अपनी-अपनी धुरी पर घूमते हुए एक-दूसरे से सैंकडो, हजारो, लाखो प्रकाश-वर्ष मील दूर होते हुए भी एक-दूसरे की आकर्षण-शक्ति से स्वतन्त्र नही। एक प्रकाश-वर्ष वह दूरी है जिसको प्रकाश एक साल मे पार कर सकता है। यह दूरी ६००००००००००००० मील होती है। तारागणो की दूरी का नाप करने मे यह इतनी दूरी एक इकाई का काम करती है। यह अनुभव गम्य है कि हम एव हमारी पृथ्वी इस सूर्य से प्रभावित बनी हुई है, जो कि करीव ७ करोड़

मील दूरस्थ है। यह सूर्य हमारा जीवन-प्रदाता है। जब कभी इसकी गर्मी तेज हो उठती है, हमे मरणासन्न बना डालती है। और ग्रीष्म ऋतु मे तो मैकडो आदमी लू लगकर मृत्यु के कराल-गाल मे समा जाते हैं। इसकी गर्मी की न्यूनता मे तो हम ठिठुरने ही लगते है। इसकी गर्मी की कमी के कारण ही ऊचे-ऊचे पहाडो की चोटिया हिमाच्छादित बनी रहती हैं।

इसी तरह ये सारे ग्रह, तारागण एक-दूसरे से प्रभावित बने हुए हैं। आज तो वैज्ञानिको ने लाखो प्रकाश-वर्ष (Light-years) दूरस्थ तारो की खोज कर ली है। तो यह सभव नही कि इन ताराओ से भी और-और तारागण लाखो प्रकाश-वर्ष दूरस्थ नही होगे? होने भी चाहिये। क्योकि असीम की रचना कभी भी ससीम हो नही सकती। फिर भी, यह महाकाश इन सब तारा मण्डलो को अपनी गोद मे समेटे हुए भी खाली-खाली सा दृष्टिगोचर होता है। यह सारा विश्व एक ऐसे नियम की आकर्षण-शक्ति से नियन्त्रित है जिसकी अवहेलना कोई भी तारा या ग्रह करने की हिमाकत नही कर सकता। यदि एक तारा या ग्रह अपनी धुरी से तनिक भी विचलित हो जाये या यो कहे अनियन्त्रित हो जाए, तो ये सारे तारागण एक-दूसरे से टकराकर विचूर्ण होने मे तनिक भी देर न लगाए। फिर तो इस विराट विश्व को विलुप्त होने मे कितनी देर लगे!

इस आकाश-गगा मे वैज्ञानिको के मतानुसार अरबो तारागण लहरा रहे हैं जो इस पृथ्वी से व आपस मे एक-दूसरे से हजारो प्रकाश-वर्ष दूरस्थ है। ज्येष्ठा नामक तारे के प्रकाश को हमारी पृथ्वी के धरातल तक पहुचने मे ७५ वर्ष लगते है। इसका व्यास सूर्य के व्यास से २५० गुणा बडा है। इसकी दूरी हमारी पृथ्वी से ६०००००००००००० × ७५ = ४५०००००००००००० मील है। बुद्धिजीवी मनुष्य को आपस के व्यवहार के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता है। तो इन जड पदार्थों को नियन्त्रण मे रखने के लिए कितने दृढ और अटूट नियम की आवश्यकता होगी, उसका अन्दाज लगाने मे क्या कठिनाई हो सकती है। उस सर्वशक्तिमान प्रभु के सारे-के-सारे कार्य नियमित हैं, नियन्त्रित है, क्योकि वह स्वय नियामक, नियता जो ठहरा। नियामक जितना कुशल होगा, उससे प्रभूत नियम भी उतने ही कुशल और दृढ होने चाहिए।

जब हमे स्वतन्त्रता मिली तो हमको राज्य-व्यवस्था के कानून बनाने पड़े।

ता ऐसे व्यक्तियों की परिषद बनायी गई जो कानून के पंडित थे जैसे डा अम्बेडकर, डा के एम मुंशी, डा राजेन्द्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू। इनको ससार भर की भिन्न-भिन्न राज्य-व्यवस्थाओं का परिज्ञान था, काफी दूरदर्शी भी थे, ये करीब २।। वर्ष के गहन विचार-विनिमय के बाद सविधान की रचना कर सके। तब भी समय-समय पर राज्य-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सशोधन करने पड़े और बराबर सशोधन होते चले जायेंगे। मुख्य कारण इसका यह है कि मनुष्य सर्वज्ञ न होने के नाते एक सीमित भविष्य की ही कल्पना कर सकता है; किन्तु प्रभु सर्वज्ञ है, परिपूर्ण और कालातीत हैं, इसलिए उसके नियम भी पूर्ण, कालातीत, सर्वकालसिद्ध है। उसके इन नियम को ही 'ऋत'[Absolute Law, Absolute Truth, Universal Cosmic Law] कहते हैं। इस ऋत की धुरी पर ही यह सारा विराट विश्व स्थित और गतिशील है।

यदि हमारा सूर्य इस ऋत की अवहेलना कर अपनी धुरी से जरा भी विचलित हो जाए, तो इससे नक्षत्रों की तरह जो-जो ग्रह-उपग्रह सम्बन्धित हैं उन सब की दशा बिगड़ते क्या देर लगे! यह ऋत अपने नियम से इन सबको जकड़े हुए है। मनुष्य भी उसकी परिधि के बाहर रहने की हिमाकत नहीं कर सकता, और जो कोई भी उसकी अवहेलना करने की धृष्टता कर बैठता है तो उसको ऋत का दण्ड मिले बिना नहीं रहता। प्रभु जैसे अदृष्ट हैं, उसी प्रकार उसका यह ऋत भी अदृष्ट बना हुआ सारे कार्य से रत है। प्रभु जैसे सर्वचेतन है, उसका नियम यह ऋत भी सर्वचेतन, सर्वज्ञ, परिपूर्ण, स्वयसिद्ध है।

वैदिक साहित्य मे 'ऋत' तथा 'सत्य'—ये दो शब्द पाये जाते है। 'ऋत च सत्यश्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'—तपोमय ब्रह्म से ऋत तथा सत्य प्रकट हुए। 'ऋत' का अर्थ है—निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) तथा सत्य का अर्थ है—सापेक्ष सत्य (Relative truth)—'सत्य' तो परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है, 'ऋत' परिस्थिति पर आश्रित नही।

इन्हीं ऋत और सत्य के द्वारा सृष्टि की रचना हुई है। हम कुछ उदाहरणों द्वारा इस 'सत्य' और ऋत' के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करें। मेरे माता-पिता थे—अब नही हैं, यह सत्य घटना है। मनुष्य जाति के आने के पहले भीमकाय थनदार जानवर थे जिनकी ८०-८० फीट की लम्बाई थी।

अब वे नही है। हाथी, गेंडा, दरियाई घोडा इत्यादि उसी जाति के अवशेष पशु है। ये घटनाए सत्य है, किन्तु ऋत नही। ऐसी-ऐसी घटनाओ का होना ऋत है क्योकि ऐसा होता है। किसी वर्ष अतिवृष्टि हुई, किसी वर्ष अनावृष्टि जिसके कारण अकाल पड गया, नाना प्रकार की महामारिया हुई। ये घटनाए सत्य है, किन्तु ऋत इसलिए हैं कि ऐसी घटनाए प्रकृति मे घटित होती रहती है। महाभारत हुआ, हमारे जमाने मे प्रथम महायुद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध हुआ, ये घटनाए सत्य है, किन्तु ये ऋत नही है। ऐसी घटनाओ का घटित होना—यह ऋत है। क्योकि ऐसा हुआ ही करता है। आज मेरे पुत्र नही, कल हो गया, आज मैं गरीब हू, कल धनवान हो गया, आज अनपढ हू, कल विद्वान हो गया, ये घटनाए सत्य है, ऋत नही, ऋत परिस्थितिवश बदलता नही। आज है, कल भी रहेगा। आज हम कोई शुभ व अशुभ काम करते हैं, उसका फल मिलेगा—यह ऋत है। किसी कार्य का फल मिलना न मिलना, अपने हाथ की बात नही। जो क्रिया हुई है, उसकी प्रतिक्रिया तो होकर ही रहेगी। ऋत वह अचूक दोषरहित तराजू है जिसमे हमारे सब प्रकार के कर्म तुलते रहते है।

तो प्रश्न होता है कि वह तराजू मनुष्य को किन बटखडो से तोलती है? उसके बटखडे है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, घृणा, द्वेष इत्यादि। जिन मनुष्यो के कर्मों को ये बटखडे तोलने मे असमर्थ रहते है वे महापुरुष अतुलनीय कहलाते है। उनके हृदय मे राग, द्वेष, घृणा की जगह प्रेम, आनन्द लहराता रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम बिना कारण के बेचैन हो उठते है। चाहे उस बेचैनी का कारण अदृष्ट बना रहे, किन्तु कही-न-कही कारण छिपा रहता है। देखने मे दुष्कर्मी फलता-फूलता नजर आता है, और हम समझ बैठते है कि कलियुग मे अनुचित साधन ही उन्नति के कारण है, किन्तु यह हमारी बडी भूल धारणा है। हम ऋत को धोखा नही दे सकते। आज की उसकी यह उन्नति उन अच्छे कर्मों का फल है जिनको करते हमने उसको देखा नही। और आज के उसके किये हुए कर्म कैसा रग लायेगे, उनको भी हम अभी देख नही पाये हैं। दुष्कर्मी अपने किये हुए कुकर्मों का फल भोगे बिना नही रह सकता। समय का तकाजा अवश्य है, उन कर्मों का फल आज मिले या कुछ काल पश्चात्। इसमे दो राय नही। ऋत शाश्वत है। ऋत की परिधि मे ससार के सारे कार्य सचालित है। उस ऋत मे न कभी ढिलाई आई, न आनेवाली है।

अब प्रश्न होता है कि मनुष्य जब ब्रह्म का ही अंश है तो उससे दुष्कर्म क्यों बनते रहते हैं ? देह-इन्द्रियों के विषय अंधे और हठीले होते हैं। अनियन्त्रित मन इन्द्रियों के द्वारा उन विषयों को अपनाता रहता है। ये सारे विषय प्रकृति के तीनो गुणों के कार्यरूप ही तो हैं। जैसे सूर्य की किरणें तो दोनों तरह के साफ और गदले पानी में पड़ती रहती हैं। उसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ पानी में झलझलाता रहता है, और गदले पानी में बड़ा ही मद। यह दोष किरणों का नहीं, माध्यम का है। जब हमारे चश्मे पर गर्द जम जाती है तो साफ दिखलाई नहीं पड़ता। हम एकदम घबरा उठते हैं कि कहीं हमारी आंखों में तो खराबी नहीं आ गई। किन्तु उसे साफ करते ही हमारी आंखें पहले की तरह ही देखने लगती हैं। तीनो गुणों की प्रक्रिया का कार्यरूप यह प्रकृति का दलदल हमको भ्रम में डाले हुए है। ब्रह्म और प्रकृति दोनों ही निष्क्रिय हैं। जब प्रकृति का ब्रह्म के साथ सम्पर्क स्थापित होता है तो सृष्टि की रचना होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है—रज, तम, सत ये तीन उसके गुण हैं। और ब्रह्म रसोवैस है, उसको खेल किये बिना चैन नहीं पड़ता। जब ब्रह्म का अंश इस सृष्टि में प्रकृति के माध्यम से उद्भूत होता है तो उस माध्यम का रंग उसके ऊपर चढ़े बिना नहीं रहता। यही ब्रह्म का अंश जीव सत्ता को प्राप्त हो जाता है, और जब तक हम अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हम इस प्रकृति के जाल से छुटकारा नहीं पा सकते। ब्रह्म रसमय है, उसका अंश भी रसमय है। मनुष्य रूप में आने पर उसका रसमय स्वभाव जाता नहीं है। वह रस लेने के लिए सदा लालायित बना रहता है। किन्तु माध्यम के दोष से हमारा रस बेरस हो जाता है। किन्तु ऋत हमको बराबर आगाह करता रहता है। यहां धोखे का काम नहीं है। वह कौन-सा मनुष्य है जो कि दुष्कर्म करने से पहले हिचकता नहीं ? और उस कर्म को करने के पश्चात् पछताता नहीं ? क्योंकि स्वभावगत धर्म विलोप नहीं हुआ करता। यदि ऐसा न होता, तो क्या आज चम्बल घाटी के खौफनाक डाकू अपने आपको जयप्रकाश नारायण के समक्ष समर्पित कर देते ? देखिये समर्पण करते समय उनके हाथ में गीता थी। इससे यह संकेत मिलता है कि उन डाकुओं के हृदय में अपने कुकर्मों के प्रति पश्चाताप की भावना विद्यमान थी और उनसे मुक्त होने के लिए वे प्रयत्नशील थे। ये नितान्त क्रूर नहीं होते। धनाढ्यों के प्रति क्रूर और निर्धन, असहाय के प्रति इनका व्यवहार हृदयस्पर्शी होता है। जीव का दीपक कभी

बुझता नही, क्योकि वह उस ब्रह्म का अश ही तो ठहरा। ये सारे कार्य उस ऋत की शासन-सत्ता के अन्तर्गत ही होते रहते हैं। विश्व मे ऋत कार्यशील न रहा होता, तो ये तारागण कभी की हिमाकत कर बैठते, और आपस मे टकरा कर चकनाचूर हो गये होते।

बुद्धिजीवी मनुष्य, मनुष्य से टक्कर लेने के लिए सदा उद्यत बना रहता है किन्तु राजकीय दण्ड के भय से मर्यादा मे बने रहने के लिए वह लाचार रहता है। जब हम कहते है कि ऋत पूर्ण है, तो इसका यह अर्थ नही है कि इसके द्वारा इस विश्व की रचना पूर्ण होकर इति हो गयी। गति का अवरुद्ध (Static) हो जाना पूर्णता का लक्षण नही। यह तो ससीम के लक्षण हैं। ऋत निरन्तर गतिशील है, क्योकि पूर्ण है, पूर्ण की अवधि नही होती, सीमा नही होती, वह अनन्त है, अनन्त की गतिशीलता अनन्त ही बनी रहती है।

तब प्रश्न उपस्थित होता है, क्या उसकी रचना-प्रक्रिया अब भी चालू है ? इसमे सदेह करने की कोई गुजाइश नही। जिनकी रचना हो चुकी, उनका विनाश अवश्यम्भावी है। किन्तु यह रचना असीम से हुई है। इसलिए यह रचना-प्रक्रिया बनी ही रहेगी। खोज करते जाइये, नई-नई चीजें मिलती जायेगी। अब तक बिच्छुओ की जातिया ३५० किस्म की मिल सकी हैं। सर्प भी ८०० से ९०० प्रकार के पाये जाते है। तो खोज करने पर और न मिलेगे, ऐसा कैसे कह सकते है ? इनकी सारी किस्मे तो एक साथ पैदा नही हुई होगी! दीमक जैसा छोटा-सा कीडा चीटी के समान है। इनकी २६०० किस्मो का पता अब तक लग चुका है। खोज करते चले जाइये, नई-नई चीजो का पता चलेगा। किन्तु यह नही कह सकते कि इसका अन्त आ गया है और इसके आगे कुछ नही है। वैज्ञानिको की खोज हजारो साल से चली आ रही है, किन्तु उनकी प्रत्येक खोज आगे की खोज के लिए आधार-शिला ही बनती रही है। आज का मनुष्य चन्द्रमा पर पदार्पण कर चुका है। अब तो वह मगल के तारे पर पहुचने के लिए भी प्रयत्नशील है। इतना होने पर भी इन वैज्ञानिको की खोज धन और ऋण स्वभाव वाली ही बनी हुई है, क्योकि इनकी खोजे मनुष्य को सुख देने की भी साधन है और उसके विनाश की भी। जब तक कि उनकी खोज पूर्ण नही हो जाती, तब तक यह खोज अपने धन और ऋण स्वभाव को छोड नही सकेगी। उस खोज का पूर्ण होना उस पूर्ण की प्राप्ति होने पर ही सभव होगा।

श्रोम ऋत च.... सूर्याचन्द्र मसौ धाता यथापूर्व मकल्पयत् दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व

[ऋग्वेद म० ३०, सू० १६०, म० १, २, ३]

स्पष्टार्थ— जैसे रात्रि के अन्त मे प्रभात आता है और उदित होता हुआ आदित्य अपनी प्रभा को फैलाता हुआ समस्त विश्व को कर्मक्षेत्र मे प्रवृत्त कर देता है एवम् 'प्रलय' जिसे 'रात्रि', 'महारात्रि' व 'काल रात्रि' भी कहा गया है, उसका अन्त होने पर सृष्टि की प्रभात वेला मे ईश्वर के ईक्षण—सकल्प बल से—अव्यक्त प्रकृति के गर्भ से फिर विश्व प्रकट होता हे। और इस प्रकार इस सृष्टि की रचना, प्रलय, फिर रचना अनन्त काल से चली आयी हे, और चलती रहेगी। इससे सिद्ध होता है कि ऋत कभी भी निष्क्रिय नही होता। इसकी गति अवाध व निरन्तर है। ऋषि कहते है, आज के सूर्य और चन्द्र यथापूर्व कल्पना के अनुसार ही बने हुए हैं। सृष्टि विनष्टि का तो तारतम्य कभी टूटने का नही। इसी भाव को लेकर अनन्त की अनन्त रचना कही गयी है। मनुष्यो मे साधारणतया ऐसा विचार प्रचलित है कि ऋत की पूर्णता—आत्मकाम—पूर्णकाम—उस अवस्था को कहते हैं जबकि सृष्टि की रचना अपनी पूर्ण अवस्था को पहुच जाती है। किन्तु यह पूर्णता का लक्षण नही। जब पूर्णता के बाद ऋत को कुछ करना ही रहे, तो यह उसकी चिरन्तन-काल से चली आ रही गतिशीलता की अवरुद्ध (Static) अवस्था ही तो हुई। अवरुद्धता तो अन्त का चिन्ह हे, मृत्यु का चिन्ह है। किन्तु ऋत तो अनन्त काल से गतिशील है और अनन्तकाल तक गतिशील बनी रहेगी। विकास का कभी अन्त नही होता। यह अनन्त गतिशील हे। अनन्त विचारगम्य नही है। इसकी तो केवल कल्पना कर सकते हैं सीमाबद्ध चीजे ही विचारगम्य होती है जिनका हम अनुभव कर सकते है। विकास की किसी सीमा तक पहुच जाना ही अगर हम उसकी पूर्णता मान ले, तो यह पूर्णता मे बट्टा लगाना है। सूर्य की किरणो की शक्ति पृथ्वी तल पर पहुचने तक ही मान ले, तो यह हमारी अल्पज्ञता का ही परिचायक होगा। इस गोलाकार सूर्य की किरणे तो दशो दिशाओ मे फैली हुई है। न जाने वे कहा जाकर मद पडती होगी। जबकि यह निश्चित है कि सूर्य जड हे, किन्तु ऋत अनन्त, सर्वचेतन, सर्वशक्तिमान है। उसकी गति अनन्त है, अनन्त का अन्त कहा! यदि अन्त है तो अनन्त नही।

इसी आधार पर श्री अरविन्द की खोज है कि आज का मनुष्य उस अनन्त की सर्वोत्तम कृति नही है। मनुष्य के बाद अति मानस का प्रादुर्भाव होने वाला है, और उसके प्रादुर्भाव का वह समय अब दूर भी नही है। आज के मनुष्य को यह समाधान मिल नही रहा, और न यह समाधान उसको मन के जरिये प्राप्त ही हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक छलाग मारे और मन की सीमा के बाहर पहुच जाये। मानस की सीमा के परे वलिभूमि को श्री अरविन्द अति मानस कहते है।

अरविन्द ने जीवन भर अनेक रूपो मे उसकी व्याख्या की है, और उनका कहना है कि हम उसे प्राप्त करने के लिए साधना और प्रयास करे। जब जीवन मे से मन प्रकट हुआ, जीव सृष्टि मे बडी भारी क्राति मच गई। जिस दिन मानस के भीतर से अति मानस प्रकट होगा, उस दिन मानस समाज मे उससे भी बडी क्राति घटित होगी। अति मानस के अवतीर्ण होने पर यह भौतिक जगत रूपान्तरित हो जायेगा, और मनुष्य की एक ऐसी योनि प्रकट होगी जो वर्तमान योनि से भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ होगी, और जो समस्याए मनुष्य को आज घेरे हुए है उनका कही नामोनिशान नही रहेगा।

यमाचार्य नचिकेता को बतला रहे है [कठ—४-५] कि ससार की रचना 'तप' से हुई है। ऋत (Absolute Law) और सत्य (Relative Law) भी पहले पहल 'तप' से ही हुए। जब भी कोई कार्य करना होता है तब, 'तप' की आवश्यकता होती है। बिना 'तप' के यो ही आसानी से कुछ नही होता। क्रिया का उग्र रूप ही तप है। जब सृष्टि की रचना हुई तब एक क्रिया ही तो हुई। तीव्र क्रिया का नाम ही तप है। अत तप सृष्टि की रचना मे सबसे प्रथम था। परन्तु वह ब्रह्म तप से भी पूर्व था। क्योकि उसी ने तो सृष्टि की रचना की, क्रिया की, अर्थात् तप किया। तप के बाद जब ऋत (Absolute Law—निरपेक्ष नियम) तथा सत्य (Relative Law—सापेक्ष नियम) द्वारा सृष्टि बनी, तब पहले वायवीय (Gaseous) अवस्था थी, उसमे जीवन तत्व नही रह सकता था। उसके बाद आग्नेय (Igneous) अवस्था आयी, उसमे भी जीवन तत्व नही रह सकता था। तदनन्तर जलीय (acqueous) अवस्था आयी, उसमे जीवन तत्व रह सकता था। 'तप' से जड जगत का—वायवीय तथा आग्नेय जगत का—विकास हुआ। विकास होते-होते जब जल बना तब चेतन जगत के उत्पन्न होने का समय आया, क्योकि जल मे जीवन रह सकता था।

आज भी समुद्र तल मे रहने वाले भीमकाय खौफनाक घातक जलचर भारी सख्या मे पाये जाते है। इनके थूथन ऊट की गर्दन से भी लम्बे, जबडे आरे के समान पैने, आखो मे से विजली के शोले निकलते नजर आते हैं। ये वडे जलचर वही पर रहने वाले छोटे जलचरो को खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते है। ये पानी के ऊपर सतह पर आते ही नही। इनको वायु की आवश्यकता नही। पानी के ऊपरी हिस्से मे रहने वाले जीव वीच-वीच मे हवा ग्रहण करने के लिए सतह पर आते रहते है। इनमे मछलिया, मगर, घडियाल, कछुआ, शार्क, ह्वेल आदि जलचर शामिल है। इनमे से ह्वेल की लम्बाई तो १०० फीट तक पाई जाती है और उसकी टक्कर से वडे-वडे जहाज तक जलमग्न हो जाते है। इनके अलावा, और भी अनेक जल जन्तु हैं। ये सभी एक-दूसरे पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इनके आधार पर ही 'मत्स्य न्याय' पद की उत्पत्ति हुई है।

इसके पश्चात् थल पर जीवन तत्व विकास को प्राप्त हुआ। वडे-वडे भीमकाय स्तनीय जन्तुओ (Mammels) का जन्म हुआ। वताया जाता है कि शुरू-शुरु मे इनके शरीर की लम्वाई ८० से १०० फीट तक की होती थी। इनके वाहर निकले हुए दात ही ३०-४० फीट लम्वे होते थे। इस तरह का एक दात कलकत्ता के अजायवघर मे आज भी सुरक्षित हैं। प्रकृति का यह नियम है कि आरभिक काल मे जीवन तत्व वडे स्थूल रूप मे प्रकट होता है। प्रकृति स्थूल से सूक्ष्म का ओर गतिशील रहती है। इन्ही प्रारभिक विशालकाय स्तनीय जन्तुओ के अवशेप आज के हाथी, घोडे, ऊट, गाय, भैस, वकरी, वन्दर, लगूर आदि है। ये निरामिप भोजी ह और सरल प्रकृति के होते हैं। इनके अलावा, जगल मे वास करने वाले जानवर भी इन्ही के अवशेप हैं जो वडे खौफनाक और हिंसक स्वभाव के होते हैं। ये आमिषभोजी हे जैसे शेर, चीते, रीछ, भालू आदि। इनमे शेर शरीर मे हल्का होते हुए भी वल मे और फुर्तीलेपन मे सवसे ज्यादा है। समय पाकर इन जीवो के शरीरो मे और कितनी सूक्ष्मता आयेगी, यह अभी से कहना मुश्किल हे।

इनके साथ-ही-साथ रेगने वाले जानवर भी आये। इनमे अजगर, साप, विच्छू तथा नाना प्रकार के कीडे आदि शामिल हे।

जलचर और थलचर जन्तुओ की तरह ही आसमान मे उडने वाले नभचर पक्षियो की भी यही कहानी हे। इनमे गिद्ध, चील, कौवे, कवूतर, मोर, तोते और छोटी-छोटी अनेक प्रकार की चिडिया शामिल है।

प्रकृति का यह नियम है कि प्रथम अवस्था मे सृष्टि तपोवर्मा होती है और गुण दवे रहते हैं। उसके वाद रज और तम प्रधान हो जाते हैं। इसी क्रम के अन्तर्गत उपरोक्त कथनानुसार सृष्टि का क्रम विकसित हुआ। अन्त मे वारी आई होगी मनुष्य की। मनुष्य प्रकृति के तीनो गुणो के कार्यरूप हैं। मनुष्य की यह सृष्टि रज, सत, तम प्रवान हे। प्रारभिक अवस्था मे मनुष्य का शरीर भी भीमकाय वना होगा। खुदाई मे मनुष्यो के ककाल काफी लम्बे कद के पाये गये है। उनकी खोपडी भी आज के मनुष्यो की अपेक्षा काफी वडी होती थी।

रामायण काल मे रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद एव भीमकाय रीछ, वानरो का जिक्र आता हे किन्तु आज हम अपनी मानसिक भूमिका के अनुपात मे इन भीमकाय मनुष्यो और जानवरो के अस्तित्व को मानने के लिए जल्दी तैयार नही होते। किन्तु ऐसी बात नही है। इनके अस्तित्व को मानने मे हमे कही अडचन नजर नही आती। ये स्थूलकाय मनुष्य व जानवर शारीरिक वल के ही वनी होते है, इनमे मानस तत्व सूक्ष्म अवस्था को पनप नही पाता। आज भी देखने मे आता है कि भीमकाय पहलवान, वजन को उठाने वाले वाक्सर आदि शारीरिक वल के तो धनी हैं, लेकिन वे मानसिक वल मे दुर्बल होते है। उनमे मानसिक व शारीरिक वल का सामजस्यपूर्ण समन्वय नही हो पाता। ससार के सभी देशो के इतिहास मे भीमकाय मनुष्यो और जानवरो का जिक्र पाया जाता है। शायद इसी आधार पर चीन, जापान, बर्मा इत्यादि देशो मे बुद्ध भगवान की प्रतिमाए ३०-४० फीट से लेकर ८० फीट तक ऊची पाई जाती है। उन देशवासियो की राय मे मनुष्य की शक्ति का मापदण्ड उनके शारीरिक वल पर अवलम्बित रहा होगा। स्थूल पदार्थ एक स्थानीय होता है और उनका सूक्ष्म रूप वडा व्यापक। पानी इन्जनो को चलाने मे असमर्थ होता है, उसका सूक्ष्म रूप वाष्प इजन को चलाने मे सक्षम। इसकी भी विशेष सूक्ष्म अवस्था महा-काय इजनो को भी चलाने मे समर्थ होती है। वैद्यक मे काढे, चूर्ण आदि दवा-इयो के रूप स्थूल है। इनका प्रयोग भी वडी मात्रा मे होता है। धातुओ की भस्म—जैसे सोना, चादी, ताँवा, जस्ता, अवरक आदि—इनकी सूक्ष्म अवस्था है। इनकी मात्रा भी सूक्ष्म होती है। फल विशेष। एलोपैथी के अन्दर दवा-इयो के अर्क की मात्रा ज्यादा होती है। इजेक्शन इनकी सूक्ष्म अवस्था है। फल तत्काल और सक्षम होता हे। होमियोपैथी मे दवाइयो की स्थूल अवस्था को तो तिलाजलि ही दे रखी हे। उनकी सूक्ष्म अवस्था सर्वाधिक शक्तिशाली होती है। इसी ज्ञान के आधार पर हमारे यहा शास्त्रो मे यज्ञ-याज्ञिको की

व्यवस्था पाई जाती है। अग्नि मे सुगन्धित पदार्थों की हवि देने पर उनके सूक्ष्म तत्वो से वायु मे तैरनेवाले विषाक्त कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं। किसी पदार्थ की सूक्ष्म अवस्था शक्तिहीनता की सूचक नही है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म वडा व्यापक प्रभाववाला और सक्षम होता है। तभी तो ब्रह्म की कल्पना सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के नाते ही सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वचेतन रूप मे की जाती है। इस सूक्ष्म ब्रह्म से निकला हुआ ऋत अति सूक्ष्म, अदृश्य और निरन्तर सक्षम है। इसी की धुरी के ऊपर इस सारे विश्व का सचालन नियमित रूप से हो रहा है। मनुष्य जब-जब इस ऋत की अवहेलना कर बैठता है, विपत्ति के गर्त मे गिरे विना नही रहता। वह भाग्य को या विधि को कितना भी कोसे, कुछ वनने का नही। यह विश्व उसकी क्रीडास्थली है। उस ब्रह्म की नाट्यशाला है। उसके खेल की यह रगभूमि है। मनुष्य मात्र उसके मुखपट है जिनकी ओट मे यह नाना प्रकार के अभिनय करता रहता है। मनुष्य-मनुष्य की कितनी भी स्तुति करे या निन्दा, यह सब उसी के मुखौटे है। यानी वही स्तुति-कार और निन्दक के रूप मे अपना निरन्तर अभिनय करता चला जा रहा है। उसको अभिनय वडा पसन्द है। रसोवैम जो ठहरा। उसे तो रसास्वादन चाहिए। मनुष्य का समालोचक भी वही है, और उसके अभिनय को देखने वाला दर्शक भी वही स्वय है। उसको छोडकर दूसरे का अस्तित्व है ही नही। जो कुछ भी हमारे सामने दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब उसके नाना प्रकार के रूप-रगो की मुखौटेवाजी है। यह विश्व तो सुखद है, आनन्ददायक है, आनन्द-स्रोत, आनन्द से भरपूर है। इस ऋत की अवहेलना इस आनन्द को परिणत कर देती है दु ख मे। ये दु ख और सुख भी उसके मुखौटे के ही काम करते है। इन्ही मुखौटो के परदे के भीतर नाना प्रकार के खेल करता हुआ वह आनन्द लेता रहता है। एक उदाहरण देकर हम अपने विषय को स्पष्ट करेंगे।

एक वडा सुन्दर प्रासाद था। उस प्रासाद का भलीभाति निरीक्षण न करके और उसके नियमो से परिचित न होकर एक व्यक्ति उसके एक कमरे मे जा वसा। वही सोता और वही मल-मूत्र भी त्याग कर देता। वह कमरा समय पाकर सडने लगा, और वह व्यक्ति महान कष्ट का शिकार वन बैठा और उस प्रासाद से वाहर आकर उसके निर्माणकर्त्ता की बुद्धि पर तरस खाने लगा। उधर एक बुद्धिमान व्यक्ति जा निकला और उसने उसके सताप का कारण पूछा। उस व्यक्ति ने अपनी दुर्दशा का वर्णन किया। आगन्तुक बोला,

'भीतर चलो। उस मकान की व्यवस्था का अध्ययन करें। यह सुन्दर प्रासाद इसमे रहने वाले को दु सताप देने के हेतु निर्मित नही हो सकता। इस सुन्दर प्रासाद का निर्माणकर्त्ता वडा ही सुन्दर सहृदयी होना चाहिए। यह उल्टी बात तुम्हारे जीवन मे कैसे घटित हुई, यह वडे आश्चर्य की बात है।' ये दोनो व्यक्ति उस मकान के अन्दर गये और वहा जाकर देखा तो पाया कि उसमे शौचालय भी था, सारे आवश्यक सामान से सुसज्जित शयनागार; रसोई घर, भडार घर जिसमे खाने-पीने की सब चीजे मौजूद थी, पानी के नल जगह-जगह लगे हुए थे। तो आगन्तुक उस व्यक्ति से कहने लगा, 'मूर्ख, तू शौच के लिए शौचालय मे क्यो नही गया? भण्डारघर मे से चीजो को निकाल कर रसोई वना लेता और खा लेता। शयनागार मे वहुत चैन से नीद लेता। तूने इस मकान के नियमो को जानने की कोशिश ही नही की। यही वात तेरे कष्ट का कारण वन गई।'

यही वात हमारे जीवन पर भी लागू होती है। हम इस सृष्टि के नियमो को ठुकरा देते हैं। इसके सत्य नियमो को न अपनाकर असत्य की ओर अग्रसर हो चलते हे और वात-वात मे ठोकरे खाकर लहू-लुहान हो उठते हैं। असत्य को अपनाना ही ऋत की अवहेलना हे।

'सर्व-सुखदाता सर्वव्यापक हैं। परिपूर्ण है। उसकी सृष्टि मे अपूर्णता को स्थान ही नही।' ठीक ही है। ब्रह्म की इस अवस्था का द्योतक एक शान्ति मत्र है—वडा व्यापक और भावपूर्ण—

ओम् पूर्णमद पूर्ण मिद पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवाव शिष्यते॥

ऋषि कहते हैं कि परमात्मा पूर्ण हे और उस पूर्ण से उत्पन्न यह विश्व भी पूर्ण है। क्योकि पूर्ण मे से पूर्ण को निकाल ले तो शेष पूर्ण ही रहता है। किन्तु यह ससार दु खालय प्रतीत होता है। यहा भुखमरी, नाना प्रकार के रोग, महामारिया, महायुद्ध, मनुष्य आपस मे कट मरते हे। चारो ओर त्राहि-त्राहि मची रहती है। तो हम इस ससार को पूर्ण कैसे माने? और यह ब्रह्म की कृति है, ब्रह्म पूर्णानन्द है, किन्तु इस पूर्णानन्द के तो इसमे दर्शन ही नही होते। सुलझाने के लिए यह एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाती हे, किन्तु हमारी सापेक्षता के अनुसार इसकी स्थिति हे। इस विश्व के रूप मे ब्रह्म का प्राकट्य अपनी योगमाया प्रकृति के माध्यम से हुआ है। प्रकृति त्रिगुणमयी

है। प्रकट होनेवाला माध्यम के गुणो से अभिभूत हुए विना रहता नही। इस-लिए इस विश्व के अन्दर रज, तम, सत इन तीनो गुणो का ताण्डव मचा हुआ है। इससे निस्तार पाने के लिए केवल ऋत के शरणागत होना आवश्यक है। वह पूर्ण है, उसकी अवहेलना ही मृत्यु है। जो इस ऋत की परिधि मे अपने को सयमित कर लेते है वे परमानन्द को भोगते हैं। इसी सृष्टि के अन्दर साधारण मनुष्य जो सदा ही दु ख के शिकार बने रहते है, और इसी सृष्टि के अन्दर सत, महात्मा, साधु, ऋषि, महर्षि रहते हैं। लेकिन ऋत अपनी अवहेलना करने वाले को बख्शता नही। चाहे वह साधारण-सा व्यक्ति हो, चाहे सत, महात्मा। स्वामी दयानन्द विष के शिकार हुए। सत्य कथन करते हुए भी सत्य की मर्यादा भग कर बैठे। कथन तो सत्य था, किन्तु कटुता लिए हुए था। रामकृष्ण परमहस कैंसर के शिकार हुए। स्वामी रामतीर्थ डूब कर मर गये। महर्षि पाणिनि सिह के शिकार हो गये। मनुष्य अपने कर्मो को भोगे विना रहता नही। क्योकि ऋत का अखड राज्य है। मनुष्य के जीवन मे सुख की प्राप्ति ऋत की खोज और उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने मे ही निहित है। इसी मे सम्पूर्ण आनन्द का स्रोत है।

ऋत के बारे मे उपरोक्त कथन पढने के पश्चात् यदि पाठकगण पूछे कि क्या उस ऋत के कार्यक्रम की सम्पादन-विधि का प्रत्यक्षीकरण भी होता है या हो सकता है या वह गुप-चुप ही अपना कार्य करता रहता है, तो ऐसी शकाये निरर्थक नही अपितु न्याय-सगत है। ऐसी शकाये अवश्य उठनी चाहिए।

ऋत का कार्यक्रम आप-ही-आप सचालित होता रहता है, उसे किसी भी आश्रय की अपेक्षा नही है, क्योकि वह मनुष्य की बुद्धि, मन और विचारो मे रमा हुआ है। मनुष्य के विचार सर्व-सामर्थ्यवान हैं। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होकर ही रहती है। ये दोनो अनुपात मे सम होती हैं। हमारा मन एक ब्रॉडकास्टिग स्टेशन है, उस ब्रॉडकास्टिग स्टेशन पर से जो गाने समाचार इत्यादि जब प्रसारित किये जाते है तो रिसीविंग रेडियो मे प्रसारित करने वाले की आवाज, उसका लहजा एव उसके बोले हुए शब्द ज्यो-के-त्यो सुनाई देते हैं। अथवा यो कहे कि प्रसारितकर्त्ता के शब्द वायु मे ध्वनित होकर सारे वायुमण्डल मे प्रतिध्वनित होने लगते है, और हम वक्ता की प्रतिध्वनित आवाज सुनते हैं। यह वायुमण्डल जल और काच से भी विशेष सूक्ष्म, ग्राह्य, सवेदन-शील और प्रतिक्षेपक स्वभाव का होता है। विम्ब के विना प्रतिविम्ब की स्थिति नही है, हो भी नही सकती। सूर्य का प्रकाश जो हमे प्राप्त होता है वह उसके

प्रकाश का प्रतिविम्ब मात्र ह । इसी आधार पर हमारे सारे विचार वायुमण्डल मे प्रतिविम्बित होते रहते हैं । अक्सर देखने मे आता है जब कभी हमारे मन मे अच्छे व बुरे विचार उठते है और घर कर लेते हैं तब कोई-न-कोई मित्र-स्वजन हसी व मजाक के दौरान कह ही बैठता है कि, भई, आजकल तो तुम किसी फिराक मे हो, इतना कहने के पश्चात् वक्ता को अफसोस भी होता है और वह कह भी देता है कि, यार, हसी मे कहा है, बुरा न मानना, क्योकि टटोलने पर स्थूल रूप मे उसके आक्षेप का आधार नही मिलता । किन्तु चतुर श्रोता समझ जाता है कि वक्ता का आक्षेप निरर्थक नही था, क्योकि एक दिन उसके हृदय मे उन कुत्सित भावनाओ का उद्भव अवश्य हुआ था । कहावत है कि सात ताले मे किया हुआ पाप भी छिपता नही, यही इसका आधार है, क्योकि हमारे अच्छे बुरे कर्म प्रतिविम्बित हुए विना रहते नही । यह प्रतिविम्ब ही हमारे अच्छे-बुरे कर्मो का फल है ।

इसी आधार पर प्रत्येक मनुष्य अपने विचारो के द्वारा अपने व्यक्तिगत ससार का सृजन करता है । कभी भी दो मनुष्यो के ससार एक समान नही हुआ करते । यदि कहे कि सम्मिलित परिवार मे रहने वालो के ससार एक समान होते हैं तो आर्थिक स्थूल स्तर पर ऐसा प्रतीत भले ही हो किन्तु वस्तुत ऐसी स्थिति है नही, क्योकि माता-पिता, पुत्र इत्यादि के ससार एक मे हो नही सकते । फिर बन्धु-बान्धवो, मित्र इत्यादि के ससार का तो कुछ कहना ही नही । वह मनुष्य जो लडके का पिता है वह उसकी माता का पति है, पिता-माता का आपस का सम्बन्ध पति और पत्नी का हे, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के ससार व्यक्तिगत होने के नाते न्यारे-न्यारे होते है । आज तक दो व्यक्ति एक समान नही मिले, भाषा समान होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का स्वर भिन्न-भिन्न होता है । ऐसी भिन्नता के बीच भी सबको एक साथ बनाये रखने मे एक ऐसी प्रबल सत्ता है जो कि ससार का नियमित रूप से सचालन कर रही है । वह है ऋत ।

मनुष्य के उत्थान व पतन का कारण उसके विचार हैं । प्रत्येक कार्य के पीछे विचार का रहना आवश्यक है, विना विचार के कार्य हो नही सकता । प्रत्येक कार्य उसके विचार का स्थूलीकरण ही तो है । अक्सर हम लोगो को यह कहते सुनते रहते हैं कि यह कार्य हो कैसे गया जबकि हमने तो कभी इसका विचार ही नही किया था । लेकिन स्थिति इसके विपरीत है । विचारो की स्थिति बडी सूक्ष्म है । उनकी सूक्ष्मता को न पकड सके यह दूसरी बात है,

किन्तु बिना वीर्य के गर्भाधान नही हो सकता। बिना बीज के वृक्ष पैदा नही हो सकते। इस विराट विश्व की रचना मे ब्रह्म के ईक्षण ने ही तो कार्य किया। मै बहुत हो जाऊ, मै प्रजावाला होऊ—

तदैक्षत बहु स्याम प्रजायेयेति (छान्दोग्य ६/२)

ब्रह्म के इस ईक्षण ने अव्यक्त मूक प्रकृति मे क्षोभ पैदा किया जिसके द्वारा प्रकृति के तीनो गुण सत्व, रज, तम जो कि साम्य अवस्था मे थे विषम अवस्था को प्राप्त हो गए। फिर सृष्टि-क्रम आरम्भ हो गया। यह तो निश्चित है कि इस महा आकाश मे लट्टुओ के सदृश्य लटके हुए ये महान भीमकाय गोलाकार गृह-उपगृह मकानो के सदृश्य चुन-चुन कर तो नही बनाये गये होगे। ये तो अग्नि के पिण्ड है जो कि हजारो-लाखो प्रकाश-वर्ष दूरी पर स्थित है। तो वे बने तो कैसे बने, जबकि यह निश्चित है कि वे बने अवश्य। उनके बनने मे कोई-न-कोई उपादान एव निमित्त कारण जरूर रहे होगे। मकानो की ईंटें अपने आप उठ-उठ कर मकान की शक्ल मे नही आ जाती। राजमिस्त्री जैसा निमित्त कारण अवश्य बना रहता है। इस सृष्टि की रचना मे उपादान कारण प्रकृति के तीन गुण है और निमित्त कारण ब्रह्म का ईक्षण अथवा ब्रह्म स्वय। यह ईक्षण क्या है? ब्रह्म का केवल सकल्प मात्र ही तो है। जब ब्रह्म की सकल्प शक्ति के द्वारा यह विराट् विश्व प्रभूत हो सकता है तो मनुष्य जो उसका अश है, उस मनुष्य की विराट् शक्ति कितनी कार्यकृत्त हो सकती है यह कोई भी विचारक अच्छी तरह समझ सकता है। आज का मनुष्य चन्द्रमा तक पहुच गया है और अब तो वह मगल तारे पर धावा बोलने वाला है। उसका यह अचम्भे मे डालने वाला काम उसकी विचार-शक्ति का ही तो फल है। आज जो ये बडे-बडे कल-कारखाने नजर आते हैं इनका जन्म सर्वप्रथम विचार-शक्ति की दुनिया मे ही तो हुआ था। यह विचार-शक्ति उस बीज के सदृश्य है जो कि जमीन मे बोये जाने के बाद भूमि मे उपस्थित क्षारो (पोषण तत्वो) को अपनी प्रस्फुटित होने की आवश्यकताओ के अनुपात मे अपनी तरफ खीचने लगता है जैसे चुम्बक लोहे को। लोहे मे गति का होना असम्भव है किन्तु चुम्बक के सान्निध्य के कारण उसमे गति पैदा हो जाती है। और वह गति भी नियमात्मक होती है। ये गुण लोहे के नही है। चुम्बक से आये हुए है। जितने भी तन्त्र-मन्त्र उपलब्ध है वे सारे-के-सारे विचार-शक्ति से प्रसूत हुए है। ससार की जितनी भी भाषाओ के शब्द-अक्षर है वे सारे-के-सारे विचार-शक्ति से अनुप्राणित है। कहा जाता है कि शाबर मन्त्र शिवजी का दिया हुआ

है। इसका कोई भी अर्थ नही निकलता न इसका जप होता है, किन्तु यह प्रयोग मे शक्तिशाली है। जहरीले जानवरो के काटने पर इसका झाडा दिया जाता है, तो तत्काल फल मिलता है। इसका कारण यह है कि उसके एक-एक अक्षर किसी अदृश्य महान् शक्ति के विचारो से अनुप्राणित है।

यह विचार-शक्ति, ब्रह्म का यह सकल्प, यह ईक्षण विश्व के कण-कण मे समाई हुई है। इस जड प्रकृति के प्रमाणु गतिशील वनते है केवल इस विचार-शक्ति के द्वारा। अग्रेजी मे कहावत है—What is within is without, अर्थात् जैसा विचार करोगे वैसा ही बन जाओगे। स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि हिमालय जैसे महाकाय पर्वत के जर्रे-जर्रे को हिला डालने के लिए विचार-शक्ति सक्षम है। स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे—'इश्क हो रास्त, करामात न हो क्या मानी, हुस्वे इर्शाद हर वात न हो क्या मानी' अर्थात् अगर प्रेम भावनाए सच्ची है, तो उनका असर न हो तो क्या माने रखता है ? ऐसे सच्चे प्रेमी के द्वारा यदि प्रकृति को हुक्म जारी किया जावे और प्रकृति उसके हुक्म की तामील न करे तो उसका क्या अर्थ होता है ? दुष्ट प्रकृति वाले पुरुष के द्वारा शुभकर्म वनते नजर नही आते, ऐसे ही भली सरल शुद्ध प्रकृति वाले पुरुष के द्वारा अशुभ कर्म अक्सर नही बना करते। उसका प्रधान कारण है उन शुभ-अशुभ कर्मो के पीछे शुभ-अशुभ विचार रूपी वीज। आम के वीज मे आम पैदा होगा और नीम के वीज से नीम। इस विश्व का जर्रा-जर्रा अर्थात् अणु-अणु एक महान शक्ति से अनुप्राणित है, सक्रिय है। नीचे थोडे-से उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे।

एक गिलास पानी मे निब की नौक से स्याही का छोटा-सा कतरा डालते ही उसमे से धारायें बहने लगती है। यानी तुरन्त ही पानी के कण सक्रिय हो जाते है और स्याही को निगलने के लिए उसकी तरफ दौडते चले जाते हैं। गिलास का सारा पानी उस स्याही के कणो से गर्भित हो चलता है।

पानी से भरे गिलास मे मिश्री का एक टुकडा डाल दे, कुछ काल पश्चात् वह मिश्री पानी मे घुल-मिल जावेगी अथवा यो कहे पानी के कण मिश्रीमय हो जावेंगे। इस प्रकार यदि हम पानी के एक गिलास मे या कटोरे मे नमक का डला डाल दे तो सारा पानी नमकीन हो जावेगा।

इसी प्रकार हमारे शुद्ध-अशुद्ध विचार अपने-अपने अनुपात मे वायुमण्डल को प्रभावित करते रहते हैं। यदि हमारे विचार शुद्ध है तो वे वायुमण्डल मे

मे प्रतिबिम्बित होकर हमारे विचारो को और भी शुद्ध बनाये चले जायेंगे और उसी प्रकार हमारे अशुद्ध विचार और विशेष अशुद्ध बनते चले जावेंगे। इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि धनी व्यक्ति विशेष धनी होते जाते है और निर्धन और अधिक निर्धन। इसी न्याय के अनुसार हमको हमारे कर्मो का फल निश्चित रूप से मिलता रहता हे। कर्मों का फल हमारे कर्मों का प्रतिविम्ब ही है। यह कर्मो के प्रतिविम्ब कब मिलेंगे ये उनकी गुरुता पर निर्भर करता हे। इसमे समय का प्रश्न अवश्य बना रहता है। जैसे कोई बीज जल्दी अकुरित होता हे और किसी-किसी बीज को अकुरित होने मे समय लगता है। इसमे माध्यम का भी असर अवश्य होता है। विचार-शक्ति बडी सशक्त है, हम जैसा चाहे अपने को बना सकते हैं। एक बहुत ही गरीब घर का बालक नैपोलियन एक सिपाही की हैसियत से फौज मे भर्ती हुआ, तो उसको केवल इतना ही मिलता था कि दोनो समय भर पेट रोटी खा ले। एक दफा उसका छोटा भाई उसके पास जा पहुचा। नैपोलियन दिन मे केवल एक दफे खाकर अपने भाई को दोनो समय रोटी खिलाता रहा। और वही नैपोलियन एक दिन फ्रास का सम्राट बन गया, जिसने ससार मे जबरदस्त हलचल मचादी। उसका कहना था उसके शब्द-कोष मे 'असभव' शब्द को स्थान नही है। उसके इस महान उत्थान मे उसके हृदय की बडी प्रबल भावनाए निरन्तर काम कर रही थी, जो कि एक दिन साकार होकर रही।

चीन मे एक गरीब लडका सडक के किनारे लगे हुए लैपो के प्रकाश के नीचे पढा करता था। एक दिन किसी राहगीर ने एक व्यग कस दिया, अरे तू तो इस प्रकार प्रयत्न कर रहा है मानो किसी दिन तू चीन का बादशाह ही हो जावेगा। उस लडके ने उत्तर दिया कि यदि प्रकृति के नियम सच्चे है तो मैं एक दिन बादशाह होकर ही रहूगा। और ऐसा ही हुआ।

विलिंगटन नामक एक गरीब घर का लडका निराशा मे घर से भागकर लन्दन के घण्टाघर मे जा बैठा। जब घण्टा बजने लगा, तब उस घण्टे की ध्वनि मे उसको ऐसा आभास होने लगा जैसे यह घण्टा कह रहा है—'टन-टन-टन विलिंगटन लोर्ड मेयर ऑफ लण्डन'। उसको साधन प्राप्त हुए और वह एक दिन लण्डन का लॉर्डमेयर बन गया। ये सारी बाते मनुष्य की विचार-शक्ति की प्रबलता के ही करिश्मे है। मनुष्य अपनी शक्ति द्वारा उत्तम-से-उत्तम पद को प्राप्त कर सकता है, और निम्न कोटि के विचार अधोगति मे ले

जाते हैं। ब्रह्म जैसा निर्गुण तत्व भी विचार-शक्ति के द्वारा ही प्राप्तव्य है। हमारे जीवन का सारा खेल हमारे विचारो पर अवलम्बित है। हम गीता अध्याय ८ श्लोक ५,६,१३ के उदाहरण देकर इस आशय की पुष्टि करेंगे।

अन्तकाले च मावेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
य प्रयाति समद्भाव याति नास्त्यत्र सशय ॥

अन्तकाल मे जो पुरुष मेरे को स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता हे इसमे सशय नही है।

य य वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, मनुष्य अपनी जीवित अवस्था मे जिस भाव का चिंतन करता रहता है अन्तकाल मे शरीर को त्यागते समय उसी का उसे स्मरण होता है।

ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देह स याति परमा गतिम् ॥

जो पुरुष ॐ का (एक अक्षररूप ब्रह्म का) उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मे मेरा चिंतन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति को अवश्य प्राप्त होता हे।

उपरोक्त तीनो श्लोको मे स्मरण शब्द का प्रयोग हुआ है और भगवान ने स्मरण शब्द के ऊपर बडा बल दिया हे। किसी विषय पर तेल की धार के माफिक लगातार विचार करते रहना ही तो स्मरण है।

वशीकरण मत्र की शक्ति के बारे मे हम बहुत कुछ सुनते आए है। उसका भी यही अर्थ है कि किसी भी प्राप्तव्य वस्तु के ऊपर अपने विचारो को केन्द्रित कर देना। गरीब जो एक दिन धनाढ्य बन जाते है, अशिक्षित एक दिन धुरन्धर विद्वान बन जाता है, यदि उनसे पूछा जाय तो उनका उत्तर यही होगा कि हम तो अपनी धुन के धनी थे। यहा भी विचार-शक्ति काम कर रही है।

अक्सर देखने मे आता है कि कोमल अग की लडकिया व स्त्रिया तथा-कथित साधु-सन्यासियो एव दुष्ट प्रकृति के कथित वयोवृद्ध पुरुषो के हाथो की कठपुतली बन जाती है। इसमे भी उन दुष्टो की लिप्सा भरी विचार-शक्ति ही

काम करती है। विचार-शक्ति दोनो प्रकार की होती है—एक धनात्मक (Positive) स्वभाव वाली, दूसरी ऋणात्मक (Negative) स्वभाव वाली। दोनो ही शक्तिया अपनी-अपनी परिधि मे सशक्त हैं किन्तु धन स्वभाव वाली शक्ति वडी प्रभावशाली और व्यापक है। उसके सामने ऋण स्वभाव वाली शक्ति झुक जाती है, और कार्यकृत नही हो पाती।

ब्रह्म ने ईक्षण [कामना] किया—मैं वहुत हो जाऊ, मैं प्रजा वाला हो जाऊ। ये ब्रह्म का ईक्षण ही ऋत है, जिस ईक्षण के द्वारा इस विश्व की रचना हुई है।

उपरोक्त लेख मे ब्रह्म, प्रकृति, सत, रज, तम, गुण, मन, वुद्धि इत्यादि शब्द आए हैं। इनका विशेप रूप से विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है जो इस प्रकार है।

अनादि तत्व दो हैं

साख्य और योग दर्शन मे चेतन और जड दो अनादि तत्व माने गए है। पुरुप अर्थात् चेतन तत्व ज्ञान स्वरूप, निष्क्रिय, असग, निर्लेप, कूटस्थ, नित्य है। जड तत्व (सत, रज, तमस) त्रिगुणात्मक सक्रिय और परिणामी नित्य है। परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील। सत्व-गुण प्रकाश, हल्का, सुख, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य व धर्म स्वभाव वाला है। तमस—भारी, अन्धकार, मोह, अज्ञान, अवैराग्य और अधर्म स्वभाव वाला है। रजस—क्रिया, गति, चचलता और दु ख स्वभाव वाला है। इन तीनो गुणो के स्वरूप अर्थात् साम्य परिणाम अवस्था का नाम मूल प्रकृति है। इसको अव्यक्त प्रधान भी कहते है, जो कि केवल अनुमान और आगमगम्य है। चेतन तत्व पुरुप की सन्निधि से इस जड तत्व मे एक प्रकार का विरूप अर्थात् विपम परिणाम हो रहा है।

अवरोहण क्रम (Descent)

१—महत्तत्व—ब्रह्म के ईक्षण से प्रकृति मे क्षोभ पैदा हुआ अर्थात् तीनो गुण सत, रजस, तमस विपमता को प्राप्त हुए। इस विपमता का पहिला परिणाम महत्तत्व है, जो सत्व मे रजस् केवल क्रिया मात्र कार्य करता है। और तमस उस क्रिया को रोकना मात्र है। यह महत्तत्व सत्व की विशुद्धता से समष्टि रूप मे विशुद्ध सत्वमय चित्त कहलाता है, जिसमे समष्टि अहकार वीज रूप से रहता है जो ईश्वर का चित्त है। सत्व की विशुद्धता को छोडे हुए अपने व्यष्टि रूप मे सत्व चित् कहलाता है, जो अनन्त है। इन अनन्त सत्व चित्तो मे व्यष्टि

अहकार बीज रूप से रहता है। ये जीवो के चित्त कहलाते हैं। समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्व का नाम ईश्वर, अपरब्रह्म, सगुणब्रह्म, और शवल ब्रह्म है जो एक सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूप से चेतन तत्व का नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, परम् ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म है। पुरुष शब्द का प्रयोग जीव, ईश्वर, परमात्मा तीनो अर्थों मे होता है।

अहकार —

२—महत्तत्व का विषम परिणाम अहकार —

पुरुष (चेतन तत्व) मे प्रतिविम्बित महत्तत्व ही सत मे रज और तम की अधिकता से विकृत होकर अहकार रूप से व्यक्त भाव मे वहिर्मुख हो रहा है। यह अहकार ही अहम् भाव से एकत्व, वहुत्व, व्यष्टि, समष्टि रूप, सब प्रकार की भिन्नता उत्पन्न करने वाला है। इस विभाजक अहकार ही से ग्राह्य ग्रहण रूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे है।

पञ्च-तन्मात्राए —

अहकार का विषम परिणाम ग्राह्य रूप पञ्चतन्मात्राए —

३—विभाजक अहकार ही सत्व मे रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्राह्य रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओ के रूप मे व्यक्त भाव से वहिर्मुख हो रहा है। ग्राह्य रूप अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य होता है।

४—अहकार का विषम परिणाम ग्रहण रूप अर्थात् ग्रहण करने वाली एकादश इन्द्रिया है। वही अहकार सत मे रज, तम की कुछ विशेषता के साथ अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली शक्ति मात्र पाच ज्ञानेन्द्रियो, और पाच कर्मेन्द्रियो और ग्यारहवा इनका नियन्ता मन रूप मे व्यक्त होकर वहिर्मुख हो रहा है।

५—तन्मात्राओ के विषम परिणाम ग्राह्य रूप पाच स्थूल भूत—अहकार से व्याप्त पाचो तन्मात्राए ही सत मे रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाले आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप पाचो स्थूल भूतो मे व्यक्त भाव से वहिर्मुख हो रही है।

इस प्रकार वहिर्मुखता (अवरोहण) मे, महत्तत्व की अपेक्षा अहकार मे, अहकार की अपेक्षा पाचो तन्मात्राओ और ग्यारह इन्द्रियो मे और तन्मा-

पुरुष वह है जो कि तीनो गुणो की विकृतियो के प्रभाव से ऊपर उठ गया है। अर्थात् इन तीनो गुणो के प्रभाव उस पुरुष सिंह को अपनी विकृतियो से प्रभावित करने मे कुठित वने रहे। ऐसे पुरुष को अतुलनीय, गुणातीत, आप्तकाम, पूर्णकाम कहते हैं। ये सारे ही शब्द समानार्थक हैं। इन गुणों की विकृतिया हैं—सुख-दु ख, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद, मात्सर्य, घृणा, राग, द्वेप, प्रत्यपकार, स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता .इत्यादि। ये विकृतिया मुंह बाये मनुष्य को अपने कराल गाल मे निगलने के लिए तत्परता से उद्यत वनी रहती है। ये गुणो की विकृतिया हमारे चित्त की विकृत वृत्तिया है। ये वृत्तिया जितनी विकृत वनी रहेगी उतनी ही चचल, अशान्त वनी रहेगी। अशान्त वृत्तिवाला पुरुष यदि शान्ति चाहे तो क्या वह आकाश सुमनो का चयन मात्र नही है? इन्ही को भगवान ने गीता अध्याय १६ श्लोक ७ से १८ मे आसुरी सम्पदा के लक्षण वतलाये हैं, जो वन्धन रूप हैं। अर्थात् ये ही इस जीव को ससार के साथ अपने वन्धनो से जकडे हुए हैं। जो उन वन्धनो को तोडने मे समर्थ हो जाता है वही पुरुष सच्चा धीर-वीर है। ऐसे पुरुष को अपने जाल मे फसाने के लिए प्रकृति (तीनो गुण) उसके सम्मुख नाना प्रकार के आकर्षक प्रलोभनो को उपस्थित करती रहती है। पत्थर पर पानी की वूद के माफिक जिस पुरुष पर इन प्रलोभनो का वस नही चलता ऐसा पुरुष ही यथार्थ मे अतुलनीय, गुणातीत, आप्तकाम, पूर्णकाम है।

एक प्रश्न उठता है, तो क्या ऐसे पूर्णकाम, गुणातीत पुरुष कोई भी क्रिया नही करते? किन्तु ऐसी वात नही है। जीवन-यात्रा के लिए शरीर सम्वन्धी सारी क्रियाए चलती रहती हैं, ऐसे पुरुष को भी भूख-प्यास लगती है। मल-मूत्र त्यागना पडता है। किन्तु ऐसे सिंह-पुरुष की दृष्टि के अन्दर शरीर की सारी चेष्टाये जैसे सोना, वैठना, खाना-पीना ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे सब इन्द्रिया अपने-अपने ग्राह्य विपयो मे काम कर रही हैं। ऐसा मानकर वह पुरुष इनमे लिप्त नही होता। ऐसा आत्म-परायण पुरुष सुख-दुखादि द्वन्द्वो से रहित नित्य वस्तु मे स्थित योग-क्षेम तक की परवाह नही करता। ऐसे पुरुषो का जीवन धन्य है। यह मार्ग ही ऋत का मार्ग है। इसके विपरीत जितने भी मार्ग है सारे-के-सारे अऋत के मार्ग है।

जप:—

इस ऋत के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अन्य साधनो मे एक अमोघ

साधन भजन, कीर्त्तन और जप है। भगवान श्रीकृष्ण ने भजन-कीर्त्तन पर बडा बल दिया है। इस सन्दर्भ मे गीता अध्याय ९ श्लोक १३, १४ विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भजन-कीर्त्तन करने वाले को दैवी प्रकृति (जिसमे शम-दम-दया-श्रद्धा आदि गुण प्रधानतया रहते है) का आश्रय लेकर प्रत्यगात्म स्वरूप परमात्मा एकाग्रचित्त हुए निरन्तर भजन-कीर्त्तन करना चाहिए।

आज के वैज्ञानिक युग मे भजन-कीर्त्तन इत्यादि एक अश तक हास्यास्पद माने जाते हैं। और ये सारी चेष्टाए निरर्थक एव व्यग्यात्मक प्रतीत होती है। इसका प्रधान कारण है कि हम भजन-कीर्त्तन की अन्तर्रात्मा को पकड नही पाते किन्तु वे भजन-कीर्त्तन हमारे चित्त की तितर-बितर छितरी हुई वृत्तियो को प्रभु के अभिमुख करने मे सक्षम है। इतना लिख देने मात्र से आज के वैज्ञानिको को सतोष होने का नही, जब तक कि वैज्ञानिक ढग मे प्रयोगात्मक उदाहरण उपस्थित न कर दिये जाए।

दो मैगनेटो को समानान्तर दूरी पर रखे और इन दोनो मैगनेटो के ध्रुव एक-दूसरे से विपरीत दिशा मे रखे जाए। इन दोनो मेगनेटो के ऊपर एक काच का प्लेट रख कर, उस प्लेट के ऊपर लौह-कण (Iron Filings) छिडक दिये जाए तो देखने मे आता है कि इनमे कोई गति नही होती, किन्तु यदि हम उक्त प्लेट के किसी एक कोने को धीरे-धीरे थपथपाने लगें, तो ये लौह-कण गतिशील बनकर एक निश्चित दिशा मे आ जाते हैं। और इन कणो की एक-दूसरे से सलग्न धारिया बन जाती है। इन्ही धारियो को Lines of Force कहते है अर्थात् Magneteic field और प्रत्येक कण उत्तर और दक्षिण ध्रुव वाले हो जाते हैं। यह प्रयोगशाला मे सिद्ध किया जा चुका है कि उत्तर से दक्षिण की तरफ एक शक्ति निरन्तर प्रवाहित होती चली जा रही है। जब तक कि हमने प्लेट को थपथपाया नही था, ये कण निष्क्रिय बने पडे थे। थपथपाने मात्र से ये कण Magnetic क्षेत्र में प्रवेश कर गये और प्रत्येक कण छोटा-सा मैगनेट बन गया, अथवा यो कहे चुम्बकीय प्रेरणा से प्रभावित होकर प्रत्येक कण चुम्बक बन गया। ये लौह के कण हमारी चित्त की वृत्तियो के प्रतीक है, और जब थपथपाहट रूपी कीर्त्तन किया जाता है तो हमारी सारी चित्त की वृत्तिया ब्रह्मोन्मुख अर्थात् परमात्मा तत्व के अभिमुख हो चलती है और एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होने लगता है, क्योकि परमात्मा तत्व आनन्दस्वरूप है। भजन-कीर्त्तन से हम उस आनन्द क्षेत्र मे प्रवेश कर जाते हैं।

साधारणतया हम आनन्द और सुख को समानार्थक ही समझते हैं,

किन्तु सुख इन्द्रियजनित है; जो स्थायी नही है, और यह सुख तीनो गुणो के प्रभाव से वचित नही बना रहता। आनन्द गुणातीत है। जब आत्मा उस आनन्द को चख लेता है, तब फिर वह उस आनन्द मे वना रहना ही चाहता है, क्योकि आत्मा का भी स्वरूप आनन्दमय है। आत्मा और परमात्मा के बीच मे अश-अशी का सम्वन्ध ही तो है।

जव कीर्त्तन की प्रवृत्ति हमारे अन्दर घर कर लेती है तो आनन्द का स्रोत बहने लगता है और जीवात्मा उसमे अवगाहन करते अघाता नही। इसी कीर्त्तन की विधा ने गौराग महाप्रभु को अपने समय का ही नही, सब समय का एक उत्कृष्ट उच्चकोटि का भक्त बना दिया। इसलिए कीर्त्तन से कदापि झिझकना नही चाहिए। यह भजन-कीर्त्तन केवल हिन्दू समाज मे ही प्रचलित हो, ऐसी वात नही है। ससार भर के मत-मतान्तरो मे इस कीर्त्तन-भजन की विधा प्रचलित है—केवल रूपान्तर भेद है। चर्च मे प्रार्थनाए होती है, चीन, जापान, बर्मा मे पाये जाने वाले भिक्षुक हाथ मे माला लिये हुए मत्र जाप करते रहते है। यहा तक कि मुसलमानो मे भी उनके पहुचे हुए मुल्ला-मौलवियो के हाथ मे भी माला पाई जाती है। भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो की कीर्त्तन-भजन-स्तुति आदि की भिन्न-भिन्न विधाए है, किन्तु वे सारी विधाए अनुप्राणित है केवल एक तत्व से जो है ब्रह्म तत्व।

आज कल ऐसा भी कहते हुए सुना जाता है, मुह मे राम, बगल मे छुरी। किन्तु हम पहले ही लिख आये है कि भजन-कीर्त्तन किस स्तर पर करना चाहिए। वह स्तर दैवी सम्पदा से प्रयुक्त बना रहना चाहिए। तब भजन-कीर्त्तन का प्रभाव चमत्कृत हो उठता है। यदि हम नमकीन रायते मे चीनी को घोल दे, तो चीनी का मीठा स्वाद तो अवश्य आयेगा, लेकिन नमक का स्वाद भी साथ-साथ बना रहेगा। यदि हमको चीनी का ही स्वाद लेना हो, तो नमक रूपी कुवृत्तियो का निराकरण करना आवश्यक है। इसमे प्रभु का प्रसाद अपेक्षित है, और उसका प्रसाद उससे मागने पर ही मिलता है। यह एक निसन्देहात्मक तथ्य है। इसमे शका को कोई स्थान नही। इसलिए कीर्त्तन, भजन सकीर्त्तन करने मे किसी प्रकार की झिझक नही होनी चाहिए। यह हमको प्रभु के समीप ले जाने मे बडा ही सक्षम है। उस प्रभु से प्रार्थना है कि वह हमारी बुद्धि को अर्पन अभिमुख प्रेरित करता रहे।

कर्म विपाक

कर्म-विपाक का क्षेत्र वडा व्यापक और गहन है। और ठीक भी है।

भगवान कृष्ण ने भी यही कहा है—गहना कर्मणो गति—कर्म की गति गहन है, जिस विषय मे बुद्धिमान पुरुष मोहित बने रहते हैं। फिर इस विषय पर लिखने की धृष्टता कहा तक क्षम्य मानी जा सकेगी, यह विवादास्पद ही है, इसमे दो राय नही है। किन्तु प्रयत्नशील बने रहने मे भी दोष नही है।

हमारा प्रत्येक कर्म बीजरूप होता है, और जैसे बीज बोये जाने पर समय पाकर अकुरित होता है, फिर पेड के रूप मे आकर उसमे अपने बीजानुरूप फल लगने लगते है, उसी प्रकार हमारे कर्मों का फल भी स्वभावत मिलता रहता हे। यहा स्वभावत का अर्थ ह प्रकृति द्वारा। हमारे अन्दर पौराणिको इत्यादि से प्रभावित एक विचारधारा बनी कि यमराज प्रत्येक मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा रखते है। यह बात भगवान के श्रीमुख से स्वत ही कट जाती है। गीता अध्याय ५ श्लोक १४ और १५ दृष्टव्य है—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।

परमेश्वर भी भूत प्राणियो के न कर्मो को तथा न कर्मो के फल के सयोग को वास्तव मे रचता है, किन्तु परमात्मा के सकाश से प्रकृति ही वर्तती है अर्थात् गुण ही गुणो मे बर्त रहे है।

नादन्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ।।१५।।

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न किसी के शुभकर्म को भी ग्रहण करता है, किन्तु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ हे, इससे सब जीव मोहित हो रहे है।

बीज स्थूल है। जब उसको भूमि मे बोया जाता हे तो वह भूमि मे उपस्थित क्षारो को अपनी आवश्यकता के अनुपात मे खीचता रहता है। ये क्षार बीज के पोषण तत्व हैं। बीज अकुरित होता हे, पौधे के रूप मे आता है। इन सब क्रियाओ का प्रत्यक्षीकरण होता रहता है।

और-इससे भी सूक्ष्म क्रिया उस भ्रूण की होती है जो कि वीर्य का कण जब माता के गर्भ मे प्रवेश करता है तो वह कण चर्मचक्षु का विषय तो है ही नही, और माता के रज से पोषण तत्वो को लेकर धीरे-धीरे शिशु के

रूप मे . आकर जब वह सागोपाग बन जाता हे तो माता के उदर से बाहर आ जाता है।

इन सबसे सूक्ष्म गति कर्मों की है। कर्म वडे सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते है और इन कर्मों का गर्भ-स्थान भी वडा सूक्ष्म हे। यह गर्भ-स्थान त्रिगुणात्मक प्रकृति है और हमारे कर्म विपाक होने के लिए इन तीनो गुणो से पोपित होते हैं। और जब कर्मो का विपाक हो जाता है तव उसका फल दृष्टिगोचर होने लगता हे। चूकि विपाक की अन्तष्क्रिया का प्रत्यक्षीकरण हो नही पाता, इसलिए हम कर्म-विपाक मे विश्वास नही करते, और मनमाने कर्म करते रहते हे और जव बुरे कर्मो का फल मिलता हे तव धाड मारकर चीख उठते है। वोये पेड वबूल के, आम कहा से होय ?

यह ऋत का वह चक्र है जिसके प्रभाव से कोई बच नही सकता। ऋत ही वह एक अचूक तराजू है जिस तराजू मे अणु-से-अणु कर्म भी तुले विना रहते नही, गम्भीर कर्मो की तो वात ही क्या। कर्मों के फल मिलने मे समय का प्रश्न तो हमेशा बना रहेगा और बना रहता है, लेकिन मिलता अवश्य हे। क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होकर रहती है। कोई भी ध्वनि और कोई भी भाव निरर्थक जाते ही नही। ये तो वायुमण्डल मे घात किये बिना रहते नही। कहा अमेरिका और इग्लैण्ड, और कहा हम ? कहा चाद और कहा हमारी पृथ्वी ? वहा की आवाज हम यहा सुनते है रेडियो के माध्यम से। एक शब्द की लहरिया सारे वायुमण्डल मे इस तरह से विस्तृत हो जाती है कि जहा चाहो उनको पकड लो। कर्मो की प्रतिक्रियाओ की एक लडी-सी बनती है जो कि हमको जकड लेती है। ध्वनि, गूज, प्रति-गूज, प्रप्रतिगूज होती चली जाती है। दो काच के वीच मे एक पदार्थ रख दे और जिधर भी देखेगे उस पदार्थ के अनन्त प्रतिबिम्व दृष्टिगत होते रहते हैं। पिता हुआ, उसका लडका हुआ, लडके का लडका, फिर उसका लडका—उस पिता का अश इन सभी पुत्र, पोत्र, प्रपौत्र आदि मे बना रहता हे।

कर्म की ऐसी गहन गति है। यदि हम सभल कर कर्म न करे, तो उनके फलो का भोग कितना और कव तक भोगना पडेगा, इसका आकलन करना मनुष्य की वुद्धि का विपय नही है। इन कर्मों और प्रतिकर्मो का सिलसिला तभी वन्द होता है जवकि हम अपने को ऋत के समर्पित कर देते हे। इसी आधार पर भगवान ने कहा है कि विना ज्ञान के कल्याण नही, ज्ञान उस

परम तत्व का साक्षात्कार है। और उसका साक्षात्कार होने पर प्रकृति पगु बन जाती है और हमारा अहकार जो इतना बहिर्मुख है वह शान्त हो जाता है। हमारे अहकार की शान्ति ही एक सच्ची शान्ति है और तभी हमको प्रभु के दर्शन हो पाते हैं। उस ऋत की जय हो, जय हो, जय हो। हमारे लिए मगलकारी हो।

उपसंहार

ऋत सृष्टि का आदि और धारक तत्व है। ब्रह्म का ईक्षण ही तप है। इस तप से ऋत एव सत्य हुए। ऋत निरपेक्ष सत्य (Absolute Law) है, सत्य सापेक्ष सत्य (Relative Law) है। ऋत की अखडता देश और काल से ऊपर की वस्तु है। वैज्ञानिक इसे Supreme Law कहकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह सभी ऋत-पथ के अनुयायी हैं। ऐसे-ऐसे दूरस्थ नक्षत्र और नीहारिकाए है जिनके प्रकाश को हमारी पृथ्वी तक पहुचने मे करोडो वर्ष लग जाते है। सूक्ष्म और विराट विश्व के अनन्त रूप को एक सूत्र मे ग्रथित करनेवाला जो रहस्य है वही ऋत है। लाखो-करोडो प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित नक्षत्रो मे विकास और विलय के जो नियम कार्य कर रहे है वे ही हमारे समीप भी है। ध्रुव नक्षत्र आदि मे जीवन व मृत्यु का जो अनुशासन है वही इस पृथ्वी पर भी है। देश और काल के कोठे मे आदि से अन्त तक एक ही नियम व्याप्त है। यह सुप्रीम लॉ ऋत का तन्तु है। यह तन्तु प्रत्येक परमाणु मे अनुस्यूत है, पिरोया हुआ है, अनुप्राणित है। इस धागे ने सब स्थावर-जगम को आवृत्त-परिछिन्न कर रखा है। कोई भी ऐसा तत्व नही है जो इसकी परिधि से बाहर इससे स्वतन्त्र स्थित हो।

ज्ञानाग्नि और ऋत का शाश्वत मेल है। ज्ञान-चक्षु को सहज ही विश्व-नियन्ता के ऋत का दर्शन सर्वत्र हो सकता है। ऋत के विपरीत जो आचरण करता है उसे वरुण के पाश बाध लेते है। ऋत का मार्ग सीधा और सरल है। यही सत्य, शिव, सुन्दरम् का मार्ग है। इसका उल्टा मार्ग अनृत है। अनृत का कुटिल और टेढा मार्ग ही मृत्यु का पथ है। मनुष्य ज्यो-ज्यो ऋत मार्ग की अवहेलना करता है, और पाप मे फसता चला जाता है, त्यो त्यो वरुण के पाश उसके चारो ओर घेरा डालने लगते है। वरुण-पाशो से छूटने का नाम ही मोक्ष है। ऋत-गामी मन दिव्य होता है। अनृत

से सनकर वही क्षुद्र हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम व्रत यही है कि हम अनृत-गामी इन पापो से मुक्त रहे।

प्रकृति की शक्तिया कभी ऋत का उल्लघन नही करती। सूर्य, चन्द्र, दिन, रात, सवत्सर अपने दैवी मार्ग मे अमृत भाव से सचरण करते है। केवल मनुष्य ही उस मार्ग से द्रोह करता है। ऋत-मार्ग का विरोध यदि मनुष्य के स्वभाव से दूर हो जाय, तो मनुष्य भी देवता वन सकता है। जीवन को ऋतात्मक वनाने का प्रयत्न ही ऋत का दार्शनिक अनुभव है। ऋत का ससार वरुण के घेरो से स्वतन्त्र है। मनुष्य जव तक ऋत के इस महान् तन्तु-सूत्र से दूर रह कर उसकी प्रेरणा से वचित है, तव तक भय और मृत्यु उस पर सवार वने रहेगे। जिस समय वह अपने केन्द्र को पहचान कर विराट वनता है, उसकी सीमाये या वन्धन स्वय शिथिल होकर छूट जाते है।

यह ऋत ब्रह्म का बीज है जिसे वह अपनी महत् ब्रह्म रूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया—जो कि सम्पूर्ण भूतो की योनि है—उसमे वमन करता है और उस योनि से यह विराट जगत् उद्भूत होता है। यहा गीता अध्याय १४-३ द्रष्टव्य है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन गर्भ दधाम्यहम्।
सभव सर्व भूतानामृत तो भवति भारत ॥

ऋत का पालन अमृत है, उसकी अवहेलना मृत्यु है।

इस विराट विश्व के विस्तार की महिमा का जरा दर्शन तो करे। जो नक्षत्र करोडो प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित है और जिनके प्रकाश को पृथ्वी तक पहुचने मे करोडो वर्ष लग जाते है, वे प्रकाश-पुज हमारे सूर्य देव से कितने हजार-लाख गुना भीमकाय नक्षत्र होगे—यह हमारे मस्तिष्क का विषय है, गणित के दशविध अक उनके सामने रो देते हैं। उनके प्रकाश के सामने हमारे सूर्य का प्रकाश अस्त ही हो जायेगा। तो क्या उन नक्षत्रो के आगे और नक्षत्र नही होगे? अवश्य होगे। अनन्त की माया उसकी यह कृति भी अनन्त है, किन्तु है ससीम, असीम ससीम मे समाया हुआ है और उससे भी परे है। यह विराट विश्व जो असख्य नक्षत्रो का एकस मूह मात्र है, जिसमे करोडो-अरबो नक्षत्र समाहित है, यह विश्व तो उस अनन्त के एक अश मे झूल रहा है। ऐसे अनन्त का बीज ही यह ऋत है। यह विश्व उसकी धुरी पर अधिष्ठित है और उस ऋत का अधिष्ठान है वह परम ब्रह्म! ओम् शाति, ओम् शाति, ओम शाति!!

पुरुषार्थ एवं भाग्य

यह आज का एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है कि पुरुपार्थ वडा है या भाग्य ? प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन-सघर्ष मे प्रति क्षण पुरुषार्थ और भाग्य के आन्तरिक भेद की समस्या का सामना करना पडता है। जव कभी वह अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तत्पर होता है तो स्वभावत उसके मन मे यह प्रश्न उठता है कि भाग्य के वल पर जव कोई वस्तु प्राप्तव्य है ही, तो वहा पुरुपार्थ का क्या प्रयोजन है ? किन्तु नीतिकार कहते हैं कि भाग्य की दुहाई देना कापुरुषो का कार्य है। जीवन की भित्ति पुरुषार्थ है। पुरुपार्थहीन जीवन निरर्थक है, ठुकराने योग्य है। पुरुपार्थ की अवहेलना मूर्खता का प्रधान लक्षण है। विना हाथ हिलाये भोजन का ग्रास भी मुख मे जाने को तैयार नही, तदर्थ पुरुपार्थ प्रधान है। किन्तु जीवन का विकास पुरुपार्थ एव भाग्य की गुत्थी वनी हुई है। इसको सुलझाना ऊपर से देखने मे वडा कठिन प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे है सरल।

पूर्व-जन्म के सचित कर्मो का फल ही भाग्य है, और उनको भोगने के लिए

एव जीवन मे विकास लाने के लिए ही मनुष्य का जन्म होता है, क्योंकि हमारा जीवन कर्म-प्रधान है । भोग-योनि नही । बच्चे के जन्म होने तक उसके वैयक्तिक पुरुषार्थ के दर्शन नही होते । माता के स्तनों मे दूध का सचार एव माता-पिता के द्वारा उसका पालन-पोषण उस बच्चे का पुरुषार्थ नही, यह उसका भाग्य है । जीवन मे अगर ऐसी घटनाए घटित होती है जो कि वैयक्तिक अधिकार के बाहर की बात है । किसी-किसी को अनायास धनराशि प्राप्त होती दिखाई पडती है । राजा को रक तथा रक को राजा बनते देर नही लगती । इन सारी घटनाओ के अतर्गत कोई ऐसी शक्ति कार्य करती है जिसकी गणना पुरुषार्थ की परिधि मे नही की जा सकती । किन्तु कार्य का कारण अवश्य होता है और वह कारण ही हमारा भाग्य है । भर्तृहरि ने भी लिखा है

> नैवाकृति फलति नैव कुल न शील
> विद्यापि नैव नच यत्नकृतापि सेवा
> भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
> काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षा ॥९६॥ नीति शतकम् ।

पुरुष का न तो (सुन्दर) आकार फल देता है, न (ऊचा) घराना, न सदाचार, न विद्या और न परिश्रम के साथ की गई सेवा, प्रत्युत पहले (पूर्व जन्म मे) किये गए तप के द्वारा अर्जित किया हुआ भाग्य ही उचित समय पर वृक्ष की भाति फल देता है । अत इन सब का कारण भाग्य ही है । अतएव पूर्व, एव वर्तमान जीवन के किए गए कर्मों का फल मिलना निश्चित है । यह सत्य है । इसका व्यतिक्रम नही हो सकता ।

तो फिर स्वभावत प्रश्न उठता है, क्या हम भाग्य के सहारे निष्क्रिय बैठे रहे ? जो होनी है, टल नही सकती, इस सिद्धान्त पर विश्वास करके जीवन को निष्क्रिय बना दे ?

इसका उत्तर यही है कि कर्महीन जीवन तो निकृष्ट है । निष्क्रियता जीवन का भविष्य बना नही सकती । पूर्व जन्म मे हमारे किये हुए अच्छे-बुरे कर्मों का फल वर्तमान एव भावी जीवन मे मिलता है । इस फल को प्राप्त करने के लिए ऐसे कर्म करने की आवश्यकता है जिससे कि इच्छित फल प्राप्त हो । उदाहरण स्वरूप, जल प्राप्ति हेतु कुआ खोदना पडता है । बिना कुआ खोदे पृथ्वी के अन्दर का जल कैसे प्राप्त हो सकेगा ? अत जल तक पहुचने के लिए पृथ्वी की परते हटानी ही होगी । इसके अतिरिक्त, कुए मे

पानी आने पर भी, विना खीचे हमे प्राप्त नही हो सकता। पृथ्वी के नीचे पानी का रहना एक तरह का भाग्य है। (यहा व्यक्ति द्वारा कुआ खोदना एव पानी कुए मे खीचना उसका पुरुषार्थ है।) कुआ खोदने मे पानी पैदा नही होता। वस्तुत वर्तमान पानी ही कुआ खोदने पर प्राप्त होता है। यद्यपि पानी स्वय तो ऊपर आने के लिए लालायित बना रहता है किन्तु माध्यम की खोज मे रहता है। सूरज का प्रकाश भी हमारे यहा तक अनेक माध्यमो के द्वारा ही पहुचता है। यह माध्यम ही पुरुषार्थ है। कुआ जितने बडे व्यास मे खोदा जाता है उसके अनुपात मे ही जल राशि प्राप्त होती है। हमने कुआ खोदा और ऐसे स्थान पर जहा कि हमे पानी नही मिला या मिला तो कम मिला अथवा मीठे की जगह खारा पानी मिला, तो यहा पुरुषार्थ मे तो कमी नही रही किन्तु उस पुरुषार्थ का इच्छित फल नही मिला क्योकि वहा इच्छित पानी नही था अथवा हमारे सचित कर्मों का फल कमजोर था।

शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर दिन भर के श्रमोपरान्त भी अपना पेट ही भर पाते है क्योकि इनमे बुद्धि तत्व विकसित नही हो पाता, जबकि बौद्धिक पुरुष थोडे से शारीरिक श्रम से अधिक धन प्राप्त कर लेते है। यहा पुरुषार्थ का स्थूल रूप नजर नही आता किन्तु उसका सूक्ष्म रूप पूर्ण सक्षम है। तीव्र बुद्धि, स्वस्थ शरीर ये अच्छे कर्मों का फल ही हैं। ये ही भाग्य के रूप मे प्रगट होते हैं। भाग्य एव पुरुषार्थ एक-दूसरे के पूरक है। भाग्यहीन पुरुषार्थी अपने जीवन मे विशेष सफल नही हो पाता। इसी प्रकार भाग्यवान किन्तु पुरुषार्थहीन पुरुष अपनी प्रगति को कुठित कर लेता है। जो बुद्धिमान गतिशील रहते हैं, उनके जीवन मे सुख और समृद्धि उनके दरवाजे खटखटाती रहती हैं। ससार तो सुख-समृद्धि का श्रोत है। क्योकि सृष्टिकर्ता तो सर्व-आनन्दमय (रसो वैस) है, फिर इसकी रचना दुखदायी कैसे हो सकती है? जो जितना भी चाहे पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर सकते है। माना, एक स्थान पर खजाना पडा हुआ है, उसमे लोहे के कपाट लगे हुए है तथा मजबूत ताला भी है। इस ताले को खोले विना कपाट खुल नही सकता। कपाटो को खोले बिना धनराशि प्राप्त नही हो सकती। अत भाग्य स्वरूप धनराशि प्राप्त करने मे, कपाट खोलने का उपक्रम अनिवार्य है। यही पुरुषार्थ का रूप है।

एक बीज मे अपने सदृश्य हजारो बीजो मे परिणित होने की शक्ति निहित रहती है। बीज को अपनी शक्ति के प्रस्फुटन मे किसी विशेष माध्यम की आवश्यकता है। यह माध्यम है पृथ्वी। किन्तु बीज के जड होने के

कारण चेतन शक्ति की आवश्यकता होती है। चेतन एव जड़ के ही सयोग से तो व्यक्ति बनता है। यहाँ बीज एव भूमि भाग्य है और पुरुषार्थ किसान का रूप है। इनके सयोग से ही खेती होती है। भरपूर अन्न उत्पन्न होता है। एक से अनेक बीज पैदा होते है। यदि किसान उपयुक्त भूमि की पहचान मे धोखा खा जाय, तो वह बीज निष्क्रिय हो जायेगा, उसकी प्रस्फुटन शक्ति कु ठित हो जायेगी। अत हरी-भरी खेती के लिए सुन्दर बीज, उपयुक्त भूमि, जल, खाद और किसान का श्रम एव बुद्धि का समन्वय तथा सयोग अनिवार्य है। इनके अभाव मे कृषि अच्छी नही हो सकती। इसी प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए भाग्य एव पुरुषार्थ का सयोग एव सामजस्यपूर्ण समन्वय अनिवार्य होता है।

मनुष्य के जीवन मे समय-समय पर सुअवसर आते रहते है, लेकिन उनका सदुपयोग न करने पर वे निरर्थक हो जाते है। किसी वस्तु को प्राप्त करने मे पात्रता प्रधान है। वर्षा हुई। समतल भूमि मे तो पानी रुकने का नही। पानी तो वही एकत्रित होगा जहा गढ्ढा रूपी पात्र हो। छोटे गड्ढे मे थोडा पानी, बडे गड्ढे मे अधिक पानी तथा तालाव मे और अधिक पानी एकत्रित होगा। वर्षा सब के लिए समान थी। किन्तु वर्षा का जल किसी विशेष स्थान पर एकत्रित होना उसकी पात्रता पर निर्भर करता है। यहा गढ्ढा या तालाव खोदना पुरुषार्थ है। वर्षा का जल सचित होना भाग्य है। पर्याप्त वर्षा से पर्याप्त पानी सचय हो सकता है और कम वर्षा से कम। वर्षा का पानी हमारा भाग्य है। तालाब को खोदने पर भी यदि समतल भूमि से, तालाब की तरफ पानी के बहाव के लिए नालिया न काटी जाय यानी पुरुषार्थ न किया जाय तो पर्याप्त जलराशि प्राप्त नहो हो सकेगी। अपने को उपयुक्त पात्र बनाने का कार्य बिना पुरुषार्थ के सिद्ध नही होता। शारीरिक परिश्रम, बौद्धिक एव मानसिक विकास, अध्यवसाय, सच्चाई, उच्च भावना तथा उच्च लक्ष्य आदि के समन्वय से मनुष्य एक ऐसा पात्र बनता है, जिसमे अन्य पुरुष अपने उत्तम पदार्थों को रखने के लिए लालायित बने रहते है। जैसे कोई एक पात्र बहुत सुन्दर है और बढिया धातु का बना हुआ है किन्तु उसके पेंदे मे छिद्र है। भला ऐसे पात्र मे कोई तरल पदार्थ रक्खेगा? और वह क्या तरल पदार्थ उस पात्र मे स्थिर रह सकेगा? क्या ऐसे पात्र मे किसी वस्तु का पाक किया जा सकता है? इन सब का एक मात्र उत्तर है—नही! क्योकि जैसे-जैसे हम उसमे पदार्थ डालते जायेंगे वैसे-वैसे वह छिद्र से

वाहर गिरता जायेगा तथा अग्नि उसे स्वाहा करती जायेगी। इस पात्र के छिद्र हैं—वेईमानी, छल, कपट, लोभ, इत्यादि निम्न कोटि की प्रवृत्तिया। पुरुषार्थ केवल शारीरिक श्रम ही नही है। उपरोक्त अवगुणो का निराकरण ही परम पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ के दो रूप हैं—एक ऋणात्मक (Negative), दूसरा धनात्मक (Positive)। ऋणात्मक पुरुषार्थ का फल कटु तथा धनात्मक पुरुषार्थ का मधुर होता है। चोरी, डकैती, नाना प्रकार के दुराचार, व्यभिचार, दगावाजी, पाकेटमारी ये भी पुरुषार्थ की ही परिधि मे आते है। लेकिन ये ऋणात्मक पुरुषार्थ हैं। इनका फल कटु होता है। इसके फलदार फल भी कटु वने रहते हैं जैसे किसी स्त्री ने किसी पर-पुरुप के साथ एक वार भी रति कर ली अथवा चेष्टा भी की हो तो उसका नाम कुलटा आजन्म वना रहेगा। चोर-डाकू आगे चलकर कितने भी अच्छे आदमी वन जाये किन्तु किये हुए कुकर्म उन पर से पुत नही सकते। इतना ही नही, इनके कुकर्मों के फल केवल इन्ही को नही इनके कुटुम्बियो को भी भोगने पड़ते हैं। इनके द्वारा अपहृत धन तो सभी के काम आता है। यह कैसे हो सकता है कि मीठा-मीठा मेरा और खट्टा-खट्टा तेरा। इसके विपरीत जो साधु कर्म होते हैं, उनका फल मीठा होता है तथा उनका फल-दर-फल मीठा होता चला जाता है। हमने कुआ खोदा, कुआ खोदने का कार्य तो एक ही वार हुआ किन्तु इससे प्राप्त होने वाला जल सैकडो-सैकडो साल तक जीव-जन्तु, मनुष्य, खेती-वाडी, वाग-वगीचो आदि के काम आता रहता है। एक विद्यार्थी दत्त-चित्त होकर एम० ए० या डॉक्टरी अथवा कानून की परीक्षा पास करता है तो पास तो वह एक ही वार करता है, लेकिन उसका साधु फल वह स्वय तथा उसका कुटुम्व एव समाज उसके जीवनपर्यन्त भोगता हे। वह आगे चलकर समाज का, देश का गौरव वनता है। गगा तो कही-न-कही वह ही रही थी। लेकिन भागीरथ अपने पुरुपार्थ के द्वारा गगा की प्रवाहित धारा को मैदान की तरफ मोड कर ले आये। भागीरथ को मरे तो हजारो साल हो गए किन्तु गगा का यह पुण्य श्लोक नाम भागीरथी, जव तक पृथ्वी पर गगा प्रवाहित होती रहेगी, मिटने का नही। इसगगा से करोडो-करोडो पशु-पक्षी, मनुष्य एव अन्य जीवो का उपकार होता है। इस गगा जल से हजारो-लाखो एकड भूमि सीची जाती है तथा हरी-भरी खेती होती है। अत साधु कर्म से केवल वह व्यक्ति ही नही अपितु सम्पूर्ण समाज एव देश लाभान्वित होता है।

कर्म करना ही तो पुरुषार्थ है। पूर्व जन्म मे किये गए अच्छे या बुरे कर्मों के सचित फलस्वरूप ही तो वर्तमान जीवन मे हमारा भाग्य बनता है। जैसे कि पत्थरों मे सुन्दर मूर्त्तिया छिपी रहती है लेकिन हमे दृष्टिगत नही होती। शिल्पी अपनी छैनी से मूर्त्ति पर से पत्थर का आवरण हटा देता है। यहा पर शिल्पी के पुरुषार्थ के बिना वे प्रगट होने मे असमर्थ थी। इसी प्रकार जीवन की कैसी भी गिरी अवस्था को पुरुषार्थ के द्वारा अच्छे रूप मे सुधारा-तराशा जा सकता है। मनुष्य बुद्धिजीवी होने के नाते प्रगतिशील, विकासशील है, और वह अपने भाग्य को शिल्पी की पुरुषार्थ रूपी छैनी के सदृश्य प्रत्येक क्षण गढता रहता है। आज का दिन कल का भविष्य बनता है। मनुष्य के वर्तमान काल का सदुपयोग उसके भाग्य का निर्माण-कर्ता बनता है। जो अपने वर्तमान समय को नष्ट कर देते हैं, उसी अनुपात मे अपने भाग्य को हीन बना लेते है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण उसके भाग्य को गढता रहता है। भाग्य ने अगर साथ दिया तो आज का पुरुषार्थ विशेष चमत्कृत होगा अन्यथा आज का पुरुषार्थ निष्फल तो जा ही नही सकता। पुरुषार्थहीन पुरुष अपने जीवन की असफलताओं को अपने भाग्य के मत्थे मढ कर सन्तोष कर लेता है। किन्तु वह जरा भी सोचता नही कि क्या सचमुच उसके भाग्य ने ही दगा दिया है अथवा वह स्वय ही अपने को धोखा दे बैठा है ? कोई किसी को धोखा नही देता वरन् मनुष्य स्वय धोखा खाता है। सतर्क, बुद्धिमान, दूरदर्शी व्यक्ति धोखा नही खाते, फिर उन्हे भला धोखा कौन दे सकता है ?

निर्माण-कला के अन्दर कितनी वस्तुए आती हैं किन्तु निर्माणकर्ता के बिना वे सारे-के-सारे उपकरण कोई विशेष रूप नही ले सकते। इमारत को बनाने मे उपकरण और निर्माता दोनो की आवश्यकता होती है। दोनो ही अनिवार्य अग हैं। इसी प्रकार भाग्य एव पुरुषार्थ दोनों एक-दूसरे के अनिवार्य अग हैं एव एक-दूसरे के पूरक है। यह एक याद रखने की बात है कि मनुष्य प्रत्येक क्षण अपना भविष्य बनाता रहता है यानी भाग्य गढता रहता है। शिल्पी की छैनी के सदृश्य, इसके पास भी औजार है जिनसे वह अपना भाग्य गढता रहता है। वे औजार है मनसा-वाचा-कर्मणा। इन्ही की तो परिधि मे वह चलता-फिरता और काम करता नजर आता है। मनुष्य बुद्धिजीवी होने के कारण अपने भविष्य को अच्छा-बुरा बनाने मे समर्थ है। मनुष्य के अन्दर समय-समय पर भयकर से भयकर जीव-जन्तुओ के स्वभाव परिलक्षित होते रहते हैं। और वही मनुष्य अपनी सात्विक बुद्धि के बल पर अपने को

इतना ऊचा ले जा सकता है कि वह देवताओं की भी ईर्ष्या का विषय वन जाता है। गान्धी, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, गौतम बुद्ध इत्यादि इत्यादि हमारे जैसे ही तो साधारण कोटि के मनुष्य थे। किन्तु अपने सात्विक बुद्धि तत्व के वल-पर ही तो वे आज समय के ऊपर अपनी छाप लगाकर चले गये। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के अधिकार की वात है कि वह अपने को पतनोन्मुख कर चले अथवा उच्च-से-उच्च कोटि का बना ले। यह सब ही कार्य पुरुषार्थ की परिधि मे आते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की परिधि मे जो घूमता रहता है वह पतनोन्मुखी हुए विना नही रह पायेगा और जो इनको अभिभूत कर इनके परे चला जाता है वह सत्स्वरूप ईश्वर तत्व को प्राप्त कर लेता है। अन्तत जीवात्मा तो परमात्मा का ही रूप है जैसे घटाकाश महाकाश से भिन्न नही। यो देखने मे घट के अन्दर परिमित आकाश महाकश से भिन्न दिखाई देता है किन्तु किसी भी प्रकार का घट अथवा वडे-से-वडा प्रासाद, जो कि आकाश को घेरे हुए है, उस महाकाश को विभाजित करने मे असमर्थ है।

मनुष्य तो कर्म अथवा पुरुषार्थ करने का ही अधिकार रखता है वस्तुत उसके कर्म के फल का प्रदाता तो कोई और ही है। जव मनुष्य को यह मालूम है कि दुष्कर्म का फल कटु तथा सद् कर्म का फल मधुर होता है तो फिर क्यो नही वह जीवन को उन्नत व सुखद वनाने के लिए सद्कर्म या धनात्मक पुरुषार्थ करे। यह प्रत्येक मनुष्य के अधिकार की वात है कि वह गन्दगी से रहे अथवा स्वच्छता से।

पूर्व कृत अशुभ कर्मों का फल सत् पुरुषार्थ के द्वारा फीका वनाया जा सकता है, हालाकि उनका नितान्त धो डालना तो शायद मुमकिन नही है। देखने मे आता रहता है कि दुष्कृत कर्मो के करने वाले फलते-फूलते नजर आते है। लोगो को विश्वास यह हो चलता है कि वुरे कर्मों का फल अच्छा ही होता है, या यो कहे कि मनुष्य असत् कर्मो के द्वारा धन-धान्य सम्पन्न सुखी वना रह सकता है। किन्तु वास्तव मे ऐसी वात नही है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि आज अनुचित कर्म करने वाले जो लोग फलते-फूलते नजर आते हैं यह उनके पूर्व कृत सत् कर्मों का फल है जो आज ये भोग रहे है और जिन कर्मों को उन्हे करते हुए तुमने देखा नही है, और आज ये जो वुरे कर्म कर रहे हैं उनका कटु फल इनको भविष्य मे भोगना पडेगा जिसे तुम देख नही

पाओगे । क्रिया की प्रतिक्रिया होकर रहती है । यह नि सन्देहात्मक तथ्य है । यह ऋत (निरपेक्ष सत्य) है । इसमे अपवाद नही है । छोटी-सी उम्र मे जिनका जीवन अनायास चमत्कृत होता नजर आता है वह निश्चय ही उनके पूर्व-सचित शुभ कर्मों का फल होता है । इसके उदाहरण है शकर, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहस, महर्षि रमण, महर्षि दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाधी इत्यादि-इत्यादि । असभव प्रतीत होने वाला सभव वन जाता है केवल पुरुपार्थ के द्वारा । जीवन मे पुरुपार्थ अमर ज्योति के सदृश्य है । भगवत प्राप्ति को ही तो परम पुरुपार्थ कहते हैं । पुरुपार्थ सारी सिद्धियो का प्रदाता है । पुरुपार्थ के उपरान्त जीवन मे कुछ भी नही है ।

साराश मे इतना ही कहा जा सकता है कि भाग्य और पुरुपार्थ के सयोग से ही जीवन की स्थिति है । किसी भी वस्तु के व्यक्त होने के लिए माध्यम की आवश्यकता अनिवार्य है । माना कि वीज मे उसका वृक्ष छिपा हुआ है, किन्तु वीज मे से उस वृक्ष को व्यक्त होने के लिए भूमि के माध्यम की परम आवश्यकता है । माध्यम प्राप्त न होने पर बीज बीज ही वना रहता है । पुरुप वीजरूप है और स्त्री भूमिरूप । माना कि पुरुप के वीर्य मे सतान की स्थिति निहित है, किन्तु स्त्री रूपी भूमि के विना उस वीर्य मे से सतान व्यक्त नही हो सकती । ये दोनो ही अपने मे अधूरे और निष्क्रिय है । इन दोनो का सयोग ही सन्तान की उत्पत्ति करने मे समर्थ है । यहा तक कि ब्रह्म और प्रकृति दोनो ही अपने मे निष्क्रिय है । इन दोनो का सयोग ही इस विश्व की रचना के कारण हैं । इसी प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ अपने मे निष्क्रिय हैं । दोनो का समन्वय ही फल प्रदाता हे । भाग्य की अभिव्यक्ति पुरुपार्थ रूपी माध्यम से ही सम्भव है, क्योकि ये एक-दूसरे के पूरक हैं । पुरुपार्थ के विना भाग्य को कोसना निरी मूर्खता है । भाग्यहीन पुरुष केवल पुरुषार्थ के बल पर सव कुछ प्राप्त कर लेगा यह आकाश के सुमनो के चयन करने सदृश्य ही है । अच्छा भाग्य सत्कर्मों वे फल से बनता है । इन सचित कर्मों का एक भाग भाग्य के रूप मे परिणित होता जाता है । कुकृत्य कर्मों का फल कटु होता है । उनका निराकरण बिचारा केवल पुरुपार्थ क्या करेगा ? पुरुषार्थ मे जीवन-शक्ति भाग्य के द्वारा ही प्रस्फुटित होती है ।

उपसंहार

मनुष्य मात्र सुखपूर्वक जीवन यापन करने का इच्छुक है, यह उसकी नैसर्गिक भावना है। सुखपूर्वक रहने का उसका हक भी है। तदर्थ इसके साधन प्राप्त करने मे वह सदा प्रयत्नशील रहता है। केवल मनुष्य ही नही जीवमात्र सुख चाहता हे, दु ख किसी को भी अच्छा नही लगता। प्राणी मात्र दिन-रात सुख की खोज मे सलग्न है, पर वह सुख प्राप्त कर नही पाता। यदि कही इन्द्रियजन्य सुख कभी मिल भी जाता है तो यह क्षणिक और परिणाम मे वेरस होने से पूर्ण शान्तिदायक नही होता। इस लोक के सुखो की तरह पर-लोक मे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि के भोग-सुख आदि भी अविशुद्ध, अस्थायी और मात्रा मे जरूरत से ज्यादा होने के कारण पूर्ण सुखदायक नही, जबकि जीव दुख शून्य शाश्वत पूर्ण सुख का इच्छुक है।

अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि सुख (आनन्द) ही परम पुरुषार्थ है। शास्त्रकारो ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, को सुख-प्राप्ति के प्रधान साधन माना है, किन्तु वास्तव मे परम् पुरुषार्थ ही एक मात्र सुख का साधन है। सुख प्रिय है और प्रिय मे ही प्रेम होता है इसलिये सबसे अधिक प्रिय वस्तु अपनी आत्मा ही है और वह निरतिशय सुख आनन्द स्वरूप है ऐसा श्रुति का कथन है। यह सर्वान्तिर आत्मा पुत्र, धन एवम् अन्य सब लौकिक प्रिय पदार्थो की अपेक्षा भी प्रियतम है। अन्य सब प्रिय पदार्थ जब तक आत्मा को सुख पहुचाते है तब तक प्रिय लगते हैं। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति" वृ आ ४/५ ससार के उत्तम से उत्तम, सुन्दर से सुन्दर पदार्थ अपने मे प्रिय नही हैं बल्कि आत्मा को सुख पहुचाते हैं इसलिये प्रिय लगते है, केवल प्रिय वस्तु ही सुख (आनन्द) है। सबको सारी अव-स्थाओ मे सर्वदा अपनी अन्तरात्मा ही प्रिय है, इस आत्मा का प्रत्यक्षीकरण, साक्षात् करना ही परम् पुरुषार्थ है, इसलिये श्रुति का आदेश है कि उस परमानन्द स्वरूप आत्मा का निश्चित रूप से निर्णय करना। श्रुति कहती भी है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यसितव्य "

जीवन मे आत्मा का साक्षात्कार न करना ही सबसे बडी हानि है, और सब योनियो मे से बढकर योनि मनुष्य की है। यह प्रभु प्रदत्त योनि आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये प्रधान साधन है। दुबारा यह योनि प्राप्त होगी कि नही यह भविष्य के गर्भ मे छिपा रहता है।

सभी दर्शनकार ऋषियो का सिद्धान्त है कि अत्यन्त दु खनिवृत्ति और शाश्वतसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान है, यह तवत्त्ज्ञान

ईश्वर जीवजगत् के यथार्थ स्वरूप के विवेचन का महान् प्रयास है, इस महान प्रयास को ही परम् पुरुषार्थ कहते है।

सार तत्व यह है कि सुखपूर्वक जीवन-यापन करने के लिये अभावो की निर्दिष्ट साधनो द्वारा निवृत्ति करने का प्रयत्न पुरुषार्थ है। जीवन मे समस्त अभावो का निर्दिष्ट साधनो द्वारा भाव मे पर्यवसान कर देना ही परम पुरुषार्थ है। अभावो का पर्यवसान सिद्ध होता है अध्यात्म जगत मे पदार्पण द्वारा ही। ससार दो प्रकार के हैं—बाह्य ससार जो दृष्टिवान है, दूसरा आभ्यन्तर ससार, इसी को अध्यात्म जगत कहते है। इसी ससार मे प्रवेश करके आत्म-साक्षात्कार होता है, आत्म-साक्षात्कार हुये विना जीवन के अभावो की निवृत्ति नही हो सकती, यह आत्म-साक्षात्कार मनुष्य जीवन की परम् सिद्धि है। जीवन मे इससे वढकर दूसरा उत्तम लाभ नही है। इससे वचित वना रहना जीवन की नितान्त विफलता है, इससे वढकर और दूसरी हानि हो नही सकती। जीवन निरर्थक उद्देश्य-हीन वना रहता है। मनुष्य स्वभावत सुख-आनन्द चाहता है। उस आनन्द की अनुभूति आत्मानन्द प्राप्त करने पर ही सिद्ध होती है। अन्य सारे प्रयत्न आकाश-पुष्पो का चयन मात्र है। इस मूर्धन्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यम-नियम का पालन साधन मार्ग है साध्य नही। परम् पुरुषार्थ के अग हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। परम-पुरुषार्थ मे सारे जीवन के पुरुषार्थ निहित बने रहते हैं। परम पुरुषार्थ अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना नही करता, यदि ऐसा समझा जाये तो वह केवल भूल मात्र है।

यदि कोई कहे कि वडे-वडे महाराजाधिराज और वडे-वडे धनाढ्यो के जीवन मे अभावो का कोई स्थान नही है। तो यह धारणा उनके व्यामोह का द्योतक है। जीवन मे धन की प्राप्ति आवश्यक है किन्तु वह साध्य नही हैं, अभावो की पूर्ति के लिये साधन मात्र है। धन के अतिरिक्त जीवन मे अनेकानेक अभाव वने रहते है जिनके द्वारा हम विक्षुप्त वने रहते है जो हमारे जीवन को अशान्त बनाये रखते है। जीवन का परम लक्ष्य है शान्ति एव आनन्द प्राप्त करना, जिनकी सिद्धि आत्म-साक्षात्कार से होती है। यह आत्म साक्षात्कार जीवन का परम् लक्ष्य परम् लाभ है एवम् परम् पुरुषार्थ है।

साराश मे यो कहे कि पुरुषार्थ की परिधि भौतिक उन्नति की चरम उपलब्धियो तक ही सीमित है जवकि परम पुरुषार्थ उस भौतिक उपलब्धियो की परिधि को पार करके आत्मिक उन्नति की पूर्णता को प्राप्त करता है जिसे दर्शन शास्त्री के वाङ्मय मे आत्म-दर्शन कहा जाता है और यही ऋत का परम लक्ष्य है।

प्रवंचना

प्रवचना ! है तो तू वडी धूर्त, धृष्ट, विनाशकारी एव पापिन ! तू केवल प्रवचित को ही नही ठगती, प्रवचक भी तेरा शिकार हुए विना नही रहता, वल्कि प्रवचित्त की हानि परिमित एव प्रवचक की हानि असीम होती है । उसका तो इह लोक एव परलोक दोनो ही विगड जाते ह । कारण, कर्मों के फल की प्राप्ति तो अनिवार्य है ही । वह ऋत की परिधि के वाहर तो जा नही सकता । जवकि प्रवचित की हानि तो इतनी ही है कि उसके पास सग्रहीत धन का भले ही प्रवचक हरण कर ले, किन्तु धन-सम्पत्ति पैदा करने की उसकी शक्ति तो अक्षुण्ण ही वनी रहती है। उसे तो कोई ठग नही सकता ।

अरी प्रवचना ! देख, काम क्रोध, लोभ, मोह ये तेरे वासस्थान है । जिस पुरुष के अन्दर ये अवगुण विशेष रूप से जागृत वने रहते हैं उस पर तेरा चक्र चले विना नही रहता ! तेरे अन्दर सम्मोहन की शक्ति वडी प्रवल है, तभी तो प्रवचित तेरे फन्दे मे आ जाता है। तेरी मीठी-मीठी वाते, भक्ति प्रेम का प्रदर्शन, हमदर्दी, समयानुसार सिद्धि के हेतु किसी को तू अपना सरताज वनाने तक मे

नही हिचकिचाती । ये सारे ही तेरे शिष्य हैं । जब तू प्रवचित की पूर्णरूपेण विश्वासपात्री बन जाती है, तब तू उसे अपने बघनखा से चीर डालती है और फिर तू उसे धृष्टता भरी निष्ठुर ठोकरो से कुचलने मे हिचकिचाती तक नही। तब तेरा असली रूप व्यक्त होता है और तू प्रवचित की हत्या के बाद अट्टहास भर कर हसती हे । उसकी हत्या मानो तेरी विजय है । अपनी विजय पर भला कौन गर्व नही करता ? किन्तु तेरी इस विजय के अन्दर तेरा छलना रूपी पतन छिपा हुआ है, जिसको तू देख नही पाती ।

तूने भले-भले आदमियो का ईमान हरण किया हे । उनको पथभ्रष्ट किया है । उनकी तिलमिलाहट तेरे हर्षवर्द्धन मे सहयोग ही तो देती है । तू इतनी भयकर, इतनी निर्दयी, व्यक्ति, समाज एव देश को रसातल मे पहुचाने वाली है । क्या तू अपना काला मुह करके इस धरातल से विदाई नही ले लेगी । याद रख, जब कभी तेरा सत्यम् शिव सुन्दरम् से पाला पडेगा, तो तेरा नामोनिशान तक नही रह पायेगा । तू शान्त बनी रहे, इसी मे तेरा कल्याण है ।

यदि प्रवचक, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, इतनी सी बात मन मे धारण कर ले कि वह प्रवचित को धोखा नही दे रहा है वरन् वह खुद धोखा खा रहा है, तो गर्हित कर्मो के खड्डे मे पडने से स्वय को निश्चय ही बचा सकता है ।

हमने सुना एव देखा भी है कि पैसा पैसे को अपनी तरफ खीचता है । प्रत्येक वस्तु चुम्बक सदृश्य अपने सजातीय तत्व को अपनी तरफ आकर्षित करती रहती है । लोभी, लम्पट यदि अपने को सयत न कर पाये तो उनमे लोभ, लम्पटता की वृत्ति बढती चली जायेगी । यदि हम सत्पथ के गामी बन जाये, तो उस पथ पर हमारी प्रगति होती चली जायेगी । सुगन्धि के सेवक दुगन्ध को सहन करने मे असमर्थ होते है । उसी प्रकार दुर्गन्ध सेवी सुगन्धि की तरफ विशेष आकर्षित नही होता । सुगन्धि उसे अच्छी तो लगती है किन्तु उसे ग्रहण करने के लिए उसमे उत्सुकता एव रुचि नही रहती । शराब एक दुर्गन्ध-युक्त पदार्थ है, लेकिन शराबी उसे कहा छोड पाता है ? प्याज और लहसुन के खाने वाले उसकी गन्ध से ही तृप्त होते है और उसी से उनकी क्षुधा तीव्र हो चलती है । किन्तु इनसे परहेज करने वाले मनुष्य उनकी तनिक सी भी गन्ध सहन करने मे असमर्थ होते है । यह है प्रकृति का नियम ।

इसी प्रकार प्रवचक काम, लोभ एव मोह के जाल मे फसकर उसमे ,धीरे-

धीरे और अधिक फमता चला जाता है। फलत इनके कटु फलों को भी उसे ढोना पड़ता है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि प्रवंचक धोखा देता नहीं वरन् स्वय खाता है, यानी अपना सर्वनाश कर बैठता है। इसलिए इस महा-राक्षसी का त्याग नितान्त अनिवार्य है। इसका तो स्पर्श मात्र मनुष्य को झुलसाये बिना नही रहता। यह तो अग्नि के सदृश्य है, जो इसमे पड़ा वही स्वाहा हुआ। क्या अग्नि का किंचित् स्पर्श मात्र भी मनुष्य को विकल करने मे समर्थ नही ? मनुष्य यह कहते हुए सुने जाते है कि बिना प्रवचना के या असत्य व्यवहार के काम चल नही सकता। किन्तु वास्तव मे झूठ का व्यवहार शक्तिहीन व्यक्ति करते हैं। यदि कोई मनुष्य कहे कि मैं झूठ बोल रहा हू, मेरा विश्वास करे और मुझसे व्यवहार करें तो क्या कोई उससे अपना व्यवहार रखेगा ? झूठ बोलने वाला यानी प्रवचक सत्य की दुहाई देकर ही अपने मनोरथ मे सफल हो सकता है। यदि पीतल को बेचने वाला सोने के दाम मागे तो क्या उसे कोई देगा ? पीतल को सोना बता कर ही तो वह उसे सोने के भाव बेच सकता है। इसीलिए प्रवचना की कोई हस्ती नही।

यह वह मृगतृष्णा है जिसके विभ्रम मे पड़कर तमोगुणी, कामी, लोभी, क्रोधी व्यक्ति उन पशुओं के सदृश्य अपना जीवन नष्ट कर बैठते है जो अपनी पिपासा को बुझाने के लिए मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते रहते है और अन्तत अपना जीवन खो बैठते हैं। सर्वविदित रावण का उदाहरण ले लें। महा-शक्तिशाली, महापण्डित होते हुए भी रावण, प्रवचना के चगुल मे फस कर कुटुम्ब सहित अपना सर्वनाश कर बैठा। वह कितना पठित, विद्वान, नीतिज्ञ था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जब रावण रणागण मे मृत्यु-शैया पर लेटा हुआ था और अन्तिम श्वास ले रहा था तब राम लक्ष्मण से कहते है, 'अरे लक्ष्मण, यह राजनीति का सूर्य अस्ताचल को जा रहा है, तू उसके पास जाकर राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर ले।' जरा विचारिये तो सही, हमारी और तुम्हारी क्या हस्ती कि प्रवचना से प्यार भी करते चले जाय और उसके बघनखा मे बच भी जाय ?

प्रतिशोध

प्रतिशोध प्रवचना का सहोदर है। यह कितना घृणित, पाषाणहृदय-वाला, घोर पतनोन्मुखी, कालरूपी नाग-सा भयकर एव विषैला है जो सदैव अपना फन उठाये फुफकार मारता रहता है। इसका वासस्थान भी काम, क्रोध, मोह, लोभ जैसे अवगुण हैं। प्रतिशोध की भावना रजोगुणी तमोगुणी होने के कारण प्राकृतिक है। घायल के हृदय मे घातक को अपने पैरो तले रौदने की भावना का उत्तेजित होना स्वाभाविक ही है। यह प्रतिशोध की भावना उस घायल सर्पिणी के सदृश्य है जो फुफकारती हुई, उछल कर अपने घातक को डसना चाहती है। वह समझ ही नही पाती कि घातक ने तो उसे घायल ही किया है अथवा उससे छेडछाड ही की है किन्तु वह तो उसके प्राण लेने को उद्यत है। इस प्रकार घात्-प्रत्याघात का क्रम आरम्भ हो जाने पर इसका परिणाम घायल एव घातक के नियत्रण के बाहर हो जाता है।

दोषी अवश्य ही दण्ड का अधिकारी है किन्तु दोषानुपात मे दण्ड निर्धारण

के लिए, दण्ड देने वाले के पास कोई ऐसा पैमाना नही होता जिससे कि वह आनुपातिक दण्ड देने मे समर्थ बना रहे। यह प्रतिशोध की भावना दोनो के हृदय मे भभकती रहती है, और कभी-कभी तो पीढी-दर-पीढी का भी पिण्ड नही छोडती। जरा इसका उत्पत्ति स्थान तो देखिए, जिसकी भूमिका कितनी लचीली, विभ्रान्त और मिथ्याभास एव मिथ्याभिमान से भरी रहती है जैसे, कोई किसी की तरफ जरा उभारकर देख तो ले, जरा तिरछी नजर से दृष्टिपात तो कर ले, अपने हक की जरा-सी, हल्की-सी माग तो कर ले, जरा कोई हस कर दूसरे से बात तो कर ले, आपस मे हसी-मजाक के दौरान कोई कटु व्यग तो कर ले, जबकि ये सारी बातें क्षम्य हैं। किसी पतित भ्रष्टाचारी के पथ मे चाहे उसी की भलाई हेतु जरा-सा व्यवधान के रूप मे कोई तो आ जाय, उसकी भलाई हेतु जरा कठोर शब्दो मे उसका प्रतिवाद तो कर दे, उसे जरा-सी ताडना तो दे दे, उसको मर्यादित बने रहने के लिए सुकोमल वाणी मे जरा-सा उसे समझाने का प्रयास तो कर ले, अथवा उनसे अपने हक की जरा-सी माग तो कर ले, फिर तो वह उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी मान, अपनी क्षुब्ध भावना की तृप्ति हेतु उस पर प्रहार कर बैठता है। उस अप्रत्याशित प्रहार का घायल जरा-सा विरोध तो कर ले, फिर तो द्वन्द्वी उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर उस पर ऐसे झपटने को उद्यत हो जाता है जैसे कि ठेस पहुचा हुआ सर्प कडकडा कर बिजली के सदृश्य घातक पर टूट पडता है। फिर तो शोध-प्रतिशोध की कडिया इस प्रकार निकलती नजर आती है मानो रील से धागा निकल रहा हो। शोध-प्रतिशोध की भावना उस शृखला प्रक्रिया के समान होती है जिसका अन्त निश्चित रूप से विनाशकारी होता है।

देहातो मे यह प्रतिदिन देखने मे आता है कि जमीन के बारे मे छोटी-सी छेड-छाड होने पर ही एक-दूसरे के प्राण तक लेने मे लोग हिचकते नही। राग एव द्वेष भी प्रतिशोध के उत्पत्ति-स्थान है। कोई विशेष उन्नति कर ले, कोई अच्छा-सा अपना मकान बना ले, कोई किसी तरह पढ-लिख जाय, तो उसके प्रति राग-द्वेषाग्नि प्रज्ज्वलित हुए बिना नही रहती, और तब मनुष्य प्रतिशोध के वशीभूत हो, न जाने क्या-क्या कुकृत्य कर बैठता है। कोई ऋणदाता ऋणी से अपने पैसे की माग करे, कोई किसी से अपनी धरोहर की वापसी चाहे, तो फिर उनका मिजाज बिगडे बिना नही रहता। एक अध्यापक किसी विद्यार्थी को उसी के हितार्थ मार्गदर्शन की धृष्टता तो कर ले। एक राजनीतिज्ञ जरा अपने क्षेत्र मे चमक तो जाय। ये सारी बात प्रतिशोध की

जननी बने बिना नहीं रह सकतीं। अत' प्रतिशोध विशेप काल, स्थान या व्यक्ति का अपेक्षित नहीं। यहां तक कि पिता-पुत्र के बीच, पति-पत्नि के बीच, भाई-भाई के बीच, मित्र-मित्र के बीच प्रतिशोध की भावना समय-समय पर विशेप कारणोवश अभिव्यक्त होती रहती है। प्रतिशोध की भावना का अन्त तभी सभव हे जबकि प्रतिशोधी इस प्रतिशोध-शृ खला की आदि कडी अपने अत स्थल मे देखने का प्रयास करे। फिर तो द्वन्द्वी को यह निश्चयात्मक पता चलेगा कि इस प्रतिशोध की भावना का सूत्रपात करने वाला वह स्वय ही था। और तब वह प्रतिशोध-भावना की जगह सद्भाव का वरण कर लेगा।

पथभ्रष्ट को सुपथ पर लाने वाले व्यक्ति को प्रतिशोध-भावना डसे विना नही रहती क्योकि पथभ्रष्ट अपने मार्ग मे किसी प्रकार का अवरोध—चाहे वह अच्छा हो या बुरा—सहने को तैयार नही। स्त्री हो या पुरुप, जिनके अन्त चक्षु कुठित बने रहते है, वे अपने दोपो का दर्शन नही कर पाते, इसी वजह से वे वडे हठी और प्रतिशोधात्मक होते है। ऐसे व्यक्तियो की प्रतिशोध-भावना वडी तीव्र, तीक्ष्ण एव उग्र होती है। स्त्री की प्रतिशोध-भावना का आधार घृणा से उद्भूत उसका स्वभावगत हठ है एव उसमे क्षमा को रचमात्र भी स्थान नही। वह व्यक्ति, समाज और देश को रसातल मे पहुचाये बिना नही रहता। वडे-वडे महायुद्ध इसी की तो अभिव्यक्ति है।

प्रतिशोध कुकृत्य की जननी है। प्रतिशोधी अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति प्रतिशोध की भावना से प्रेरित कैसी-कैसी घृणित एव गर्हित योजनाएं बनाता रहता है जिनके सफल होने पर वे दोनो ही उसमे स्वाहा हुए बिना नही रहते। पकडे जाने पर कातिल भी तो फासी पर लटका दिया जाता हे। वे दोनो ही यह चाहे कि दूसरे को समूल नष्ट कर दे और स्वय को बचाए रखे, यह कैसे सम्भव हे? बबूल के बोने पर आम्रफल की अपेक्षा करना क्या आकाश के सुमनो का चयन मात्र नही? जो किसी के लिए गड्ढा खोदता है, उसे स्वय अपने लिए भी खाई तैयार मिलती है। यह प्रकृति का अटल नियम है, यही ऋत है। हम सीढी पर चढने का अनुक्रम करें तो यह हमारे अधिकार की बात है कि हम जहा चाहे वहा ठहर जाय, किन्तु यदि हम सीढी के सिरे से गिरे तो लुढकते हुए जहा चाहे वहा टिक जाय, यह हमारे अधिकार की बात नही। इसी प्रकार सतपथ पर चलना और कितना चलना यह तो मनुष्य के अधिकार की बात है, किन्तु पतनोन्मुख

होने पर वह पतन के किस स्थल पर रुक जाये, यह उसके अधिकार के बाहर की बात है।

द्वन्द्वी-प्रतिद्वन्द्वी के बीच प्रतिशोध की भावना सतोगुण को अभिभूत करके ही तमोगुण एव रजोगुण का ताण्डव नृत्य रचाने मे सफल हो पाती है। इन दोनो को एक-दूसरे का ध्यान अनवरत बना रहता है जिसके द्वारा एक-दूसरे की तमोवृत्ति को ही प्राप्त होता रहता है। सतोगुण का अभिभूत बना रहना मृत्यु-सूचक है। जब एक व्यक्ति दूसरे को खत्म कर देने की भावना से प्रेरित हो तब वैसी स्थिति मे यह तो वह सोच ही नही पाता कि सतोगुण, जो प्रकाश का द्योतक और जीवन की आधार-शिला है, उसके बिना वह जीवित रह ही कैसे रहता है? तदर्थ प्रतिशोध की भावना दोनो का विनाश किए बिना नही रहती। जो बुद्धिशील व्यक्ति अपनी आसुरी वृत्ति पर विजय पाकर इस कलकिनी प्रतिशोध-रूपी वृत्ति को तिलाजलि देने मे समर्थ होते हैं वे परस्पर दोनो के एव साथ ही जन-कल्याण के भागी बनते है। इस कारण प्रतिशोध की प्रवृत्ति नितात अवाछनीय है। मनुष्य को इसका तो अवश्य ही अधिकार है कि वह आक्रमणकारी मे बचे और उस बचाव के दौरान मे यदि प्रतिद्वन्द्वी अभिभूत हो धराशायी हो जाय, तो उसमे उसका क्या दोष? यदि कोई किसी पर विष्टा फेकने का उपक्रम करे और दूसरा उससे अपने को बचा ले, तो विष्टा फेकनेवाले के हाथ मे ही बनी रहेगी। इसके विपरीत यदि दूसरे ने भी प्रतिशोधस्वरूप विष्टा को उठाकर फेकने का प्रयास किया तो फिर दोनो ही विष्टामय हो जायेगे। यह तो वाछनीय वस्तु नही। प्रतिशोध एक प्रचण्ड मृत्यु भार है जिसको पैरो मे बाधकर कोई ऊपर नही उठ सकता। बहुत से आत्मघाती अपने पैरो मे वजनी वस्तु बाधकर गोता मार जाते है ताकि उनकी समाधि पानी के अन्दर ही बनी रहे। क्या किसी के कुकृत्य उसकी मृत्यु के लिए पर्याप्त नही? अवश्य ही अच्छे व बुरे सभी कर्मों के विपाक मे समय का प्रश्न तो बना रहता है, किन्तु अधीरतावश कुकृत्यो के विपाक के दौरान छेड-छाड कर हम भी अपनी मृत्यु को बुलाये, यह तो बुद्धिमत्ता नही। एकदफा एक व्यक्ति गौतम बुद्ध को गाली देने लगा और जब उनको भरपूर गाली दे चुका तो शान्त हो गया। तब गौतम ने उससे प्रश्न किया कि यदि कोई व्यक्ति किसी को कुछ देना चाहे और वह उसकी दातव्य वस्तु को ग्रहण न करे तो वह वस्तु किसके पास रहेगी? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, तब तो वह दाता के पास ही बनी रहेगी। बुद्ध

मुस्कराकर बोले, देखो, तुमने मुझे गालिया दी और मैंने उन्हे स्वीकार नहीं किया। यह सुनकर वह व्यक्ति वडा ही लज्जित हुआ तथा भगवान बुद्ध के चरणो मे गिरकर क्षमा-याचना करने लगा। भगवान की परम ज्योति से उस व्यक्ति का हृदय भी ज्योतिर्मय हो उठा।

यद्यपि लोहा लोहे को काटता है किन्तु घृणा घृणा को पराजित नहीं कर सकती। घृणा अभिभूत होती है प्रेम एव सद्भाव से। इसी तरह वैर पर वैर के वल से, क्रोध पर क्रोध के वल से, तथा प्रतिशोध पर प्रतिशोध के वल से विजय नही पाई जा सकती। एक प्रतिद्वन्द्वी अपने द्वन्द्वी के सकट काल मे सहानुभूति एव सहायता कर देता है, तो वह उसका पालतू सेवक वन जाता है और दोनो के हृदय की मालिन्यता धुल जाती है। वे सहृदय मित्र वन जाते हैं।

यह सर्वविदित है कि एक वीज से अनेक वीज पैदा होते है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म वीज-रूप है जो समयानुसार प्रस्फुटित हो वृद्धि प्राप्त करते चले जाते हैं। यानी अन्त स्थल की भावनाएं, अच्छी या वुरी जो भी हो, उत्तरोत्तर वीज के सदृश्य वृद्धि को प्राप्त होती चली जाती हैं। दुर्भावनाओ का अन्त तो तभी हो पायेगा जब हम उनको सद्भाव मे परिवर्तित कर दें क्योकि ये मनोभावनाये वडी वेगवती होती है और वडी व्यापक भी। इनकी गति छीक की गति के सदृश्य होती है। छींक के लगते ही सारा घर, यहा तक कि अडोस-पडोस भी प्रभावित हुए बिना नही रहते। इनके सतत नियत्रण की आवश्यकता वनी रहती है। इसलिए प्रतिशोध की भावना को सद्भाव मे परिणत कर लेना मनुष्य का वीरत्व है, कमजोरी नही, जवकि मनुष्य गलत धारणा के वशीभूत होकर कुपथ रूपी प्रतिशोध की भावना को अपनाये रहता है।

गोद

वह किसकी गोद थी जिसमे एक दिन फूल-सा हल्का मैं झूमा था ? वह कौन था जिसने मुझे फूल मान कर सूघा था ? वह कौन था जिसने अपने कोमल चरणो मे मुझे लोट-पोट होने दिया था ? वे थे मेरे माता-पिता !

वह कौन था जिसने मुझ विकल अनाथ को अपने कोमल करो से सहलाया था ? वह कौन था जिसकी सान्त्वना भरी गोद मे मैं लहराया था ? वह कौन था जिसने असफलता के प्रचण्ड झझावात से मेरा उद्धार कर मुझे धैर्य एव सघर्ष का अनुपम पाठ पढाया था ? वह कौन था जिसने मेरे जीवन मे अमर ज्योति की चिनगारी सुलगाई थी ? वह कौन था जो मुझ जैसे अनाथ के कपोलो की यदा-कदा स्निग्ध एव स्तब्ध प्रेम भरी छोटी-सी हल्की-सी चुटकी भर लेता था, जो उसके अगाध प्रेम की एक नन्ही-सी लेकिन अनुपम अभिव्यक्ति थी ? वह कौन था जिसने घर से भटके हुए मुझ निराश्रित को खोजकर अपनी स्निग्ध प्रेम भरी छाती से चिपकाते हुए अपनी अविच्छिन्न

अश्रुधारा में मुझे अवगाहन कराया था ? वह था महामना, मेरा ही एक अग्रज भ्राता।

इसके विपरीत मेरा अबोध बचपन स्वजन बन्धु-बान्धवो के राग-द्वेष की ठोकरो से भी वचित न रह सका। प्रवचना भी मुझे अपने जाल मे फसाने से बाज न आई लेकिन प्रवचित होने पर भी उसके जाल से अछूता छूट भागा। यह असीम कृपा थी उस महाप्रभु की।

वह कौन है जो मुझ जैसे कृतघ्न को अपनी आनन्द भरी सुकोमल गोद मे भर लेता है ? मैं भले ही उसमे छिटक-छिटक कर भाग निकलू, किन्तु अपनी गोद मे दबोच-दबोच कर भर लेने का, उसका अनुपम प्रयास कहा रुक पाता है ? वह करुणामय मुझ जैसे अबोध को सदा ही क्षमा करता आया है। वह करुणा-वरुणालय, विश्व-पोषण-भरण, विश्व-वरण, जगत-नियन्ता, सर्वाधार, सर्वात्मा, सब का सूत्रधार अशरण-शरण परमपिता परमात्मा ही तो है!

संत असंतन की अस करनी, जिमि कुठार चंदन आचरनी

महान् भारत भूमि

ऐसा प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि भारतवर्ष में ही ऐसी क्या विशेषता है, कि यहा ऋषि-मुनि एव राम-कृष्ण जैसे अवतार एव समय-समय पर उच्च कोटि के संत-महात्माओं की बाढ-सी चली आयी ? इसका समीचीन उत्तर न देना हठधर्मी की सीमा मे आबद्ध बना रहना ही माना जायेगा। प्रकृति जन्य तीनो गुणो (सत्व, रज, तम्) के कार्य रूप ही इस सृष्टि की रचना है। भिन्न-भिन्न अनुपात मे इन तीनो गुणो के सम्मिश्रण से विभिन्न प्रकार की विशेषताए पैदा हो गईं।

पूर्णता के लिये प्रयास

असंख्य तारे आकाश मे टिमटिमाते नजर आते हैं। सूर्य, चद्र आदि नवग्रहो की तरह हमारी पृथ्वी भी सृष्टि की एक अद्भुत रचना है। यहा तो विषमताओं की कोई सीमा ही नही नजर आती। इसका धरातल भी अनेक प्रकार की चट्टानो से निर्मित है। यहा विचित्र-विचित्र पहाड हैं, जिनमे कोई रत्न

गर्भा है तो कोई हिमाच्छादित । मनुष्य के जीवन मे सजीवनी का काम करने वाली अनेक प्रकार की जडी-बूटिया दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमे सखिया जैसा विषाक्त पदार्थ भी है और सलाजीत जैसी पौष्टिक महौपधि भी । हजारो नदिया, जिनमे गगा जैसी निराली नदी भी है जिसके जल मे कभी कीडे ही नही पडते, चाहे वह जल किसी भी मात्रा मे वर्षों तक क्यो न रखा जाय । इसी प्रकार सात समुद्र हैं, जिनमे असख्य जाति के जलचर है । यहा हजारो प्रकार की वनस्पतिया, अनेको प्रकार के फलदार वृक्ष, हजारो किस्म के जीव-जन्तु इत्यादि दृष्टिगोचर होते है, जो कि विकासोन्मुख हैं । विशेषत मनुष्य, जो कि पूर्णता को प्राप्त करने के लिए तत्परता से अग्रसर हैं, क्योकि मनुष्य जीवन का उद्देश्य ही अपने स्वरूप को प्राप्त करना, अपना आत्म-दर्शन करना एव अपने अशी के साथ तादात्म्य स्थापित करना है । पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है ।

योग क्या है ?

मानव शरीर अनेक दोषो से सयुक्त है जिनमे काम, क्रोध, लोभ और मत्सर बडे ही प्रबल हैं, जिनके जाल मे फस कर यह आत्मा जीव-सज्ञा को प्राप्त कर अपने आपको खोया-खोया-सा अनुभव करता है । यह आत्मा, ब्रह्म का ही तो अश है, किन्तु इन दोषो से वशीभूत होकर जन्म-मरण के चक्र मे फसकर बडे-बडे दु ख भोगता रहता है । इस आत्म-तत्व की खोज के मार्ग का नाम योग है । भक्ति और ज्ञान इसी कोटि मे उल्लिखित हैं ।

योग का शाब्दिक अर्थ होता है मिल जाना । पर किससे ? जिससे हम बिछुडे हुए है—परम तत्व मे प्रवेश कर जाना अथवा यू कहे कि अशी रूपी आत्मा का अपने अशी रूपी ब्रह्म से सयुक्त हो जाना—सायुज्य प्राप्त कर लेना ही योग की अतिम सिद्धि है । इन मार्गों के अनुयायी सत, महात्मा और योगी कहलाते है । जो इस परम महत्व को प्राप्त कर गए वे ऋषि-मुनि कहलाए और वे ही सत, महात्मा आदि नामो से अभिहित हुए ।

योगी के लक्षण

जब मनुष्य आत्म-तत्व मे स्थित हो जाता है, तब उसे प्रकृति के ऊपर आधिपत्य प्राप्त हो जाता है और प्रकृति के ये तीनो गुण (सत्व, रज, तम्) उसके लिए निष्क्रिय हो जाते हैं अथवा यो कहे कि इस महात्मा के प्रकृति-जन्य दोष सूख कर इस प्रकार झड जाते है कि जिस प्रकार वृक्ष से सूखे पत्ते । वह

गुणातीत हो जाता है, प्रकृति का स्वामी बन जाता है, किन्तु प्रकृति उसको अपने जाल मे फसाए रखने के लिए उसके समक्ष नाना प्रकार के उपभोगों को उपस्थित कर देती है जोकि उसकी आज्ञा के लिए उन्मुख बने रहते हैं। ये उपभोग सिद्धियो के नाम से जाने जाते है।

नामेषणा

बहुत से संत महात्मा केवल ख्याति प्राप्त करने के हेतु ही इन सिद्धियो का प्रदर्शन करते रहते हैं। यह प्रदर्शन उन्हें पदच्युत किए बिना नही रहता। सिद्धियो के प्रदर्शन के लोभ को नजरअंदाज करते हुए विरले ही साधु महात्मा पाए जाते हैं। किन्तु बहुत से ऐसे सिद्ध पुरुष है जो गुणातीत बने रहने पर भी जगत् के कल्याणार्थ इन सिद्धियो को काम मे लाते है, पर इस प्रक्रिया मे उनका कोई निजी स्वार्थ नही होता।

लेकिन जन-कल्याण के फलस्वरूप जगत् मे उनकी प्रतिष्ठा तो अवश्य ही हो जाती है, पर वे इस प्रतिष्ठा को विष-तुल्य ही समझते हैं और इसके द्वारा वे अभिभूत नहीं हो पाते। इन्ही आत्म-दर्शियो द्वारा वेद-वेदाङ्ग, पुराण, इतिहास, उपनिषद, षट्दर्शन इत्यादि उसी प्रकार नि सृत हुए जिस प्रकार गोमुखी से गगा। ऐसे अधिकारीगण ऋषि-मुनि के नाम से विख्यात हुए। इसी परिप्रेक्ष्य मे 'मतवाणी' भी अपने निजी व्यक्तित्व और महत्व से परिपूर्ण है। श्री कृष्ण की 'भगवद्गीता', कवि वाल्मीकि रचित' रामायण' आदि लोकोत्तर कृतिया, जिनकी तुलना मे ससार की उत्तमोत्तम कृतिया भी नही ठहरती।

आवश्यक जलवायु

लेकिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस भारतवर्ष को ही इतना श्रेय कैसे प्राप्त हुआ ? यह तो साधारण-सी बात है कि सभी वस्तुए—फल-फूल, अनाज, पशु-पक्षी इत्यादि भी सभी जगह समान रूप से और समान गुण के नहीं मिलते। कश्मीर और कुल्लू के मेव, काबुल का मेवा, सुपारी, पान, नारियल, लोग इलायची तो सभी जगह उत्पन्न नही होते। इनकी पैदाइश के लिए जहा अनुकूल भूमि पडती है, वही ये उत्पन्न होते है।

सरीसृप (रेंगने वाले जन्तु) सर्प, बिच्छू इत्यादि देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे पाये जाते है। सर्प की प्रकृति भी भिन्न-भिन्न होती है। सर्प हजारो किस्म के होते है जिनमे अफ्रीका और अम-

रीका मे पाया जाने वाला सर्प बडा ही भयकर एव विषैला होता है, जिसकी फुन्कार मात्र से जीव-जन्तु मर जाते है । यो तो हमारे यहा का 'कालानाग' भी कम विषैला नही होता, पर उन जगहो के सर्पों की तुलना मे यह नही ठहर पाता । बिच्छू कई जगह छोटे कद के कही लाल रग के और कही पीतवर्ण के होते है । पहाडो पर पाया जाने वाला बिच्छू छ से आठ इच तक लम्बा, काले रग का एव विषैला होता है । यही हाल पशु-पक्षियो का भी है । आस्ट्रेलिया मे पायी जाने वाली गायो मे तो दूध की गगा ही बहती रहती है, पर अन्य जगहो की गायो के साथ ऐसी बात नही है ।

मनुष्य पर देशकाल का प्रभाव

ठीक यही हाल मनुष्य का भी है । अफ्रीका मे उत्पन्न निग्रो जाति के मनुष्य एकदम काले और मोटे होठ वाले होते है, पाश्चात्य देशो के मनुष्य गौर वर्ण होते है, चीन के पीतवर्ण वाले और भारतवर्ष मे ही दक्षिण वाले श्याम वर्ण के पर पजाब के गौर वर्ण के तथा अन्य प्रदेशो मे मिश्रित वर्ण के होते है । इसी प्रकार सस्कृति और सभ्यताए भी भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न-भिन्न होती है, जो एक दूसरे से प्रधानत मेल नही खाती ।

जिस प्रकार प्रकृति के सत्व, रज और तम् मनुष्य मात्र को उनके सस्कारानुरूप प्रभावित करते है, उसी तरह प्रकृतिजन्य नाम रूपात्मक प्रत्येक पदार्थ पर भी इनका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहता है । भारत-भूमि पुण्य भूमि है । इस पर सत्व गुण की प्रधानता रही हे ।

भारत मे भी कहा, किस भूमि-खण्ड पर सत्वाश की प्रधानता है और कहा पर रज और तम् की—इसका सूक्ष्म निरीशण ऋषियो ने किया है और उसकी सत्ता के अनुसार ही पवित्रता और अपवित्रता का निर्णय करके उसके भेद बताए है, जैसा कि मनु ने कहा है—पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से लेकर विंध्य तक पसरे हुए भू-भाग का नाम आर्यवर्त्त है । (नैमिषारण्य निभसार) कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाचाल (द्रुपद यही के राजा थे) हिमालय तथा चम्बल से सीमित एक प्राचीनदेश, शूरसेन (मथुरा और उसके आसपास का प्रदेश) ब्रह्मर्षि देश कहलाता था । सरस्वती और नर्मदा के बीच का भू-भाग ब्रह्मावर्त कहलाया ।

बुद्ध का जन्म ढाई हजार साल पहले कपिलवस्तु मे हुआ, जिसका प्रभाव जगत् मे विस्तीर्ण है । शकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य

आदि का आविर्भाव दक्षिण में हुआ। राम और कृष्ण के आविर्भाव होने का श्रेय अयोध्या और मथुरा को प्राप्त है।

विस्तार-भय से सिर्फ मध्यकालीन सन्तों का नामोल्लेख करके ही सन्तोष कर रहे हैं। मध्यकालीन देदीप्यमान सन्त निम्नलिखित हैं —

तुलसीदास, सूरदास, महात्मा एकनाथ — ये सभी समकालीन माने जाते हैं। महानाठ, मोरोपन्त, केशवदास, रहीम खान खाना, रत्नाकर, पद्माकर, भानुभक्त, गिरिधर, ज्ञानदेव, कबीरदास, तिलोचन, रामानन्द, विष्णुदास, नाभादास, जनभावन, चतुर्भुजदास, रामदास, मानदास, मलूकदास, मीराबाई, परमानन्ददास, परशुराम देवाचार्य आदि सन्तों ने अपनी अमृत वाणियों से समाज और देश का कितना कल्याण किया है, यह अकथ्य है। इन महात्माओं की कृति-रश्मियाँ चतुर्दिक् फैल गईं और जन-समुदाय मुक्तकंठ से इनका गुणगान करने लगा।

व्यवस्था की धरोहर

चिरन्तन काल से चली आ रही जाति-प्रणाली वर्ण-व्यवस्था और वर्णाश्रम अपने आप में महान् उद्देश्यों और वैज्ञानिक विचारों से आपूर्ण हैं। इन दोनों व्यवस्थाओं ने भारतवर्ष की विशेषतः हिन्दू समाज की बड़ी सेवा की। ये तो हिन्दू-समाज की रीढ़ थीं। वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम ने समाज की धार्मिक-वृत्ति और नैतिक-प्रवणता को सुदृढ़ बना दिया था। इसके इस दृढ़-बंधन से समाज का कोई भी अंग अपनी धुरी से विचलित नहीं हो पाता था, किन्तु समय के परिवर्तन के साथ साथ इन व्यवस्थाओं का ह्रास होता गया और समाज को इससे बड़ा धक्का लगा।

असन्तों का परिचय

जब सामाजिक गतिविधि इस तरह डावाडोल हो रही थी, समाज योग्य और नीतिमान् धर्म व्यवस्थापकों की अपेक्षा रख रहा था, सन्यासियों के परिवेश में कुक्कुरमुत्ता रूपी बरसाती-सन्तों की बाढ़-सी आ चली और ये अपना उल्लू सीधा करने लगे। इन तथाकथित कुकुरमुत्ता सन्तों की मानसिक अवस्था ठीक वैसी ही थी, जैसी कि मजदूरों के नेताओं की है। ये भी खादी-वसन से सुशोभित नेता बन कर नेतागिरी के पेशे को अख्तियार करके मालिक और मजदूरों का शोषण करना ही अपना ध्येय बनाये हुए हैं। ये न तो पढ़े-लिखे होते हैं और न इनका कोई सिद्धान्त ही होता है। मजदूर तो अनपढ़ होता ही

है, इनके बहकावे मे तुरन्त आ जाता है और अपने भले-बुरे को बिना सोचे ही उनके इशारे पर यन्त्रवत् कार्य कर बैठता है । ठीक इसी तरह स्त्री-पुरुष का समाज धार्मिक शिक्षा के अभाव के कारण इन बनावटी मतो के प्रभाव मे आकर अपना आपा खो बैठा । ये तो कोई विशेष पढे-लिखे होते नही, सिर्फ खास-खास कवियो, जैसे, रहीम, सूरदास, तुलसी, रसखान, गिरधर के दोहे और उर्दू के शेर तथा ऊटपटाग बानी ही इनकी शैक्षणिक योग्यताए है ।

हाथो की सफाई इन्हे खूब आती है, और इन्ही कृत्रिम क्रियाओ के द्वारा भाति-भाति की गध पैदा करना, फल-फूल इत्यादि मगा लेना, हस्तरेखाओ का ज्ञान प्राप्त कर लेना, हिप्नोटिज्म और मेसमेरिज्म का अभ्यास करना, कुछ 'जतर-मतर' का ज्ञान प्राप्त कर लेना, समाज के कुछ विशेष-व्यक्तियो को इधर-उधर से खबर लेकर कुछ अचभित बाते कह देना, तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य हथकडो के द्वारा ये अपने पास आए हुए मनुष्यो को गुमराह बनाकर जनता का शोषण करना ही अपना चरम ध्येय समझते है ।

इनके इन हथकडो को योग-सिद्धि का चमत्कार समझकर स्त्री-पुरुष इनके चरणो मे समर्पित हो जाते हैं, विशेषत धार्मिक-प्रवणता के आधिक्य के कारण स्त्रिया ही इनसे प्रभावित होकर धार्मिक उपलब्धि के लिए इन तथाकथित साधुओ के हाथो अपने आपको सौप देती हैं । और इन स्त्रियो से प्रेरित होकर पुरुष-वर्ग कुछ पढे-लिखे भी आशीर्वाद हेतु आते है ।

धर्म प्रेम

कुछ तो स्त्रियो के जमघट को देखकर कामुकता से आते है और इनके शिष्य बनकर स्त्रियो से सामीप्य प्राप्त करते हैं । इस तरह स्त्री-पुरुषो का यह घनिष्ठ सामीप्य और सान्निध्य मर्यादा का बधन तोड देता है, जिसके लिए ये पुरुष पहले से ही गिद्ध-दृष्टि लगाये थे । इस प्रकार यह वर्ग अपना उल्लू भी सीधा करते है और तथाकथित गुरू को भी "प्रतिष्ठावान" बनाते हैं । एव उसकी प्रसिद्धि के लिए दलालो का काम भी करते है । और ये गुरु बडे पौष्टिक पदार्थ प्रिय होते है (जैसे खीर, मालपुआ आदि) तथा रात-दिन दवाइयो का सेवन आदि करते है । इनकी मालिश के लिए या पदचपी के लिए इनके पास नौकर भी होते है ।

ढोग का भण्डा फोड

आज भी इस प्रकार की परम्परा प्रचलित है, जो समाज को खाए जा रही

है । राजस्थान की बात है । एक साधु रात्रि के समय जगल मे बाघम्बर ओढ-कर सिंह बनने की चेष्टा करता रहता । समाज मे उसकी बडी प्रतिष्ठा हो चली और वह लोगो मे सिद्ध पुरुष के रूप मे आदृत किया जाने लगा । एक दिन शिकारी बदूक लिए उधर जा गुजरे जहा कि वह साधु आधी रात को सिंह होने का स्वाग रचा करता था । इन शिकारियो ने अपने बदूक का निशाना लिया और वे गोली चलाने ही वाले थे कि वह साधु बाघम्बर से निकल कर भागता बना, फिर उसका पता न चला । यह बिल्कुल सच्ची घटना है ।

नये नये पथ

इन ढोगियो के चलाए हुए बहुत से मार्ग भी देखे-सुने जा रहे है, जिनके गुरू बनकर ये अपना जाल फैलाकर लोगो को फसाते है । हाल ही मे, जब आनन्द-मार्ग की पोल खुली तब जन-समुदाय चौकन्ना हुए बिना नही रहा । इस मार्ग के अनुयायी बडे-बडे धनाढ्य एव अफसर पाये गए, जिन्होने इसकी पोल खुलते ही इस मार्ग से अपना नाता तोड लिया ।

इसी प्रकार के और भी अनेक मार्ग प्रचलित है जो योग की शिक्षा देते है जबकि इसके प्रतिष्ठाता खुद योग नही जानते, और यम नियम के पास फटकते तक नही । एकदम मिथ्याचारी, दभी उपदेशक बने जनता को भ्रमित करने मे सिद्धहस्त ये सस्थाए भारतवर्ष के सभी प्रदेशो मे पायी जाती है ।

पर इसका यह मतलब नही कि आजकल साधु-सत है ही नही । किन्तु इनकी जीवन-चर्या तथाकथित साधुओ की जीवन-चर्या से नितात भिन्न है । ये सत सत्यनिष्ठ होते हे—शास्त्रीय ज्ञान मे निष्णात और जन-कल्याण मे रत ।

उपर्युक्त ढोगी सन्यासी और सतो को बरसाती सतो के नाम से अभिहित किया है ।

भारतवर्ष तो सत महात्माओ का भण्डार ही था जो कि सच्चे ज्ञान के खजाने थे और उन्ही की तपस्या के बल पर आज भी हिन्दू-समाज टिका हुआ है । किन्तु इन बरसाती सतो ने जो मिथ्याचार प्रचारित किया है, उस अनर्थ के लिए आगे चलकर प्रभु उनको क्षमा न करेगा ।

कपडा रगाया जोगी" "

यह कहने मे हमे कितना दु ख होता है कि आज के 'भगवा' कपडा पहने

हुए एक लाख साधुओ मे से निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे साधु अध्यात्म मार्ग के अनुयायी न होकर वे और ही मार्ग के अनुयायी है ।

बाबूराव पटेल ने Mother India के फरवरी १९७२ के अक मे एक ऐसे ही साधु का पर्दाफाश किया है । उक्त साधु आनन्द सागरजी महाराज के नाम से विख्यात थे । इन बावन वर्षीय 'अखिल विश्व धार्मिक अधिवेशन' (World Religious Conference) के उप सभापति, एक बहुत प्राचीन मन्दिर के महत, उच्चकोटि के विद्वान को अष्ट वर्षीय कन्या के साथ बलात्कार के अभियोग मे सात साल की सजा हुई । इनका नाम यादवराम था और ये अपनी स्त्री और बच्चो को छोडकर साधु हो गए थे ।

सेशन जज श्री जी एस टॉक ने अपने फैसले मे लिखा है कि इनकी ऐसी दशा इसलिए हुई कि इनका स्त्रियो के साथ ज्यादा सपर्क रहता था । फलस्वरूप इनका मन दूषित हो चला और अपनी कामेच्छा की तृप्ति के लिए पन्द्रह से अठारह वर्ष की लडकियो को फुसलाते रहे और अपना मुंह काला करते रहे । यह तो एक उच्चकोटि के विद्वान साधु की हालत है तब अन्य अल्प ज्ञानियो की क्या हालत होगी यह विचारणीय है ।

ऐसे अनेको उदाहरण चलते-फिरते देखे और सुने जाते है । जिला सुरेन्द्रगढ के अतर्गत वढ्वान के छड्डी तालाब के ऊपर उन्नीस वर्ष की लडकी कपडे धो रही थी । ऊपर से एक साधु निकला और उसने उस लडकी पर बलात्कार कर दिया ।

भगवान ऐसे आनन्द स्वामियो से समाज को बचाये । हजारो लाखो की सख्या मे 'कुक्कुरमुत्ता' की तरह ये बरसाती सत देखने मे हट्टे-कट्टे, गोरे-चिट्टे और चिकने-चुपडे होते हैं । इनका रहन-सहन बडे ठाठ-बाट का होता है । ये रेशमी लिबास मे होते हैं, किन्तु भगवा रगे हुए, कोई-कोई आजकल पीला रग भी पसद करते है । ये अपनी बनावटी विनयशीलता से भोले-भाले स्त्री-पुरुषो को जाल मे फसा कर उनका क्या-क्या नही अपहरण कर लेते ।

इनकी जीवन-चर्या का सूक्ष्म निरीक्षण इनके कुकृत्यो का ही उद्घाटन करता है । उन कुकृत्यो के अन्दर शामिल है—चोरी, बलात्कार, हनन और नाना प्रकार के यौन-सबधी जघन्य दोष । इनकी शिष्याए इनकी आकृति की सराहना करती अघाती नही । इनको यह कहते सुना जाता है कि हमारे स्वामीजी की आखे बडी तेजस्वी है, इनके चेहरे से और शरीर से तो मानो तेज ही टपक रहा है ।

ये दुष्ट सत्पथ पर चलने का तो आदेश ही नही देते। अपने हाथ की सफाई दिखाकर थोडे बहुत आसन इत्यादि का प्रदर्शन कर अपने शिष्य-समुदाय मे उच्चकोटि का योगी बनने का प्रचार करते रहते है। इनके विषय मे ज्यादा लिखना अपनी कलम को दूषित ही करना हे। वह दिन कब आएगा जबकि समाज इन कुक्कुरमुत्ता रूपी साधुओ से सचेत होकर इन्हे तिरस्कृत कर इनका बहिष्कार कर देगा। और तब सच्चे सतो को पाने मे देर न लगेगी।

ऐसे सत द्वार-द्वार अपने तथाकथित शिष्यो को उपकृत करने के लिए भटकते-फिरते नही मिलेगे। ये तो प्रभु के ध्यान मे रमण करते हुए अपने आश्रमो मे ही मिलेंगे। जैसे हमारे महर्षि रमण, बाबा रामदास इत्यादि। जिन तथाकथित महात्माओ से स्त्री-समाज दूषित हो उन नर-पिशाचो का जितनी जल्दी हो सके भण्डा फोड कर उनका बहिष्कार कर देना चाहिए, इसी मे समाज का कल्याण हे।

मेरे एक मित्र की धर्मपत्नी ऐसे ही तथाकथित एक गुरु की ढोगभरी कृति का अनुभूत विवरण सुना रही थी। उनका सबसे बडा लडका नैवी मे था। वह इनको अपने गुरू के दर्शनार्थ बम्बई ले गया। मा-बेटे जब आश्रम मे पहुचे तब तक मन्दिर के पट बन्द हो गये थे। लेकिन कमरे मे से कुछ धीमी-सी मीठी-सी ध्वनि आ रही थी। तो स्त्री-स्वभावजन्य उत्सुकता के कारण वे बरामदे मे पहुची और कमरे की खिडकी मे से झाकना शुरू किया। हालाकि खिडकी पर पर्दे टगे हुए थे किन्तु दो पर्दो के बीच एक छोटी-सी फाक बनी हुई थी। उसमे से वे झाकने लगी। उस समय गुरुजी कृष्ण वाली त्रिभग मुद्रा मे बशी को हाथ मे लिये उसमे मुख से स्वर भरते हुए बहुत हलकी गति से नृत्य कर रहे थे और दो-तीन आदमी तत्सम्बन्धी साज बजा रहे थे। इनकी ताक-झाक से कमरे मे प्रवेश होने वाले प्रकाश के ऊपर इनकी परछाई पडे बिना न रही। और स्वभावत गुरुजी का ध्यान बटे बिना न रहा। वे झट् समझ गये कि कोई आगन्तुक बाहर खडा हुआ उनके क्रिया-कलापो को देख रहा हे। ये बडे झेपे और तुरन्त खुले कमरे के कपाट खुले और मा-बेटे का भीतर प्रवेश हुआ। गुरुजी झेप मिटाते हुए कहने लगे कि मैं अपने इष्टदेव के सामने इसी माध्यम से उपासना किया करता हू। उनको रिझाने का यह बडा सरल तरीका है। आप अपराह्न मे ४ बजे के अन्दाज पधारने की कृपा करें।

ये मा-बेटे यथासमय उपस्थित हुए। उस समय गुरुजी व उनकी

धर्मपत्नी सजे-धजे अपने आसन पर आसीन थे। उनके दोनो वगल तिपाइयों पर चादी के जाज्वल्यमान वडे-बडे कटोरे रखे हुए थे और तब तक भक्तजनो ने अपनी श्रद्धापूर्वक उन कटोरो को रुपयो और नोटो से आच्छादित कर दिया था। ये दोनो मा-बेटे पहुचे, प्रणाम इत्यादि करके एक कोने मे बैठ गये। उस दिन गुरुजी प्रवचन नही कर पाये और सभा शीघ्र ही विसर्जित कर दी। ये महिला कह रही थी कि उस समय तक गुरुजी अपनी झेंप को मिटाने मे समर्थ न हो सके थे और हमको देखकर उनके चेहरे पर कुछ-कुछ हवाइया उडने लगी थी। ये दोनो मा-बेटे प्रणाम करके चले आये। गुरुजी ज्यादा पढे-लिखे न थे। उनके चार लडके थे जो एक नम्बर के आवारा हो चले थे। घर मे अनवरत धनराशि आती रहती थी। इनके लड़के क्यो नही विगडते—इनमे तो मुफ्ते माल दिले बेरहम की कहावत चरितार्थ हो रही थी।

प्राय भक्तगण भावुक हुआ करते हैं और वाहरी चमक-दमक से बडे प्रभावित हो जाते है। आजकल बम्बई बरसाती सन्तो का केन्द्र स्थान बना हुआ है। जहा पानी का आश्रय मिलता है, मेंडक वही खिसक कर चले जाते हैं। इसमे कोई दो राय नही है।

ऐसी बात नही है कि इन वरसाती सन्तो मे विद्वान, अग्रेजी, सस्कृत, हिन्दी भाषाओ के धनी नही हैं। इनके प्रवचन और इनकी लिखित किताबें भी वडी प्रभावशाली होती हैं। किन्तु इनके जीवन मे भी इनकी कथनी और करणी मे वडा अन्तर पाया जाता है। थोडे दिनो की ही बात है—ट्रासेंडेन्टल मेडीटेशन (Transcendental Meditation) की वडी जोरो से लहर आई और वह देशव्यापी हो चली। हमने भी इसके प्रवर्तक के दर्शन किये थे। उनका अग्रेजी मे भाषण भी सुना। निस्सन्देह भाषण प्रभावशाली था। पाश्चात्य देशो के लोग इनके सिद्धान्तो को सुन कर हजारो की सख्या मे इनके शिष्य बन गये और इनके श्रीचरणो मे विपुल मात्रा मे धनराशि बह गई। किन्तु जहा तक सुनने मे आया है इनकी कथनी और करनी मे बहुत अन्तर था जिसके कारण इनके कथनी रूपी चन्द्रमा को इनका करणी रूपी राहु ग्रसे बिना न रहा।

एक और विख्यात् सन्त के दर्शन करने का अवसर मिला। यह भी तीन-चार भाषाओ के धनी है। गीता और उपनिषद् के ऊपर काफी अच्छे अधिकार से बोलते है। इनका तर्क वडा पैना और हृदयग्राह्य है। इनकी दलीलें काटना सहज कार्य नही है। इनके प्रवचन जब होते हैं तो पिनड्रोप साइलेंस के दर्शन

करने मे आते हैं। भगवान की कृपा से सुन्दरता के भी अटूट धनी हैं। और इनके नेत्र आकर्षण के बिन्दु हैं। ये भी कीर्तन-संकीर्तन के पोषक हैं और अपने शिष्यों से दिल खोल कर कीर्तन करवाते भी हैं। और संकीर्तनकर्त्ता थिरक-थिरक कर नाचते भी जाते हैं और संकीर्तन भी करते जाते हैं। और जब ये भक्तजन पसीने से लथपथ हो जाते हैं तो विश्राम लेने का आदेश होता है। उक्त कीर्तनकारों को इतनी भी छूट दे दी जाती है कि वे चाहे तो अपने शरीर के कपडे उतार कर फेंक दें। जिस किसी भी दशा मे वे आराम करना चाहे, कर सकते हैं। इनमे स्त्री और पुरुष दोनो ही भाग लेते है। उस दशा मे भी स्त्री-पुरुष मुक्त मिश्रण कर सकते हैं। यह उनके ध्यान-योग की एक पद्धति है। यह पद्धति कहा तक फलदायक हो सकती है, तर्क साथ नही देता। यो तो इनकी ढेर सारी पुस्तकें अध्ययन मे आई हैं, किन्तु विशेष महत्त्व रखती है वह किताब जिसमे 'संभोग से समाधि की ओर, पद्धति पर बल दिया गया है। यह सैद्धान्तिक बात तो नही मानी जा सकती, केवल हम इसको एक पद्धति कह सकते हैं और उसके प्रवर्तक का दृष्टिकोण कहा तक सही है यह तो वही जान सकता है अथवा उस पद्धति के साधक लोग। पद्धति और सिद्धान्त मे जमीन-आसमान का फर्क बना रहता है। किन्तु आम जनता ऐसी पद्धतियो से भ्रमित हुए बिना किस हद तक बनी रहेगी, यह सन्देहास्पद प्रश्न है। यह पद्धति सरल होने के कारण बडी रोचक और प्रिय वस्तु मानी जा सकती है और उसके परिणाम कैसे निकलेंगे, यह तो केवल भविष्य ही बतला सकेगा। किन्तु उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र जो कि प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं उनमे ब्रह्मचर्य व्रत के ऊपर विशेष बल दिया गया है। उनका कहना तो यह है कि ब्रह्मचर्य पालन के बिना ब्रह्म-दर्शन नही हो सकते। महात्मा गाधी का कथन था कि यदि मै जीवन मे शुरू से ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी बना रहता तो आज जितनी मेरे अन्दर शक्ति है उससे दो सौ गुणा विशेष शक्ति मेरे अन्दर संचित बनी रहती। इस महान आत्मा को अस्त हुए विशेष दिन नही बीते, केवल २५ वर्ष।

स्त्री स्वभावत तीव्र आकर्षक नेत्रो की उपासिका है। उक्त नेत्रो पर अपने को न्योछावर करने मे हिचकती नही। हिचक भी नही सकती। अजगर की आखो से जब हिरण की आखे चार हो जाती है तो वह इस तेजी से उधर दौडने लगता है जिसका उसको पता ही नही रहता कि वह शीघ्र ही उस अजगर की मुख-समाधि ले लेगा। यही हाल स्त्री का है। स्त्री-पुरुष

की चार आस होते ही वह भोली-भाली उस पुरुष-समाधि के अन्दर विलीन हुए बिना रहती नही। इसमे अपवाद केवल अवसर की कमी मात्र है। सान्निध्य के प्रगाढ होने पर वह भोली स्त्री उस पुरुष समाधि मे समा जाती है, खत्म हो जाती है। ऐन्द्रिय-वेग बडे प्रबल होते हैं और बडे बहिर्मुखी भी जो कि सभी जानते है। इन वेगो पर लगाम लगाना सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अनिवार्य माना गया है। और यदि एक विशेष धर्म-प्रवर्तक इस मुक्त मिश्रण को प्रोत्साहन प्रदान करे, तो ईश्वर खैर करे।

इस नये धर्म के अन्दर सन्यास देने की भी पद्धति बडे जोरो मे फैल रही है। इन सन्यासियो की दो श्रेणिया है। एक काशाय वस्त्र धारी। दूसरी श्वेत वस्त्र धारी। मालाए दोनो को ही धारण करनी पडती हैं और साथ-साथ मे इस मार्ग के प्रवर्तक की एक छोटी सी तस्वीर गले मे लटकाना अनिवार्य है। ये सन्यासी अपना यथापूर्व ही जीवन व्यतीत कर सकते है; कोई खास पाबन्दी नही लगाई जाती। नौकरी पेशा, व्यवसायी आदि को सन्यासी बने हुए अपना कार्य-सचालन करने की छूट मिली रहती है। यह वेशभूषा केवल उपादान तुष्टि है। इस भरोसे पर कि सन्यास ग्रहण करने से अपवर्ग (स्वर्ग) स्वय मिल जायेगा, यह भरोसा इसलिए झूठा है कि सन्यास एक चिह्न मात्र है। उसमे भी धारणा, ध्यान, समाधि ही आत्म-साक्षात्कार का हेतु है। इस प्रवर्तक का आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए लिफाफे मे बन्द एक श्रद्धानुसार थोडी-सी धनराशि का होना अनिवार्य है। और इन्ही को प्रसाद मिलता है और दूसरे दर्शक इस महात्मा के आशीर्वाद एव प्रसाद से वचित ही बने रहते है। दर्शक टकटकी लगाये भले ही देखते रहे, लेकिन इनका आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य उन्हे नही मिल पाता। आजकल अन्यान्य सस्थाओ मे भी आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए फीस देनी ही पडती है अर्थात् आशीर्वाद आजकल एक बिकाऊ वस्तु बन गई है। हम किसी भी विशेष सस्था पर आक्षेप करने के अधिकारी नही है—अपने-अपने सिद्धान्त हैं, पद्धतिया हैं।

१९५० के उत्तरार्द्ध मे जब एक महान् योगी ने शरीर त्यागा तो उनकी प्रधान शिष्या ने इतना ही कहकर कि योगी समाधि अवस्था मे है, ११० घटे तक उन्हे ज्यो-का-त्यो रखा। लेकिन जब उनकी मृत देह विकार युक्त हो चली, तो उनको समाधि दे दी गई। इस सन्दर्भ मे एक श्रुति वाक्य द्रष्टव्य है—

'योकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा
उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्योति ।।' (बृ० आ० ४।४।६)

'जो कामनाओ से रहित है, जो कामनाओ से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाए पूरी हो गई है, या जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण नही निकलते है। वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुचता है।'

स्मरणीय है कि योगमार्ग मे गुरुओ को शिष्यो से अपनी शक्ल या अपनी मूर्ति का ध्यान करवाना श्रेष्ठ नही है। वास्तविक गुरु होने का अधिकारी वही हो सकता है जो गुरुओ के गुरु ईश्वर तक पहुचाये, और उसका ही प्रणिधान अर्थात् उसके ही सब कुछ समर्पण करना सिखलाये।

योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र २६ इस प्रकार है—

'पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्'

अर्थात् वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिको का भी गुरु है, क्योकि वह काल से परिच्छिन्न (परिमित) नही है।

व्याख्या—गुरु उपदेष्टा का और पूज्य का नाम है।

श्री गुरु महिमा—

गुरु गोविन्द दोनो खडे काके लागू पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविन्द दियो बताय॥ (कबीर)

गुरु बिन भव निधि तरै न कोई। जो बिरचि सकर सम होई॥ (तुलसीकृत रामायण)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नम॥

अर्थ— गुरु ब्रह्मा के समान है, गुरु विष्णु के समान है एव गुरु भगवान शकर के समान है। गुरु तो साक्षात् ब्रह्म है, इसलिए उस गुरु को नमस्कार है।

इसके विपरीत आजकल एक नया नजारा नजर आता है। आप किसी भी तथाकथित गुरु के पास पहुचे, उसका प्रथम प्रश्न आगन्तुक से यह होता है कि तुम दीक्षित हो या नही? यदि नही हो तो पहले हमसे दीक्षा ले लो, फिर तुम्हे उपदेश देगे। इन्होने दीक्षा को कितना सस्ता बना रखा है जबकि पहले ऋषियो के पास कोई जाता तो उसमे सानुकूलता उत्पन्न करने के हेतु उसे पाच-दस साल के लिए 'वेटिंग लिस्ट' मे रखते, तब उसको ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया जाता। यही पद्धति गीता मे भी दृष्टिगोचर हो रही है। कृष्ण

ने अर्जुन को सर्वगुह्यतम रूपी मत्र—'मन्मना भव' अध्याय १८ श्लोक ६४ मे दिया था जबकि पूरे १७ अध्याय और १८ वे अध्याय के ६३ श्लोको से अभिमत्रित कर दिया था। सभवत अर्जुन ने पूछा होगा कि यदि आपको इतनी छोटी-सी ही बात बतानी थी तो मुझ को अब तक ससोपज मे क्यो रखा? अगर इतना ही कहना था तो शुरू मे ही कह दिया होता। भगवान कृष्ण का उत्तर रहा होगा कि अर्जुन, तू मेरा प्यारा शिष्य है, तो तेरी मन की भूमिका को परिष्कृत किये बिना इतने अमूल्य मत्र से मैं तुझे कैसे दीक्षित कर सकता था? गीतापाठी समझते होगे कि इस प्रकार की भूमिका को तैयार करने के लिए कितना मनो पसीना चोटी से एडी तक बहाना पडता है। तब कही मन की भूमिका परिष्कृत होकर उपरोक्त बीजरूपी मत्र के योग्य बनती है। और कहा आज के गुरु, कि उनके पास पहुचे नही की दीक्षित हुए। ये तथाकथित गुरु सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का तो उपदेश ही नही करते।

ऐसे ही एक गुरु से हमारी भेंट हुई थी जोकि सस्कृत वाग्मय से नितान्त अनभिज्ञ थे। वे कहने लगे, 'फला साल मे मुझे मैसूर जाना पडा, और वहा कोई धर्म-परिषद का अधिवेशन था। मैसुर के राजा ने सभापति का आसन ग्रहण करने के लिए मुझसे आग्रह किया, तो मुझे स्वीकार करना ही पडा।' उनका कथन ठीक ही था। न हम मैसूर के राजा से पूछे, न इस कथन की सत्यता प्रकट हो। मन मे आता है, अपने शिष्यो को बरगलाने के लिए अपनी अनर्गल प्रशसा ठोकते रहते है और गुमराह जनता को और ज्यादा गुमराह कर देते है। ऐसी करतूत है इन आजकल के गुरुओ की, सन्यासियो की, सतो की।

किसी के घर का अन्न ग्रहण करने के पहले ये इतना भी नही सोचते कि इस गृहस्थ का अन्न कहा तक सात्विक है, कितना राजसी और तामसी? और यह ध्रुव सत्य है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन।' इनको मतलब केवल धन-सग्रह करने, सुन्दर-सुन्दर आश्रम बनाने से जिनमे स्वच्छन्द रूप से रगरेलिया कर सकें। केवल इतना ही इनका ध्येय है। इनके पदार्पण भी वही होते है जहा कि गृहस्वामी लक्ष्मीपति हो। बम्बई तो आजकल ऐसे सतो का केन्द्र-बना हुआ है जहा किधन, और धन के साथ-साथ अन्यान्य. .वस्तुए उपलब्ध बनी रहती है। विशेष लिखना अपनी कलम को दूषित करना है।

बंगाली और राजस्थानी संस्कृति का गहरा आदान-प्रदान

सन् १९२० में चूरू (राजस्थान) से मैं अपने बड़े भाई और भावज के साथ तीर्थ-यात्रा करने हेतु पहले-पहल कलकत्ता पहुंचा। बंगाल को देखने का यह मेरा पहला अवसर था। राजस्थान के एवं यहां के वातावरण में मैंने बड़ा अन्तर पाया। उन दिनों हमारे यहां स्त्रियां घर और बाहर घूंघट में ही रहती थीं, और पति के बड़े भाई, पिता एवं तत्सम्बन्धी कोई भी बड़ा होता उससे नहीं बोलती थीं। वे देवर अथवा अपने से छोटों से ही बोलती थीं। और भी कई तरह की सामाजिक पाबन्दियां थीं। भले ही हमारे यहां सभी सीमित बाह्य सुन्दरता का बाहुल्य नहीं पाया जाता हो, किन्तु हर जाति में, हर स्थान में शालीनता, सौम्यता की सच्ची मूर्ति प्रायः दृष्टिगोचर होती ही रहती है।

बंगाल में प्रथम अनुभव : पर्दा घूंघट का नहीं, शील का

जब मैं कलकत्ते पहुंचा, तो रवीन्द्रनाथ टैगोर का बड़ा नाम सुन रखा था। उनकी लिखी हुई पुस्तकें खरीदने के लिए एक पुस्तक-विक्रेता की दुकान

पर पहुचा। वहा एक प्रौढ उम्र की नारी कोई किताब खरीद रही थी। वह सुन्दर थी, साथ ही शीलवान भी थी। सिर मे सिन्दूर गहराई से लगा हुआ था। मुख पर घू घट नही था, किन्तु शरीर चौडे लाल पाट की छह गजी शातिपुरी साडी से ढका हुआ था। उस समय मैं बगला नही समझता था, किन्तु वह जब दुकानदार से बात कर रही थी तो उसका स्वर मुझे बडा मीठा और कोमल लगा। नारी को खुले-मु ह आम रास्ते पर देखने का मेरा यह पहला ही अवसर था, इसलिए एक बार तो मैं चौका जरूर, लेकिन जब मैंने उस नारी के नेत्रो से झाकते सौम्य शालीन भाव की ओर गौर किया तो मैंने महसूस किया कि स्त्री का परदा दरअसल घू घट का नही होता, वरन् उसके नेत्रो मे स्थित शील, सौम्यता और शालीनता का भाव ही नारी का वास्तविक परदा होता है। सहसा मेरी नजर उसके चरणो मे जाकर गिरी। इच्छा हुई, बगाली परम्परा की तरह इसके चरण छूकर इससे आशीर्वाद प्राप्त करू। किन्तु मेरा यह आचरण नीति के विरुद्ध होता, इसलिए मैंने अपने को रोक लिया। उसी समय से सुन्दरता की परिभाषा मेरे हृदय मे उतर आई। आदर्श सुन्दरता वह है जिसके दर्शन से पूज्य भाव उत्पन्न हो जाए। दरअसल मे यही नारी की पूजा है। जिस नारी को देखकर चित्त मे उद्विग्नता पैदा हो जाए, उसकी सुन्दरता शुभ नही मानी जा सकती, और वह सुन्दरता सुन्दरता की परिधि मे स्थान पाने का कोई अधिकार नही रखती।

बगाली सभ्यता का एक नमूना

हम कलकत्ते से रेलगाडी द्वारा नवद्वीप गये। हमारी यात्रा तीसरे दर्जे के द्वारा सम्पन्न हो रही थी। उसमे स्त्री-पुरुष दोनो ही बैठे हुए थे। एक बगाली सज्जन आये। उसने पुरुषो से ही बैठने के लिए स्थान देने का आग्रह किया। दो-एक स्त्रियो ने उसके बैठने के लिये स्थान रिक्त करने की चेष्टा की, तो वह बोल उठा, 'नही मा, आप बैठी रहे। स्थान न मिला, तो मैं खडा हुआ ही चला जाऊगा, किन्तु आप कष्ट न करे।' तब मैंने उसे अपने पास बैठा लिया। उसके और मेरे दोनो के पैर लटके हुए थे। गाडी के धक्के से वे एक-दूसरे से टकरा गये। झट उसका हाथ क्षमा मागने के लिए उठा। मैं अपने हाथो को प्रत्युत्तर मे न उठा सका। मैं बगाल की इस प्रथा से अनभिज्ञ था। मैंने उससे पूछा, 'आपने हाथ उठाकर हाथ जोडते हुए क्षमा क्यो मागी?' उसने उत्तर दिया, 'मेरे पैर से आपका पैर छू गया। किसी को भी किसी भद्र पुरुष को अपने पैर से छूने का अधिकार नही है।'

सभ्यता की इस बारीकी से मैं अनभिज्ञ था । इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए मैंने उस सज्जन से प्रार्थना की । उत्तर में वह कहने लगा 'हमारे से कोई ऐसा काम न बन पाए जिससे किसी के हृदय में हमारे द्वारा किसी प्रकार का विक्षोभ या मानसिक क्लेश पैदा हो । प्रत्येक प्राणीमात्र, विशेष-कर मनुष्य, अन्ततोगत्वा भगवान का रूप ही तो है । तो हम अपने भगवान को अपने चरणों से कैसे स्पर्श होने दें !'

यह तीसरे दर्जे का डिब्बा था । यात्री ठसाठस भरे हुए थे । उसी सज्जन को लघुशंका करने के हेतु टायलेट मे जाना था । वह अपने एक हाथ को आगे करते हुए इस तरह बढ़ रहा था मानो किसी वस्तु के द्वारा भीड़ को चीरते हुए जा रहा हो और वह चलने मे भी बड़ा सतर्क था कि किसी से भी कही उसके पैर का स्पर्श न हो जाए । अब तो इस प्रक्रिया का अर्थ हृदयगम करने मे मुझे देर न लगी । मैं उस वक्त न समझ सका कि आज की यह अनमोल शिक्षा आगे चलकर बगाल के मेरे प्रवासी-काल के जीवन मे बड़ी लाभप्रद सिद्ध होगी ।

अपनी भाषा अपना वेश

नवद्वीप मे हम लोग भजनाश्रम मे ठहरे । यह करीब गगा के नजदीक मे ही बना हुआ है । प्रात और सायकाल विधवा स्त्रिया सकीर्तन करने के लिए यहा आती और बड़े प्रेम से हरिनाम का कीर्तन करती । यहा हमने मन्दिरों के दर्शन किये और चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान की धूलि मस्तक पर ली । इस यात्रा मे उच्चस्तरीय बगाली वर्ग के सम्पर्क मे आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ । हमारे यहा तो अग्रेजी पढ़े-लिखे प्राय कोट-पतलून मे पाये जाते है । किन्तु यहा इन भद्र लोगों का परिचय प्राप्त करने पर मालूम पड़ा कि उनमे बहुत से वकील थे, डाक्टर थे, और आफिसर थे । मैं उनकी वेश-भूषा देखकर ताज्जुब मे आ गया कि इतने पढ़े-लिखे होकर ये अपने हिंदुस्तानी लिबास मे थे । क्या इनके ऊपर आग्ल शिक्षा का कोई प्रभाव नही पड़ा ? और ये तो भक्ति-रस मे सने हुए भी पाये गए । इनका आपस का व्यवहार, आपस की गुफ्तगू बड़ी सरल, बड़ी मिठासपूर्ण थी, और विशेष बात यह कि बातचीत के दौरान उनके मुह से अग्रेजी का एक शब्द भी नही निकला ।

मैं एक वकील से पूछ बैठा, 'क्यो साहब, क्या आप कोर्ट मे भी इसी ड्रेस मे जाते है ?' उसने उत्तर दिया, 'नही जी, वहा तो आफीशियल ड्रेस मे जाना पड़ता है । कोर्ट का जीवन कोर्ट तक है और अपना व्यक्तिगत जीवन अलग ।

हम हिन्दू पहले हैं, और वकील-डाक्टर पीछे। अपनी भाषा और वेश को खो देना तो स्वय के अस्तित्व को ही मिटा देना है।'

कलाप्रियता और स्वदेशाभिमान

उसके बाद जब मै बगाल मे रहने लगा, तब मैंने यहा के लोगो को ब्याह, शादी इत्यादि अवसरो पर अपने देशी लिवास मे ही पाया, यानी कुरता-धोती, कधे पर चादर और पैरो मे चप्पल। साथ ही उनके कुरते की बाहो मे और धोती की छोर पर चुन्नट की बहार देखते ही बनती थी, जो कि इनकी कला-प्रियता का परिचायक है। ये स्वदेशाभिमान के पुजारी थे और आज भी हैं। उस समय तक बगाल अनेक सुपुत्रो को जन्म दे चुका था जैसे—रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष, चित्तरजन दास, वकिम चटर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर प्रफुल्ल-चन्द्र राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गुरुदास बनर्जी, आचार्य जगदीशचन्द्र वसु, शरतचन्द्र चटर्जी, ताराशकर बनर्जी, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस इत्यादि। इसके ये सुपुत्र अपनी जाति और अपने प्रदेश का ही नही वरन् सारे भारतवर्ष का पथ-प्रदर्शन कर रहे थे।

सरल व्यवहार

इनका सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन मे एक-दूसरे के साथ व्यवहार बडा सरल, आकर्षक और हृदयग्राही होता है। सम्पर्क बढ जाने पर ये लोग एक-दूसरे के साथ घरेलू सदस्य के रूप मे बर्ताव करने लगते हैं। जब-तक ये एक-दूसरे को आदरसूचक शब्दो से पुकारते रहते हैं, आपस का फासला सकुचित नही हो पाता, किन्तु जब बडा छोटी उम्र वाले को रैंकारे से पुकारने लगता है, तो वे अपने-आपको एक-दूसरे के बहुत नजदीक पाते हैं, मानो एक ही परिवार के सदस्य हो।

भावुकता, साहित्य और क्रान्ति

साहित्य सृजन मे इनका योगदान अपूर्व है। इसका कारण यह है कि भावुक होते हुए भी ये मौलिकता और वास्तविकता से दूर नही भागते। इनके उपन्यास तथा साहित्य की अन्य विधाओ मे लिखी हुई रचनाए बगाल के गृह-जीवन-दर्शन का द्योतक है। ये एक-दूसरे के गुणो को मुक्त कठ से सराहने मे पीछे नही हटते। आप इनको घर बुलाकर कुछ भी खिला दें,

यहा तक कि केवल दाल-भात ही, तव भी ये वाहर जाकर आपकी वडी प्रशशा करेंगे । ये कटुता से परे रहना चाहते हैं । साथ-साथ देश के ऊपर मर मिटने मे जरा भी हिचकना नही जानते । इनकी इसी भावुकता ने इनमे उत्कट क्रांति को जन्म दिया, और फलस्वरूप कन्हैयालाल दत्त जैसे युवको ने हसते हसते मृत्यु का आलिगन करते हुए अपने प्राणो का उत्सर्ग कर दिया ।

मिठाई के शौकीन और धर्मप्राण

मासाहारी होने पर भी मिठाई के वडे शौकीन होते हैं, और खासकर वगाल की दूध की मिठाई तो सारे भारतवर्ष मे वडी मशहूर है जिसके सामने कोई मिठाई टिक ही नही सकती । आप कही भी चले जाइये, रसगुल्ले और सन्देश अवश्य पायेंगे, और किसी भी प्रदेश मे मेजवान अपने मेहमान को अन्यान्य मिठाइयो के साथ रसगुल्ले और सदेश परोसने मे गौरवान्वित महसूस करता है । इनकी घर की सस्कृति मे रामायण-महाभारत का साधारण ज्ञान रमा हुआ रहता है । वच्चो की कितावो मे प्राय रामायण, महाभारत के पात्रो के जीवन-चरित्र एव इनके आधुनिक नेताओ की और महापुरुषो की जीवनिया भरपूर मात्रा मे रहती है ।

नारी मा का प्रतिरूप

ये शान्ति के उपासक होने के नाते नारी मे मा दुर्गा के दर्शन करते है । इसीलिए इनकी वोलचाल मे माँ शब्द का प्रयोग विशेष रूप मे पाया जाता है । जैसे—वोउ मा, काकी मा, मासी मा, के अलावा अपनी वेटी को भी मा वोलकर ही सम्वोधित करते हैं । यहा तक कि यहाँ के डाक्टर अपनी महिला रोगियो को भी मा कहकर ही पुकारते हैं । एक दफे मैं अपनी रुग्णा पत्नी को इलाज के लिए कलकत्ता ले गया । एक सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध डाक्टर को दिखाने के लिए घर वुलाया गया । डाक्टर ने आते ही मेरी पत्नी को सम्वोधित किया, 'वोलो मा, तोमार की व्यथा आछे ?' फिर मेरी पत्नी के सीने पर स्टेथस्कोप लगा कर कहा, 'तोमार जे खाने व्यथा थाके, आमाके नि सकोच वोले दाओ, मा ।' इन डाक्टर की उम्र मेरी पत्नी से काफी ज्यादा थी, फिर भी उसे मा शब्द से सम्वोधित करने मे वह जरा भी नही हिचका । इन सम्वोधनो से नैतिकता का स्तर निश्चय रूप मे वडा ऊचा वना रहता है । वगाल का हृदय भक्ति प्रधान है, और उसी प्रधानता ने केन्द्रीभूत होकर चैतन्य महाप्रभु को

एव आगे चलकर रामकृष्ण परमहस को जन्म दिया था। ये दोनों विभूतिया आज भी भक्तो की आकाशगगा मे जाज्वल्यमान नक्षत्रों के सदृश्य अपनी छटा छिटका रहे हैं।

एक मुख्य कमी . व्यावसायिक क्षेत्र की उपेक्षा

बगाल नवावो की नवावी के प्रवाह से वचा न रहा। इस कारण कुछ कुसस्कार इनके जीवन की गहराइयो मे जाकर पैठ गये और शारीरिक परिश्रम को ये नही अपना सके। मनुष्य के जीवन मे उसकी उन्नति का कारण होता है—शारीरिक, मानसिक एव वौद्धिक शक्तियो का सामजस्यपूर्ण समन्वय। इन शक्तियो के तारतम्य के विगड जाने से जीवन मे अधूरापन आ जाता है, और वह अधूरापन जीवन की जडो को खोखला वना देता है। मनुष्य भूल जाता है कि उसको छोटा वनाने वाला मनुष्य नही है, मनुष्य के उत्थान और पतन का मूल कारण वह स्वय ही है। प्रकाश हीरे और काच के वीच का अन्तर पैदा नही करता, प्रकाश तो केवल दोनो के गुणो को उनके सही परिप्रेक्ष्य मे प्रदर्शित भर कर देता है। हमारे यहा भी देखने मे आया है कि कोई धनवान मारवाडी अपने धन के नशे मे चूर अपनी सतोगुणी वुद्धि को तिलाजलि दे देता है तो उसे पतन के गर्त मे गिरते देर नही लगती। प्रकृति के नियम वडे मधुर और साथ ही वडे कठोर होते हैं। एक दिन यहा का वगाली भी वडा उन्नत और सम्पन्न था क्योकि वह एक दक्ष व्यापारी और कुशल उद्योगी था। तभी तो वगाल 'सोनार वगाल' कहलाया। यहा की वनी हुई चीजे विलायत के वाजारो मे अपनी धाक जमाये विना न रही, जो आगे चलकर इगलैण्ड के स्थानीय उद्योग-धन्धो को सह्य न हुआ। यही कारण है कि जव अग्रेजो ने यहा अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तो उन्होने सबसे पहले यहा के उद्योग-धन्धो और कारीगरो को वेरहमी से नष्ट किया। उन्होने यहा अपने अग्रेजी स्कूल चलाये और जिन लोगो को अग्रेजी का अल्प ज्ञान भी होता था उन्हे ईस्ट इण्डिया कम्पनी मालगुजारी अदायगी के लिए वावुओ की जगह नियुक्त करती थी। इन वावू लोगो की तनख्वाह नाम मात्र ही होती थी। कम्पनी इन वावू लोगो के द्वारा प्रजा से नाना प्रकार के कर अदा करती और इनको हर प्रकार की छूट देती। इस व्यवस्था ने देश मे दो अलग-अलग वर्ग पैदा कर दिये—जनता और सरकारी कर्मचारी। ये कर्मचारी अग्रेजी सत्ता के स्तम्भ वन गये। ये रुपया वसूल करने मे किसी प्रकार की रियायत नही करते थे। इस वसूली

की रकम के पर्दो के अनुपात में कई भाग हो जाते । कुछ ये बाबू लोग हडप जाते, कुछ कम्पनी के अग्रेज कर्मचारी खा जाते और बचा-खुचा कम्पनी के सरकारी खजाने मे जमा हो जाता । जो एन्ट्रेन्स पास कर लेते वे डाक्टरी और वकालत सीखने के लिए ले लिए जाते । उस समय ये दोनो क्षेत्र खाली थे । ये दोनो ही क्षेत्र इन लोगो के हाथ मे आ गये । काफी पैसा मिलने लगा । बगाल का युवक टूट पडा नौकरी के लिए और डाक्टर-वकील बनने के लिए । इनमे सरकारी नौकरी और सरकारी ओहदो की भूख दौड पडी । ये व्यापार से विमुख हो बैठे । अग्रेज इनके महाप्रभु बन गये । किन्तु आगे चल कर अग्रेजो के अहकार ने इनके स्वाभिमान को ठेस पहुचानी शुरू की । तब इनकी आख खुली और ये राजनैतिक क्षेत्र मे बढ चले । लेकिन अब भी ये व्यापार-क्षेत्र की बराबर उपेक्षा करते चले गये ।

राजस्थानी व्यापारी वर्ग की सम्पन्नता

तो यहा का व्यापार-क्षेत्र खाली हो गया । देश के अन्यान्य भागो से आने वाले व्यापारी बेरोक-टोक इसमे घुस पडे । इनमे से मारवाडी-व्यापारी-वर्ग व्यापार मे विशेष रूप से दक्ष था । वह यहा आकर जम गया । यही का होकर रहने लगा । धन की प्राप्ति होने पर उस धन को यही के व्यापार को विशेष उन्नतिशील बनाने के लिए लगाता चला गया । यह वर्ग धनाढ्य होता चला गया । मारवाडी व्यापारी के इस धन से बगाल का वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, सरकारी कर्मचारी वर्ग भी उन्नत होता चला गया, किन्तु इस व्यापारी-वर्ग और आम जनता के बीच खाई पैदा हो गई । इस खाई को पाटने के लिए यहा के किसी भी उन्नत वर्ग की दृष्टि उधर की तरफ गई ही नही ।

राजस्थानी सस्कृति की अक्षुणता

बगाल मे सैकडो वर्ष रहने पर भी इस मारवाडी व्यापारी-वर्ग का व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहा । इसका खास कारण था—खान-पान का भेद । इस खान-पान के भेद ने दोनो वर्गों को एक-दूसरे के समीप आने पर भी जुदाई की खाई पैदा कर दी । यह बात नही है कि राजस्थान मे रहने वाले सारे वर्ग निरामिषी है । वहा का वैश्य और ब्राह्मण वर्ग ही निरामिषी है और यही वर्ग बगाल मे व्यापारी के रूप मे आया । राजस्थान मे आज भी आमिषी निरामिषी वर्गों मे पारस्परिक खान-पान और शादी-व्याह आमतौर से प्रचलित नही है । बगाल मे भी इसका खान-पान, इसकी सस्कृति अपनी ही बनी

रही । जब बगाल के वरिष्ठ विचारकों की जरा आख खुली तो उनको यह बात चुभी । किन्तु तब तक देर हो चुकी थी । उक्त व्यापारी वर्ग यहा दृढता से पैर जमा चुका था और बगाल की भूमि को अपनी जन्मजात भूमि मानने लग गया था । किन्तु एक जाति दूसरी जाति मे आत्मसात उसी वक्त होती है जबकि उनमे परस्पर खान-पान, बेटी-व्यवहार का आदान-प्रदान होने लगता है । यह सभव नही होने के कारण दोनो का अलग-अलग व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहा ।

सस्कृतियो की टकराहट

बगाल मे राजस्थानी सस्कृति की अक्षुण्णता की बात यहा के बगालियो को चुभी । सर पी सी राय ने इस दृष्टिकोण को जोर-शोर से उभारा जो कि प्रान्तीयता के नाम से पुकारा जाने लगा । उनका नारा था—'मारवाडी खुद दूध-घी खाता है तुम्हारी जमीन पर रहकर, और तुमको चाय के पानी मे लुभाये रखता है, और तुम लोगो की आख नही खुलती है ।'

आगे जाकर इस आन्दोलन से इन दोनो वर्गों की आपस की आत्मीयता को धक्का लगा, एक-दूसरे के प्रति सन्देह पैदा हुआ, फल जो होना था सो होकर रहा । खाई गहरी और विस्तृत हो गई । बगाल इस बात को भूल गया कि यह व्यापारी वर्ग, खासकर व्यापारी वर्ग का वह हिस्सा जो मारवाडी कहलाता है, अन्त स्थल से बगाल को अपना समझता था । स्वामी विवेकानद जब रमते-रमते राजस्थान पहुचे तो राजस्थान के राज-वर्ग ने उनका हार्दिक स्वागत किया था । उनके प्रति अलवर के महाराजा की श्रद्धा सराहनीय थी । खेतडी का राजा उनका निज का ही हो गया था । उसी ने इनको अपने पैसे से अमेरिका भेजा और अमेरिका से वापस आने पर जब-जब स्वामी विवेकानद को अपने कुटुम्ब की सेवा करने के लिए धन की आवश्यकता महसूस हुई तब-तब यह खेतडी का राजा मुक्त-हस्त सेवा करने मे पीछे न हटा । राजस्थान मे भी जो बगाली डाक्टर, प्रोफेसर, टीचर इत्यादि के रूप मे गये उन्होने वहा पर मारवाडियो के हाथो बडा सम्मान पाया ।

वर्णाश्रम का प्रभाव

धीरे-धीरे चलकर दोनो वर्गो के बीच का यह तनाव बढता ही गया । यह नही कि व्यापारी वर्ग इस तनाव के दुष्परिणाम को न समझ सका, और

इस तनाव को कम करने के लिए बगाली-मारवाडियो मे शादी-व्याह भी हुए, किन्तु ये सीमित ही थे, जिसका प्रभाव स्थायी न रह पाया। यह प्रक्रिया विशेष गतिमान न हो सकी। इसका विशेष कारण है भारतवर्ष मे वर्णाश्रम का प्रभाव। जब बगाल मे बगाली ब्राह्मण और कायस्थो मे परस्पर विवाह नही होते, यहा तक कि कुलीन और अकुलीन ब्राह्मणो मे भी शादी नही होती, तो बाहर से आये हुए मारवाडी व क्षत्री कहलाने वाले व्यापारी-वर्ग का और बगालियो का वैवाहिक सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता था ? मारवाडियो का कलकत्ते मे रहनेवाला व्यापारी समुदाय तो अपने मे एक छोटा समुदाय था जिसका वृहद् रूप तो मारवाड मे था। तो वह बगाल मे रहने वाला समुदाय अपने वृहद् समुदाय की कैसे उपेक्षा कर सकता था ? और उपेक्षा करके रहता कहा ? एक इमारत का ऊपर का तल्ला नीचे के तल्ले की हठधर्मी से भी उपेक्षा करने मे सफल बना रह सकता है क्या ? राजस्थान मे भी तो केवल अपनी-अपनी ही जातियो मे शादी-व्याह होते है।

राजस्थान मे भी यही स्थिति

राजस्थान दो वर्गों मे बटा हुआ है। एक वर्ग वह है जो आमिषभोजी है, दूसरा है निरामिषी। आमिषी वर्ग है क्षत्रिय, कायस्थ, शूद्र। निरामिषी वर्ग है वैश्य और ब्राह्मण। न यहा आमिषी और निरामिषी वर्ग के बीच शादी-व्याह होते है, न ब्राह्मण-वैश्यो के बीच मे, न आमिष वर्ग की उपजातियो के बीच मे, न वैश्यो की उपजातियो के बीच मे जो इस प्रकार है—अग्रवाल, माहेश्वरी, ओसवाल, खडेलवाल, जैन, रस्तोगी इत्यादि-इत्यादि। अपवादस्वरूप एक-दो शादिया हुई है जो कि प्रेम-विवाह की परिधि मे ही सीमित रही है। लेकिन ऐसी शादिया अभी तक व्यापक रूप नही पकड पाई है। न निकट भविष्य मे ही इसकी आशा की जा सकती है, जबकि जाति-पाति तोड आन्दोलन जारी है। भारतवर्ष पूर्ण रूप मे वर्णाश्रमहीन बन सकेगा, हम इसकी आशा नही कर पाते।

अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय वैवाहिक सम्बन्ध

जब मारवाड मे ही अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित नही है, तो बगाल का यह मारवाडी समुदाय अन्तर्प्रान्तीय शादी की कल्पना कर ही कैसे सकता था ? और दोनो तरफ ही—यानी बगाली और मारवाडी—खुले आम बडे पैमाने पर

अन्तर्जातीय विवाह करने पर न मुस्तैद पहले थे और न आज हैं। बगाल मे भी ब्राह्मण, वैश्य और कायस्थो के अलावा इतनी उपजातिया हैं जितनी भारतवर्ष के अन्य भागो मे भी नही पाई जाती, और बगाल की इन उपजातियो मे खानपान समान रहने पर भी आपस मे विवाह सम्बन्ध की छूट नही है। ऐसे विवाह विशेष सफल भी नही होते। कारण विवाह मे दो आत्माओ का एकीकरण होता है, और एकीकरण के लिए सहजातीयता की बडी आवश्यकता होती है। सहजातीयता से हमारा तात्पर्य मिलनेवाले दो पदार्थों के नैसर्गिक गुणो से है और विवाह के एकीकरण मे भाषा, भाव और वेश की समानता का होना दोनो पार्टियो मे एकीकरण के लिए आवश्यक है। इसलिए यह दलील कि इन दोनो पक्षो के आपस मे विवाह न होने से इन दोनो के बीच की खाई भर न सकी, मान्य नही हो सकती।

समाधान का रास्ता

इस खाई के मिटने का एक ही साधन था, कि बगाली भी व्यापारिक क्षेत्र मे आ धमकते। और यह क्षेत्र तो उनके घर का क्षेत्र था। इस क्षेत्र मे प्रवेश करने के लिए तो उनको कोई रुकावट थी ही नही, और न उनको किसी दूसरी जगह जाना था। यह तो उनका घरेलू क्षेत्र था। इस क्षेत्र मे प्रवेश करने के लिए केवल धन और अनुभव की ही आवश्यकता होती है, ऐसी बात नही है। इससे भी आवश्यक वस्तु है अपने वचन की रक्षा।

एक बार अकबर ने अपने दरबारियो की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए एक छोटे से बेत के टुकडे को बिना काटे छोटा करने के लिए कहा। लकडी को बिना काटे उसको छोटा बनाने मे किसी की बुद्धि सफल नही हो रही थी। बीरबल को भी बुलाया गया। बीरबल ने झट से उससे एक लम्बी डडी उस लकडी के बगल मे रख दी। लकडी स्वत ही छोटी हो गई। किसी जाति को छोटा बनाने के लिए उसे कुचल देने मे सफलता नही है। इस प्रक्रिया मे दोनो तरफ का कल्याण निहित नही है। जिसको छोटा बनाना हो उसके घर मे आग न लगाकर उसके घर से अपना घर बडा बना ले, इसी मे बुद्धि का कौशल है, इसी मे दोनो तरफ का कल्याण है।

हम जानते है कि ऐसी सुबुद्धि सहज मे उत्पन्न नही होती। नही तो राग-द्वेष का ताडव कभी का खत्म हो गया होता। प्रकृति के ये सत, रज, तम नामक तीनो गुण बडे जिद्दी होते है। इनका उपशम सहज नही होता।

इन्ही तीनो के कार्य-रूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष, घृणा इत्यादि-इत्यादि हैं। सच बात तो यह है कि ये जितने भी उपरोक्त दोष हैं ये सब अहकार के ही चट्टे-बट्टे है।

प्रवासी व्यापारी-वर्ग को छोटा बनाने की यहा के वर्ग की मन की दुर्बलता जोर पकडती गई, और अपने राग-द्वेष की अग्नि से इस व्यापारी-वर्ग को झुलसाती रही, और प्रकृति का यह नियम है कि अपने को बिना झुलसाये कोई वस्तु दूसरे को झुलसा नही सकती। अस्तु, प्रथम हानि झुलसाने वाले की ही होती है। दूसरे को कितना झुलसाये यह उसके बस की बात नही है। यह नही कि यह प्रवासी व्यापारी-वर्ग यहा के लोगो की इस वृत्ति से अनभिज्ञ बना रहा। लेकिन जानकर भी उसके पास कोई उपाय नही था। सिवाय इसके कि वह भी यहा बना रहे। अपने व्यापार, अपने उद्योग, अपने मकानात को लेकर कहा जाता? और प्रश्न यह है कि क्या वह ले भी जा सकता था? दोनो भाइयो को एक ही मकान मे रहना था। प्रेम से रह लें, चाहे द्वेष से रह ले।

एक भ्रामक धारणा

एक और दृष्टिकोण यहा के लोगो को सता रहा है। वह यह कि यह बाहर का आया हुआ व्यापारी-वर्ग हमको व्यापार-क्षेत्र मे प्रवेश नही करने देता। इससे बढकर भ्रामक धारणा दूसरी नही हो सकती। यह सबको भली-भाति जान लेना चाहिए कि एक व्यापारी-वर्ग दूसरे व्यापारी-वर्ग को फूटी आखो भी नही सुहाता, चाहे वह स्वदेश का हो या परदेश का। राजस्थानी व्यापारी-वर्ग कहा चाहता था कि सिन्धी व्यापारी-वर्ग हमारे यहा आकर अपने पैर जमाकर हमको उखाड फेके। सिन्धियो ने हमारी एक परवाह नही की और टिड्डी दल के समान वे सारे राजस्थान मे छा गये और मजदूरी से, साग-सब्जी के व्यापार से लेकर सारी तिजारत के क्षेत्रो मे प्रवेश कर डाला और स्थानीय व्यापारियो के दात खट्टे कर दिये। यह तो मल्ल-युद्ध है। जो जिसके दात खट्टे कर दे उसी की विजय है। राजस्थान के व्यापारी-वर्ग ने उन सिन्धियो के खिलाफ एक शब्द बुलन्द नही किया, बल्कि जो विचारशील व्यापारी है वे अपनी कमजोरी मिटाने मे तत्पर हैं, ताकि कही समूल उखड न जाए। लेकिन सिन्धियो के खिलाफ शिकायत नही करते। यह शिकायत तो कायरता है। कायर व्यक्ति व्यापारी बन नही सकता।

दिल्ली का दृष्टान्त

यही हाल हुआ दिल्ली का। दिल्ली के व्यापारी पुश्तैनी व्यापारी थे, जिनमे अग्रवाल और खत्री प्रधान थे। किन्तु जब भारत का विभाजन हुआ और पश्चिम पाकिस्तान से मुसलमानो द्वारा खदेडे हुए हिन्दू, पजाबी और सिक्ख दिल्ली मे आ टिके, तो उन्होने वहा के लोगो से भीख मागने और सहायता के लिए वहा के व्यापारियो के सामने रिरियाने के बजाय अपने अनुभव और परिश्रम का उपयोग करना शुरू किया और फलस्वरूप धीरे-धीरे उनके पैर जम गये। आज वह दिल्ली का ए-वन व्यापारी-वर्ग है और हिन्दुस्तान मे जहा भी बडे-बडे कल-कारखाने बनते हैं, वहा भारी काम के ठेके इन पजाबियो को ही मिलते है। इन ठेको की मार्फत वे पहले से भी ज्यादा सम्पन्न हो गये हैं।

राजनैतिक अखाडेबाजी

स्वतत्रता मिलने पर बगालियो का झुकाव व्यापारिक-क्षेत्र की बजाय राजनीतिक क्षेत्र मे उतरने की ओर ज्यादा बलवान हो चला और विधान सभा, राज्य सभा, लोक सभा इनके लडने के अखाडे बन गये। इनका ध्यान व्यापार करने की ओर नहीं झुका। अभाग्यवश व्यापार के लिए ये अपने को नितात अबोध, अयोग्य मान बैठे। तब कोई इनकी मदद करता तो कैसे करता? इन अखाडो मे लडने से सारे बगाल का तो गुजारा हो नही सकता था, किन्तु इन मल्लो को अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए ऐसे वर्ग की जरूरत पडी जो इनके पक्ष मे ज्यादा-से-ज्यादा वोट दे सके। वह वर्ग होना चाहिए भावुक, और छात्र वर्ग और श्रमिक वर्ग भावुक होते हैं, उनकी बुद्धि अपरिपक्व होती है और ये भावुकता के बल पर ही अपने जीवन के प्रश्नो का समाधान करने के सपने देखने मे बडे रत रहते हैं।

विदेशी साम्यवाद का प्रभाव और हिंसा का ताण्डव-नृत्य

यहा की यह स्थिति विदेशी साम्यवादियो से छिपी न रही। ये तो बहुत दिनो से भारतवर्ष मे घुसना ही चाहते थे। उनको भारतवर्ष के समान अनुकूल क्षेत्र दूसरा नजर नही आया। भारतवर्ष मे देशभक्त और देशद्रोही— ये दो धाराए बहुकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। भारतवर्ष की यह बडी भारी कमजोरी है। इस कमजोरी का लाभ विदेशी साम्यवाद उठाना चाहता था और यहा के बराबर विस्तृत और अनुकूल क्षेत्र उन्हे दूसरा

मिलता कहा। देशद्रोही वर्ग लोभी होता है। लोभ मनुष्य के अन्त करण को इतना कुंठित कर देता है कि उसको भले-बुरे का ज्ञान नही रहता। चोर, डकैत, लम्पट ये सब लोभ के वशीभूत होकर ही तो अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं। ये भी पागलो की ही गिनती मे आते हैं। पागल तो वही है जो कि अपना भला-बुरा न समझ सके। डाकू और चोरो के बाल-बच्चे सुखी नही रह पाते। न उनको शिक्षा मिलती है, न उनका जीवन चैन से व्यतीत होने पाता है। न वे खुद सुख से रह सकते हैं, न दूसरो को सुख मे रहने देते हैं। ऐसे लोभी पागल दल को हस्तगत कर लेना तो किसी भी चतुर पक्ष के लिए बाए हाथ का खेल है। बस, विदेशी साम्यवाद ने अपना रुपया उन लोभियो के समुदाय मे बहा दिया। हमारे यहा का यह लोभी वर्ग मछलियो की तरह से विदेशियो के जाल मे फस गया और उनका क्रीतदास बन बैठा। इनके द्वारा विदेशियो ने हिंसा का ताडव रचना आरम्भ कर दिया। इसके लिए उन्होंने सबसे ज्यादा अनुकूल क्षेत्र बगाल को ही पाया। उनकी धारणा थी कि यदि बगाल के अन्दर उथल-पुथल पैदा कर दें, और राजसत्ता को विच्छृङ्खल करने मे सफल हो जाए, तो इसके बल पर अन्य प्रान्तो को भी अपने हस्तगत करने में विशेष कठिनता का सामना नही करना पडेगा। जब यहा हिंसा बडे पैमाने पर फैली, तो पहले-पहल उद्योगपति एव व्यापारी-वर्ग के पैर यहा से उखड चले। राजसत्ता डगमगा गई। राजनैतिक दल भी डगमगा गये। भविष्य अन्धकाराच्छन्न हो गया। आगे के लिए रास्ता दिखाई देना बन्द हो गया। केन्द्र भी किंकर्तव्यविमूढ हो चला।

साम्यवाद का जन-हितकारी रूप

किन्तु देश-भक्ति की प्रबल धारा, जो एक दफे दबी हुई प्रतीत हो रही थी, बडे जोर से ऊपर को उभर आई, और जैसे गगा शहरो और गावो की गन्दगी को अपने अन्दर आत्मसात करके बहती चली जाती है, उसी तरह देश-भक्ति की यह प्रबल धारा उस देश-द्रोही धारा को अपने अन्दर आत्मसात करती हुई फिर तेजी से बहने लगी। किन्तु यहा का राजनैतिक-वर्ग देश-द्रोही भावना से उत्प्रेरित न होकर साम्यवाद को जनहित के रूप मे अपनाकर इसका प्रसार और प्रसार करता, तो यहा की भूमि उपयुक्त प्रतीत होती। उपनिषदो मे साम्यवाद की बडी सुन्दर परिभाषाए मिलती हैं।

ईश उपनिषद का प्रथम मत्र ही साम्यवाद की एक परिपूर्ण परिभाषा माना जाना चाहिए। इस मत्र मे ऋत कहते हैं—

ईशा वास्यमिद् ....
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् इस जगत् मे उपलब्ध पदार्थ जन-समुदाय के जीवन यापन करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे हैं। यदि आपस मे छीना-झपटी न हो, यदि प्रत्येक मनुष्य सयमी जीवन व्यतीत करना सीख जाए, तो ऐसा त्यागी स्वय को और दूसरे को भी सुखी बना सकता है।

बगाल का गुमराह मार्क्सवादी और नक्सलपथी

किन्तु यहा के साम्यवादी कार्यकर्त्ता, हम तो उनको नेता कहेगे नही, अपने-अपने स्वामियो का काम कर रहे थे। उनके डाले हुए टुकडो पर अपना जीवन यापन कर रहे थे और अपने राष्ट्र की जड के अन्दर मठा सीच रहे थे। किन्तु ऋषियो की यह पवित्र भूमि इतनी जल्दी देश-द्रोहियो के सामने नतमस्तक होने वाली नही थी। ऐसा देश-द्रोही वर्ग जनता को क्या सही मोड दे सकता था ? इसी भ्रामक दृष्टिकोण का फल है कि आज बगाल इतना व्याकुल और दिशाहीन हो चला है। बगाल की ऐसी स्थिति इसके इतिहास मे पहले कभी नही हुई थी।

राजनैतिक क्षेत्र मे विभाजन होते चले गये। सी० पी० आई० बना, सी० पी० आई० एम० बना, नक्सलाइट दल बना। इनमे से नक्सलाइट की हिंसक वृत्ति ने तो सारे देश को हिला डाला, और समाज मे हिंसा का ताडव जगह-जगह रच दिया। यहा तक कि राष्ट्रपिता गाधी के गुरुदेव विश्ववन्द्य कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की मूर्ति को अपमानजनक तरीके से तोडने मे भी नही हिचके। जिन स्वामी विवेकानन्द का विदेशो मे इतना सम्मान है और भारत के दक्षिण छोर पर समुद्र की छाती पर स्थित शिला खण्ड पर ६०-७० लाख की लागत से जिसकी स्मृति और सम्मान मे स्मारक बनाया गया है, उन्ही की मूर्ति को अग-भग कर अपमानित करने मे भी नही झिझके। यह कैसा तमाशा है कि जगत जिसको पूजे, उन्ही की जन्म-भूमि के बच्चे उनका इतना अपमान करें ? स्त्री मात्र मे दुर्गा का दर्शन करनेवाले बगाली समाज के ये आधुनिक वारिस रवीन्द्र सरोवर मे आम जनता के बीच उसी नारी जाति का इतनी नग्नता से अपमान करने मे भी नही हिचकिचाये। यह

विदेशी मुद्रा के नशे मे गुमराह हो जाने का ही फल है। जनता तिलमिला उठी। विद्यार्थी वर्ग विचलित हो उठा। शिक्षा सस्थाए उखड चली। श्रमिक वर्ग को उकसाया गया। इनको सामन्ती हरियाली का आश्वासन दिया गया। फल यह हुआ कि शिक्षालय उजड गये, वगाल की अर्थ-व्यवस्था मिट्टी मे मिल गई, उद्योग-धन्धे वन्द हो गये, हजारो लाखो की सख्या मे श्रमिक वर्ग वेकार हो गया। कहा तो यह गया कि वेकारी मिटाने के लिए ये सारे हथकडे किये जा रहे हैं, किन्तु श्रमिक वर्ग भूखा तिलमिलाने लगा, हाहाकार मच गया। राज-सत्ता भी किंकर्तव्यविमूढ हो चली। सही मार्ग दर्शन कराने वाला कोई नही रहा। व्यापारी-वर्ग भी विकम्पित हो उठा। उसके पास कोई उपाय भी तो नही था। जिस वगाल ने स्वदेश को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने नौनिहालो की वलि दी थी, और स्वतन्त्रता प्राप्त भी की, उसी वगाल के कुछ मनचले विगडे दिमाग अकृतज्ञ वगालियो को विदेशी मुद्रा की चकाचौंध भरने वाली विभीषिका ने ऐसा पथभ्रष्ट किया कि वे आज फिर अपने स्वतत्र देश को विदेशियो के हाथ मे सौंप देने के लिए कृतसकल्प हो उठे। किन्तु वगाल का पवित्र हृदय अपने कपूतो के इन कुकृत्यो से विह्वल हो रो रहा है। वगाल व भारतवर्ष का कोई भी हिस्सा नही है जो कि विदेशियो के आगमन को शुभ समझता हो। आनेवाले विदेशी गद्दार देशवासियो को घूस देकर अपना उल्लू सीधा कर लें, लेकिन वे विदेशी उन गद्दारो की कभी भी इज्जत नही करेंगे। यहा आने पर वे विदेशी उन गद्दारो का पहले शिकार करेंगे। वे समझते हैं कि जो लडका अपने मा-वाप का नही वह दूसरो का शुभचिंतक कैसे हो सकता है ? लोभी कभी भी वफादार नही हो सकते। लोभी की सिद्धि धोखेवाजी से होती है।

सही दृष्टिकोण

आज भी दूरदर्शी वुद्धिजीवी वगाली प्रवासी-व्यापारी-वर्ग का स्वागत करता हैं, हृदय से वह समझता है कि वह व्यापारी-वर्ग तो वगाल मे सव तरह से आत्मसात हो चुका है। इसका शरीर, इसकी जाति, इसका धन, इसके मकान, जायदाद सव कुछ वगाल के हैं और वह सैकडो पीढियो से यही रह रहा है। इसके मुकावले मे वह जिस देश से आया है वहा उसने अपना वोलकर कुछ भी सृजन नही किया। मकान, जायदाद, लेन-देन, व्यापार आदि कुछ भी नही। यहा का व्यापारी-वर्ग जब कभी भूले-भटके देश जाता है तो

अपने स्वदेश मे विदेशी की तरह प्रवेश करता है और अपने भाइयो के बीच में अपने को विदेशी पाता है । तो फिर कहिए, यह व्यापारी-वर्ग कलकत्ते का हुआ कि मारवाड का ? इस व्यापारी-वर्ग की विशेषता है कि वह प्रातीयता से विलकुल अलग बना रहा । इसके व्यापार-सस्थान मे सभी जातियो के कर्मचारी मिलेंगे । यह मारवाडी व्यापारी-वर्ग की विशेषता है । उसे घर के लिए कोई सामान लेना हो तो वह उस दुकान से सामान लेगा जहा सामान अच्छा और उचित दर से मिल सके । वह दुकान चाहे मद्रासी, गुजराती, मारवाडी, मुसलमान किसी की क्यो न हो ? उसका इतनी व्यापक दृष्टि की सराहना करनी चाहिए, न कि उसको कोसना चाहिए ।

कल्याण का मार्ग

आज का बगाल इन हिंसक काडो से तिलमिला उठा है । वह नही चाहता कि उसका विद्यार्थी-वर्ग गुमराह होकर एक निकम्मा वर्ग वन जाए और इस तरह अन्य प्रदेशो के मुकावले मे खडा न हो सके । बगाल का इसी मे कल्याण है, और बगाल के विचारक इसी कार्य मे रत है कि उनके विद्यार्थी वर्ग की पुन स्थापना हो और तन-मन से वह विद्याध्ययन मे लग जाए और अपनी परम्परा को सार्थक बनाने मे फलीभूत हो । बगाल का फिर से औद्योगीकरण हो, व्यापार समृद्धिशाली बने, और यहा पुन पूर्ण शान्ति की स्थापना हो, ताकि सारे भाई एक साथ एक हृदय से वह शान्ति की सास ले सके, सुख की नींद सो सके, और अपने देश के सच्चे सपूत बन सके । इसी मे सबका कल्याण है ।

अभी-अभी ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे है कि सम्भवत बहुत ही निकट भविष्य मे बगाल फिर करवट बदलेगा और अपने को पुन सोने का बगाल बनाने मे सफलीभूत होगा । हमारी भी यही कामना है ।

मन

मन क्या है, यह एक प्रश्नात्मक विषय है और बना रहेगा। इसका कोई ठोस रूप तो है नहीं जो देखा जा सके, जिसके विषय में कोई निर्णयात्मक निश्चय हो सके। उसकी भली-बुरी स्थिति उसके द्वारा किए जाने वाले कर्म पर आधृत होती है। किये गये कर्म यदि भले और कल्याणकारी हैं तो मन की प्रशंसा होती है, प्रतिष्ठा होती है, वह गौरवान्वित होता है। यदि वे कर्म गर्हित हैं, कलंकी हैं, तो मन की निन्दा होती है, वह अवस्था अशुभ, अकल्याणकारी व निन्द्य है।

उत्तर ध्रुव से दक्षिण ध्रुव की तरफ एक अलक्षित आकर्षण-शक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है जिसका ज्ञान हमको कुतुबनुमा यंत्र द्वारा परिलक्षित हो जाता है. इसका कोई रूप तो है नहीं, लेकिन यह व्यक्त होती है कुतुबनुमा द्वारा। उस शक्ति का नाम चुम्बकीय शक्ति (magnetic force) है। पत्थर में भी यह शक्ति पाई जाती है। पत्थर से भी यह शक्ति-स्रवण होता रहता है। इसकी प्रतिक्रिया लोहे पर होती है यानी इस शक्ति के व्यक्तीकरण

का माध्यम होता है लोहा। इस शक्ति के द्वारा हम स्टील को भी चुम्बक बना लेते हैं जिसका उपयोग मोटर-गाडी अथवा बडे-बडे बिजली के यत्रो में होता है।

मन की गति भी इसी प्रकार है, और यही अवस्था है सूर्य की किरणों की। यदि वायुमण्डल से उसमे तैरते हुए धूल के कणो को किसी भी क्रिया द्वारा शून्य कर दें यानी निकाल फेंकें, तो वे किरणें अपने प्रकाश को व्यक्त नहीं कर सकेंगी। ये अलक्षित शक्तिया माध्यम के द्वारा ही प्रतिबिम्बित हो पाती हैं, तभी इनके अस्तित्व का, इनके अन्दर निहित शक्ति का पता चलता है।

इसी प्रकार मन की गति-शक्ति भी उसके कार्य-कलापो द्वारा ही परि-लक्षित हो पाती है, यदि हम शुभ कार्य करते चले जाय तो हमारा मन शिव बना रहेगा। क्रूर से क्रूरतम कर्म उसको अधोगामी बनाये बिना नही रहते। मन की शक्ति अचिन्त्य है। इसका दमन मनुष्य का पौरुष है। इसका शमन किए बिना हम अध्यात्म जगत मे पदार्पण कर ही नही सकते तथा इसमे प्रवेश जीवन का प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है। लक्ष्यच्युत पुरुष विनाश को प्राप्त हुए बिना नही रहता। प्रेम, आनन्द की भावनाये इसे शमन करने मे सशक्त हैं। इसीलिए मनुष्य को प्रेम-पथानुगामी बनना चाहिए।

नारी अबला क्यों है ?

नारी अबला क्यो है ? यह प्रश्न बडा व्यापक है। वैसे तो वह सबला सज्ञा से भी सम्बोधित की जाती है, किन्तु अवला सज्ञा के द्वारा ही उसके प्रति सहानुभूति जागृत की जाती है और उसके रक्षार्थ पुरुष सदा जागरूक बना रहता है। नारी तत्व के प्रकरण मे हमने उसे शक्ति स्वरूपा, शक्ति सम्पन्ना भी कहा है। तो यह कितने विरोधाभाष की बात हुई कि नारी भोग-विलास की वस्तु है, शक्ति सम्पन्ना भी, फिर भी अवला ! किन्तु यह विरोधाभाष निराधार नही है, यह सच्चाई पर आधारित है। कारण, अन्तर्मुखी ही मननशील हो पाता है, वहिर्मुखी नही। शक्ति बहिर्मुखी है। कितना भी शक्तिशाली पुरुष बहिर्मुखी होने पर अपनी शक्ति खो बैठता है, अन्तर्मुखी तत्व का समावेश उसमे नही हो पाता। नितान्त वहिर्मुखी होने से आत्मा की शक्ति क्षीण हो जाती है। बडे-बडे पहलवान देखे गए, किन्तु उनके द्वारा कोई निर्माण-कार्य सम्पन्न होता नजर नही आया। उनकी शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन जन-समुदाय के मनोरजनार्थ ही बना रहता है और उनकी

बुद्धि भी उनकी शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन तक ही सीमित बनी रहती है। प्रधान कारण है, उनका अपना वहिर्भावी बना रहना। बदमाश, गुन्डे, डाकू, ये बडे वहिर्भावी होते हैं। उनका सात्विक अन्तर्तत्व से सम्पर्क नही रहता, इसलिए ये बडे भयानक होते हैं। सिपाही और जनरल मे भेद इतना ही है कि एक विशेष वहिर्भावी होता है, दूसरा विशेष अन्तर्भावी। एक है मशीन, दूसरा है क्रियात्मक शक्ति। हमारे क्षत्रियो को अपने वाहुवल पर ही नाज बना रहा जोकि वहिर्तत्व से सम्वन्ध रखता है, चाहे वे सतोगुण रजोगुण से ही प्रभावित क्यो न बने रहे हो। धनी अपने धन और ऐश्वर्य का अभिमानी है, स्त्री अपने रूप और लावण्य की पुजारिन है, वलिष्ठ अपनी शारीरिक शक्ति का बडा अभिभानी होता है—ये अपने प्रशसको के ऊपर न्योछावर हुए विना नही रहते। इनका यह वहिर्मुखी भाव इनके लिए घातक बन जाता है, और ये दूसरे का सहज मे ही विश्वास कर लेते है। अन्तर्मुखी हुए विना मननशीलता आ नही सकती, और मननशील हुए विना अच्छे-बुरे मे भेद कर नही पाता। इसी प्रकार नारी शक्ति-स्वरूपा होने पर भी वहिर्भावी होने के कारण अवला बन जाती है। नारी अपने वाहरी अवयवो की सुन्दरता की वडी अभिमानिनी होती हैं। इनको सजोये रखने मे वह विशेष जागरूक वनी रहती है। अन्तर्भावी हुए विना व्यक्ति व्यापक मननशील नही हो पाता और मननशील हुए विना तात्विक वस्तु को ग्रहण नही कर पाता। वह वस्तु के असली रूप को नही पहचान पाता और सहज मे किसी का भी विश्वास करने मे हिचकता नही है। ऐसा व्यक्ति चापलूसी और झूठी प्रशसा का शिकार बने बिना नही रह पाता। सेठ-साहूकारो के लडके, जिनको ठाठ-वाठ की कमी नही रहती, बडे वहिर्मुखी बन जाते हैं और अपने चाटुकारो के शिकार हुए विना नही रहते। फिर तो इनको वर्बादी के गर्त मे गिरने मे देर नही लगती। वस्तुत अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी का उचित समन्वय ही जीवन है। इसी अवस्था को श्री अरविन्द घोष ने Synthetic Yoga कहा है। ये दोनो ही वृत्तिया एक-दूसरे के विना अधूरी है। ईश्वर सर्वोन्मुखी है, वह सृष्टिकर्त्ता है और सृष्टि की बागडोर भी अपने हाथ मे लिए रहता है, क्योकि वह ऋत जो ठहरा।

इसी प्रकार नारी शक्ति-सम्पन्ना होने पर भी वहिर्मुखी होने के कारण अवला बन जाती है। नारी अपने अवयवो की सुन्दरता की वडी अभिमानिनी होती है तथा इन्हे सजोये रखने मे विशेष जागरूक बनी रहती है। उसका यह अभिमान ही उसे वहिर्मुखी बनाये रखता है और वह अति विश्वासिनी बन

जाती है। उसका स्तुतिकार उसे बहुत प्रिय लगता है और वह उसे विश्वास-पात्र समझ बैठती है। फिर तो उसको अपने कुटुम्ब, अपनी जाति, अपने सामाजिक स्तर, छोटी-बडी उम्र का भी ख्याल नही रहता और वह स्वयं को अपने चाटुकार के हाथो मे समर्पण करने मे जरा भी नही हिचकिचाती। वह विचार ही नही कर पाती कि विना कारण के इस मनुष्य का मेरे प्रति इतना सम्मान क्यो है, क्योकि बिना कारण कोई कार्य नही होता। वह सोच ही नही पाती कि किस प्रलोभन की आशा से यह पुरुष उसके लिए इतना सब कर रहा है। यदि इतना तर्क उसके मन मे उठ जाये तो कलई खुले बिना नही रहेगी किन्तु ऐसा वह कर नही पाती। नारी अपने बच्चो को प्यार करने वाले पर न्यौछावर हुए बिना नही रह पाती। स्त्री फुसलावे मे बहुत जल्दी आती है, वह चाटुकार के लक्ष्य को जल्दी ग्रहण नही कर पाती। क्योकि वह बहिर्मुखी है। यही कारण है कि दूतियो को इतनी सफलता मिल जाती है और यही कारण है कि कमसिन लडकिया और बच्चे फुसलाये जाने पर अपने घर से निकल भागते हैं, फिर फुसलाने वाले अजगर के मुह मे घसते समय इन्हे होश आता है कि यह हम क्या कर बैठे ? ऐसे समाचार दैनिक-पत्रो मे आए दिन बराबर पढने को मिलते है। अगर नारी मे ये दुर्बलताए न होती तो नायक-नायिका प्रसग की उत्पत्ति ही नही होती। स्त्री मे बेहद जिद्द होती है जिसका कारण है उसमे मननशीलता का अभाव। बहिर्मुखी बने रहने से इनमे दूरदर्शिता नही आ पाती। और जिसमे दूर दर्शिता नही होती वह गाभीर्य गुण से नितान्त वचित रहता है। आदमी मे बदला लेने की प्रवृत्ति का मुख्य कारण उसका यह बहिर्मुखी भाव ही है जोकि जडता का प्रधान लक्षण है।

एक समय था जब पश्चात्य देशो की नारियो मे विवाह-बन्धन का विरोध करने की एक बडी प्रचण्ड लहर चली थी। उनका कथन था कि वे पति के अकुश मे रहकर अपनी स्वतत्रता का हनन नही करेंगी किन्तु प्रकृति का कोई विरोध नही कर सकता। इनमे मुक्त अनाचार की लहर दौड गई, ये पतनोन्मुखी हो चली, तो इनकी अक्ल ठिकाने आई और ये फिर शादी के बन्धन को स्वीकार करने लगी। तब वहा की नारी फिर से स्वाभिमान अनुभव करने लगी। इस प्रकार बीच मे अनियन्त्रित लहरो ने पाश्चात्य देशो के यौनस्तर को बहुत नीचा गिरा दिया था जो कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए घातक है। जो नारिया विदुषी, दूरदर्शी होती है, वे इस जजाल से

बहुत दूर रहती है और अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थिर बनी रहती है। इन्ही कमजोरियो को लेकर कवियो ने नारी को अबला कहा है, अन्यथा नारी अबला नही है, वह अबला तभी तक है जब तक कि वह सत्य, शिव, सुन्दरम् से वंचित है। वस्तुत सत्य, शिवम्, सुन्दरम् ही तो नारी का परम बल है जिसके सम्मुख प्रकृति की सारी शक्तिया झुके बिना नही रहती। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् ही ऋत है। ऋत को अपनी अवमानना बर्दाश्त नही होती। ऋत की अवज्ञा मृत्यु है।

अन्तर्मुखी का तात्पर्य केन्द्रस्थ बना रहना है और व्यक्ति जितना बहिर्मुखी होता चला जायेगा उतना ही वह उस केन्द्र से हटता चला जायेगा।

जब मनुष्य जरूरत से ज्यादा बहिर्मुखी हो जाता है तो उसकी दशा उस घोडे के समान हो जाती है जो लगाम तोड कर भागना चाहता है। वह समझ नही पाता कि लगाम उसी की रक्षार्थ है। यही लगाम जब टूट जाती है तो घोडा अनियन्त्रित होकर भागता है तथा किसी गडढे मे गिर कर अपनी टागे तोड लेता है। यही अवस्था अपने केन्द्र से भागे हुए व्यक्ति की भी होती है जो विनाश को प्राप्त हुए बिना नही रहता। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो का उचित समन्वय ही व्यक्ति को आनन्द और शक्ति से भर देता है।

भगवद्-दर्शन

आज का विज्ञानयुगीन व्यक्ति अपरोक्ष ज्ञान का, प्रत्यक्ष दर्शन का बडा हिमायती है। जब तक भगवान आज के व्यक्ति को प्रत्यक्ष चलाकर दर्शन न दे, वह उसकी सत्ता को मानने को तैयार नही है। चू कि भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन नही होते, वह भगवान की सत्ता को मानने के लिए बाध्य नही। वह भगवान को अपने दर्शन देने के लिए इतना आतुर देखना चाहता है जितना कि एक दुकानदार अपने ग्राहक को अपना माल दिखाने के लिए आतुर बना रहता है। आप किसी बजाज की दुकान पर चले जाइये, आपको लेनी है साडी एक, किंतु वह नाना प्रकार की साडियो को खोल-खोल कर आपके सामने ढेर लगा देता है, ताकि एक साडी की जगह आप दो-तीन साडिया ले ले। उसको अपना माल निकालना है और ग्राहक की अटी से पैसे ऐठने हैं।

आज का व्यक्ति भगवान को ऐसे ही कुछ स्तर पर अवरोहण हुआ देखना चाहता है। वह समझ ही नही पाता कि इस विश्व का रचयिता कितना महान होगा और साथ-साथ कितना सूक्ष्म होगा क्योकि इस सृष्टि के अन्दर

हम वडी से वडी और छोटी से छोटी वस्तु के दर्शन करते है। ऐसे तारे है जो कि एक लाख प्रकाश वर्ष के फासले पर स्थित हैं और अपनी धुरी के ऊपर निरन्तर गतिशील है। सूर्य जैसे नक्षत्र उसके महाकाय मे हजारो की सख्या मे समाने पर भी उसका ओर-छोर नही पा सकते। और यही तारा यदि अपनी धुरी पर से तनिक भी भाग छूटे तो चकनाचूर हुए विना न रहेगा। यह है नियम नियामक का। इसी नियम को Cosmic law कहते है और यही नियम ऋत है। और नियामक है भगवान जिसकी शक्ति की खिल्ली उडाने मे हम तनिक भी हिचकते नही।

यह प्रकाश दूरी हमारी बुद्धि का विषय नही हे, जवकि यह दूरी है भौतिक। जव भौतिक वस्तुए ही हमारी बुद्धि ग्रहण नही कर सकती, तो भगवत् तत्व, जो परम तत्व है, बुद्धि का विषय कैसे वन सकता है? इन ताराओ की दूरिया सिर्फ अको मे ही आकी जाती है। ऐसे जन्तु भी है जो कि अणुवीक्षण यत्र के द्वारा भी देखने मे नही आते।

देखो, एक-एक अणु के भीतर एक-एक विश्व है। उस विश्व की गति और इस दृष्टिगत विश्व की गति एक समान है जिसको आज के विज्ञानवेत्ताओ ने साबित कर दिया है। वाल उखाडने के लिए बहुत बारीक नोकदार चिमटी की आवश्यकता पडती है। चीमटे से वाल नही उखाडे जा सकते। तो भला वताओ, उस महान शक्ति के दर्शन करने के लिए हमारी वुद्धि को कितना पैना एव सूक्ष्म वनना होगा। लेकिन वेचारी बुद्धि करे क्या? वह तो जड है, उसकी पहुच एक हद तक है। अल्पज्ञ सर्वज्ञ का पता कैसे लगाये? उसके सामने तो उसको कु ठित होना ही पडेगा।

वडे-वडे विज्ञानवेत्ताओ ने अपने विज्ञान के वल पर चन्द्रमा के ऊपर तो आरोहण होने मे सफलता प्राप्त कर ली, और यह सफलता उनको गणित के गहन विज्ञान से प्राप्त हुई, लेकिन यह गणित का विज्ञान भी तो प्राकृतिक ही है, और अपने मे सीमावद्ध है। प्रकृति के अन्दर जो प्रक्रिआए हो रही हैं उन्ही का तो अनुसधान लगाने मे यह गणित सफल होता है। इसकी दौड प्रकृति के परे नही है। आज के विज्ञानवेत्ता इतना तो कहने लगे हैं कि वारीक-से-वारीक विश्लेषण के वाद हम इस नतीजे पर पहुचे है कि कोई एक ऐसी शक्ति है जो कि परिणित होकर इस स्थूल रूप मे आ जाती है, लेकिन वह शक्ति है क्या, यह वे कह नही सकते। वह शक्ति उनके नाजुक-से-नाजुक, वारीक-से-वारीक यत्रो का भी विपय अभी तक नही वन पायी।

विश्व है, उसे हम देखते भी है, लेकिन अब प्रश्न उठता हे कि विश्व अपने आप उत्पन्न हुआ है अथवा इसका कोई रचयिता है ? मनुष्य इस द्वन्दाभाव मे भूल रहा हे ।

यदि यह विश्व अपने-आप यू ही उत्पन्न हो गया है, तो यह सार्वभौमिक नियम का कायल नही वन सकता । किन्तु देखने मे तो यह आता है कि इसका जर्रा-जर्रा अपने विशेष नियमो मे आवद्ध प्रगतिशील है । ऐसे देखने मे नही आता, और न है, कि एक स्थान का जल अग्नि को वुझा दे और दूसरे स्थान का जल लकडी मे आग लगा दे । पानी का गुण ठडक पहुचाने का है । कही का पानी ले आओ, अग्नि को वुझाये बिना रहेगा नही । यह ऐसे-ऐसे नियमो से शासित है, बना हुआ है जिनका उल्लघन करना इसकी शक्ति के वाहर है । यह पृथ्वी अपने तीन चौथाई मे जल के अथाह समुद्र को थामे हुए है किन्तु क्या मजाल कि वह पानी इतना तरल होने पर भी पृथ्वी से अलग होकर नीचे गिर जाए । आखिर पृथ्वी लट्टू के समान शून्य मे भूल ही तो रही है । वह सार्वभौमिक नियम, जिससे आबद्ध होकर यह विश्व कार्यरत है, गतिशील है, वही ऋत है । ऋत बदल नही सकता । ऋत शाश्वत है, अटल है, अपरिवर्तन-शील है । ऐसा नही है कि आज कुछ और कल कुछ और हो । इतना जागरूक नियम बिना नियामक के हो नही सकता । कोई भी ग्रह अपनी धुरी से छूट भागने की हिमाकत नही कर सकता और कभी गति मे धीमा-सा फर्क आते ही उसमे से उसके हिस्से स्फुलिंग के सदृश्य छूटने लगते है जिनको हम पृथ्वी-निवासी उल्कापात कहते है ।

इन सब वातो से यही सिद्ध होता है कि जब यह विश्व एक नियम से आवद्ध है तो उसका नियामक अवश्य होगा । महत् प्रकृति से उत्पन्न रज, तम, सत इन तीनो गुणो का कार्य-रूप यह विश्व उस परमतत्व को इस तरह से ढके हुए है जैसे वादल सूरज को ढक देते है । और वादलो के घनघोर होने पर अधेरा-सा छा जाता है । उस अन्धेरे मे रहने वाला व्यक्ति उस जाज्वल्यमान सूर्य के प्रकाश का कैसे दर्शन कर सकता है, वल्कि उसका भान भी कैसे हो ? उसके दर्शन तो तभी होते है जब वादल हट जाए ।

इसी प्रकार जब तक हमारे मन मे रज, तम, सत रूपी वादल छाये रहते है हम उस परम ब्रह्म के दर्शन नही कर सकते । देखो, जब लालटेन के काच के अन्दर का भाग धुए से काला पड जाता है तो अन्दर जलती हुई बत्ती का

प्रकाश वडा धूमिल-सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जव तक हमारे अन्त.करण को अज्ञान रूपी तमस्र आच्छादित किये हुए है तव तक हृदय मे वैठ हुए प्रभु के दर्शन उपलब्ध कैसे हो ? उसके दर्शन प्राप्त होते हैं गुणातीत होने पर ।

साधारण धातुओ को प्राप्त करने के लिए हमको करोडो, अरवो रुपयो के कारखाने लगाने पडते है और जिस पत्थर मे वह धातु रमा हुआ होता है उसको चूर्ण करके विजली की भट्टी के अन्दर पिघलाकर मैल को दूर करने पर तब अपेक्षित धातु प्राप्त होता है। जब साधारण धातु को प्राप्त करने मे इतना प्रयत्न करना पडे, तो वह परम तत्व जो सारे विश्व मे रमा हुआ है, उसको प्राप्त करने के लिए एक विशेष कारखाना खोलना होगा जिसमे जड-चेतन का विश्लेषण कर सके। वैसा ही इजीनियर भी चाहिए।

जब ऐसी वात है तव यह तर्क कि भगवान हमको दिखता नही है, इसलिए हम भगवान को मानने के लिए तैयार नही है, पगु वने बिना रह नही सकता। भगवान को देखने के लिए या प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार क्या कभी आपने भगीरथ प्रयत्न करने का सकल्प किया ? चू कि वह हमारा परम पिता है, यहा तक कि हमारे हृदक मे स्थित है, इसलिए वह तो स्वय वडा लालायित है आपको अपना दर्शन देने के लिए, किन्तु वह करे क्या, जब आप अपनी आखो को ही नही खोले ? सोना, चादी, ताम्बा, लोहा जैसे धातु पत्थर मे रमे रहते है, और पत्थर के अनुपात मे इनकी मिकदार वडी परिमित है, इसलिए इन धातुओ को प्राप्त करने के लिए वडी-वडी कठिनाइयो का मुकावला करना पडता है, किन्तु परम तत्व तो इस विश्व मे ओत-प्रोत है। यह महान विश्व उसके एक अश मे झूल रहा है जैसे वर्फ समुद्र के अन्दर। जरा आख खोलने की ही आवश्यकता है। वह तो इस विश्व मे से इस प्रकार चू रहा है जैसे भीगे हुए कपडे मे से पानी। केवल दरकार है हृदय की आखो के द्वारा उसका प्रत्यक्षीकरण करने की। वह तो माता के सदृश्य अपनी सन्तान को अपना दूध पिलाने के लिए उत्सुक बना ही रहता है। उत्सुक ही नही, उसको तो अपनी सन्तान को दूध पिलाने मे आनन्द भी प्राप्त होता है। किन्तु बिना भूख लगे बच्चे स्तन-पान करते ही नही। इसी प्रकार जब तक कि हमको प्रभु दर्शन की उत्कट भूख-प्यास न लगे, तब तक हम उसकी तरफ रुझान करें कैसे ? और यह रुझान पैदा तब होती है जब कि हम ससार की चमकीली

चीजो का खोखलापन जान लेते है। इसी आशय को लेकर ईशोपनिषद के १५ वे मन्त्र मे ऋषि कहते हैं—

'हे पूषन्—अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक—अगर तू सत्य धर्म को देखना चाहता है, तो उस हिरण्मय चमक-दमक वाले ढक्कन को जिसने सत्य के ऊपर पर्दा डाल रखा है, हटा दे, और यह पर्दा तीन गुणो का बना हुआ है।'

सुन्दरी के मुख का घूघट जरा-सा अलग सरका दो, तो उसके मुख-चन्द्र को दृष्टिगोचर होने मे क्या देर लगती है ? और यह घूंघट भी तीन गुणो का ही है। तीन गुणो का धर्म ही है मनुष्य की बुद्धि को भ्रमित कर देना, और बधन मे डाल देना, और प्रभु के प्रति विपरीत बुद्धि पैदा कर देना। हाथी का शिकार हाथी से होता है, इसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति आत्मा के द्वारा होती है, न कि भौतिक उपकरणो के द्वारा। आत्मा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए तब समर्थ होता है जबकि वह गुणातीत हो जाता है। जब गुण उसको प्रभावित करने मे असमर्थ हो जाते है, जब कि वह मन मे स्थित सम्पूर्ण कामनाओ को त्याग देता है और आत्मा से ही आत्मा मे सन्तुष्ट हुआ रहता है तब उसको परमात्मा के दर्शन होते है। जब आत्मा आत्मा मे ही सन्तुष्ट हो जाता है, जब आत्मा-आत्मा के अन्दर रमण करने लगता है तब ये प्रकृति के तीनो गुण उससे दूर भाग जाते हैं, फिर वह ऐसे दिव्य जगत मे प्रवेश कर जाता है जहा प्रकृति पगु, कु ठित बनी रहती है।

हर दिन की घटना है। पलक झपकते ही हम स्वप्न देखने लगते है। स्वप्न भी तो सृष्टि ही है। वहा हम क्या-क्या नही देखते ? वहा पहाड, जगल, बडे-बडे नद-नाले, भयकर-से-भयकर जीव-जन्तु, सत्तर-सत्तर, अस्सी-अस्सी गज लम्बे सर्प, सुन्दर-सुन्दर स्त्रिया देखने मे आती है। कभी उन दृश्यो को देखकर हमे आनन्द प्राप्त होता है, कभी हम भयभीत हो जाते है। यहा तक कि हमारी घिग्घी बध जाती है। इन सब दृश्यो से विमोचित होने के लिए एक ही तो छोटा-सा उपाय है कि हमारी निन्द्रा भग हो जाए या हमारी घिग्घी को देख-कर, सुनकर हमको जगा दिया जाए और जाग्रत जगत मे लाकर खडा कर दिया जाय तो हम स्वस्थ हो जाते हैं। फिर हमारे ऊपर स्वप्न-जगत का कोई असर नही रहता, और उसको एक कल्पित जगत मान कर हम भूल जाते है।

इसी प्रकार यह भौतिक जगत भी जीवात्मा के लिए स्वप्न है और इस स्वप्न-जगत से ऊपर उठे बिना, जो आत्मा का विषय जगत है, उसमे प्रवेश नही कर सकते, और उसमे प्रवेश किये बिना हमको परम तत्व के दर्शन नही हो सकते और न परमानन्द प्राप्त हो सकता है। जैसे भौतिक विज्ञानवेत्ताओ की प्रयोगशालाओ मे भौतिक तत्व एव गणित इत्यादि के नियमो का अन्वेषण होता है उसी प्रकार अध्यात्म जगत के विज्ञानवेत्ता, जिसको हम ऋषि, सन्त, महात्मा कहते है या इन नामो से वे पहचाने जाते है, इनकी प्रयोगशालाओ के अन्दर उस परम तत्व की खोज की गवेषणा होती रहती है, हुई है और इन्ही के कारण हमे वह तत्व प्राप्त हुआ है, और उस विज्ञान को प्राप्त करने की परिपाटी का ऋषियो ने अपने शास्त्रो मे वर्णन किया है। ये वेद, उपनिषद, गीता इत्यादि उसी विज्ञान की टेकनीकल बुक्स है जिनका अध्ययन, अनुशीलन, स्वाध्याय करके उनमे वर्णित परिपाटी को कार्य-रूप मे लाने पर हम परम तत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

जैसे एक तत्व को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न साइटिस्ट अपनी जुदा-जुदा प्रयोगशालाओ मे भिन्न-भिन्न तरीके अपनाते है, हालाकि प्राप्तव्य वस्तु एक ही रहती है, तरीके भिन्न होते है, मसलन चन्द्रमा तक पहुचने के लिए अमरीका और रूस दोनो ही स्पेश-शिप छोडते है, शक्ले अलग-अलग होती है लेकिन दोनो भिन्न-भिन्न प्रकार के स्पेशशिपो का सचालन करने के लिए गणित का कानून एक है, नियम एक है। हम हजारो किस्म की मोटरे देखते हैं किन्तु उनकी सचालन-क्रिया का धर्म (प्रिंसीपल) एक है— पेट्रोल और बिजली को काम मे लाना।

इसी प्रकार इन ऋषि और सन्त-महात्माओ की प्रयोगशालाए जुदा-जुदा हैं, और इनकी प्रयोगशालाओ की टेकनीक भी जुदा-जुदा है, किन्तु मकसद एक है। महर्षि पतजलि योग-पथ का प्रतिपादन करते हैं, उस पथ से भी लोगो ने बहुत लाभ उठाया हे और अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त करने मे सफल हुए है। तो सतो की प्रयोगशाला भी उनकी अपनी है, कम महत्व की नही। इसके तरीके सरल हैं किन्तु है सही।

दोनो ही प्रयोगशालाओ मे प्रयोगकर्त्ताओ को बड़ा सतर्क रहना पडता है। इन दोनो प्रयोगकर्त्ताओ का सबल भी समान है। और वह है सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य। सतो ने भजन पर बडा बल दिया है किन्तु भजन

करने - वाले हताश पाये जाते है। उनके कुछ विशेष हाथ आता नही। इसलिए उनकी रुझान भजन मे शिथिल हो जाती है। वे समझते ही नही कि भजन करने का भी एक विशेष तरीका है। भगवान के नाम जैसे—रामकृष्ण, ओम् अथवा भगवान परक कोई भी नाम क्यो न हो—ये तो केवल बीज-रूप है और हमारा हृदयरूपी क्षेत्र है जमीन और इसका हल हैं मन जिसके द्वारा ये बीज जोते जाते है। जमीन को विना जोते यदि हम यो ही बीजो को डाल दे, और वे बीज जमीन की सतह पर ही पडे रहे तो वे अकुरित नही होते। बीजो को जमीन की सतह के तह मे बोना होता है। तभी बीज जमीन के क्षारो (Salts) को अपनी आवश्यकताओ के अनुपात म प्राप्त करके जिन फल-फूलो के वे बीज हैं उन फल-फूलो को विकसित (manifest) कर देते है। बीज मे सूक्ष्म रूप मे वे फल-फूल विद्यमान है, बीज और बीज का पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न नही है।

इसी प्रकार नाम और नामी अभिन्न है। भजन नाम के स्वामी को प्रकट कर देता है। राम शब्द से राम भिन्न नही है। राम शब्द मे राम समाहित है, विद्यमान है। उस शब्द मे से शब्द के नामी को व्यर्थ करके, उसके नाम का भजन करना ऊषर भूमि मे बीज को बोने के समान है। फल-फूल का बीज उपजाऊ जमीन मे बोया जाता है और भगवान का नाम अन्त करण मे बोया जाता है। बीज किस प्रकार अकुरित होता है, इस प्रक्रिया के दिग्दर्शन करना किसी भी प्रयोगशाला के वस की वात नही है। उदाहरणार्थ, जब हम जिक और सलफ्यूरिक एसिड को किसी बोतल मे मिला देते है तो उद्जन (हाईड्रोजन) निकलने लगती है, और जिक बन जाता है जिक सलफेट और सलफ्यूरिक एसिड की जगह हमे मिलता है जिक सलफेट और हाईड्रोजन। लेकिन यह जो प्रक्रिया होती है इसके प्रत्यक्ष दर्शन नही होते।

इसी प्रकार भगवान के नाम का स्मरण जब अन्त करण मे किया जाता है तब वहा सिंचाई होती है भजन-रूपी जल से। फिर प्रभु को हृदय मे व्यक्त होने मे देर नही लगती है। किसी ने ठीक ही कहा हे,

तेरे पूजन को भगवान
बना मन-मन्दिर आलीशान

जब हमारा यह मन भगवान का इतना आलीशान मन्दिर है तो फिर

इसमे भगवान के दर्शन क्यो नही होते ? साधारणत देखने मे आता है कि कोई भी भला आदमी गन्दे, गलीज और दुर्गन्धयुक्त स्थान पर रहना पसन्द नही करता। यहा तक कि कुत्ता जैसा जानवर भी वैठने से पहले अपने स्थान को अपनी पूछ से साफ कर लेता हे, तो भला बताओ तो, उस परम तत्व का प्राकट्य आपके गन्दे मन मे कैसे हो सकता है ? किन्तु यह वात समझ मे नही आती की मन मे गन्दगी कहा से आती है ? मैला-कुचैला तो जमीन या स्थान विशेष मे जमा होता है, मन तो ऐसा स्थूल स्थान नही है। घर का मैल जैसे कीचड, कर्दम, धूल, वायु और पानी के द्वारा आकर घर मे जमा होता है, उसी प्रकार मन के भावो के द्वारा इसके अन्दर कर्दम जमा होना शुरू हो जाता है। वह कर्दम है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य। जब ये दुर्गुण हमारे मन मे घर कर लेते है तव वह आलीशान मन-मन्दिर दुर्गन्धयुक्त हो जाता है ।

जव कभी हम साधारण अतिथि को भी निमन्त्रित करते हैं तो उसके स्वागत के लिए उसके वैठने का स्थान साफ-सुथरा वना देते है। तब फिर भला अपने मन मे परम तत्व के प्राकट्य के लिए कितनी सफाई की आवश्यकता होगी, आप खुद ही विचार कर सकते हैं। स्थूल स्थान मकानादि झाड़ू, झाडन इत्यादि से साफ किये जाते है। किन्तु ऐसे स्थूल उपकरणो से तो मन साफ होने का नही। वह तो इतना सूक्ष्म है कि जिसका हमे खुद ही पता नही चलता कि वह है कहा ? फिर उसमे झाड़ू लगे कैसे ? स्थूल घर की सफाई के लिए जिस तरह स्थूल झाड़ू की आवश्यकता होती है उसी तरह सूक्ष्म मन की सफाई के लिए सूक्ष्म झाड़ू की आवश्यकता होती है और वह झाड़ू है सूक्ष्म विशुद्ध बुद्धि। शुद्ध सात्विक बुद्धि के द्वारा हम उन कुभावो को मन से निकाल फेके और उनको फिर न आने दे। चू कि मन-मन्दिर इन कुभावो से मैला, दुर्गन्धयुक्त और अपवित्र हो जाता है, तो शुद्ध बुद्धि से मैल को तो साफ कर सकते है किन्तु यह पवित्र होता है सत्य के पुचाडे से। और उस परमपिता के वैठने के लिए आसन वनाया जाता है सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से। उसकी आरती भी सत्य शिव सुन्दरम् से उतारी जाती है। जिनके पास इतने उपचार उपलब्ध है उन्ही के मन-मन्दिर मे प्रभु का प्राकट्य होता हे।

ये उपकरण इतने सूक्ष्म है जिनका प्रयोग ही मनोयोग कहलाता है। यह मन-मन्दिर हमारे जो रहने के स्थान हैं उनके सदृश्य बरावर गन्दा बनता रहता है। जैसे अपने रहने के स्थान को साफ रखने के लिए झाड़ू से निरन्तर

बुहारी निकालते रहते है, इसी प्रकार मन को बुहारने के लिए निरन्तर प्रभु के नाम के भजन से इसको बुहारना पडता हैं। मन को यदि न बुहारे, तो इसके ऊपर आक्रमण करने वाले इसके दुश्मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, जो कि इसके बडे प्रबल शत्रु हैं, आक्रमण किए बिना न रहेगे। यह हमारा नित का भजन ही इनको पगु बनाये रखने मे समर्थ होता है। तभी हम इसके अन्दर सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कर पाते ह। और जब इनकी प्रतिष्ठा मन के अन्दर, हृदय के अन्दर सागोपाग हो जाती है तो हृदय मे स्थित जो प्रभु हैं उनका प्राकट्य होने मे फिर देर नही लगती।

मन आध्यात्मिक प्रयोगशाला हे। भौतिक प्रयोगशालाए तो दृष्टिगोचर होती रहती हैं, लेकिन यह है दृष्टिअगोचर। यह बडा सूक्ष्म है। इसका नियत्रण तो सात्विक बुद्धि ही कर सकती है। लिखने मे, कहने मे, सुनने मे ये सारी बाते बडी सुगम प्रतीत होती हैं, किन्तु एक-एक कुभाव, यह काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि, कुवलयापीड हाथी के समान दुर्दान्त हमारे मन पर आक्रमण करता है। इनको मार भगाने के लिए भागीरथ प्रयत्न और सामर्थ्य की आवश्यकता पडती है। प्रयोग मे ये बाते बडी कठिन हैं। किन्तु सरल बन जाती है अहर्निश भजन से। भजन के सामने इन दुर्दान्त हाथियो को काफूर होने मे देर नही लगती। लेकिन नाम रूपी बीज के भजन का वपन अन्त करण की तह मे करना होगा। तब इस नाम के अन्दर छिपे हुए नाम के स्वामी को प्रकट होने मे देर नही लगती। इतना होने पर तब हमारा मन प्रभु के पूजन के योग्य आलीशान मन्दिर बनता है।

यह पूजा क्या है? भगवान के नाम की रटन। जैसे दो पत्थरो के घर्षण से अग्नि प्रज्जवलित होती है, पत्थरो मे तो अग्नि दिखाई देती नही, किन्तु घर्षण उनमे सुपुप्त अग्नि को प्रकट कर देता है। इसी प्रकार नाम मे समाये हुए भजन के घर्षण से प्रभु व्यक्त हो जाते हैं। भक्त की और योगी की दोनो की अवस्था एक हो चलती है। यदि योगी के आज्ञा-चक्र से प्रकाश प्रस्फुटित होता है, तो भक्तो को भी उस जाज्वल्यमान प्रकाश के दर्शन आख के झपते ही होने लगते हैं और इन दोनो प्रकाश का स्रोत वही आज्ञा-चक्र ही है। योगी आज्ञा-चक्र का भेदन करता है योग प्रक्रिया से, और भक्त भजन के द्वारा। यह प्रकाश चमक-दमक मे होता तो सूर्य के प्रकाश के सदृश्य है, किन्तु इसमे ऊष्मा नही रहती, यह शीतल होता है, आखे चुन्धियाती नही है। इस प्रकाश के दर्शन से भक्त आनन्द-विभोर हो उठता है, और इस प्रकाश की स्मृति भी बहुत काल

तक बनी रहती है और ज्यो-ज्यो भजन तीव्र और निरन्तर बना रहता है, त्यो-त्यो यह प्रकाश स्थिर बनता चला जाता है ।

यह प्रकाश उस परम तत्व की पुनीत पवित्र ज्योति ही तो है । स्वय परम तत्व ही तो है । यही आत्मा का प्रकाश है । किसी शायर ने ठीक ही कहा है, 'दिल के आईने मे है तस्वीरे-यार, जब जरा गर्दन झुकाई, देखली ।' यह प्रकाश ही तो वह तस्वीरे-यार है । जब आत्म-प्रकाश परमात्मा प्रकाश मे निमग्न हो जाता है, तो इसी को कहते है आत्मा से आत्मा का सतुष्ट होना या आत्मा का आत्मा मे रमण करना । फिर आत्मा और परमात्मा दो भिन्न वस्तु नही रहते । इसी को कहते है धर्म । धर्म की परिभाषा है आत्म-तत्व की रक्षा करना । आत्म-तत्व को साधे रहना । उसको अच्युत बनाये रहना । प्रकृति और आत्मा के सम्बन्ध का दर्शन कराते रहना । प्रकृति के तीनो गुणो का भली प्रकार विश्लेषण कराकर इनकी पोल को खोल देना ताकि आत्मा फिर इनके चगुल मे फसने न पाये । धर्म मत नही है, न इसका सही अर्थ रिलीजन है । यह एक लौ है, इसको कहते है ऋत । जब आदमी सत्यनिष्ठ हो जाता है, तब अहिंसा और ब्रह्मचर्य दोनो सध जाते हैं और सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की त्रिपुटी से प्राप्तव्य जो नियम है वह है असली रूप धर्म का और वह प्रत्येक मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है, जो कि आत्मा का भी स्वभाव है ।

प्रभु-दर्शन बडे कठिन और साथ ही बडे सुगम है । भूमि पर पडा बीज अकुरित नही होता, अकुरित होता है जमीन की तह के अन्दर जाकर । मन कही, भजन कही, तो वह भजन सफलीभूत नही होते । भजन वही सफल होता है जो हृदय की तह से किया जाता है । प्रभु, परम तत्व सतो की चक्कलस-बाजी नही है । चक्कलसबाज की क्या सत्ता, क्या ताकत ? उसकी कलई खुलने मे कितनी देर लगती है ? जिन्होने आत्म-तत्व को प्राप्त किया है ऐसे ही सत समय के पटल पर अपनी छाप लगाकर चले जाते हैं । राम, कृष्ण, ईशा, बुद्ध, शकर प्रभृति की छाप समय पर तब तक बनी रहेगी जब तक कि समय बना रहेगा । यही सत की महिमा है ।

स्वभावत एक प्रश्न उठता है कि हम भगवद्-दर्शन के पचडे मे क्यो पडे, जबकि बिना उसके दर्शन के भी हमारा काम मजे मे चल सकता है ? ससार मे शताब्दियो के व्यतीत होने पर कोई ऐसा आत्मा पैदा होता है जो दावे

से ऐलान करता है कि मुझे ईश्वर-दर्शन होते है। किन्तु ऐसे जीव भी आते हैं और चले जाते हैं। जीवन मे खाने-पीने की वस्तु के समान भगवद्-दर्शन की आवश्यकता बनी रहे, तव कही इस दर्शन की तरफ मनुष्य आख उठाकर देख सकता है। हम रोज ही देखते हैं कि जिस वस्तु के बिना हमारा जीवन यापन होता रहता है तो उस वस्तु की हम खोज नही करते। इसीलिए मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व एव उसके दर्शन के प्रति तटस्थ बना हुआ है। वैज्ञानिक अन्वेषण के पहले मनुष्य को बिजली एव भाप (स्टीम) की खोज एव प्रयोग की कहा चिन्ता थी ? किन्तु जब इनको प्रयोग मे लाये और जीवन का स्तर ऊचा उठा, जीवन मे आनन्द मिला, तब निरन्तर मनुष्य इनकी खोज, इनके प्रयोग मे लग गया। इसी तरह ईश्वर-प्राप्ति से जीवन कितना चमत्कृत हो जाता है, जब तक इसका पता न लगे, तब तक न इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, न इसकी खोज के लिए प्रेरणा मिलती है।

अब हम देखेंगे कि बिना ईश्वर की प्राप्ति के मनुष्य कितना विकेन्द्रित बना रहता है और विकेन्द्रित होने से अहर्निश कितने उसके हाथ, पैर, घुटने, हड्डिया टूटती रहती है और उनके टूटने से पैदा होने वाले दर्द मे मनुष्य कितना असहाय कराहता रहता है ? किन्तु यह दर्द प्रिय तो नही लगता। वह इस दर्द का विमोचन चाहता है। और वह भी तुरन्त। उस दर्द के मिटने पर मन एक अवस्था को प्राप्त होता है और वह अवस्था है निन्द्रा। और जब वह उस निन्द्रा से जाग्रत होता है तब कहता है, मुझे बडी अच्छी नीद आई। और सुख अनुभव करता है। और सुख का वह बडा आकाक्षी है। और यह सुख इन्द्रिय-जनित है। जब तक इन्द्रिया स्वस्थ रहती है यह सुख भी उतनी ही हद तक हमे प्राप्त है।

किन्तु आत्म-जनित जो सुख है वह आनन्द है और निरन्तर है। आत्मा इन्द्रियो के द्वारा सुख अवश्य भोगता है, किन्तु यह सुख एक समान स्थायी नही रहता। इस सुख की लहरें उठती है, गिरती है और लय हो जाती है। रजोगुण, तमोगुण को अभिभूत कर जब सतोगुण का आधिक्य होता है तब सुख का आविर्भाव होता है। सतोगुण-जनित सुख भी बन्धन का कारण है जबकि सतोगुण निर्विकार एव निर्मल होने के कारण ज्ञान एव सुख की सृष्टि होने लगती है। किन्तु यह सुख आसक्ति से रहित नही होता, और जब सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण का आधिक्य होता है तब मनुष्य कर्म मे

लग जाता है और जब सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण का आधिक्य होता है तब यह ज्ञान को आच्छादित करके मनुष्य को प्रमाद मे लगा देता है।

मनुष्य का अन्त करण रूपी प्याला इन तीनो गुणो के कर्म-रूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य से भरा रहता है, इनका परिवेश असीम तो नही है किन्तु कम भी नही है। मनुष्य के जीवन मे नाना प्रकार की कामनाएं, कारण-अकारण क्रोध का अनियन्त्रित ताडव-नृत्य, लोभ की टेंटेकिल्स, इस प्रकार फैल जाती हैं जैसे वल्लरी मे से फूटते हुए तन्तु पेड की डालियो को जकड लेते है, उसी भाति मनुष्य अनर्थो के भवर-जाल मे फस जाता है। मोह के वश मनुष्य मनुष्यत्व के स्तर से इतना नीचा गिर जाता है जिसका अन्दाज लगाना बुद्धि का विषय नही है। किसी भी मोहक वस्तु के अधीन गर्ह्य-से-गर्ह्य कृत्य करने मे वह हिचकता नही। सेक्स भाव के वशवर्ती मनुष्य क्या-क्या कुकृत्य नही कर बैठता ? और अपने उस गर्हित कार्य के औचित्य को सही समझने और समझाने मे लज्जा भी अनुभव नही करता, जिनसे आज का व्यक्ति अनभिज्ञ नही। मद के वशवर्ती होकर भी मनुष्य से बडे-बडे निन्दनीय कर्म हो जाते हैं और मात्सर्य के अखाडे मे दो स्पर्धियो का ताल ठोककर लडना रोज-मर्रा का नजारा बन गया है जिसकी आग की झुलस से विरले ही बच पाते हैं। साधु, सन्यासी, मठाधीश जैसे विचारवान पुरुष भी इसके सामने नत-मस्तक पाये जाते है। यह सारे ही दुर्गुण भव-सिन्धु के जल हैं जिसके अन्दर मनुष्य निमग्न अथाह दुर्दान्त दु ख की पीडा मे कराहता रहता है। ससार मे गिनती के ही मनुष्य पाये जा सकते हैं जो कि इस ज्वाला से बचे रहे हो। वह कौन-सा व्यक्ति है जो डूबने से बचना नही चाहता ? साधारणतया गले तक जल मे स्नान करने मे तो आदमी डुबकी मारने मे हिचकिचाता नही, एक प्रकार का आनन्द ही अनुभव करता है, किन्तु जब जरा पैर तल को छोडने लगते है तब उसे डूबने मे देर नही लगती। तब वह सहारा ढूढता है। डूबते हुए आदमी को तो वही बचा सकता है जो कि पानी की सतह के ऊपर तैरने मे दक्ष हो। कई बार देखने मे आता है कि भले-भले तैराक डूबते हुए मनुष्य को बचाने मे आप भी जल-मग्न हो जाते हैं। कुशल तैराक वह है जो अपनी रक्षा करते हुए डूबते हुए को उबारकर किनारे लगा दे। उबारने वाला सदा ही जल की सतह पर रहता है, या यो कहे, जल के प्रवाह के ऊपर वह अपना प्रभुत्व जमाये रहता है।

इस भवसिन्धु के ऊपर तैरने वाला, इसके ऊपर अधिकार जमाने वाला वह परमतत्व है जिसको हम परमात्मा, प्रभु, भगवान इत्यादि नामों से पुकारते हैं। भव सिन्धु उसको छू नही सकता बल्कि भव सिन्धु उसके अधिकार की वस्तु है। क्यो ? क्योकि यह नियम है कि जो वस्तु जिसमे से निकलती है वह उससे न्यून होती है और समय पाकर उसमे प्रवेश कर जाती है, लीन हो जाती है। जितने भी खनिज-पदार्थ, फल, फूल, वृक्ष, वनस्पतिया पृथ्वी से उत्पन्न होती हैं, वे आगे चलकर इसी मे समा जाती हैं। इससे अलग वे अपनी निजी हस्ती रख नही सकते। यह नियम है। Cosmic Law है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी पैदा होती है, और क्रमश: वे एक-दूसरे से परिमाण मे कम हैं। और जब कभी प्रलय होगा, ये एक-दूसरे मे समाती जायेंगी जैसे कैमरे मे से लेन्स के खोल फोटो लेते वक्त बाहर निकाल लेते हैं और फोटो लेने के बाद वापस अन्दर कर देते हैं। खोल जब बाहर होता है तब विश्वास भी नही होता कि यह चीज कभी कैमरे के फ्रेम के अदर रही होगी।

इस प्रकार एक परम तत्व से उस विश्व का विकास हुआ है और वह परम तत्व इतना विशाल होगा उसका अन्दाज नही लगाया जा सकता। क्योंकि वह इस सम्पूर्ण जगत को अपनी योगमाया के द्वारा एक अंश मात्र मे धारण करके स्थित है। जब वह परम तत्व इस जगत का अधिष्ठाता है तो अधिष्ठाता के बिना तो किसी की स्थिति होती ही नही। तो अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए अधिष्ठाता की बड़ी आवश्यकता है।

अत यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने अधिष्ठाता को प्राप्त होना चाहता है और अपने अधिष्ठाता के ऊपर अधिष्ठित हुए बिना सुख को प्राप्त नही हो सकता। और यह सुख है परमानन्द। इसलिए परमानन्द को प्राप्त करने के लिए प्रभु की प्राप्ति जीवन का ध्येय है। प्रभु की प्राप्ति ही ईश्वर-दर्शन है। यह तर्क का विषय नही है। यह है, ऐसा मानकर चलने मे मनुष्य का श्रेय निहित है। इसी मे उसका कल्याण है।

एक और विचित्र चीज हम देखते है। वृक्ष, पेड, पौधे, वल्लरिया धरती को पददलित किये हुए नजर तो आती है, ऐसा मालूम होता है मानो इन्होंने धरती को रौन्दकर इस पर पैर जमाये हो। लेकिन इनकी डालिया, इनके पत्ते सब झुके रहते हैं पृथ्वी की तरफ। क्यो न झुके रहे ? माता की गोदी के लिए

कौन नही ललकता ? जिससे उत्पन्न हुआ है उसमे समाहित होगा—यह अटल नियम है। यह ऋत है। इससे कौन इन्कार कर सकता है ?

भगवान और मनुष्य मे अन्तर

नास्तिक अक्सर कहा करते है कि भगवान होता तो नजर अवश्य आता, लेकिन जो चीज है ही नही तो वह नजर क्या आये ? मनुष्य भगवान को अपने मनरूपी तराजू मे तौलना चाहता है। उसके वटकडे है महदूद, परिमित। अब परिमित से असीम को कैसे तौले ? सेर से तो हम मरण को नही तोल सकते। इसी तरह मनुष्य और ईश्वर मे वहुत अन्तर है। पिता और पुत्र के ही अन्तर को देख लो। पिता पुत्र के लिए क्या-क्या नही करता ? अपना सर्वस्व उसके लिए त्याग कर देता है। पिता सिर्फ अपने पुत्र से इतना ही चाहता है कि उसकी असहाय अवस्था मे केवल पुत्र उसकी इतनी रक्षा कर दे कि उसको दूसरो के सामने रिरियाना न पडे और उसके मन की शान्ति भग न होने पाये। जवकि ये दोनो सम्वन्ध पार्थिव हैं।

लेकिन कहा प्रभु और कहा यह मनुष्य ? कीडी की आख हाथी को कैसे दिखाई दे ? हमारे ये चर्म-चक्षु एक खास दूरी पर उपस्थित वस्तु को ही तो देख सकते हैं। उसके वाद नही। प्रभु ने विश्व बनाया। मनुष्य के उपयोग के लिए नाना प्रकार की वस्तुए वनायी। वह गुणातीत प्रभु इनके वदले मे कुछ नही चाह कर ऐसा गायव हुआ कि मनुष्य को आज विश्वास ही नही होता कि इन सवका वनाने वाला कोई है, या था। क्योकि वह तो मनुष्य से कृतज्ञता-ज्ञापन चाहता नही। देने वाला क्या लेने की चाह करेगा ? यह तो मनुष्य है जो देने के वदले कुछ लेना भी चाहता है। हम एक गिलास ठडा पानी किसी को पिला दे, तो हम उसको भूलने को तैयार नही और उस पानी के पीने वाले को अपने पानी की वार-वार याद दिलाने मे देर भी लगाते नही। हमसे तो वृक्ष भले जो फल देते है और उसके फलो को तोडने मे हम उसकी डाली तक को तोड देते है। उस पर चढने के लिए अपने पैर जमाने के लिए उसकी काया तक को छील देते हैं। लेकिन वह फल देने से कहा इन्कार करता है ? पशु अपनी खाज खुजलाने के लिए पेड के धड से अपने शरीर को रगडने मे कहा हिचकिचाते है ? और अपनी शीतल छाया मे उन्हे सान्त्वना प्रदान करने मे वृक्ष कहा पीछे हटता है ? पक्षी अपनी चोच से उसकी कोपलो को कुतर कर गिरा देते है, उस पर वीठ कर देते हैं, उसके कच्चे फलो को नोच-नोच कर

गिरा देते हैं, किन्तु सायकाल मे उनको आश्रय देने के लिए उसे कहा इन्कार है? वह तो हर समय अपनी डाली, पत्तियो के द्वारा उनका आह्वान करता रहता है।

जब मूक वृक्ष के अन्दर देने की इतनी भावना बनी हुई है और बदले मे कुछ चाहता नही, तो समझ मे नही आता कि मनुष्य उस प्रभु को अपने स्तर पर घसीटकर क्यो लाना चाहता है? आज भी देखते है, हजारो दयालु दाता गुप्त दान करना ज्यादा पसन्द करते हैं ताकि उनका नाम न हो। कोई उनको पहचान न पाये। कारण, वे न मान चाहते हैं, न किसी तरह की रिकगनीशन। वह दाता ऐसा महसूस करता है कि रिकगनीशन चाहने से दान की महत्ता घट जाएगी और वह दान दान लेने वाले को भारी पड जायेगा। वे दान देते हैं दूसरे का भार मिटाने के लिए, न कि उसको भार से बोझिल बनाने के लिए।

जब ऐसे मनुष्य भी मिलते है तो फिर प्रभु की बात ही क्या है। यह दिमाग का सारा फितूर हमारे विकेन्द्रित होने के कारण है। जब हम कुए को खोदते हैं तो पूरा ध्यान रखा जाता है कि वह केन्द्र के बीच मे जाए। कुआ अपने केन्द्र से जरा भी विचलित हुआ तो वह टेढा बन जाता है, और इस कुए की दीवारो को एक दिन गिरने का भय बना रहता है। कोयले की खानो मे हजारो फिट गहरे कुए खोदे जाते हैं और यदि वे जरा भी विकेन्द्रित हो जाए तो फिर कोयला निकालने के लिए उनके ऊपर कोई मशीने नही लग सकती। तेल-कूप पाच-पाच छ छ हजार फीट गहरे होते हैं। अगर वे टेढे हो जाए तो उनमे पाइप लाइनें जा कैसे सकती है? पाइप लाइन टेढी होने से वे टूट जायेंगी। मनुष्य का केन्द्र है उसकी आत्मा। जब वह विकेन्द्रित हो चलता है तब प्रकृत्ति के ये गुण तेजी से प्रहार करते हैं। बाहर के गुमराह शैतान हमारे बच्चो को फुसलाकर अपने चगुल मे तभी ले सकते हैं जबकि वे बच्चे अपने मा-बाप की बात सुनने से इन्कार कर देते हैं। घर वालो की बात सुनने वाले लडके व लडकिया कभी भी गुमराह नही हो सकते। नादान लडकिया दूसरो के हाथ मे कब पडती है? जबकि वे अपने घरवालो से विमुख हो चलती हैं।

नास्तिक

जब कभी कोई सज्जन 'मैं नास्तिक हूँ', 'मैं ईश्वर को मानता नही', 'ईश्वर को मानना एक बेवकूफी की निशानी है', ऐसा कहते नजर आता है तो

हमे उसकी मूर्खता पर तरस भी आता है और हसी भी आती है। क्या कोई मनुष्य दानिस्ता भी नास्तिक होने की हिमाकत कर सकता है? एक मनुष्य भले ही कह दे कि मैं विना बाप के उत्पन्न हुआ हूँ, या फला मेरा बाप नही है, किन्तु जब दोनो व्यक्तियो के स्वभाव मिलाये जाए और मिल जाए तब तो कहना ही पडेगा कि ये दोनो बाप-बेटे है।

अब हम ईश्वर और मनुष्य के स्वभाव का मिलान करके देखे कि दोनो समान है या एक-दूसरे से भिन्न। ईश्वर सर्वअग्रगामी है। मनुष्य भी सबसे आगे जाना चाहता है। ईश्वर सबका स्वामी है। मनुष्य के अन्दर स्वामी बनने की नैसर्गिक इच्छा रहती है। ईश्वर सत् है। मनुष्य भी अपने को सदा सत् बनाये रखना चाहता है यानी कभी भी मरना नही चाहता, अपने को स्थायी बनाये रखना चाहता है। ईश्वर सर्वज्ञ है। मनुष्य भी सर्वज्ञ ही अपने को समझता है। अपने सामने दूसरे को अक्लमन्द नही समझता। दूसरे से अपने मे ज्ञान ज्यादा समझता है। ईश्वर आनन्दस्वरूप है। मनुष्य भी सुख का बडा हिमायती है। वह सुख की प्राप्ति के लिए अर्थ-अनर्थ करने मे जरा नही हिचकता। चोरी, डकैती, अत्याचार, दुराचार, व्यभिचार, यहा तक कि बेटे का, बाप का, मा का, स्त्री का, परजनो का, दुश्मनो का, मित्र का कत्ल करने मे भी हिचकता नही। केवल सुख, आनन्द प्राप्त करने के लिए। जिसका वह कत्ल करता है उसको वह अपने सुख के मार्ग मे व्यवधान स्वरूप समझता है और सुख की प्राप्ति के लिए वह व्यवधान को मिटाता है, चाहे उसका फल कुछ भी हो। ये पाचो स्वभाव ईश्वर और मनुष्य मे समान पाये जाते है। ये दोनो ही समान गुणधर्मा हैं। तो फिर यह मनुष्य अमृत-पुत्र कैसे नही हुआ? अमृत-पुत्र अमृत की अवहेलना कर ही कैसे सकता है? उसकी अवहेलना करना अपने अस्तित्व की अवहेलना करना है। इसलिए मनुष्य दानिस्ता भी नास्तिक बन नही सकता।

गुणातीत

ईश्वर गुणातीत है। प्रकृति गुणो का कार्यरूप है। जीवात्मा का प्रकृति से सयोग होने के बाद देखने मे तो यह आता है कि जीवात्मा प्रकृति के नचाये नाचता है। गुणो से अभिभूत होकर अल्पज्ञ बना हुआ ससार के अनेक कष्ट भोगता है और शास्त्र ये कहते है कि प्रकृति के साथ रहते हुए भी जीव दागी नही बनता। और वह अमर है। निष्पाप है। और' ' '' ''' ''''''

इसका सामंजस्य कैसे हो ? पत्थर के अन्दर जैसे धातु रमी रहती है, प्रतीत तो ऐसा होता है जैसे पत्थर मे खोई हुई है लेकिन पत्थर से अलग होते ही निर्मल निर्विकार धातु मिल जाती है। हजारो साल तक पत्थर मे रमे रहने पर भी धातु के स्वभाव मे परिवर्तन नही आता। जब तक वह पत्थर मे रमी रहती है वह धातु pure प्रतीत नही होती, न धातु के स्वभाव और गुण का पता चलता है, बल्कि पत्थर के समान उसको कठोर, टूटने वाली, फटने वाली समझ बैठते है, लेकिन धातु अपने रूप मे पत्थर के समान टूटने-फूटने वाली नही है। इन दोनो मे कोई समानता नही है। वह लोहा, जो पत्थर मे रमा रहता है, पत्थर से अलग होकर हथौडे के रूप मे आकर उसको चकनाचूर कर सकता है, किन्तु पत्थर जिससे वह निकला है असली रूप मे आ जाने पर उस पर कोई तरह का असर नही पैदा कर सकता।

इस लेख मे प्रभु-दर्शन के समान ही गुणातीत का बारम्बार जिक्र हुआ है। अब प्रश्न उठता है, जब शरीर ही प्रकृति से बना है और गुण भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए है, और गुणो का कार्य-रूप ही हमारा शरीर है, तो इनसे भाग छूटने की क्या आवश्यकता है ? यह गुणातीत है क्या बला ? इसको समझने का हम प्रयत्न करेंगे।

वर्षा ऋतु मे वर्षा का जल पृथ्वी पर गिरने पर मिट्टी मे लथपथ होकर कितना गदला बन जाता है। नदी, नाले, तालाब के पानी को देखिये। उनमे स्नान करने की तबियत नही होती। हम परवश इनमे जब स्नान करते है तो हमारी धोती भी गन्दी हुए बिना रहती नही। पानी मे मिली हुई मिट्टी हमारी धोती मे घर किये बिना रहती नही। किन्तु वर्षा ऋतु के बाद जब यह मिट्टी नीचे जम जाती है तो पानी फिर स्वच्छ हो जाता है। गगा का पानी इतना स्वच्छ हो जाता है कि गगा की तली पर पडी हुई चीजे भी साफ नजर आती है।

हम किसी साफ-सुथरे स्वच्छ भवन मे प्रवेश करे और रहने लगे, तो थोडे ही काल के अन्दर क्या देखते है कि वह कुछ अस्वच्छ हो चलता है। पवन अपने साथ गर्दा लाये बिना रहेगा नही। पक्षी भी घर मे प्रवेश करते हैं और अपना घोसला बनाने के लिए तृणो का सचय करते है। हमारे शरीर के द्वारो से मल निस्रित होता रहता है। वह भी वहा आच्छादित हुए बिना रहता नही। थोडे ही काल पश्चात् वह भवन फिर सफाई चाहता है। उस भवन

मे स्वच्छतापूर्वक यदि रहना चाहें तो उसके वारम्वार स्वच्छ वनाये रहने की आवश्यकता है। नही तो यह गदा हुए बिना रहेगा नही।

भवन की वात तो छोड दीजिए। आपके शरीर को ही ले लीजिये। खाते, पीते, सोते, वैठते आपके शरीर से अन्दर का मल शरीर के द्वारो के द्वारा निस्त्रित होता रहता हैं। यदि आप अपने शरीर को उनसे धो-पोछकर साफ-सुथरा न रखे, तो फिर देखिये, आपके शरीर की क्या अवस्था होती है। मक्खियो के झुण्ड आपके ऊपर आघात किये विना न रहेगे। यदि आप स्वच्छ भवन मे निवास करना चाहते है तो यह आवश्यक हैं कि आप और आपका भवन दोनो स्वच्छ वना रहे।

इसी प्रकार रज, तम, सत यह तीन गुण आपके मन पर आघात करते रहते है। मन और बुद्धि वने ही इनसे हे। यदि इनको स्वच्छ बनाये रखना चाहते है, इनकी चपेट मे नही आना चाहते और जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं, जीवन को आनन्द से भर देना चाहते हे, तो इनके आघातो से सतर्क वने रहना आवश्यक हो जाता है। इन रज और तम के आयुध है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य। और इनसे बचने का एक ही उपाय है कि आप भी ऐसे आयुधो का प्रयोग करे जिनकी मार से यह भाग छूटे, शस्त्रो का मुकावला तो शस्त्रो से ही होगा। वे शस्त्र है सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य। जब इन शस्त्रो से हम अपने हृदय और मन की रक्षा कर लेते है तो हमारा हृदय, हमारा मन वडा कोमल वन जाता है। जीवन मे वडी से वडी देन अगर प्रभु की हो सकती हैं तो वह है हृदय की कोमलता। इस हृदय की कोमलता के सिवाय जीवन मे कोई प्राप्तव्य वस्तु हे ही नही। और इसका एक सबूत भी है। कृष्ण जैसे वीर, विज्ञानी, योगेश्वर ने अपने वाल्यकाल मे अपने हृदय रूपी नवनीत का वडा प्रदर्शन किया। लोग कहते है कि वे मक्खन की चोरी करते थे। भला वताओ तो सही, जिसके घर मे मक्खन की नदी बहती हो, वह दूसरे के घर मे क्या थोडे से मक्खन की चोरी करेगा? वह गोपियो के घर मे मक्खन खाने नही जाते थे, वे योगेश्वर उन गोपियो के घर मे उनके हृदय रूपी मक्खन का उपभोग करने जाया करते थे। जिसने हृदय रूपी मक्खन का उपभोग नही किया उसका जीवन निरर्थक ही वना रहेगा। जब हृदय इतना कोमल वन जाता है तो फिर इसके सारे ही शत्रु धराशायी होते नजर आते है। हृदय की कोमलता गुणातीत अवस्था है।

क्या भगवान के दर्शन होते है ?

कइयो के हृदय मे शकाए उठती रहती हैं कि क्या सचमुच भगवान के दर्शन हो सकते हैं, होते है ? और उस प्रकार के दर्शन होने के वाद मनुष्य के जीवन मे क्या प्रतिक्रियाए होती हे ? क्या वह अलौकिक शक्ति का स्वामी वन जाता है, जैसा कि जन-साधारण की धारणा वनी चली आ रही है ?

भगवान के दर्शन होते है, नि सन्देह होते हे । जो भक्त भगवान के साकार रूप के उपासक है और जिस साकार मूर्ति वाले भगवान की वे उपासना करते हैं वह उनमे उनकी भक्ति के भाव मे रमे रहते हे, उनको उन्ही के इष्टदेव के दर्शन होते है । जव उनका हृदयाकाश ससार के प्रपच से खाली हो जाता है तव उनके इष्टदेव उसमे विराज जाते ह और शरद पूर्णिमा के राकेश के सदृश्य उनको उनके अन्त चक्षु द्वारा दर्शन निरन्तर होते रहते हे । और निराकार का उपासक अलौकिक आनन्द मे अवगाहन करता रहता है और आख के मु दने पर जाज्वल्यमान प्रकाश के दर्शन करता रहता है । यह सत्य घटनाए हैं । उदाहरण देकर लेख के कलेवर को वढाने मे कोई अर्थ सिद्ध नही होगा । अनेको सन्तो की गाथाए सभी को मालूम हैं ।

अव प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के दर्शनो के वाद विशेप शक्ति का सचार होता है ? साधारण मनुष्य और महात्माओ की मानसिक शक्तियो के अनुपात मे भिन्नता अवश्य दिखाई देती है, किन्तु यह शक्ति कही वाहर से नही आती । प्रत्येक मनुष्य शक्ति का भडार है। यह शक्ति जितनी त्रिगुणात्मक परदे से ढकी रहती हे उसका सचार उसी मात्रा मे कम दिखाई पडता है । देखो, जव चावलो के अन्दर कुछ रेतीली चीज मिल जाती है तो उनको उवालने के पश्चात् खाने मे वडी असुविधा प्रतीत होती है, यहा तक कि मनुष्य उनको खा नही सकता, उसको तो दातो के नीचे किरकिराहट ही आती है और भात का स्वाद ही नही आता, किन्तु यदि चावलो से इस किरकिराहट को अलग कर दे, तो भात वडा सुस्वादु लगता है, भात किरकि-राहट के साथ और किरकिराहट के वाद मौजूद था ।

इसी प्रकार हम त्रिगुणात्मक परदे को अपने जीवन से जितना ही हटा दे, उससे ढकी हुई शक्ति उतनी ही अनुपात मे उभरने लगेगी और जिन्होने इस परदे का नितान्त निराकरण कर लिया, वे ईशा, वुद्ध, नानक प्रभृति सतो के सदृश्य शक्तिमान हो उठते है । हाल ही मे हमने महात्मा गाधी के दर्शन किये

हैं। उन्होने इस परदे को अपने जीवन से बहुत कुछ हटाया। यह परदा उनके जीवन मे कितना हटा, शेष कितना रह गया, यह तो वह महात्मा ही बता सकता था। किन्तु उनको कार्य-क्षेत्र मे जितनी सफलता मिली, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईशा और बुद्ध के कार्य-क्षेत्र व मानसिक क्षेत्र से कम न रहा होगा। वह उनसे कितना आगे बढ गया था यह लेखनी का विषय नही है, यह अनुभव की चीजे है।

इन महात्माओ के जीवन मे चमत्कार घटते हुए नजर आते हैं। दरअसल मे ये चमत्कार नही हैं, ये तो अपनी-अपनी शक्तियो का उपयोग मात्र है। लकवे का मारा हुआ इच्छा-शक्ति रहने पर भी अपने हाथ-पैर नही हिला सकता और स्वस्थ मनुष्य अपने हाथ, पैर, कमर को जितना चाहे उतना मोड सकता है। सरकस के अन्दर हम स्त्रियो को व पुरुषो को अपने पैर के पजो को सिर का तकिया बनाते हुए देखते हैं। अब अन्दाज कीजिये, उसने अपनी कमर को कितना लचकीला बना लिया! यह कहना कि उसने अपनी कमर को लचकीला बना लिया, यह कुछ विशेष ठीक नही है। कमर मे लचकीलापन तो स्वाभाविक है। जो इस लचकीलेपन को कठोर नही होने देते, वे अपनी कमर को मोडने मे सफल बने रहते हे और जो इस लचकीलेपन को काम मे न लाकर इसके अन्दर दृढता पैदा होने देते हैं वे अपनी कमर को धनुष के रूप मे नही ला सकते। आसन करने वाले भी तो ऐसा करने मे सफल बने रहते है। धनाढ्य एक आलीशान मकान बना लेता है, गरीब एक झोपडी बनाने मे असमर्थ बना रहता है। गरीब की दृष्टि मे धनाढ्य का मकान उसका एक चमत्कार है। किन्तु धनाढ्य की दृष्टि के अन्दर वह एक साधारण-सी बात है। एक शक्तिशाली व्यक्ति हाथी को अपनी छाती पर से उतार देता है, हमारी दृष्टि मे यह एक अद्‌भुत कार्य है। उसके जीवन मे यह एक साधारण-सी घटना है।

बहुत-से आदमी है जिनके हृदय मे भाव ही उत्पन्न नही होते। बहुत-से ऐसे है जिनके हृदय मे भावो की नदी बहती रहती है। ये चीजे कही से आती-जाती नही है। ये मनुष्य की शक्ति के अन्दर निहित है। इनको परदे से जितना बाहर कर ले। पूर्णमासी के दिन उगा हुआ चन्द्रमा और शरद् पूर्णिमा के दिन उगा हुआ चन्द्रमा का प्रकाश अलग-अलग दिखाई देता है। क्या इन चन्द्रमाओ मे कोई अन्तर है? चन्द्रमा तो एक ही है। लेकिन इसका प्रकाश वातावरण के ऊपर निर्भर करता है। शरद् पूर्णिमा के दिन आकाश

बादलो से नितान्त रहित रहता हे और अन्य पूर्णमासियो को वातावरण जरा घन बना रहता है, जिनमे से प्रकाश पूरी तरह से छन नहीं पाता। रामायण मे वाल काण्ड के अन्दर धनुष के टूटने के पहले तुलसीदास सीता के मुख की उपमा देते हे चन्द्रमा से और राम के मुख की उपमा देते हैं शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा से। कारण सीता के मन मे इस सशय के बादल मडरा रहे हे कि यह अबोध-सा दिखाई देने वाला किशोर वयसी राम शिवजी के प्रचण्ड धनुप को तोडने मे कैसे सफल होगा ? इस अनिश्चय के बादल उसके मुख-चन्द्र पर मडरा रहे है। दूसरी ओर मर्यादा पुरुषोत्तम राम अपनी शक्ति के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं, शरद् के शुभ्र आकाश की तरह उनके मन मे अनिश्चय के बादल का एक नन्हा-सा टुकडा भी उपस्थित नही है। यही कारण है कि सीता का मुख अनिश्चय के बादलो से रह-रहकर ढक जाने वाला चन्द्रमा है तो राम का मुख बादलो के आवरण मे नितान्त रहित शरद पूर्णिमा के शुभ्र आसमान का चन्द्रमा हे।

ऋद्धि और सिद्धि

प्रदर्शन की भावना से अभिभूत जो शक्तियो का प्रदर्शन करते है वह प्रदर्शन सिद्धि हे। इसीलिए इन सिद्धियो को योगी के जीवन-पथ मे व्यवधान समझा गया है क्योकि प्रदर्शन मे अहकार निहित है और यह अहकार मानो त्रिगुणात्मक परदा ही है। ज्यादा प्रदर्शन से फिर शक्ति लुप्त हो जाती है और उस परदे से फिर ढक जाती है। कोई रमणी सुन्दर-सुन्दर जवाहरात के हार पहने हुए है। जब तक वह इस कठे को साधारण वस्तु समझे हुए रहती है वह उसकी शोभा की आभा का सवर्द्धन करता रहता है और ज्यो ही उस कठे का होना महसूस करने लगती है और चाहने लगती है कि दूसरे भी मेरे इस कठे की शोभा का वर्णन करे, उसकी शोभा से चमत्कृत बने, तो वह कठा उसके रूप को बिगाड देता है, और एक न्यूनतम स्तर पर खडी हुई एक स्त्री नजर आती हे। कठा पहले भी था और पीछे भी था। यह भावना कि यह कठा मेरे पास है और दूसरे के पास ऐसा कठा नही है कठे की मालकिन को विकृत कर देता है। इसीलिए सिद्धियो का प्रदर्शन नितान्त वर्जित माना गया हे। महात्मा गाधी, हमे ऐसा भान होता है, इस प्रकार के प्रदर्शन के बडे विरुद्ध रहे। इतना तो अवश्य कहते रहे कि जब तक मुझे अन्दर की आवाज सुनाई नही देती मैं कोई कदम आगे के लिए नही बढाता, इसके अलावा उनके जीवन मे और कोई शक्ति मुखरित नही हुई।

उपसहार

जीवन मे मवसे वडी हानि है गपने-ग्रापको न पहचानना, ग्रात्म-दर्शन से महरूम रह जाना। यदि ग्रापसे कोई पूछे कि ग्रापका नाम, जाति क्या है, ग्रापके माता-पिता कौन हैं, ग्राप कहा के रहने वाले हैं, ग्राप कहा मे ग्राये है, ग्राप कहा जायेंगे, कुछ ग्रपने ग्रात्म-जनो का भी ग्रापको वोध है ? यदि इन सब प्रश्नो का उत्तर नकार मे दें, तो प्रश्न-कर्त्ता क्या ग्रापको पागल न समझ लेगा ?

यही दशा ग्राज हमारी हे। जन्म के पहले हम कहा थे ? हम कहा से ग्राये ? हमे कहा जाना है ? मैं कौन हू ? इसका ज्ञान हमको नही है। तो क्या हमारी दशा उपरोक्त उत्तर देने वाले की दशा से भिन्न है ? मनुष्य को यदि यही पता न चले, कि मैं कौन हू, कहा से ग्राया हू, मेरा गन्तव्य-स्थान कौन-सा है, मेरा कर्त्तव्य क्या है—तो उसके जीवन मे ग्रसफलता के सिवाय ग्रौर दूसरी वस्तु उपलब्ध हो भी कैसे सकती है ? विना लक्ष्य के तो कोई वस्तु प्राप्त होती नही। बिना लक्ष्य के तो हम दो कदम भी ग्रागे रख नही सकते, बढ भी नही सकते। जब मनुष्य को ग्रपना लक्ष्य ही मालूम नही होगा, तो वह उस ग्रधे के समान ग्रधेरी कोठडी मे टक्करें ही खाता रहेगा, ग्रौर इसी तरह चोटे खाते-खाते उसका प्राणान्त हो जायेगा।

यह ग्रपने-ग्रापको समझना क्या है ? ग्रात्म-तत्व के दर्शन करना, ग्रात्म-तत्व की प्राप्ति करना। इसी से प्रभु-दर्शन प्राप्त होते हैं। ग्रात्म-तत्व के दर्शन के वाद ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा मे भेद नही रहता। दोनो तत्व ग्रभेद हो जाते है। ग्रौर मूलत दोनो ग्रभेद थे भी। इसी को ग्रग्रेजी भाषा मे Merger कहते है। एक का दूसरे मे समा जाना ग्रथवा तद्रूप हो जाना ही तो ग्रात्म-दर्शन है, इसी को कहते है प्रभु-दर्शन।

स्वाभिमान शक्ति का प्रदाता है

शब्द 'स्वाभिमान' आज-कल बहुचर्चित हो चला है। कइयो की धारणा मे यह छुई-मुई का फूल ही बना हुआ है जो छूते ही मुर्झा जाता है। स्वाभिमान वह फूल है जिसको कुम्हलाने वाला जन्मा ही नही। स्वाभिमान के अर्थ होते हैं अपनी प्रतिष्ठा व गौरव का अभिमान अथवा यूँ कहे इनके रक्षार्थ सतत जागरूक बने रहना। स्व से बोध होता है अपनी आत्मा का, या यो कहे कि हम कोई ऐसा कार्य न करे जिससे अपनी आत्मा के गौरव को ठेस पहुचे। इससे भी यही सिद्ध होता है कि स्वाभिमान की रक्षा अपने ही हाथ मे है। इसकी रक्षा परतत्र नही है, स्वतत्र है। यानी स्वाभिमान व स्वतत्रता एक ही आशय लिए हुए हैं। स्वाभिमान अहकार नही है, अपितु अहकार का निराकरण मात्र है। अहकार पतन का मार्ग है जबकि स्वाभिमान आत्मा के उत्थान का पथ हे।

प्रशसनीय कर्म स्वाभिमान की रक्षा के हेतु बन सकते है तथा निन्दनीय कर्म इसकी रक्षा मे असमर्थ बने रहेगे। सच्चे स्वाभिमानी तो वे हैं जो

अपनी आत्मा का पतन नही होने देते बल्कि उसे जाज्वल्यमान बनाये रहते हैं। प्रकाश मे सभी हर्षित होते है, केवल उल्लू ही इससे क्षुब्ध होता है। तामस वृत्ति स्वाभिमान की रक्षा करने मे नितान्त असमर्थ है। तमस् तो अन्धकार है। अन्धकार मे कोई सुखी नही रह सकता। जिससे हम सुखी रहे, जिसमे हमे आनन्द मिले यह हमारे स्वाभिमान का सच्चा रूप हो सकता हे। स्वतन्त्रता के अर्थ है अपने तंत्र मे बना रहना, यानी नियमित जीवनयापन करना, सतपथ पर आरूढ बने रहना। आलसी, कुमार्गी को ही तो परतन्त्रता भोगनी पडती है, क्योकि उसे कोई भी धर दबा सकता है। दूसरे के आश्रित रह कर कोई भी स्वतत्र स्वाभिमानी कैसे बना रह सकता है! आश्रयदाता के अनुसार ही उसे चलना होगा, उसके मुखापेक्षी बने रहने मे उसका कल्याण है। वह जो भी कार्य कराये, उसे करना होगा, अच्छा व बुरा। किन्तु हम किसी से मीठा बोल ले, या किसी के घर नि स्वार्थ चले जाय, या किसी अस-हाय की सेवा कर दे, तो इसमे हमारा स्वाभिमान क्षत नही होता, वह तो उज्ज्वल ही होगा। आजकल देखने मे आता है, बात-बात मे लोग कहते रहते हैं कि मैं चला कर उसके पास नही जाऊगा, मै चला कर उससे बात नही करूगा, मै ऐसा करके अपने स्वाभिमान को ठेस नही पहुचाऊगा। घर या समाज मे, बडे या छोटे, विशेष कारणवश यदि रूठ जाय या नाराज हो जाय तो चला कर उनको मनाने के प्रयास मे हम अपने स्वाभिमान को ठेस पहुचाने का भान करने लगते है। ऐसी गलत धारणाओ से आपस मे व समाज मे वैषम्य कितना फैल जाता है, इसकी हम धारणा नही कर पाते। निरभिमान की मूर्ति महात्मा गाधी भारत-विभाजन के विषय मे विचार-विमर्श करने के लिये मि० जिन्ना के यहा जा पहुचे। वे भली-भाति जानते थे कि मि० जिन्ना हठी है, भारत-विभाजन कराने के लिए डटा रहेगा, क्योकि उसे मुसलमानो के लिए एक नया मुल्क कायम करना था। किन्तु महात्मा गाधी मान-अपमान का विचार न करके, उसके यहा चले ही गए, उनके प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर हम भारतवासी क्षुब्ध हुए—क्षुब्ध क्या हुए, बडे मर्माहत हुए और महात्मा की भी कटु आलोचना किये बिना न रहे क्योकि उस महात्मा के अपमान मे हम भारतवासी अपना ही अपमान महसूस कर रहे थे। लेकिन उस दिव्य आत्मा के अन्दर कोई प्रतिक्रिया न हुई। वह तो देश का सच्चा सेवक था। देश के हितार्थ, सत्य की परिधि के अन्दर वे सर्वस्व त्यागने के लिये उन्मुख बने रहे। अगर इस घटना पर गहराई से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि

मि० जिन्ना ने स्वयं ही अपने स्वाभिमान को ठोकर मारी क्योंकि उनके व्यवहार की बहुत निन्दा हुई थी।

महात्माजी एक बार पंढरपुर गए थे और दर्शनार्थ बाबा के मन्दिर में भी गए, वहां के पण्डों ने उन्हें फूलों की माला के बदले जूतों की माला पहना दी, फिर भी उस महामना महात्मा के मुखमण्डल पर खिलती रहने वाली सहज स्वाभाविक मुस्कराहट में कहां अन्तर आया। उनके हाथों ने उस माला को हटाने का उपक्रम तक नहीं किया। साथियों ने ही उस माला को अलग किया। निन्दा हुई अवश्य, लेकिन महात्मा की नहीं, उन पण्डों की, उनके निन्दनीय कर्मों की आलोचना बड़े ही कठोर शब्दों में हुई थी। यह कलंक का टीका उन पण्डों के मस्तक पर चिरस्थायी बना रह गया तथा उस महात्मा की आभा और भी निखर आई क्योंकि वह धनी था सच्चे स्वाभिमान का। ठेस पहुंची पण्डों के स्वाभिमान में। अपने स्वाभिमान को ठेस पहुंचाने वाला व्यक्ति स्वयं होता है, दूसरा नहीं। कहीं से बदबू आ रही हो तथा उस दुर्गन्ध से त्रस्त व्यक्ति उसके स्रोत पर जाकर पहुंच जाय और वह स्रोत उसे उलाहना देने लगे कि तू यहां कैसे आया, तुम्हारा यहां आ टपकना मेरा अपमान है। वह व्यक्ति यदि यह कहे कि मुझे तुमसे लड़ना नहीं है, तुम अपने में प्रसन्न रहो, किन्तु दूसरे को व्याघात पहुंचाने का तुझे हक नहीं है। इसी प्रकार कहीं से सुगन्ध आती रहे और सुगन्धि से प्रभावित होकर व्यक्ति उसके स्रोत तक पहुंच जाय तो वह स्रोत उसका स्वागत ही करेगा। आपने देखा होगा डाली पर फूलों का झूमना उसका लोगों को आमन्त्रण देना ही तो है। आगन्तुक उसके प्रति झुके बिना कहां रहता है, बिना झुके उसका स्पर्श प्राप्त होगा ही कैसे।

इन उदाहरणों के परिप्रेक्ष्य में यदि स्वाभिमान के सही अर्थ को समझा जाय तो फिर वह छुई-मुई का फूल न रहने पायेगा अपितु एक सबल शक्ति का प्रदाता बने बिना नहीं रहेगा। यही इसका सच्चा स्वरूप है।

कला और कृत्रिमता

कितनी हसी की बात है कि आज का तथाकथित शिक्षित मनुष्य भी कृत्रिमता को कला समझ बैठा है। वह कला एव कृत्रिमता का भेद ही नही समझ पाता। वह कुछ भी कर बैठे, उसे कला के मत्थे मढने मे जरा भी हिचकता नही। कला एक ऐसा पासपोर्ट बन गया है जिसके बल पर समाज की छाती पर कैसा भी नृशस अत्याचार कर ले, तब भी किसी को उसका प्रतिवाद करने का साहस नही होता। यहा तक की व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निखार नाना प्रकार के बेशकीमती परिधान और कृत्रिम प्रसाधनो के ऊपर निर्भर समझ बैठा है। यह उसके शृगार के प्रसाधन तो हैं, किन्तु यह उसके व्यक्तित्व को छू तक नही सकते, उसके व्यक्तित्व की अभिवृद्धि करने की तो बात ही दूर रही। अग्रेजी भाषा को जो नही जानता, केवल कोट-पैन्ट पहनने मात्र से उसमे अग्रेजी बोलने की क्षमता आ नही सकती, और न पण्डितो जैसे वस्त्र धारण करने से सस्कृत-पाठी या उसका विद्वान हो सकता है। यह वस्त्र उसके व्यक्तित्व के सकेत तो कर सकते है लेकिन उसके व्यक्तित्व

की अभिवृद्धि नही। ध्वजा तो केवल किसी राष्ट्र का साईन-बोर्ड है जो कि दूसरे राष्ट्रो को माननीय होता है, किन्तु केवल ध्वजा राष्ट्र मे शक्ति का सचार नही कर सकता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व उसके शरीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास एव उसकी परिपुष्टता पर निर्भर करता है। व्यक्ति के वस्त्रादि उसके व्यक्तित्व की अभिवृद्धि के लिए न इतने अनिवार्य है न इतने महत्वपूर्ण। व्यक्ति का व्यक्तित्व ही उन वस्त्रादि को महत्व प्रदान करता है जिन्हे वह धारण करता हे, फिर यदि कोई यह कहे कि परिधान एव प्रसाधन से व्यक्तित्व बनता है तो महात्मा गाधी को हम राष्ट्रपिता तथा बापू कहकर न पूजते। वह तो कोई आकर्षक वस्त्रधारी नही थे। उनके खडाऊ तथा अन्य वस्त्रादि आज भी दर्शनीय क्यो माने जाते हैं? उनका व्यक्तित्व ही उन कपडो की महानता का कारण है। अत व्यक्तित्व क्या है, व्यक्ति उसे उसके सही परिप्रेक्ष्य मे समझ ही नही पाता। चटक-मटक से रहना, जरा नाज-अन्दाज का प्रदर्शन करते रहना मानो यही व्यक्तित्व की निशानी है। इतना व्यामोह जिसका कोई अन्दाज नही।

कला रचनात्मक (Creative), सृजनात्मक (Constructive) तथा निर्माणात्मक होता है। इसकी आधार-शिला सत्य शिव सुन्दरम् है जो ऋत का व्यापक रूप है। कृत्रिमता एक निम्न कोटि की कृति है, व्यामोह से भरी बडी मोहिनी है तथा बडी ही बहिर्मुखी। कृत्रिमता के प्रश्रयी अगम्भीर, छिछले एव अधोमुखी बने बिना नही रह पाते। यह सृष्टि त्रिगुण का कार्य-रूप है, अत कोई भी रचना पूर्ण निर्दोष नही हो सकती। आगे के पृष्ठो मे हम कला और कृत्रिमता का अपने-अपने सही परिप्रेक्ष्य मे दर्शन करने का प्रयास करेंगे।

कला वह विधा हे जिसके द्वारा मनुष्य अपने शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तरो मे ऐसा प्रकाशयुक्त विकास ले आता है, जो कि उसका अभिन्न अ ग बन जाता है और शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक स्तरो मे जहा-जहा रिक्तता रहती है उस रिक्त स्थान को वह अपने प्रकाश से भर देती है।

एक कितना ही दुबला-पतला व्यक्ति यदि शनै शनै व्यायाम करना शुरू कर दे तो थोडे ही काल मे वह सुन्दर, सुडौल शरीर का स्वामी बन जाता है। यानी शारीरिक अ ग-प्रत्यगो मे जहा-जहा भी कमी थी, वह व्यायाम-कला द्वारा पूरी हो गई तथा यह उसके शरीर का स्थायी अग बन गयी। एक

व्यक्ति ने अपने बाल्यकाल से ही दत्त-चित्त होकर विद्याध्ययन किया तथा एक दिन वह बी० ए० व एम० ए० पास हो गया। यह विद्या उसके बौद्धिक तत्वों का स्थायी अ ग बन गई। बडे-बडे डाक्टर, वकील, इन्जीनियर तथा मनीषी भी इस विद्या रूपी कला के द्वारा ही बडे बने जो कि उनका स्थायी रूप बन गई थी। हमारा तो यहा तक विश्वास है—चू कि हम पुनर्जन्म को मानने वाले है—कि आगे होने वाले जन्म के अन्दर उनकी प्रगति आज की प्रगति से ज्यादा ही अग्रसर होगी।

मनोवैज्ञानिक एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है जिसके द्वारा मनुष्यो की शारीरिक गतिविधि, बात-चीत, उनकी भाव-भगिमाओ से उनके अन्दरूनी रूप को पहचान जाता है, मानो उसकी दृष्टि एक्सरे का काम करती है। मनोविज्ञान से मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर इस तरह से खुल जाते हैं जैसे एक आदमी के कपडे उतार कर उसको नितान्त नग्न कर, हम उसकी प्रत्येक हड्डी-नश को देख ले। यह मनोवैज्ञानिक की बौद्धिक सम्पत्ति, उसकी स्थायी सम्पत्ति, वह किसी भी दशा मे हो, कही भी हो, उससे जुदा नही होती, उसका अभिन्न अ ग बन जाती है।

तत्वज्ञानी की दृष्टि मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से बहुत बढी-चढी होती है। मनोवैज्ञानिक शक्ति तो मनुष्य के मन स्तर तक ही सीमित रहती है किन्तु तत्वज्ञानी की दृष्टि मे तो पूरे विश्व का रहस्य खुले बिना नही रहता। वह मानसिक और बौद्धिक स्तर से भी बहुत ऊ चा चला जाता है। वह ईश तत्व, जो सारे विश्व मे व्याप्त है, उसके दर्शन करता रहता है। उसकी दृष्टि के अन्दर जड, चेतन, रूप, कुरूप कुछ रहता ही नही—सिवाय एक तत्व के जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, जिसका वह निरन्तर अमृत-पान करता रहता है।

कला केवल मनुष्य को ही सुन्दर, दिव्य रूप प्रदान नही करती, पशु-पक्षियो को भी अनेकानेक गुण-सम्पन्न बना देती है। इसका साम्राज्य केवल चेतन तक ही सीमित नही है। अचेतन यानी जड को भी बहुत सुन्दर और बडा उपयोगी बना देती है। नुकीले कठोर पत्थर तथा काष्ठ आदि जड वस्तुए शिल्पी आदि निर्माताओ के औजारो से कितनी कलापूर्ण स्वरूप को प्राप्त होती है। शिल्पी किसी देवता की मूर्ति गढ लेता है तो वह प्राण-प्रतिष्ठित हो बडे-बडे मन्दिरो मे जाकर स्थापित हो जाती है। यह मन्दिर हजारो-लाखो व्यक्तियो के लिए तीर्थ-स्थान बन जाते है और भक्तो के नाना प्रकार के

कायिक और मानसिक क्लेषो के विमोचन मे समर्थ होते है। इसके दर्शन मात्र से मनुष्य धन्य-धन्य हो जाता है। यह चमत्कार है कला का।

यदि हम कला को रचनात्मक, सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक मानते है तो इसके अन्दर विज्ञान द्वारा जितने भी निर्माण एव जितनी भी प्रगति हुई है, वह सभी कला के अन्तर्गत आ जाती है। किन्तु यदि सही परिप्रेक्ष्य मे देखा जाय तो विज्ञान एव कला दोनो अन्योन्याश्रित है। विज्ञान क्या है, यह जरा हम देखे—वैज्ञानिक अपनी बुद्धि-बल के द्वारा ससार मे कोई नयी शक्ति पैदा नही करता, वरन् प्रकृति मे छिपी हुई शक्तियो को उभाड लेना ही वैज्ञानिक का कार्य है। गणित के नियम वैज्ञानिक ने बनाए नही, ये तो प्रकृति मे कार्य कर ही रहे थे, किन्तु उनके गुण-धर्मों को खोज कर परिभाषाओ मे बद्ध करना, वैज्ञानिक का कार्य है, जिसे हम नियम (Law) कहते है। ये वैज्ञानिक परिभाषाए प्राकृतिक शक्तियो के गुण-धर्म का वर्णन करती है। वैज्ञानिक उन शक्तियो का प्रयोग करने के लिए कला की शरण लेकर नाना प्रकार के यत्र बना देता है और यह शक्तिया उनमे व्यक्त हो जाती है। इजिन (Locomotive) के आविष्कारकर्त्ता ने वाष्प की शक्ति का तो पता लगाया, किन्तु वाष्प की शक्ति का प्रत्यक्षीकरण इजिन के द्वारा ही तो हुआ जो कि कला की देन है। इजिन की शक्ल मे परिवर्तन, महाकाय मशीनरी, स्पूटनिक इत्यादि कला की ही देन तो है जिनमे प्रकृति की शक्तिया नियोजित कर दी जाती है और आश्चर्यजनक कार्य होते रहते है। वैज्ञानिक तो इस खोज मे रहता है कि शक्ति का पूर्णतया विकास किस प्रकार हो सकता है तथा किन विशेष परिस्थितियो मे लाने पर उनका उपयोग हो सकता है। जिसके द्वारा प्राकृतिक शक्ति का विकास हो सके वही कला है, अत ससार मे जितने भी उपयोगी पदार्थ है सभी इसकी परिधि मे आ जाते है। कला और विज्ञान का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसे शरीर व आत्मा का। जितने भी रचनात्मक कार्य दृष्टिगत होते है वे सब कला की देन है और उनमे सुन्दरता ललित कला की देन है। विज्ञान स्वय मे कला है। विज्ञान-कला के द्वारा एक ही किस्म के फूल के कितने रग के फूल तैयार कर लेते है। यही बात फलो एव वनस्पतियो मे भी दृष्टिगोचर हो रही है। जलाने के काम मे आने वाली लकडी को नाव की शक्ल मे लाकर मनुष्य बडे-बडे महानद की छाती पर किलोल करते दिखाई देते है। समुद्र जैसी अथाह जलराशि को भी उस नाव के द्वारा पार कर जाते है। लोहा पानी मे डूब जाता है लेकिन लोहे से

निर्मित जहाज पानी की छाती पर मचलता रहता है, पानी का चीरता हुआ वडी तेजी के साथ हजारो-हजारो मील देश-देशान्तरो का चक्कर मारता रहता है। यह चमत्कार विज्ञान एव कला के सम्मिश्रण का है।

यह सृष्टि त्रिगुणधर्मा है और कला भी इसी के अन्तर्गत है। इसी कारण यह भी त्रिगुणात्मक है, अत यह ऋण एव धन धर्मा है। जिस प्रकार विज्ञान के आविष्कार मनुष्य के लिए जितने ही हितकर है उतने ही अहितकर। हवाई जहाजो से देश-देशान्तर जाया जा सकता है और लडाइयो मे इन्ही के द्वारा बम-वर्षा भी होती हे। इसी न्याय पर अन्य कलाये भी आधारित हैं।

गायन, वादन एव नृत्य कला का धनात्मक रूप आत्मा की उन्नति मे वडा सहयोगी है। इसका ऋणात्मक रूप पतनोन्मुखी है। हमने शिल्पी की मूर्ति के वारे मे कितने जोरदार शब्दो मे प्रशसा की, किन्तु कोणार्क के सूर्य मन्दिर, खजुराहो के कन्दरिया नाथ महादेव मन्दिरो पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तिया चाहे वास्तु कला की दृष्टि से सराहनीय गिनी जाय किन्तु हम उन्हे सृजनात्मक नही कह सकते। क्योकि ये मूर्तिया अपने निर्माण-काल के समय व्याप्त वाममार्गीय प्रवृत्तियो की ओर इ गित करती हे। शिल्पी की छैनियो ने निश्चय ही सराहनीय कार्य किया है किन्तु हम भूल नही सकते कि शिल्पी अपनी मनोवृत्ति को अपनी कला मे उडेले विना कैसे रहा होगा ? पुरी-मन्दिर के मण्डप के बाहर इस प्रकार के स्त्री-पुरुषो की अश्लील मूर्तिया लगी हुई थी जो कि शिक्षित एव सभ्य जनो को विक्षुब्ध किए विना नही रह सकती। सम्प्रति वे हटा दी गई है। सन् १६२२ मे हमने स्वय देखा है कि पन्डे लोग युवक-युवती यात्रियो को उनके मनोरजनार्थ उन अश्लील एव कामुक मूर्तियो को दिखा-दिखा कर अनुचित लाभ उठाते थे तथा अनेकानेक अनर्थ होते थे। पुरी-मन्दिर के बाहर पत्थर के चत्वर के चारो तरफ उत्कीर्ण छोटी-छोटी मूर्तियो मे इतनी अश्लीलता भरी हुई है कि एक सभ्य मनुष्य अपने बाल-बच्चो के साथ उनको देख नही सकता। निश्चय ही ये वडी कलात्मक हैं किन्तु कला के ऋण रूप के फलस्वरूप हैं।

देव-मन्दिरो मे इस प्रकार की मूर्तियो का स्थान पाना अवश्य रहस्य-मय हे। मुमकिन है इन सब मूर्तियो की पृष्ठभूमि मे वाम-मार्ग की भावनाये कार्य कर रही थी। खोज-बीन करने पर प्राय उत्तर मिलता है कि ऐसी अश्लील मूर्तिया मन्दिर के आकाशचुम्बी मण्डपो को वज्राघात से बचाती है।

यह शिल्प का चमत्कार है। वहा कोई-कोई ऐमा भी उत्तर देते है कि इन मूर्तियो को देखकर जिन यात्रियो का मन विचलित नही होता वे ही सिर्फ मन्दिर मे प्रवेश के अधिकारी है। इस प्रकार के उत्तर प्राय मिलते रहते हैं। अजन्ता की गुफाओ के भित्ति-चित्र द्रष्टा की दृष्टि मे चित्रण-कला की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यजना है। इतना होने पर भी इन भित्ति-चित्रो को उनके निर्माता कलाकारो के मनोभावो का ऋरण रूप ही मानेगे। ऐसा कहा जाता है कि यह चित्रण बौद्ध-भिक्षुओ की कृति है जो कि उस समय तत्रमार्गी हो चले थे।

साहित्य तो बडा कलात्मक है। इसके भी दो पक्ष है। एक तो प्रसाद गुण युक्त साहित्य जो शुभ एव रचनात्मक है। दूसरा है अश्लील साहित्य जो कि ऋरणात्मक है और जिसका सेवी पतनोन्मुख हुए विना नही रह सकता। युवक तथा युवतिया इसका बहुत जल्दी शिकार हो जाते हैं। कालि-दास जैमे उद्भट कवि की भी सभी कृतिया मानसिक स्तर को ऊचा उठाने वाली है, ऐसा नही माना जा सकता। जिस साहित्य मे स्त्री को लेकर वेलगाम रस की अभिव्यक्ति हो तथा जिसे हम स्त्री के सम्मुख पढने मे लजाए विना नही रहे, वह कृति अश्लील साहित्य की कोटि मे गिनी जानी चाहिए। इसे रोमान्स का नाम देकर क्षम्य वनाने का प्रयास किया जाता है, लेकिन इसके पठन-पाठन मे स्त्री-पुरुष का पतन निहित रहता है। इनमे शालीनता का अभाव रहता है। 'गीत गोविन्द' को ले ले। सस्कृत के बडे-वडे पण्डित इसकी प्रशसा करते अघाते नही। किन्तु साधारण जन-मन पर इसकी कैसी प्रति-क्रिया होती है, यह भी विचारणीय है। वडे-वडे विद्वत्-जन 'गीत गोविन्द' की निन्दा किए विना भी न रहे। वास्तव मे मानसिक स्तर को ऊचा ले जाने वाला साहित्य ही शुभ है।

आज के अश्लील साहित्य मे वर्तमान दूषित समाज का एव साहित्यकारो की कलुषित भावनाओ का चित्रण मिलता है। इनके अध्ययन से नाना प्रकार की हीन-वृत्तिया समाज मे उत्पन्न हो रही है जो कि व्यक्ति को पतन की ओर चलने को वाध्य कर रही है। जैसा समाज होता है, वैसी ही कृतिया होती है। धनाढ्यो का समाज मे एक स्थान है, लेकिन देश की अवस्था जन-साधारण की दशा से ही आकी जाती है। इसी भाति साहित्य का प्रभाव साधारण जन-मानस पर क्या पडता है, वह उस साहित्य को आकने मे समर्थ होता है। साहित्य सर्वहितु होना चाहिए। अत किसी खास वर्ग के लोगो के

मनोरजनार्थ, चाहे वह साहित्य कितना भी लोभायमान व रस-उद्रेक करने वाला हो, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया जन-साधारण पर क्या होती है इसे हम नजरअन्दाज नही कर सकते ।

योग-सिद्धि, ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति भी एक प्रकार की कला की ही देन है, क्योकि ये योग-विद्या के द्वारा प्राप्त होती है और विद्या तो कला का ही एक रूप है ।

ग्रहो की सुन्दरता को अनुभूत करने के लिए भी कला आवश्यक है । चन्द्रमा को भी कला इतना जाज्वल्यमान बना देती है कि उसके आकाश मे उदित होते ही मनुष्य मात्र का ही नही, जड-जन्तुओ के भी हर्ष का ठिकाना नही रहता । नाना प्रकार के पुष्प खिल उठते है । तालाब मे कुमुदनी हसती हुई कितनी अच्छी लगती है । चकोर-चकोरी के तो आनन्द का कुछ पूछना ही नही । जब पूर्णमासी का चन्द्रमा अपनी सोलह कला युक्त आकाश मे सानन्द विहार करता रहता है, तब समुद्र मे लहरे बडी तेजी से उद्वेलित होने लगती है । इसी को ज्वार कहते है । कृष्ण का अवतार सोलह कला युक्त था । जिस कला का सहारा महायोगेश्वरो को भी लेना पडे, उस कला का तो कहना ही क्या ।

कहते है, कला आत्मा को विकसित कर देती है । तो क्या आत्मा प्रकाश-स्वरूप नही ? प्रकाश स्वरूप तो है ! किन्तु तीनो गुणो के आवरण से इसके विकास मे बाधा पड जाती है तथा निम्न प्रकृति के निराकरण करने से दबा हुआ प्रकाश ऊपर आ जाता है । जिस तरह से जलती हुई लालटेन के काच धुन्ध से आच्छादित हो तो प्रकाश बाहर नही आ पाता है ! काच को साफ कर देने पर प्रकाश का बाहर प्रसार होने लगता है । यही तो कला की सृजनात्मकता है । ककड मिले हुए चावल को पकाने पर लोग उसे खा नही सकेंगे, लेकिन पहले ककड चुन कर चावल को पकाने पर वह रुचिपूर्वक ग्राह्य बन जाता है । यही विकास है । जिन वस्तुओ के सहयोग या सयोग से किसी वस्तु मे दोष उत्पन्न हो जाय, ऐसी वस्तु का निराकरण ही विकास है ।

कृत्रिमता

कृत्रिमता का तात्पर्य ही है दिखावा, जो कि वास्तविकता एव स्वाभाविकता से परे है । रगमचो पर महान पुरुषो के नाटक खेले जाते हैं । यद्यपि ये नाटक दर्शको को प्रभावित करते है किन्तु अभिनेता उस महान व्यक्ति के

गुणों से स्थायी रूप से युक्त नहीं हो पाता है। यह धारण करने वाले की देह का स्थायी अंग नहीं बन पाता, अतः नितान्त बाह्यमुखी है।

चूंकि यह निज में कृत्रिम है या निम्न प्रकार की कृति है, अतः यह रचनात्मक, सृजनात्मक शक्ति से रहित है और यह मानसिक एवं बौद्धिक स्तर को भी विकृत किए बिना नहीं रह पाती। सादिश्रकला का गला घोटने वाले उस कृत्रिमताधारी को यह क्या-क्या नाच नचाती है, जरा देखो तो! चलो एक बार नाट्य-शाला में इसके दर्शन करें। अभिनेता-अभिनेत्रियां कृत्रिमता का आश्रय लेकर राजा-रानी के रूप में प्रकट होते हैं—कभी वीर और कभी फकीर के रूप में! वे अभिनय करते समय द्रष्टाओं को विमोहित किए बिना नहीं रह पाते, तथा द्रष्टा लोग उनको वैसा मान भी लेते हैं, अन्यथा उनका अभिनय चमत्कारपूर्ण नहीं माना जायेगा। लेकिन दशरथ, राम, पृथ्वीराज, शिवाजी बने हुए पुरुष एवं सीता, सावित्री बनी हुई स्त्रियां जब अपने असली रूप में आ जाती हैं, तब उनका रंगमंच के ऊपर का कृत्रिम प्रदर्शन काफूर हुए बिना नहीं रहता। स्थायी रूप से न वे दशरथ बन पाते हैं, न राम। भले ही हम इतना कह दें कि तुमने अपना-अपना पार्ट अच्छा खेला था और कोई ऐसा भी कह देता है कि हम तो ऐसे देख रहे थे जैसे वास्तविक हो। लेकिन इस स्थिति एवं उस स्थिति में जमीन-आसमान का फर्क बना रहता है। देखिये, रासलीला होने के समय राधा-कृष्ण बने हुए बच्चों की स्त्रियां बड़ी श्रद्धा से प्रेमपूर्वक आरती करती हैं तथा सैकड़ों-हजारों रुपये लागत के जेवर आदि चढ़ाती हैं। किन्तु कोई-कोई रासधारी उन अबोध बालकों में कुत्सित भावना पैदा किए बिना नहीं रहते जिन्हें कि राधा एवं कृष्ण के रूप में प्रदर्शित करते हैं। रामलीला का अभिनय करना बुरा नहीं, यदि उसमें सच्चाई का आश्रय लिया गया हो। किन्तु विचारणीय यह है कि सारे-के-सारे अभिनय, चाहे वे पौराणिकता या ऐतिहासिकता की भित्ति पर क्यों न खेले जायं, उक्त जन-समुदाय को गुमराह तो नहीं बना रहे? रंगमंच के ऊपर सभी प्रकार के अभिनय शिव नहीं होते। उच्चस्तरीय प्रेरणादायक अभिनय सराहनीय, कल्याणकारी और समाज के लिए हितकर हो सकते हैं। इसके विपरीत, अशिव और अकल्याणकारी होते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में से भक्ति सम्बन्धी परिच्छेद को यदि हटा दें तो क्या वह रंगमंच पर खेलने लायक रह पायेगा? वह परिच्छेद ही तो उस नाटक का परिपुष्ट घनात्मक अंग है, वह विषय ही शिव, कल्याणमय, प्रेरणादायक और प्राचीन

क्षत्रियो के शौर्य का परिचायक है। रगमच पर ज्यादा भाव-भगिमाओ का प्रदर्शन मनोरजनकारी होने पर भी समाज के लिए हितकर नही होता। नरसिंह चौदस को नरसिंह भगवान का रूप बनाने वाले कृत्रिम चेहरा लगाकर और लम्बे-लम्बे परिधान पहनाकर भगवान के अवतार होने का अभिनय करते हैं। हजारो की सख्या मे समवेत समाज भक्ति भाव से अभिभूत होकर पुष्पो की वर्षा करता है और उस समय भक्ति भाव एव आनन्द से उनके हृदय द्रवीभूत हुए बिना नही रह पाते। किन्तु दो-चार घण्टे के बाद ही वह अभिनय करने वाला ब्राह्मण जब सडक पर या गलियो मे घूमता मिलता है तो वे ही भक्त उसकी पीठ ठोकते हुए कहते हैं, 'अरे यार, तुमने तो कमाल कर दिया! हम तो डर गए थे कि कही हिरण्यकश्यपु के अभिनय करने वाले को चीर कर न फेंक दो।'

एक बार की बात है, एक साधु शेर की खाल कही से प्राप्त कर लाया। रात्रि मे पास वाले जगल मे जाकर उस खाल को ओढकर सिंह बन जाने का अभिनय करता और कभी-कभी मौज मे आकर सिंह की सी दहाड भी लगा देता। गाव मे वह साधु काफी प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुका था। धन तो उसके पैरो पर बरसता ही रहता। एक बार उधर से कुछ शिकारी गुजर रहे थे। उस बनावटी सिंह ने दहाड लगाई। शिकारियो का ध्यान उस आवाज की दिशा मे आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। उन लोगो ने सिंह के चेहरे पर टार्च मारी, उसकी आखो मे उस प्रकाश की कोई प्रतिक्रिया न हुई, अपितु उसने फिर उतने ही जोर की दहाड लगा दी! उन शिकारियो को शक तो हुआ किन्तु उस रहस्य की तह तक नही पहुच सके और तुरन्त बन्दूक का निशाना तान दिया। साधु उन शिकारियो की हरकतें देख रहा था। अपने प्राणो के रक्षार्थ सिंह के खोल को एक तरफ फेंक कर चिल्ला उठा कि, मैं अमुक साधु हू, गोली न चला देना, मैं तुम्हारी गाय हूँ, मेरी रक्षा करो। उसकी पोल खुल गई और वह तुरन्त उस गाव के आश्रम से अपना बोरिया-बिस्तर बाध कर चम्पत हुआ। यह है कृत्रिमता के नजारे, जिनमे रहस्य खुले बिना नही रहता और रहस्य के खुल जाने पर उस कृत्रिमता के आश्रितो को अपने मे बडा छोटा बना देती है। जिस कृत्रिमता मे कामना की अग्नि धधक रही हो, उसका शृ गार कितना भी सुन्दर क्यो न हो, उसकी कलई खुले बिना कहा रहती है। तुलसी ठीक ही कहते है —

तुलसी देखि सुवेषु भूलहिं मूढ न चतुरन।
सुन्दर केकिहि देखु बचन सुधा सम डसन अहि॥

तुलसीदास जी कहते है कि सुन्दर वेश देखकर मूढ नही (मूढ तो मूढ ही है) चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाता है। सुन्दर मोर को देखो, उसका वचन तो अमृत के समान है और आहार साँप है, यानी सुन्दर वेश एव मीठे [illegible] ताकि शिष्ट वचनो से धोखा नही खाना चाहिए। कामुक स्त्री पुरुष अपनी कामुक वृत्ति को छिपा नही सकने एव धोखा देने मे सर्वदा समर्थ बने रहते है।

आज-कल स्त्री-समाज मे एक बडी भारी और नजरअन्दाज कृत्रिमता का प्रश्रय लेने की रिवाज चल गई है। सभा-सोसाइटी मे जाते समय अपने को सर्वांग सुन्दरी परिलक्षित करने हेतु ड्रेसिंग, फोम इत्यादि का प्रश्रय लेती है और सौन्दर्य प्रसाधनो का उपयोग कर युवती-सी बनने का प्रयास करती है। इस तरह वे एक बार पुरुष वर्ग मे व्यामोह तो पैदा कर देती है किन्तु देखने की बात यह है कि वे ऐसा करती ही क्यो है? यदि वे यथार्थ मे युवतियो से होड लगाने मे जीतना चाहती है तो वे इसमे अपनी निम्न मानसिक वृत्ति का परिचय तो दिए बिना रह नही पाती। इस प्रकार का अनादर-प्रदर्शन, जो कि आर्य ललनाओ के अनुकूल नही है, क्या आर्य संस्कृति को लजाने का कार्य नही है? इस प्रकार की नारियां पाश्चात्य देश की नारियो की पदानुगामिनी बन कर अपनी परम विशुद्ध संस्कृति पर कालिमा लाये बिना कहा रह पाती है। यह तो उन गिरी हुई स्त्रियो को शोभा देता है, जिनको इसी के बल पर अपना भरण-पोषण करना होता है। किन्तु इनका केन्द्र-स्थान तो इनका घर है जिस घर की ये गृह-लक्ष्मी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त किए हुए है। जन-समुदाय की सम्पत्ति बन जाने मे न तो रचनात्मक-सृजनात्मक एव निर्माणात्मक कला का प्रदर्शन होता है, न ही जन-समुदाय के नैतिक स्तर को उठाने मे निमित्त बन सकती हैं। दूसरे को तो वही गिरा सकता है जो निज मे गिरा हुआ हो, गिरे हुए को वही उठा सकता है जो निज मे उठा हुआ हो। जिस कला के परिणाम-स्वरूप गिरावट का सचार होने लगे, वह तो कला का धर्म नही। कृष्णपक्ष तो चन्द्रमा के हर्ष-वर्द्धन मे असमर्थ है, और न ही किसी पशु-पक्षी एव पुष्प का हर्ष-वर्द्धन कर पाता है। यह गुण तो केवल शुक्ल पक्ष को ही प्राप्त है। जो निज मे उत्फुल्ल है, हर्षोन्मुख है वही दूसरे के विकास का कारण बन सकता है। एक बहुत छोटी-सी बात को ले ले। हमारी मुस्कराहट दूसरो मे मुस्कराहट लाये बिना नही रह पाती, और हमारा गमगीन मुख दूसरे के मुख को गमगीन किए बिना नही रह पाता। इत्र-युक्त पुरुष दूसरे को सुगन्धि प्रदान करने मे सदा समर्थ बना रहता है और दुर्गन्ध-युक्त दुर्गन्धि फैलाये बिना नही रह

सकता। यह प्राकृतिक नियम है। कृत्रिमता निश्चय ही कृति है, किन्तु जो शुभ नही होता वह अवाञ्छनीय स्थिति का द्योतक है। पेट मे जब मल दुर्गन्धयुक्त हो जाता है तो अनेकानेक रोगो का निवारण, उस मल की शुद्धि पर निर्भर करता है। कृत्रिमता उस दूषित मल के समान है जिसमे कि समाज मे नाना प्रकार के अनाचार, दुराचार एव व्यभिचार उत्पन्न होते है। जिस कृति मे सत्य शिव नही, जो केवल देखने मे सुन्दरम् है, वह कदापि कला पद की अधिकारिणी नही वन पाती।

बल-वृद्धि के दीवालिए जो नर-नारी इन कृत्रिम प्रसाधनो एव परिधानो का प्रश्रय लेते है, उन्हे देखना यह चाहिए कि वह उनको छिछला तो नही वना देता और फलस्वरूप समाज को भी। आज की स्त्रिया, जिनके पेट नगे, कटि नगी, उस पर भी पारदर्शी साडियो का इस्तेमाल करते, तनिक भी लज्जा अनुभव नही करती। यहा तक कि अधेड उम्र की स्त्रिया, जिनके पेट की चमडी लटक चुकी है, कमर की मासल खाल झूल चुकी है, वे भी कृत्रिम प्रसाधनो एव पारदर्शी परिधानो मे दिखाई देती हैं। इन सब प्रदर्शनो से उनकी शोभा तो वढती नही, अपितु एक वीभत्स रूप के ही दर्शन हो पाते है, यह सब मानसिक असन्तुलन की द्योतक हैं तथा कुत्सित वृत्तियो की परिचायक है।

आज की नारी यह समझ ही नही पाती कि उनके अर्द्धनग्न शरीर उन उघडी हुई मिठाइयो के सदृश्य है जिन पर वर्रों की भाति कामी पुरुषो की दृष्टि मडराती रहती है। यदि वह इन कामुक दृष्टियो के डको की अभिलषित बनी रही, तो उसका सर्वनाश निश्चित है। यह तो शुभ इच्छा नही मानी जा सकती, यह तो घिनौनी मानसिक स्थिति की द्योतक है। कृत्रिम प्रसाधन जब मनुष्य को इतना पतनोन्मुखी वना दे, वे प्रसाधन चाहे एक कोटि की कला की ही कृतिया हो तो समाज के लिए वडे घातक साबित होते है। इतना ही नही, जब ये अपनी भौहो को कालिख से रग लेती है और लिपस्टिक के द्वारा अपने अधरो को लाल सुर्ख बना लेती है और साथ-ही-साथ हाथ-पैर की अगुलियो को उसी लाल-लाल रग से रग लेती है तो उनका एक बडा ही हास्यास्पद रूप वन चलता है। जब वात-चीत के दौरान मे उनका मुह खुलता है तब इन ओष्ठो की लालिमा और अन्दर की जीभ इत्यादि की सफेदी परिलक्षित होती है तो कितना हास्यास्पद लगता है। जब यह रग फीका पडने लगता है तब कृत्रिम परत को खोये हुए वे अधर कितने वीभत्स दिखाई पडते है इसका ये निज मे अनुभव नही कर पाती।

हमारे यहा पहले स्त्रिया पान खाकर अपने जीभ एव ओष्ठो पर धीमी-धीमी लालिमा उभार लेती थी । पान खायी रमणी से बात करने पर उसके अधर एव मुख एक रंग मे परिलक्षित होते, उसका श्वासोच्छ्वास मधुर एव सुवासित अनुभव होता । पहले हाथ-पैरो मे मेहदी लगाने का प्रचलन था । ज्यो-ज्यो मेहदी का रग दिनो-दिन फीका पडता जाता त्यो-त्यो उसकी आभा उभडती जाती और साथ-ही-साथ वह मेहदी का रग बहुत दिनो तक महकता हुआ बना रहता था, किन्तु आज देखो तो सही ये कृत्रिम प्रसाधन उनके इस्ते-माल करने वाली स्त्रियो को कैसा कृत्रिम रूप देकर हास्यास्पद बना देते हैं । इसके साथ-ही-साथ करोडो करोडो रुपयो की धनराशि इस गरीब देश से विदेशो को चली जाती है । कृत्रिमता का प्रश्रयी, चाहे स्त्री हो या पुरुष, अपनी गाढी कमाई को कितनी बेरहमी से फूकता चला जा रहा है । उसके परिणामस्वरूप न वह पौष्टिक पदार्थ खा सकता है तथा न अपने बाल-बच्चो का भली-भाति लालन-पालन कर सकता है । यह फिजूल-खर्ची हमारे कृत्रिमतापूर्ण जीवन मे घुन का कार्य कर रही है तथा अपनी झूठी शान बनाने के प्रयत्न मे हम अपने असली व्यक्तित्व की आहुति देने मे भी हिचकते नही ।

यह तो सभी का अनुभव है कि बहुरूपियो की कोई कितनी इज्जत करता है । जब कभी वह बहुत शोभा-भरा स्वाग करके आता है, हम प्रसन्न तो अवश्य होते हैं किन्तु यह स्वाग उसका आखिरी होता है और जब अपनी मेहनत का इनाम लेने के लिए वह हाथ पसारता है, तो वह कितना दीन दिखाई पडता है । इसी तरह से जब कृत्रिम प्रसाधन-युक्त बनी-ठनी स्त्रिया वहा समवेत प्रशसक-रूपी-पतगो को अपनी तरफ आकृष्ट नही कर पाती, तो कितनी हतो-त्साहित हो जाती है । जब यदा-कदा कोई साहसी विदूषी उस समाज मे विशेष आग्रहवश आ उपस्थित होती है और सारा समाज हाथ जोडे उसके स्वागत मे सलग्न पाया जाता है तब उन सजी-धजी स्त्रियो की स्थिति उन तारागणो के समान होती है जो कि छितराये हुए टिमटिमाते है और दूसरी ओर वह विदूषी महिला षोडष कलायुक्त चन्द्रमा सदृश्य विहार करती है । आर्य ललनाओ को इस प्रकार का बहुरूपियापन शोभा नही देता और हम अपनी आर्य ललनाओ मे किसी प्रकार का छिद्र, चाहे कितना भी छोटा हो, सहन करने मे असमर्थ है । उसका एक विशेष कारण है । हम अपनी माताओ के अन्दर खामिया कैसे बर्दाश्त कर सकते है । कोई कुछ भी करे, हमे कोई मतलब नही, किन्तु हमारे ऊपर कालिमा लगाने का किसी को अधिकार नही । जो अभी तक

माता नही बनी है और बनना भी नही चाहती, उनको छूट दी जा सकती है, वह भी समाज के स्तर के बाहर। लेकिन माता एव माता बनने की अभिलाषिणी नारी आर्य सस्कृति की मर्यादा का उल्लघन नही कर सकती, नही तो कुठाराघात हुए बिना नही रहेगा। जिस परिधान, प्रसाधन एव कामुक भाव-भगिमाओ मे अन्याय, असत्य, हिंसा भरी हो, वह कल्याण एव शिव के तो रूप हो नही सकते, क्योकि अन्यायी, असत्यवादी, हिंसक दूसरे को उसी स्तर पर लाये बिना नही रह सकता। अपनी अनैतिक, असत्य, हिंसक वृत्ति से दूसरे के मन स्तर को भी प्रतिक्रियास्वरूप कुप्रवृत्तियो से भर देना न व्यक्ति और न ही समाज के लिये हितकर तथा कल्याणमय हो सकता है। तो क्या कृत्रिमता मे इन दोषो का समावेश रहता है, यह देखने की बात है।

अन्याय तो उसी को कहते है जो न्याययुक्त न हो या सद्-व्यवहार से शून्य हो। असत्य तो उसी को कहेगे जो हो कुछ, तथा दीखे कुछ और ही। हिंसा तो उसी का नाम है जो दूसरे के मन स्तर पर आघात करे। एक व्यक्ति शान्त-मन बैठा हुआ है, उसमे अशान्ति उत्पन्न करना या उसके मन स्तर को चचच बना देना भी तो एक प्रकार का अन्याय ही है। असत्य को सत्य का रूप देकर इस प्रकार के व्यवहार से दूसरे को धोखे मे डालना है। हिंसा तो वही है जो किसी पर व्याघात करके उसे व्याकुल बना दे और अपनी व्याकुलता के निराकरण के लिए प्रतिहिंसा का प्रश्रय ले यानी जैसा बिम्ब होगा, वैसा ही प्रतिबिम्ब होगा।

इस न्याय से जो कृत्रिम परिधान-प्रसाधन अशिव है उनकी प्रतिक्रिया कल्याणकारी कैसे होगी ? क्रोधी दूसरे को क्रोधी बनाये बिना रहता नही। अपनी मुस्कराहट दूसरे मे मुस्कराहट उत्पन्न किए बिना नही रहती। अपनी मनहूसियत दूसरे मे मनहूसियत पैदा किये बिना रहती नही। पतित दूसरे को पतित बनाये बिना रहता नही।

प्रदर्शनी मे दर्शक आये बिना रहेगे कैसे ? प्रदर्शक यदि दर्शको को उनके आने के लिए दोषी ठहराये तो, केवल हास्यास्पद बात ही तो है। अगर प्रदर्शको को दर्शको की आवश्यकता न होती तो वे प्रदर्शनी का आयोजन करते ही क्यो ? अपने घर मे ही दुकान लगाए बैठे रहते। उनके हृदय मे दर्शको की चाह भरी है ही, और यदि प्रदर्शनी के अन्दर नकली चीजो का प्रदर्शन है और यदि दर्शक उसी के अनुपात मे उसका मूल्याकन करते है तो उसके तिलमिलाने

समाज को विक्षुब्ध एव पतनोन्मुखी वनाये विना नही रहते और आज इसी कारण चारो तरफ चिल्लाहट मची हुई है— 'वचाओ-वचाओ !' अपनी आर्य सस्कृति जो सत्य, शिव, सुन्दरम् है, उसकी रक्षा करो, नही तो विनाश निश्चित है ।

वहुत से मनचले सज्जन नकली जेवर इत्यादि खरीद कर ले आते है, वे पैसा भी खराव करते है, अपने घर की पोल भी खोलते है, वे समाज मे लजाये विना नही रहते तथा दूसरे भी उन्हे मूर्ख वनाये विना रहते नही । क्या ऐसी वज्र मूर्खता का त्याग वाछनीय नही, अपेक्षित नही ? क्या इससे चिपके रहना बुद्धिमत्ता है ? इसके सही उत्तर के लिए अपने सीने पर हाथ रख कर देख लो ।

अनैतिकता मनुष्य का विनाश किए विना नही रहती कारण यह ऋत का ऋण रूप है, जो मृत्यु है । ऋत का धन रूप है शिव और मगलम् । चक्का जव धुरी से भाग निकलता है तो वाहन का चकनाचूर हुए विना नही रहता तथा चक्का भी धराशायी हुए विना नही रहता । सृष्टि के नियम के ऊपर किसी का जोर नही चलता । अग्नि का गुण उष्णता है, पानी का गुण शीतलता । इसे कोई मिटा नही सकता । पानी को अग्नि, अग्नि को पानी कोई वना नही सकता । पदार्थ अपने स्वभाव को तो छोडने के नही । नीम गन्ना नही वन सकता, गन्ना नीम नही वन सकता ।

इसलिए कृत्रिम कृति जो अशिव हो, असत्य हो, वह त्याज्य है । सर्प कितना भी सुन्दर हो, ग्राह्य नही हो सकता । शिवजी की वात दूसरी है, जिन्होने विष पी लिया । शिव जो शिव-रूप है, कल्याणमय है, उनके समान तो कोई दूसरा नही । उन्होने विप पीकर अपने कण्ठ मे ही सीमित रक्खा, किन्तु वह विष अपना चमत्कार दिखाये विना न रहा, उनका कठ नीला पड गया, यदि उदरस्थ कर जाते तो पता नही क्या होता । फिर हम जैसे आदमियो की भली चलाई । अग्नि मे हाथ डाले और झुलसे नही, जले नही एव फफोले पडे नही ? पतगा लौ के ऊपर लपके और वचा रहे, यह सव असम्भव है । जो नर-नारी पतगे और अग्नि रूप वन कर भी अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण वनाये रहेगे, तो यह आशा आकाश सुमनो को तोडने के सदृश्य है । यह मोह मनुष्य को आज उन्मत्त, पथभ्रष्ट वनाये हुए है । जव तक कि मनुष्य इससे विमुक्त न होगा, तव तक वह अमोघ शक्ति का स्वामी नही वन सकता ।

जब कला के अन्दर सत्य शिव की कमी आ जाय अथवा इनसे नितान्त शून्य बनी रहे, तो कला की ऐसी अवस्था को हम कृत्रिम कला कहेंगे। (वास्तविक कला मे तीनो गुण सत्य शिव सुन्दरम् के समन्वय के साथ व्यापक बने रहते है)। कृत्रिमता के अन्दर केवल सुन्दरता रहती है और सत्य शिव का नितान्त अभाव बना रहता है, इसलिए कृत्रिम प्रसाधन सत्य शिव नही हो सकते और जब सत्य शिव नही है तो वह सुन्दरता अऋत है और विनाश का हेतु बने बिना नही रहेगी। विनाश के माने है ऋत के चक्के के अन्दर आकर पिस जाना। कृत्रिम प्रसाधनो पर निर्भर करने वाली स्त्रिया एव पुरुष, जो इनके उपयोग से अपने व्यक्तित्व मे निखार के स्वप्न देखते है, वे ऋत के चक्के का गाला बने बिना न रह पायेगे।

आज की नारी पारदर्शी वस्त्रो एव कृत्रिम प्रसाधनो को पहनकर दो प्रकार के अनर्थ कर रही है—गाढे पसीने की कमाई की आहुति तथा पुरुष-भोक्ता के नेत्र रूपी अग्निकुण्ड मे अपने अग-प्रत्यगो की आहुति। जिस जलाशय का पेदा दिखाई देने लगे, उस जलाशय से कौन भयभीत हो पाता है? बच्चे तक कूद कर स्नान करने लगते है, किन्तु गम्भीर जलराशि के अन्दर कूदने वालो की कितनी सख्या होती है? जिस वस्त्र को धारण करके उसका पेदा परिलक्षित होने लगे तो देखो, उसमे वह छिछली बने बिना कहा रहेगी और छिछले पानी मे स्नान करने वाले भी छिछले बने बिना कहा रह पाते है? यह डूबत-खाता दोनो तरफ से ही होता है। जिसने अपना गाम्भीर्य खो दिया, फिर उसका अस्तित्व बना ही कैसे रहेगा? डाका तो उसी के घर मे पडता है जिसमे सजावट-दिखावट ज्यादा होती है। सजे-धजे आदमी ही तो लुटते हैं। पारदर्शी वस्त्र धारिणी केवल सम्मान्य व्यक्तियो के सामने तो अपने लहराते हुए आचल से शरीर को ढकने मे सतर्क बनी रहती है ताकि उसका शरीर उस पारदर्शी वस्त्रो मे से छनकर उसकी आख पर आघात न कर सके, अन्यथा बाकी सब समय सतर्कता खोये बैठी रहती है। जो कोई भी हो अपनी आखो को सेक ले, उसको परवाह नही, क्योकि यहा तो सुन्दरता का ताण्डव-नृत्य मचा हुआ है, दर्शक कोई भी हो। नर्तकी कहा ध्यान देती है कि उसके दर्शक कौन हैं, कौन नही। जितनी ही अधिक नजरे उसकी तरफ हो, वह उतना ही अधिक अपना गौरव समझती है, जिसकी झाकी कोई भी ले ले। यह प्रदर्शन क्या है? कामाग्नि की लपटो को प्रज्ज्वलित करना ही तो है, जो उसमे गया वह भस्मीभूत हुए बिना नही रहेगा। वह वेशभूषा कभी भी

सराहनीय नही हो सकती, न वह शोभा वन मकती है, जो धारण करने वाले एव द्रष्टा दोनो को चचल एव छिछला वना दे।

और-तो और, ये मनुष्य की दाढी-मूछे भी शरीर का अभिन्न अग नही वन पाती। दाढी-मूछो से उसका रूप अलग तथा इनसे मफाचट चेहरे का रूप अलग। सही रूप तो वह रूप है जो सभी दशा मे एक-सा रहे। वोले तो, चुप वैठा रहे तो, प्रसन्न वदन हो तो, और सोता रहे तो, सभी दशाओ मे एक समान शान्त सौम्यता विराजमान रहे। गिरगिट का वरावर रग वदलते रहना, उसकी मृत्यु का कारण वन जाता है। इसी प्रकार से धारण किए हुए कृत्रिम परिधान प्रसाधन है। जब कभी स्त्री के वस्त्र खिसक जाते हैं और उन्हे ठीक करने के लिए उसके हाथ इधर-उधर जाते हैं तो उस समय उसका उघडा हुआ अग मनुष्य की चचल आखो को चलायमान किए विना नही रहता, और जव वे आखे उस उघडे हुए अग की तरफ प्रहार करने को दौडती हैं तो वह कसमसाये विना रहती नही। वह लज्जित-सकुचित कभी-कभी मुस्करा देती है, कभी भौंहे चढाकर उनको असभ्य वताने का सकेत करती है, लेकिन दोनो ही निरर्थक है, न तो उसकी मुस्कान सभ्य लोगो को छिछला वनाने मे समर्थ होती है और न उसकी टेढी भौंहे असभ्य छिछलो को भयभीत करने मे। इन कृत्रिम प्रसाधन युक्त स्त्री जव अपने घर लौटती है, और उन व्यामोह पैदा करनेवाले अपने प्रसाधनो को अपने अग से दूर कर देती है, तथा जव अपने असली रूप मे आ जाती है तव अन्तर का पता चलता है। यह सब किसके लिए? थोडे काल के लिए उन मनचले दर्शको की वाह-वाही लूटने के लिए, जिसका अर्थ सिर्फ हो सकता है, गिरना और गिरा देना। जिस प्रसाधन मे, जिस कृत्रिमता के अन्दर गिरावट हो, वह कृत्रिमता कला की सज्ञा प्राप्त करने की अधिकारिणी नही वन सकती। इन प्रसाधनो के निर्माताओ को कलाकार कहकर सही कलाकारो का अपमान करना है। सच्चा कलाकार वह है जिसकी पहुच आत्मा तक हो।

शिल्पी व चित्रकार का दृष्टिकोण केवल प्रकृति मे सहज उपलब्ध वस्तुओ को उसी रूप मे पत्थर व कागज पर उतार देना है। यह उसका कौशल है, कला की कुशलता है, किन्तु यह उसका कौशल समाज के आचरण का निर्देशक नहीं वन सकता। जब कि इस विचित्र प्रकृति का कार्य-क्षेत्र सीमित है यानी तीनो गुणो के कार्य-क्षेत्र सीमित बने रहते हैं, असीम होने का दावा नही कर सकते, तो प्रकृति के मुकावले मे एक शिल्पी व चित्रकार की क्या

हस्ती, कि उसकी कृतियां सभी अर्शों में कुशल व शाश्वत बनी रहें, और इसका अच्छा व बुरा प्रभाव समाज पर पडे बिना न रहे। बौद्ध भिक्षुओ ने अजन्ता की गुफाओ मे रहकर न जाने किन उद्देश्यो से अथवा किस इच्छा की प्राप्ति के लिए कृत्रिमता का सहारा लेकर यह अर्द्धनग्न स्त्रियो की तस्वीरें आक दी। सभी तस्वीरो मे प्रकृति की हूबहू नकल है, हम यह नही मानते। यह कैसे माना जाय कि उस जमाने मे स्त्रियां इसी प्रकार रहती थी। माना एक समय रहा होगा जबकि स्त्रिया इस प्रकार अर्द्धनग्न रहती रही होगी, आज भी आदिवासी स्त्रिया अर्द्धनग्न रहती हैं किन्तु इसके अर्थ यह तो नही कि हम वैसा ही करें। हमारे पूर्वजो ने तो रेडियो, गामोफोन, तार, टैलीविजन, बिजली, मशीन, रेलगाडी इत्यादि का प्रयोग नही किया, इसलिए इनकी उपलब्धि होने पर भी, हम इनका प्रयोग न करें, यह तो कोई बुद्धि का तकाजा नही। अग्रसर होना हमारा धर्म है, हमारे शास्त्रो मे भी तो परिवर्तन हुए। वेदो के बाद उपनिषद आये, षट्शास्त्रो का निर्माण हुआ, गीता, मनु स्मृति, महाभारत, रामायण की रचनाये हुईं। हम ऐसा तो नही करते कि वेदो के सिवाय अन्य ग्रन्थो को माने ही नही।

बहुत से धनी-मानी लोग अपने घरो मे पाश्चात्य नारी की नग्न अथवा अर्द्धनग्न तस्वीरें रखने के बडे शौकीन पाये जाते हे जब कि इन तस्वीरो की कीमत पाच से दस हजार रुपये तक की होती है। पूछने पर बडे गर्व से कहते है कि यह तो कला की प्रशसात्मक वृत्ति का द्योतक है। साधारण व्यक्ति तो इन वस्तुओ को समझ ही नही पाता, वह तो इनका मूल्याकन करने मे सदा ही असफल रहता है। यह तो मनुष्य के fine taste पर निर्भर करता हे। हम उन्ही महाशयो से एक प्रश्न पर बैठे कि यदि आप या आपका लडका स्नान करते समय किसी निर्वसना युवती को देखा करे तो आप तो उसमे कोई दोष नही मानेंगे न ? यह कृति तो मूक है और वह प्रभु की कृति चेतन है। यह तस्वीर तो उसका प्रतीक मात्र है, तब वह तिलमिलाये बिना नही रहेगा, और कहने लगेगा, ऐसा करने मे तो अनैतिकता की पराकाष्ठा हो चलेगी। आनन्द प्राप्त करें, और आनन्द प्राप्त करने के सब साधन कला के मत्थे मढ-कर स्वय निर्दोश बन जाते है। इस तरह तो थोडे ही दिनो मे समाज किस रसातल की तलहटी पर जा टिकेगा, अन्दाज नही किया जा सकता।

कृत्रिम कृति के कलाकार समाज के निर्देशक नही हुआ करते। निर्देशक होते हैं नीतिकार, स्मृतिकार, शास्त्रकार जिन्होने भले कर्मों का फल चख

करके या दूसरो को पराते हुए देखकर, समाज के हितार्थ शाश्वत नियम बनाये, जिनकी भित्ति अहम के जागृत रुप सत्य शिव सुन्दरम् के ऊपर टिकी रहती है। इसके विपरीत आचरण से अलग होना अवश्यम्भावी है। प्रत्येक कर्म की कसोटी सत्य शिव सुन्दरम् है। इसी प्रकार ससार के किसी अन्य शास्त्र मे दूसरी कोई कसौटी देखने को नही मिलती।

जब स्त्री या पुरुष अपने को नकटा बना देता है तो फिर उसे कोई पूछता तक नहीं। इन अभिनेत्रियो को देखो, एक-एक फिल्म मे इन्हें लाखों-लाखों का ठेका मिलता है। यह बात ठीक है कि इनको अभिनेताओ के साथ खेलना पडता है, जिनकी भी इतनी ही कीमत होती है लेकिन ये अभिनेत्रियां साधारण मनुष्यो के साथ डोलती-फिरती नजर आयें तो अपनी कीमत खो बैठेगी। इस प्रकार रहने से उनकी कला का कौशल तो नही खत्म हो जाता, लेकिन मूल्याकन हल्का हो जाता है। यह तो उन औरतो की बात है जो एक प्रकार से वेश्या बन चुकी है। इनमे से कुछ काफी पढी-लिखी भी होती है, अच्छे घरो की होती है, लेकिन ये तोल-मोल के अन्दर आ जाती है, जबकि आर्य ललनायें कभी भी तोल-मोल की विषय नही बनती। ससार मे कोई भी ऐसी वस्तु नही थी जिसके बल पर उनको खरीदा जा सकता हो। अब आप समझ लें कि वे क्या थी और उनका क्या स्थान था? निम्न स्तर पर उतर आना आजादी की निशानी है या गिरावट की? ऊपर से नीचे आना तो अवनति है, लुढकना है, न कि चढाव व उन्नति। नाकवाला किसी नकटे को देख ले तो हसे बिना रहता नही और नक-कटो के समुदाय मे नाकवाला चला जाय तो वे उसकी हसी उडाये बिना नही रहते। नकटों के समुदाय मे वह तभी रह सकता है जब कि वह भी अपनी नाक कटाले।

यही हाल आज हमारी हिन्दू नारियो का हो चला है। जब नकटी स्त्री का समुदाय बाहर से हमारे यहा आ धमका तो अपना समुदाय बनाने के लिए सब का नाक काटना शुरु कर दिया। चूकि हम अपने सत्व एव अस्तित्व को खो बैठे थे, इसलिए उनके सामने लजा गए, नाक कटा ली, नाक कटाकर मिट्टी हो गए, और न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे, न उधर के रहे। और होता भी कैसे, ताना तो हिन्दू सस्कृति का अब भी बना हुआ है, फर्क तो बाने मे आया है। बाने के बदल जाने पर ताने का मजा भी किरकिरा हो जाता है।

प्रकृति के संकेत

प्रकृति मूक है—यह वात साधारण-से-साधारण बुद्धि का मनुष्य भली-भाति जानता है, किन्तु प्रकृति है वडी वाचाल। इसके सकेत, इसकी चेतावनिया विस्फोटक हुआ करती है। ऐसी घटनाए प्राय मनुष्य के जीवन मे घटित होती रहती हैं, किन्तु साधारण मनुष्य अपनी अल्पज्ञता के कारण ऐसे विस्फोटक सकेतो को पकडने मे असमर्थ होते है तथा होता वही हे जो होने वाला है। यदि मनुष्य इन सकेतो के प्रति जागरूक वना रहे तो बहुत सम्भव है कि वह भविष्य मे आनेवाली बहुत-सी आपदाओ से अपने को बचा ले। बशर्ते वह वचाना चाहे।

ये सकेत वाञ्छित या अवाञ्छित भविष्य मे घटनेवाली घटनाओ के सूचक होते है। यदि हम प्रकृति की आवाज सुनने एव उसका अमल करने का अभ्यास कर ले तो हमारे मनोविज्ञान मे चार चाद लग जाये। यह असदिग्ध वात हे। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत तथ्यपूर्ण है। असम्वन्धित व्यक्ति किसी-किसी बालक के लिए, विना कारण बिना आधार

के ऐसी-ऐसी घोषणायें कर बैठते हैं जिस पर उस समय तो कोई ध्यान देता नही, किन्तु यह बातें होकर रहती हैं।

प्रकृति माता बडी सहृदया है, उनका कठोर विधान भी अपने बच्चो के लिए हितकर होता है। पहले-पहल वह पूर्ण नम्रता से काम लेती है और जब उसके बच्चे उसे ठुकरा देते है तथा माता की अवहेलना करने पर उतारू हो जाते हैं, तो फिर वह अपना कठोर विधान काम मे लाये बिना नही रहती, लेकिन उस कठोर विधान का प्रयोग अन्त मे कल्याणकारी होता है, आखिर प्रकृति तो माता ठहरी। माता अपने बच्चो का विनाश कैसे चाहेगी ? हमारे जीवन मे अनेक ऐसे अवसर आये जब कि प्रकृति अपने विस्फोटक सकेत देने मे बाज न आई। किन्तु हम भी उन सकेतो को पद दलित करने से बाज नही आये। सकेत सजीव और सही थे, भविष्य मे उनकी सार्थकता अनुभव-गम्य हुए बिना न रही। यदि हम कोई अनुचित अवाच्छनीय काम करने पर उतारू हो जाय, जिसका फल निश्चय ही अवाच्छित होकर रहेगा, तो प्रकृति पहले-पहल हल्की-सी सूचनायें देने लगती हे और ज्यो-ज्यो हम उन सूचनाओ को ठुकराते चले जाते हैं, त्यो-त्यो प्रकृति की सूचनाये भी कठोर होती चली जाती हैं, फिर भी हमारे उन सकेतो को ठुकराते चले जाने पर प्रकृति उसका घोर विरोध किए बिना नही रहती।

इन्ही सकेतो की परिधि मे शकुन भी आ जाते हैं जबकि इन शकुनो की मान्यताये एव ज्ञान सार्वभौमिक नही होते, किन्तु विशेष परिस्थितियो मे प्रकृति का विस्फोटात्मक सकेत सार्वभौमिक होता है। ऐसा क्यो होता है इसका एक बडा विज्ञान है। प्रत्येक सुगन्धित एव दुर्गन्धित पदार्थों के परमाणु वायु मे चारो तरफ फैल जाते हैं तथा अपना एक क्षेत्र बना लेते है। और जब कोई व्यक्ति उस क्षेत्र से गुजरता है तो उनका उस व्यक्ति की घ्राण शक्ति पर आघात हुए बिना नही रहता। इसी प्रकार मनुष्य की विचार-धाराओ के परमाणु शब्द के सदृश्य प्रकृति के वातावरण मे रम जाते हैं और जिन मनुष्यो की मन-बुद्धि उन रेडियो सदृश्य लहरियो को पकडने के लिए उपयुक्त होती हैं वह लहरिया उनमे अपना उद्घोष किए बिना नही रहती। इन्ही उद्घोषो को प्रकृति का सकेत एव विस्फोट कहेगे।

यह प्रत्येक मनुष्य के अनुभव की बात है कि जब वह कोई अवाच्छनीय कुकृत्य करने को उद्यत होता है तो प्रकृति उसके रास्ते मे बाधाये उपस्थित

किए बिना नही रहती । ये बाधायें मूक संकेत के रूप मे होती हैं किन्तु इन बाधाओ को ठुकराकर अथवा इनकी परवाह न कर वह जैसे जैसे आगे बढता है तो प्रकृति अपने वाचाल संकेतो को काम मे लाती है । जब मनुष्य उन सकेतो को भी ठुकराते हुए अन्धा बनकर अप्रगतिशील हो चलता है तब उसके सकेत विस्फोटात्मक उद्घोष धारण कर लेते हैं । यह तो प्रत्येक मनुष्य के अनुभव की बातें हैं ।

बहुत से पाठक हमसे सहमत होंगे तथा उन्होने अनुभव भी किया होगा कि प्रकृति हसती-रोती दिखाई पडती है । अशुभ घटनायें घटित होने के पहले हमारे मकान उदास प्रतीत होने लगते हैं । समृद्धिशील पुरुषो के मकान हसते दिखाई देते हैं । ये मकान मानो एक प्रकार से प्रकाश प्रसारित करते दिखाई पडते हैं । निस्सन्देह यह मन की भावनायें तो है किन्तु तथ्यहीन नही । बिना कारण के कोई कार्य नही हुआ करता । हमने भी जमीन तथा मकानो को हसते देखा है, तथा रोते भी । तथा बहुत-सी घटनाओं के घटित होने के पूर्व हमने आपस मे इन सकेतो की विवेचनायें भी की थी जो प्राय सच्ची होकर रही ।

विभूति सम्पन्न मनुष्य कही भी बैठे हो, छिपे नही रह पाते । कारण उनकी विभूति की किरणें उनके हृदय से निसृत चारो तरफ फैलती रहती है तथा अपना एक क्षेत्र बना लेती है जिस क्षेत्र मे वह व्यक्त होती रहती है । ऐसे विभूति-विभूषित मनुष्य के अदृश्य हो जाने पर इनके रिक्त स्थान उदासी के आसू ढाये बिना नही रहते । जबकि और सभी बाते पूर्ववत ही बनी रहती हैं । स्त्री गृहलक्ष्मी कहलाती है, किन्तु सभी स्त्रिया गृहलक्ष्मी नही हो पाती, कारण गृहलक्ष्मी कहलाने वाली स्त्रियो के हृदय बडे महान, बडे पवित्र, दिव्य एव प्रेम मे भरे रहते है, ऐसा ही पुरुषो मे भी देखा जाता है ।

बहुत बार ऐसा होता है और देखा भी गया है कि कभी हमारे हृदय मे कुत्सित यौन सम्बन्धी अथवा अन्य किसी प्रकार के अवाच्छनीय कर्म करने का विचार आया और आकर विलीन हो गया, कर्म-क्षेत्र मे उसकी कोई प्रतिक्रिया नही हुई । किन्तु ऐसे विचारो के प्रति भी प्रकृति बडे मिठास भरे सकेतो मे उनको व्यक्त किए बिना रहती नही । आपने अक्सर देखा होगा कि आपके मित्रगण, जिनकी दृष्टि मे आप श्रद्धालु पात्र बने हुए हैं, कभी-कभी हसी-मजाक के दौरान उसी प्रकार लाछना आपके ऊपर आरोपित करते है, साथ-

ही-साथ के लोग क्षमाप्रार्थी भी बने रहते हैं तथा कहते हैं कि भैया-बुरा न मानना, यह सिर्फ परिहास मात्र था। किन्तु अभ्यस्त अन्तर्दृष्टि वाले, देखने मे व्यर्थ, ऐसे कथनो पर विचार किए बिना नही रहते तथा अपने हृदय को टटोलने लगते है कि ऐसी भावनाओ का उनका हृदय कभी शिकार तो नही हुआ था, अपने स्मृति-पटल को टटोलने पर उनको पता लगता है कि एक बार ऐसा ही कुछ विचार उनके हृदय मे उद्भूत अवश्य हुआ था। प्रकृति का अटल नियम है कि बिना कारण के कोई भी कार्य सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूपवाला भी सम्पन्न नही हो पाता। बिना बीजारोपण के पौधा निकल नही सकता। जो कुमार्गी है अपनी छाती पर हाथ रखकर देख ले कि कुमार्ग मे अग्रसर होने के पहले अथवा उसमे रत होने पर प्रकृति के समय-समय पर किस-किस प्रकार के सकेत उन्हे मिले थे। तभी हमारे यहा कहावत प्रचलित है कि मनुष्य सात तालो के अन्दर भी कोई अनुचित कार्य कर बैठे तो कभी उसका पता चले बिना नही रहता। यह तो प्रत्येक मनुष्य के मुख पर है कि दीवालो के भी कान होते हैं।

मानव धर्म

मानव धर्म के ऊपर विचार करने से पहले हमे यह देखना चाहिए कि मानव है क्या वस्तु ? जब आधार का ही पता न हो तब उस पर आधारित वस्तु का विचार कैसे हो सकता है ? मानव के अर्थ होते है जो नया नही है (मा=नही, नव=नवीन या नया) अर्थात् जो पुरातन है ।

मानव जन्म लेता है, मरणशील भी है, फिर यह पुरातन कैसे हुआ ? ऊपर से देखने मे तो ऐसा ही लगता है । चलता-फिरता जो नजर आता है वह तो प्रवक्ता है, जिसके भीतर वह पुरातन तत्व बैठा हुआ है । जन्म-मरण तो पुतले का ही होता है यानी मनुष्य के शरीर का, न कि उसके स्वामी का ।

इस बात को समझने के लिए आकाश की स्थिति का विचार करे । आकाश अनन्त है—ऊपर, नीचे, चारो तरफ । हम पृथ्वी पर रहने वाले ऐसा खयाल कर बैठते है कि पृथ्वी तल के ऊपर जो खोल हे वह आकाश हे, और यह भी समझ मे आता है कि ये सारे नक्षत्र व तारागण जो नजर आ रहे है वे सब झाड-फानूस की तरह आकाश मे लटके हुए है । इसी भाति यह पृथ्वी

आकाश मे लटकी हुई है। यानी जिसकी भी स्थिति है वह आकाश में है, यानी सबका आधार आकाश है। हम मकान बनाते हैं पृथ्वी पर किन्तु बनता तो है आकाश मे ही। फलत उसका एक अश मकान की चार दीवारो से घिरा हुआ नजर भी आता है। किन्तु अश का महाकाश से परिच्छेदन नहीं हो पाता और न हो सकता है। यदि इसका नितान्त परिच्छेदन करने का प्रयत्न करें तो फल तत्कालीन मृत्यु ही होगा। इतना होने पर भी इसका सही अर्थ मे परिच्छेद हो नही पाता। ईंट और पत्थरो के अन्दर के परमाणुओ के बीच मे खोल है, वह भी तो आकाश ही है। अभी मकान के खण्ड-खण्ड हो जाने पर यानी विनाश हो जाने पर हम आकाश का महाकाश से फिर मिल जाना देख सकते हैं। लेकिन वास्तव मे मिलन तो तब कहेगे जब उसका उससे विच्छेद हो, जिसका विच्छेद हो नही सकता, उसका मिलन कैसा ? जो कुछ भी परिर्वतन होता है वह मकान मे ही होता हे। मकान के अन्दर स्थित आकाश अपरिवर्त्य बना रहता है। मकान की अपेक्षा आकाश पुरातन है।

ऐसा ही शरीर व जीव का सम्बन्ध है। मकान बनाने हेतु नाना प्रकार के उपकरणो की आवश्वकता होती है जैसे ईंट, पत्थर, चूना, मिट्टी, लोहा, जल आदि तथा ये सभी उपकरण प्राप्त होते हैं पृथ्वी से। फिर तो पृथ्वी का भी कोई उपकरण होना चाहिए क्योंकि पृथ्वी स्वय तो अपना उपकरण है नही। जो पदार्थ दृष्टिगोचर बना रहता है वह बिना उपकरण के सिद्ध नही हो सकता। स्थूल पदार्थ विनाशशील है। विनाश उसी को कहते हैं जब वह अपने उपकरण को प्राप्त हो जाय। दृष्टिगोचर तो यह आकाश भी हो रहा है, तो क्या इसका भी कोई उपकरण है, तो क्या यह भी विनाशशील है ? है, निश्चय है। जो दृष्टिगोचर होता है, निश्चय ही वह जड है। तथा जड का विनाश निश्चित है।

यहा स्वत ही प्रश्न उपस्थित होता है कि आकाश का उपकरण क्या हो सकता है ? वह है महत् प्रकृति के तीन गुण—सत, रज, तम। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन तत्वो की अपेक्षा ये तीनो गुण बडे सूक्ष्म हैं। इन तीनो गुणो के न्यारे-न्यारे स्वभाव है यानी इनके न्यारे-न्यारे धर्म हैं। इन तीनो गुणो के आपसी मिश्रण (Combination) एव क्रम-सचय (Permutation) के अनुसार सृष्टि का निर्माण होता है, इसलिए यह सृष्टि त्रिगुणमयी कहलाती है।

इसी प्रकार यह हमारा खोल यानी शरीर त्रिगुणमयी है यानी तीनो गुणों का कार्य-रूप । इन तीनो गुणो का धर्म या स्वभाव हमारे शरीर मे, हमारे स्वभाव मे परिलक्षित होता रहता है । यह आवरण है हमारे जीवात्मा का । जैसे किसी कमरे मे बिजली जल रही है यानी बिजली का प्रकाश हो रहा है । इस कमरे के खिडकी व द्वार बन्द है तो बाहर प्रकाश नही आता है, किन्तु वहा प्रकाश है अक्षुण्ण किन्तु बाहर से प्रतीत नही होता । जैसे-जैसे इसके आवरण का अनावरण करते चले जाय प्रकाश बाहर की तरफ झाकने लगता है, बाहर आता प्रतीत होता है । वह प्रकाश सटे हुए कमरे के अन्धकार को भी एक अश तक मिटाने मे समर्थ होता है और इस कमरे के सारे ही आवरण दीवार इत्यादि हटा दे तो चारो तरफ प्रकाश हो जाता है ।

तो यहा स्वभावत एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस जीवात्मा का भी कोई उपकरण है ? उपकरण तो अवश्य है, जैसे ईंट और मिट्टी का आपस मे सबध है वही सम्बन्ध जीव का ब्रह्म से है । इनमे अश अशी का सम्बन्ध है । ब्रह्म स्वयभू है जो सबका कारण होता है, उसका कोई कारण नही होता ।

तो अब देखना यह है कि मानव धर्म का क्या रूप होना चाहिए और क्या हो सकता है ? प्रकाश का धर्म है अन्धकार को मिटाना और जब इसके सामने व्यवधान आ जाता है तो यह व्यवधान प्रकाश की क्षति तो नही कर सकता किन्तु उसके अनुपात मे इस प्रकाश का फैलना सीमित हो जाता है और प्रकाश के सीमित होते ही उसी सीमा के अनुसार अन्धकार छा जाता है । इसी प्रकार आत्मा का आवरण इन तीनो गुणो का धर्म है । इन त्रिगुणो का सामूहिक आवरण जितना घनिष्ट बना रहेगा, उसी अनुपात मे आत्मा का प्रकाश सीमित बना रहेगा ।

अब इन तीनो गुणो के कार्य-रूप का दिग्दर्शन करेंगे —सत्वगुण का स्वभाव है प्रकाश करना और यह निर्विकार है । निर्विकार इसलिए कि इसमे अन्धकार नही, जैसे सूर्य का प्रकाश । किन्तु इस प्रकाश मे और आत्मा के प्रकाश मे अन्तर है । वह गुणातीत है तथा सत्व गुण का प्रकाश सत्व-गुणापन्न है, किन्तु है नितान्त अपेक्षित । यह प्रकाश उस प्रकाश तक पहुचने की सीढी है ।

रजो गुण का धर्म है राग जिससे उत्पन्न होते है कामना व आसक्ति ।

'ये जीवात्मा को कर्म करने को प्रेरित करते रहते हैं यानी कर्म की तरफ ढकेलते रहते है तथा उन कर्मों के फलो मे आसक्ति भरते हैं। तात्पर्य रजो गुण जीवात्मा के द्वन्द्व मचाने के *अखाड़ा तैयार करता है।*

तमो गुण अज्ञान से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकृति का जो अश आवरण-शक्ति प्रधान है उससे उद्भूत है इसलिए मोहक अर्थात भ्रान्तिजनक है। इससे उत्पन्न होते है प्रमाद, आलस्य व निद्रा। प्रमाद शब्द का अर्थ है अनव-धानता यानी गफलत, वेपरवाही एव असावधानी। आलस्य का अर्थ है अनुद्यम। निद्रा का अर्थ है चित्त का अवसाद-जनित लय यानी आशा व उत्साह का लय यानी निष्क्रियता। मनुष्य-स्वभाव मे इन तीनो गुणो के प्रभाव भली-भाति परिलक्षित होते रहते हैं जैसे गगा-यमुना का जल। जब इन तीन धाराओ मे कोई धारा विशेप प्रवल हो उठती है तो अन्य दो धाराओ को अपने अन्दर दबोच लेती है, और उसकी प्रधानता दृष्टिगोचर होने लगती है। उन दोनो धाराओ का नाश तो नही हो पाता किन्तु वे इसके अन्दर वनी रहती है। इन तीनो धाराओ का काम एक साथ चलता है। कभी किसी की तेजी, कभी किसी की मध्यम स्थिति। सत्व गुण जब इन दोनो धाराओ को दबा लेता है तब मनुष्य के हृदय मे आनन्द, प्रकाश, उल्लास उद्भूत होते हैं और यहा से वह अपने स्वामी की झाकी लेने लगता है। किन्तु यहा पर इन दोनो गुणो का नितान्त अभाव नही बना रहता, न सम्भव ही हे। जब तक शरीर स्थित है तब तक किसी गुण का नितान्त अभाव नही हो सकता। जैसे महात्मा गाधी, बुद्ध, शकर, इनका रजो गुण इन्हे देशाटन करा रहा था और अपने व्यवधानो से द्वन्द्व। रजो गुण की प्रवल धारा का दर्शन कर पाते हैं राणा प्रताप, शिवाजी आदि वीरो के जीवन मे। इनके जीवन मे सत्व गुण आधारित रजो गुण काम कर रहा था।

जहा तक शरीर का सम्वन्ध है इसके रक्षार्थ तीनो ही गुण अपेक्षित हैं, तमो गुण भी नितान्त वर्जित नही है। एक खास मात्रा मे यह जीवन-दाता है। निन्द्रा का आना तमो गुण है, लेकिन दिन भर की थकान को मिटाने वाली यह निन्द्रा ही तो है। किन्तु प्रमाद-आलस्य-जनित रजो गुण वर्जित है, अवाच्छनीय है। सास का चलना, खाना-पीना, मल-मूत्र का त्याग करना, ये रजो गुण के धर्म हैं। अन्त तक इन तीनो का काम चलता रहता है।

अव प्रश्न उठता है, इन तीन से इतनी विभिन्न प्रकार की प्रकृति उत्पन्न

कैसे हुई, जहा नाना प्रकार के मनुष्य-स्त्रिया है, जीव-जन्तु है, वृक्ष-वनस्पतियाँ है, ये जल, ये पहाड, ये पृथ्वी की भूमि, कैसे उत्पन्न होते है, इसका पता लगाना असम्भव है, किन्तु इन तीनो गुणो के मिश्रीकरण एव क्रम-सचय से ही ऐसा सभव होता है। जैसे पृथ्वी मे क्षार (Salt) असीम नही है, सीमित है, किन्तु एक ही भूभाग मे जैसे बागान मे नाना प्रकार के वृक्ष उत्पन्न होते है, वहा नीम भी है, आम भी है, अगूर की बेल भी है, केले, तरबूज एव कुम्हडे की बेल भी है, वहा अमरूद, फालसे भी लगे हुए है। ये सब अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुपात मे भूमि मे रस को खीच लेते है, जिससे नाना प्रकार के फल, फूल, साग इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह शरीर मे देखा जाता है पित्त, कफ, वायु प्रधान है, इनमे से जब कोई प्रधानता पकड लेता है उसी के अनुपात मे शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

विषैले जीव-जन्तु जैसे सर्प, विच्छू इत्यादि तमोगुण के रूप हैं। इनमे प्रमाद विशेष होता है। ये बिना कारण के ही धावा बोल देते है। सिह आदि जगली जानवर रजो-गुण की प्रति-मूर्ति होते है। इनमे सत्वगुण अभिभूत बने रहने के कारण ये भूख लगने पर ही शिकार करते है।

मनुष्य मे भी यही प्रवृत्तिया पाई जाती हैं। गुण्डे, शैतान, चोर, डाकू, दुराचारी, व्यभिचारी आदि दुष्प्रकृति के जितने भी पुरुष है वे बडे ही रजोगुणी-तमोगुणी होते है, इसलिए ये शका एव भय के शिकार बने रहते है। इनमे सत्वगुण अभिभूत बना रहता है। शका, भय, क्रोध, ये सभी तमोगुण की बडी कठोर दीवारें है जो केवल सत्वगुण से ही ढाही जा सकती है। इनके जीवन मे शाति, आनन्द, सुख स्वप्नवत बने रहते है। इनमे स्वाभिमान का नितान्त अभाव बना रहता है। ये अपने कर्मों के फल की आसक्ति मे काने-अन्धे बन जाते है जिसके आगे उन्हे कुछ सूझता ही नही है।

अन्धकार तमोगुण का रूप है। भ्रष्टा, दुष्टाचारी नारिया बडी तमोगुणी होती हैं। उसका उप-पति उसका कितना भी तिरस्कार करे वह उसे अन्धे की तरह चाहती रहती है। इन्द्रिय-मिश्रण ही उसका यह तमोगुण है जिसके कारण वह अपने पति की तनिक-सी भी अच्छी बात सहने को तैयार नही है। पति के द्वारा आदर, सम्मान व प्रेम बिच्छु के डक के सदृश्य उन्हे उत्पीडित करते रहते है। यह तमोगुण अन्धकार है। किन्तु शका अभी भय मे जकडी रहती है, यह सत्वगुण के अभाव का द्योतक है। यही दशा वेश्यागामी पुरुष

की होती है। वेश्या के द्वारा अपमान, गाली-गलौज व लाते खाना उसे बडा प्रिय लगता है। उसे ऐसा लगता है कि यह सब कृत्य वेश्या का उसके प्रति प्रेम-प्रदर्शन है। किन्तु मूर्ख समझता नही है कि अपने कोठे पर आने वाले व्यक्तियो को वह कितने तिरस्कार की दृष्टि से देखती है, वह उन्हे कितना घृणास्पद मानती है। उसका प्रेम-प्रदर्शन मात्र उससे पैसा हरण करने के लिए होता है। दुकानदार का आदर-सत्कार, प्रेम-प्रदर्शन ग्राहक को केवल लुभाने मात्र से है ताकि ग्राहक की पाकेट वह अच्छी तरह से तराश सके, तथा दूसरे दुकानदार का वह मुँह न देख सके। ग्राहक अपनी मूर्खता के कारण उसे व्यक्तिगत प्रदर्शन मान लेता है। कई दुकनदार तो चाय, पान, पानी इत्यादि भी खिलाते है। यह ग्राहक का सत्कार नही, यह उसका मोहक-शस्त्र है जिससे ग्राहक को विमोहित कर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

पतिव्रता नारी का अर्थ ही यह होता है कि उसमे सत्वगुण की वृद्धि बनी रहे, यानी उसमे प्रकाश और आनन्द परिलक्षित होते रहे। उसके स्वभाव की कोमलता, मधुरता, सहिष्णुता ही उसका देवत्व है। यह समाज की पूज्या है। यह तो शूर, वीर, दानी, धर्मनिष्ठ पुरुषो की जननी है।

इस उपरोक्त कथन के परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य सहज ही पता लगा सकता है कि वह कितने पानी मे है, उसकी मानसिक स्थिति कैसी है। उसकी स्थिति, मानसिक प्रवृत्ति श्रेयस्कर है अथवा त्याज्य। हम किसी के मुख पर उसकी प्रशसा करे और पीछे से निन्दा, तो निश्चय ही यह किसी जगली जानवर या जन्तु का स्वभाव हमारे अन्दर परिलक्षित होता है। बहुत-से जानवर पीछे से धावा करते है। सर्प इत्यादि बडा पीछा करते है भेडिया भी पीछा करने वाला जानवर है, वह भी चोरी-छिपे ही धावा करता है। आज का विद्यार्थी समाज तमोगुण के चगुल मे फसा हुआ है, अवधान-शून्य अनवधान का शिकार जो कि प्रमाद का प्रथम लक्षण है। चित्त-वृत्ति का चचल हो जाना सत्वगुण बुद्धि का क्षय है। सत्वगुण युक्त बुद्धि 'टार्च लाईट' है। अन्धकार मे प्रकाश के बिना हम चल कैसे सकते हैं? बुद्धि हमारी टार्च लाईट का काम करती है जिसका कार्य हमे खड्डो एव विषैले जीव-जन्तुओ से बचाना है।

इस ससार की रचना बडी विचित्र है। इसके रहस्य की गुत्थी इतनी उलझी हुई है जिसके सुलझाने के लिए ससार भर मे अनेक मत-मतान्तरो का

अविर्भाव हुआ और होता चला जा रहा है। प्रत्येक मत-प्रवर्तक आचार्य ने इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अपने ही मत को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। किन्तु यह सब मत अपनी-अपनी परिधि मे सीमित ही बने रहे और सार्वभौम मान्यता किसी को भी न प्राप्त हो सकी। इसका कारण है गुत्थी का रहस्य-मय बना रहना। किसी-किसी आचार्य ने इस ससार को प्रभु की क्रीडा-स्थली सम्बोधित कर सात्वना की सास ली। इस सिद्धान्त मे सभी मत-मतान्तरो का समावेश प्रतीत होता हे।

जीव मात्र रसाशक्त नजर आता है जबकि चारो तरफ रस बिखरे पडे है, और जितने भी खाद्य-पदार्थ है सभी रसयुक्त है। जिव्हा को इसलिए ही रसना कहते है कि वह रस लेने के लिए बडी इच्छुक रहती है। यह चारो तरफ फैला हुसा रस एक ही इन्द्रिय का विषय नही है, जितनी भी ज्ञान-इन्द्रिया है उनको पर्याप्त मात्रा मे रस प्राप्त होता रहता है। घ्राणेन्द्रिय को गन्ध, कर्णेन्द्रिय को शब्द, चक्षु-इन्द्रिय को रूप और त्वचा इन्द्रिय को स्पर्श। ये पाचो प्रकार के रसो के विषय बडे ही मोहक है जो कि पच भौतिक तत्वो के गुण हैं।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस रसमय सृष्टि की रचना करने पर फिर रसो से बचे रहने के लिए आचार्यों ने विधान क्यो किया ? श्रुतियो का कहना है 'रसो वैस'—वह रस-स्वरूप है, इसलिए उससे उत्पन्न की जाने वाली सृष्टि रसमय होनी चाहिए। ठीक भी है। खिलाडी अकेला खेल, खेल नही सकता। वहा उसका प्रतिद्वन्द्वी भी चाहिए। रसाशक्त को रस न मिले तो रस का होना न होना बराबर है। रम और रसाशक्त का जोडा है। प्रतिद्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्विता, द्वेप, ईर्ष्या, भय, आशा, निराशा से अभिभूत बना न रहे, तो वह खेल ही नही सकता। इस खेल के मैदान मे एक-दूसरे को पछाडने की क्रिया तो निरन्तर नजर आती रहती है, किन्तु इस खेल की समाप्ति होती है द्वन्द्वी के आश्लेष मे प्रतिद्वन्द्वी का समाप्त हो जाना। यहा विजय पराभव की समाप्ति होती है, समाप्ति तो क्या होती है उस लीलामय को निरन्तर क्रीडा स्थली चाहिए, उनकी लीला कभी समाप्त होती नही, न हो सकती है, क्योकि वे रस-स्वरूप जो ठहरे। रसिक का जीवन ही रस है। यदि प्रतिद्वन्द्वी के अन्दर उपरोक्त कहे हुए भाव व्यक्त न हो तो वह खेल के अन्दर गतिशील नही बन सकता। और यह गुण प्राप्त होते हैं इन तीनो गुणो की त्रिपुटी से—सत्व, रज, तम से, जिसका सामूहिक-सम्मिलित रूप होता है

काम, क्रोध, लोभ, मद्, मात्सर्य जिनकी व्यापकता परिलक्षित होती है प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, द्वेष, भय, कलह, निराशा, उद्दण्डता, स्वच्छन्दता, अनुशासनहीनता इत्यादि-इत्यादि मे ।

इन सब वृत्तियो मे लोभ की वृत्ति बडी सशक्त होती है । इसकी क्रिया है रसमय पदार्थों से ज्यादा-से-ज्यादा रस खीचना जिसका व्यापक रूप आगे चलकर बनता है झूठ, कपट, बरजोरी दूसरे के धन को हरण करना, दूसरे के रूप-रस को अपना लेना, जिसका रूप है—दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार। किन्तु प्रत्येक खेल के अन्दर कुछ इस प्रकार के नियम रक्खे जाते हैं जिनका उल्लघन मान्य नही होता अपितु उल्लघन करने वाले को खेल मे दाखिल नही किया जाता । खिलाडी का इस प्रकार का निष्कासन खेल के परिप्रेक्ष्य मे मृत्यु ही तो है । जब जीवात्मा इन जड त्रिगुण की कार्य-रूप कुवृत्तियो के पदार्थ से विकल हो उठता है तब इनको नियन्त्रण मे रखने के लिए प्रयास होता है । जब ये कुवृत्तिया नियन्त्रित हो चलती है तो फिर खेल सुचारू रूप से चलता है । इनको नियत्रण मे लाने मे कुछ कटुता का बोध होता है जो ठीक भी है । किसी भी गतिशील को किसी भी दिशा मे मोडने के लिए उसकी गति का अवरोध किये बिना वह दूसरी दिशा मे मुड नही सकता ।

यह रोक-थाम, शुभ-अशुभ दोनो प्रकार की होती है । सही मार्ग पर चलने वाले को यदि गलत मार्ग मे लाना है तो एक बार उसकी रोक-थाम करनी होगी । इसी प्रकार सही मार्ग पर लाने के लिए गलत मार्ग पर चलने वाले की गति की रोक-थाम करनी होगी । गतिशील की गति को रोकने के समय उसे धक्का लगे बिना नही रहता । सर्जन आपरेशन करते समय थोडे समय के लिए रोगी को चेतना-शून्य बना देता है । उसके गलित अग को काटकर उसे स्वस्थ्य बनाने के लिए चेतना-शून्य बनाने की क्रिया मे निर्दयता तो प्रतीत होती है, किन्तु वह कार्य है रोगी को स्वस्थ्य बनाने के लिए । रोगी को रोग-मुक्त करने के लिए कडवी दवाओ का प्रयोग किया जाता है, उसे सताने, उसे कष्ट पहुचाने के लिए नही, अपितु रोग-मुक्त करने के लिए । ये प्रक्रियायें, ये नाना प्रकार की विधिया, प्रविधिया देखने मे चाहे कटु हो किन्तु स्वभावत शुभ और कल्याणकारी होती है ।

आज का समाज चाहे स्त्री, पुरुष, विद्यार्थी का हो, अनुशासनहीनता से बडा व्यथित हो चला है । अनुशासन को ठुकराने मे व्यक्ति अपनी विजय

देखता है, किन्तु यह उसकी विजय गलित अग के सदृश्य घातक होती है। रोग उसी को कहते हैं जिसके द्वारा शरीर व्यथित हो चले। शरीर को कष्ट पहुचने लगे जिसका व्यापक रूप होता है अशान्ति, दुख, क्लेश, छटपटाहट। किन्तु मानव धर्म का लक्षण अनुशासनहीनता नही, वल्कि मानव शरीर मे बैठी हुई उसके स्वामी के स्वभाव की व्यापकता है। चूकि वह ईश्वर, ब्रह्म, प्रभु का अश है, तो अशी के गुण अश मे वना रहना स्वाभाविक है।

उस ईश के गुणो को देखो तो सही जरा, ईश सवसे पहला है, सर्वोपरि है, वह स्वामी है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, इसीलिए प्रत्येक जीव मवसे आगे आना चाहता है। सवका स्वामी वनना चाहता है। सव जगह अपनी सत्ता का प्रसार देखना चाहता है। मैं हू, यानि विनाश-रहित हू, मेरा कदापि नाश नही होगा—यह भावना उसमे सर्वोपरि रहती है। मैं चेतनायुक्त हू, और आनन्दमय रहना चाहता हू, सुख, शान्ति और आनन्द की फिराक मे रहना चाहता हू। गुमराह व्यक्ति भी यही चाहता है किन्तु यह उसकी चाह विकृत है, जवकि अपने रूप मे स्थित जीवात्मा की चाह विकार-रहित है। जव मनुष्य के अन्दर दया, प्रेम, सद्‌भावना, सत्यवचन, आनन्द मे रहने की भावनाए प्रगट होती हैं तव ससार मे शान्ति आ जाती है।

सुगन्ध की प्राप्ति के लिए फूलो का होना अनिवार्य है। उसी तरह आनन्द को प्राप्त करने के लिए आनन्दमय वातावरण की सृष्टि होना अनिवार्य है। फल-फूलो का आनन्द तो हम उसी वक्त ले सकते हैं, जवकि हम उनको उपजायें, उनकी रक्षा करें, किन्तु हम फलदार वृक्षो को, फल वाले पौधो को कुचलते चले जाय, तव हमे रसयुक्त, गन्धयुक्त फल-फूलो की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? हम उनकी रक्षा करेंगे तो वे हमारी सेवा करेंगे। हम ऐसे शहर की कल्पना करे जिसमे एक तरफ ही रास्ता हो, किसी ओर मुडने के लिए दूसरा रास्ता ही न हो, तो वह शहर या तो एकदम खाली हो जायेगा या वहा के लोग निष्क्रिय होकर बैठ जायेंगे, यानी दोनो तरफ से मृत्यु। व्यापार एक तरफा नही चलता, यह हमेशा दो तरफा रहता है। वाजार-हाट तो उसी को कहते है जिसमे व्यापारी हो और ग्राहक भी। जहा ग्राहक भी नही, वहा वाजार कैसा ? और यदि ग्राहक एव व्यापारी के बीच लूट-खसोट ही वनी रहे तो हाट उठने मे देरी कितनी लगेगी, वाजार चल नही सकता। प्रत्येक व्यापार मे दो तरफा ईमानदारी, सहिष्णुता अपेक्षित है, अपेक्षित वनी रहती है, वही कल्याण का स्त्रोत है। अनुशासनहीन पुरुष, स्त्रिया, विद्यार्थी सभी

तो सुखी होना चाहते है। कोई भी आदमी दुख-कष्ट नहीं चाहता है। चोर-डाकू यहां तक कि कत्ल करने वाला भी सुख की तलाश मे ही यह कुकृत्य करता है, फल चाहे कटु हो, लेकिन उसकी खोज है सुख के लिए। प्रत्येक जीव आनन्द चाहता है । चू कि वह आनन्दमय है, इसलिए सबका स्वामी होना चाहता है। स्वामी का धर्म है अपनी प्रजा की रक्षा करना। अपने धर्म से वचित होने पर वह अपने स्वामित्व को खोये बिना न रह सकेगा और एक दिन कुचला जायेगा। इसलिए प्रत्येक मानव का धर्म है कि वह प्रकृत गुणो से अभिभूत न हो बल्कि उनका स्वामी बना रहे और देश-समाज मे कल्याण की वर्षा करे।

एक बडा ही जटिल प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो उसके हाथ से कठपुतली के सदृश्य यह प्रकृति स्वच्छन्द क्यो हो उठती है ? उसकी अवज्ञा करने के लिए धृष्टता कैसे कर बैठती है ? इसका ताण्डव-नृत्य उसे बर्दाश्त कैसे होता है ? क्या इसके ताण्डव-नृत्य से विमोहित हो, वह परम तत्व निष्क्रिय हो जाता है ? ऐसे प्रश्नो का उठना स्वाभाविक है और सही उत्तर न मिलने पर मनुष्य निराशा के जाल मे फसकर तडफने लगता है किन्तु ऐसी बात नही है।

यह सृष्टि विकास शील है। उस ब्रह्म के सकल्प के आधार पर ही इस सृष्टि की रचना हुई। पहले-पहल आकाश हुआ, उसमे वायु, फिर अग्नि, फिर जल, फिर पृथ्वी । जितना भी भू-भाग दृष्टिगोचर हो रहा है वह जलमग्न ही था। यह बडे-बडे पहाड, यह जितने भी टापू इस समुद्र मे से ही तो निकलें है। सबसे पहले जीव-सृष्टि जल मे हुई, फिर थल मे। नाना प्रकार के जीव-जन्तु हुए। महाकाय वृक्ष, महाकाय स्तनपाई जीव, आज भी १००-१०० फुट लम्बी ह्वेल समुद्रो मे पाई जाती हैं। इसके पश्चात मनुष्य की सृष्टि हुई। फिर मनुष्यो मे भी विकास होने लगा। विकास हठात नही हुआ करता। इसकी बडी अच्छी झाकी हमको सूर्योदय तथा सूर्यास्त से मिलती है। सूर्य के उदय के पहले प्रभात होता है, फिर आकाश मे लालिमा छा जाती है, फिर उसका लाल-लाल बिम्ब। उस बिम्ब के अन्दर की लाली चिलकते प्रकाश से अभिभूत हो जाती है और ज्यो-ज्यो सूर्य अपने क्षितिज से पार होता हुआ अपने मूर्धन्य बिन्दु या शिरो बिन्दु पर पहुचता है, उस समय सूर्य का प्रकाश अत्यन्त प्रखर हो चलता है और धीरे-धीरे उस प्रखरता मे क्षय आने लगता है तथा क्रमश सूर्य अन्तर्हित हो जाता है। दुबारा प्रभात होने के पहले रात्रि बडी घनी-

भूत हो जाती है। इसी तरह यदि हम सही दृष्टि से देखे, तो प्रत्येक महापुरुष के प्राकट्य के पहले ससार के अन्दर तमोवृत्तियां बडी घनीभूत हो जाती है और इस रात्रि का घनीभूत होना प्रभात होने का एक सकेत मात्र है। दिन के बाद रात्रि का आना और रात्रि के बाद दिन का आना अवश्यम्भावी है।

मनुष्य मे अभी तक पाच ज्ञानेन्द्रिया विकसित हो पाई हैं, अभी छठी इन्द्रिय व्यक्त होने के लिए या यो कहे, विकसित होने के लिए जोर लगा रही है। इसके विकसित होने पर मनुष्य-सृष्टि का क्या रूप होगा, आज का मानव अन्दाज नही लगा सकता। उस इन्द्रिय के प्राकट्य होने पर तीनो गुणो का सम्पुट इतना घनीभूत नही बना रह पायेगा जिसके आर-पार आज का मनुष्य कुछ देख नही पाता। विराट रूप को देखने के लिए कृष्ण को अर्जुन को दिव्य दृष्टि देनी पड़ी थी, फिर दिव्य दृष्टि देने की आवश्यकता नही रहेगी। छठी इन्द्रिय का विकास होने के बाद मनुष्य दिव्य दृष्टि युक्त हो जायेगा, तब अश-अशी के भेद की गुत्थी इतनी उलझन मे नही पडी रहेगी। उसे सुलझते देर नही लगेगी, और इसके उपरान्त भी इस मनुष्य मे क्या विकास आयेगा, उसका अन्दाज तब लगेगा या यो कहे लग सकेगा जब कि मनुष्य छठी इन्द्रिय युक्त हो जायेगा। इस क्रीडा-स्थल मे प्रतिद्वन्द्वी को अपने द्वन्द्वी की गोद मे क्रीडा करने से ही तो शान्ति मिलेगी। यह आनन्द उस आगतपतिका के आनन्द के सदृश्य है जिसका अन्दाज प्रोषितपातिका लगा नही सकती।

इसी तरह से प्रभु अपने जीवात्मा को अपने परिरभण मे भरने के लिए उतने ही उत्सुक व व्याकुल बने रहते है जितना कि एक नायक अपनी नायिका के लिए। इसलिए किसी को भी इस आग के घनीभूत वातावरण से उदास नही होना चाहिए न अपने प्रभु मे विश्वास हीनता लानी चाहिए। प्रसूति के समय माता को कितना कष्ट होता है वह पुरुष को अनुभव गम्य नही हो सकता, वह अनुभवातीत बात है।

यह कष्ट क्या है, जीवन-मृत्यु का द्वन्द्व है। इसी प्रकार किसी अद्भुत और विशेष वस्तु के प्राकट्य के पहले कष्टो के घनीभूत बादलो का छा जाना स्वाभाविक है। इसमे निराशा को कोई स्थान नही। खनिज पदार्थों को निकालने के लिए उसके ऊपर का आवरण तोडना होता है, यह क्रिया बडी विस्फोटक होती हे। कडा पत्थर बिना विस्फोट के टूटता नही, किन्तु हम उद्योग मे सलग्न लोग विस्फोट से कहा डरते है? वे भली-भाति जानते हैं कि आवरण को हटाये बिना अपेक्षित खनिज पदार्थ मिलने के नही। इस

प्रकार का विस्फोटक प्रत्येक वातावरण के आवरण के विच्छेद मे निहित रहता है, यह श्रेयस्कर हुआ करता है। इसका रूप अप्रिय होता है, इसलिए भयभीत होने का कारण नही।

दरअसल आत्मा का रूप सत्य शिव सुन्दरम् है, किन्तु रज-तम से घनीभूत आवरण के माध्यम से जब इसका प्रकाश वाहर आता है तब यह रज-तम सुन्दरम् का रूप धारण कर लेता है और यह बडा आक्रमणकारी होता हे। सफेद-पारदर्शी काच के पीछे पडी हुई वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप मे दिखाई देती हे, किन्तु रगीन काच के पीछे की वस्तु काच के रग से रगी हुई दिखाई देती है, यद्यपि काच का रग वस्तु मे नही आता, वस्तु शून्य बनी रहती है लेकिन उसका रूप काच के रग को लिए हुए दिखाई पडता है जो कि दृश्य की नजर मे भ्रम पैदा किए बिना नही रहता, और यह भ्रम-जाल मुगालता पैदा किये बिना नही रहता और यह मुगालता मनुष्य को गलत रास्ते पर ले जाता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इन तीनो गुणो का कार्य-रूप आवरण को अभिभूत किए रहना, तभी मानव धर्म की जागृति होती है और ससार सुख, शान्ति एव आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है।

ससार भर के मत-मतान्तरो के दो रूप होते है। इसके एक रूप को कहते है इसका विशेप धर्म, दूसरा रूप होता है सामान्य धर्म। सामान्य धर्म सभी मत-मतान्तरो मे एक-सा पाया जाता है। मत-मतान्तरो मे एक-दूसरे से भिन्नता इनके विशेष धर्मों तक ही सीमित बनी रहती है। किसी भी एक मत को दूसरे मत से सामान्य धर्म को लेकर कभी भी उलझन पैदा न होगी। यह सामान्य धर्म होते हैं सत्य, प्रेम, अहिंसा, निर्लोभता, क्षमा, धैर्य, वाहर-भीतर की शुद्धि, शत्रुभाव का अभाव, दभ भाव का अभाव। यह दैवी सम्पदा है। इन सब गुणो से किसी को एतराज नही। और मनुष्य इससे ज्यादा चाह ही क्या सकता है ? किन्तु कार्य-क्षेत्र मे इन सद्गुणो के अनुपात मे ये इतने क्रियाशील प्रतीत नही होते। इनकी जगह दभ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, डाह, ईर्ष्या—इन्ही का ताण्डव-नृत्य होता हुआ नजर आता है जो कि असुर प्रवृत्तिया है। यही प्रवृत्तिया मानवता के गले को घोटती रहती हैं। ऐसा क्यो होता है, यदि हम इनके सही परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन करे, तो इनके डक अवश्य ही काटे जा सकते हैं।

साराश यह हे कि मानव-धर्म ऋत-दर्शन है।

प्रकार का विस्फोटक प्रत्येक वातावरण के आवरण के विच्छेद मे निहित रहता हे, यह श्रेयस्कर हुआ करता हैं। इसका रूप अप्रिय होता है, इसलिए भयभीत होने का कारण नही।

दरअसल आत्मा का रूप सत्य शिव सुन्दरम् है, किन्तु रज-तम से घनीभूत आवरण के माध्यम से जब इसका प्रकाश बाहर आता है तब यह रज-तम सुन्दरम् का रूप धारण कर लेता हे और यह बडा आक्रमणकारी होता ह। सफेद-पारदर्शी काच के पीछे पडी हुई वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप मे दिखाई देती हे, किन्तु रगीन काच के पीछे की वस्तु काच के रग से रगी हुई दिखाई देती है, यद्यपि काच का रग वस्तु मे नही आता, वस्तु शून्य बनी रहती हे लेकिन उसका रूप काच के रग को लिए हुए दिखाई पडता है जो कि द्दश्य की नजर मे भ्रम पैदा किए विना नही रहता, और यह भ्रम-जाल मुगालता पैदा किये बिना नही रहता और यह मुगालता मनुष्य को गलत रास्ते पर ले जाता हे। मनुष्य का कर्तव्य हे कि इन तीनो गुणो का कार्य-रूप आवरण को अभिभूत किए रहना, तभी मानव धर्म की जागृति होती हे और ससार सुख, शान्ति एव आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है।

ससार भर के मत-मतान्तरो के दो रूप होते है। इसके एक रूप को कहते है इसका विशेष धर्म, दूसरा रूप होता है सामान्य धर्म। सामान्य धर्म सभी मत-मतान्तरो मे एक-सा पाया जाता हे। मत-मतान्तरो मे एक-दूसरे से भिन्नता इनके विशेष धर्मो तक ही सीमित बनी रहती है। किसी भी एक मत को दूसरे मत से सामान्य धर्म को लेकर कभी भी उलझन पैदा न होगी। यह सामान्य धर्म होते है सत्य, प्रेम, अहिंसा, निर्लोभता, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, शत्रुभाव का अभाव, दभ भाव का अभाव। यह दैवी सम्पदा है। इन सब गुणो से किसी को एतराज नही। और मनुष्य इससे ज्यादा चाह ही क्या सकता है ? किन्तु कार्य-क्षेत्र मे इन सद्गुणो के अनुपात मे ये इतने क्रियाशील प्रतीत नही होते। इनकी जगह दभ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, डाह, ईर्ष्या—इन्ही का ताण्डव-नृत्य होता हुआ नजर आता है जो कि असुर प्रवृत्तिया ह। यही प्रवृत्तिया मानवता के गले को घोटती रहती है। ऐसा क्यो होता हे, यदि हम इनके सही परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन करे, तो इनके डक अवश्य ही काटे जा सकते है।

साराश यह हे कि मानव-धर्म ऋत-दर्शन हे।

स्त्रैण

अक्सर देखा जाता है कि मजाक, व्यंग, [illegible] एवं [illegible] में [illegible] की संज्ञा देकर मनुष्य का मजाक उड़ाया जाता है। प्रत्युत्तर में कभी वह हँसता है और कभी अपनी झेंप मिटाने के लिए कह उठता है—[illegible] करता है, क्या तू नहीं है? स्त्री का तिरस्कार करना पशुता है। स्त्री पुरुष द्वारा पूर्ण आदर सम्मान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। वह [illegible] उड़ाने वाले को याद भी दिलाता है कि विवाह-संस्कार के समय [illegible] स्त्री-पुरुष के बीच में शर्तों का आदान-प्रदान हुआ था [illegible] यह शर्त स्त्री की उसने स्वीकार नहीं की थी कि सभी सम्पन्न होने वाले संस्कार यज्ञादि, तीर्थ-दर्शन व अन्य धार्मिक कार्य मुझे अपने साथ लेकर ही करेंगे। तो इसमें तो उसकी सम्मति निहित है ही। हाँ, अनर्थ पथ-प्रदर्शन करने वाली नारी की बात अलबत्ता नहीं सुननी चाहिए।

तो फिर यह अनमोल मनुष्य अपनी नासमझी से ही एक-दूसरे को झेंप दिलाने के लिए किया करता है। फिर वह चिन्तामग्न विचार करने लगता है

कि भले ही मनुष्य स्त्रैण शब्द का मजाक उडावे, किन्तु इस शब्द की उत्पत्ति तो मजाक उडाने वाले की नही हे। सुनने मे भी यह कर्कश शब्द है, फिर इसकी उत्पत्ति कैसे हुई । इसके पृष्ठभाग मे अवश्य ही कुछ ऐसे कटुता भरे भाव हे जिनका साधारणतया तो प्रत्यक्षीकरण नही हो पाता किन्तु इस शब्द की गूज मे कटुता की अनुभूति हुए विना नही रहती। यह कटुता ही इसका उत्पत्ति स्थान हे। तो फिर यह कटुता आई तो आई कहा से और क्यो आई।

स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की बात मानते आए है और मानेगे। यह गृहस्थी रूपी गाडी इन दो पहियो द्वारा ही सचालित होती है। यदि एक पहिया दूसरे पहिये को अपनी तरफ खीच ले या आपस की समानता खो बैठे तो गाडी की रक्षा मे ठेस पहुचे विना न रहेगी। यह तो रोज ही देखने मे आता है कि मोटर का एक भी चक्का बेचाल हुआ कि ड्राइवर सशकित हुए विना नही रहता। वह गाडी को तुरन्त रोक देता है और चक्के की गडवडी को देखता हे। यह गृहस्थी रूपी गाडी है क्या बला, जरा इसका दिग्दर्शन तो करे ।

स्त्री-पुरुष से मिलकर गृहस्थी बनती है । आर्य सस्कृति के अनुसार इसके सदस्य होते हैं—माता, पिता, दादा, दादी, चाचा, चाची, ताऊ, ताई, भाई, भतीजे आदि। इनमे परिस्थितियो के अनुसार कामोबेश होता रहता हैं किन्तु प्राय एक गृहस्थी से मनुष्य के माता-पिता और भाई-भतीजे आगे चलकर अलग हो अपनी निजी गृहस्थी चलाते हैं।

हमारे यहा विवाह पद्धति का सम्पादन मनोविज्ञान के मूर्धन्य विचार-स्तर पर होता ह। इस पद्धति के अन्तर्गत केवल एक ही विचार की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है कि दोनो प्राणियो का यानि स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे मे इस प्रकार समावेश हो कि मिलकर दोनो एक इकाई वन जाये। अब स्त्री को पुरुष के परिप्रेक्ष्य मे ही सब कुछ देखना होगा, कारण माता-पिता ने उसे दान-स्वरूप उसके पति के हाथो सौपा है। दान से दानी का कोई सम्बन्ध नही रहता, दान ग्रहीता की ही सम्पत्ति बन जाती है यानि अभिन्न अग।

विवाह पश्चात् यदि स्त्री-पुरुष का मानसिक स्तर एक नही हो पाता तो ये दोनो स्तर अपनी स्थिति को बनाये रखने मे जागरूक बने रहते है। इन दोनो का शारीरिक सम्वन्ध तो वना रहता है किन्तु मानसिक स्तरो पर एक-दूसरे के विपरीत अन्दर-ही-अन्दर सूक्ष्म रूप से प्रक्रिया होती रहती है जो कि दृष्टिगत नही होती, केवल भावो के माध्यम से ही उसकी झलक मिलती रहती है।

यही कारण है कि वह पति के घर मे रहते हुए भी उस घर के वातावरण के साथ यथेष्ट सम्वन्ध स्थापित नही कर पाती । उसका मन अपने पिता के घर वालो मे लगा रहता है । अपने माता-पिता, भाई-वहन, वहा के अन्य सगे-सम्वन्धियों मे लगा रहता है । पति के माता-पिता, उसके भाई-भतीजों के साथ उसके मन का समन्वय नही हो पाता । वह पति के मन स्तर को अपनी तरफ खींचने मे सलग्न वनी रहती है । पति का मन स्तर पुरुष का मन स्तर होने पर भी कुछ लचक खा जाता है । इसका विशेष कारण यह है कि पुरुष भोक्ता, एव स्त्री भोग्या वनने के कारण उसकी सारी इन्द्रिया उसके भोगनार्थ सलग्न वनी रहती है और स्त्री सतर्क वनी रहती है । स्त्री का मन स्तर पुरुष के मन स्तर को अभिभूत कर अपने मन स्तर पर ला खडा कर देता है । वह स्त्री के दृष्टिकोण से ही देखने का आदी वन जाता है । धीरे-धीरे उसका भी झुकाव स्त्री के सम्वन्धियो की तरफ ज्यादा हो चलता है और अपने माता-पिता व भाई-वन्धवो की तरफ उसका व्यवहार शुष्क वन जाता है । वह सोच ही नही पाता कि जिन माता-पिता ने उसे पाला-पोषा उन्ही का वह विरोधी कैसे वन सकता है । कोई कार्य विना कारण के तो हो ही नही सकता । मनुष्य व्यर्थ मे चुटकी तक नही वजाता, अन्य वातो का तो कहना ही क्या ।

गरीव जवाई को तो कभी अपनी ससुराल मे आदर मिलता ही नही और न कभी भविष्य मे मिलने वाला है । वह अहकारी मूर्ख अपनी स्त्री के हाथ की कठपुतली के सदृश उसकी इच्छानुसार नाचने मे गौरव, अभिमान समझता है । स्त्री को प्रसन्न रखना, सम्मानित करना व उसकी इच्छाए पूर्ण करना जरूरी है किन्तु यह देखना तो और भी जरूरी है कि वह उसे भ्रष्ट पथ पर चला रही है या सत्पथ पर । मनुष्य जरा भी आख खोलकर देखता तक नही कि मैं कही अपने माता-पिता के प्रति अकृतज्ञ तो नही वन चला हू । जिस तत्परता से उन्होने मेरा लालन-पालन किया और मेरी प्रसन्नता मे अपनी प्रसन्नता अनुभव की थी क्या आज मैं पुत्र के नाते उनकी प्रसन्नता मे अपनी प्रसन्नता अनुभव करता हू अथवा उनकी प्रसन्नता को पददलित करके अट्टहास मार कर मैं अपनी स्त्री का आनन्द परिवर्द्धित करता हू । मूर्ख समझ नही पाता कि मेरी स्त्री का मेरे माता-पिता के साथ अगर कोई सम्वन्ध है तो वह केवल मेरे ही माध्यम से तो है । स्त्रियों के मुख की वातो को सुनने के जो आदी हो जाते हैं वे पतनोन्मुखी हुए विना नही रहते ।

जव पत्नी अपनी कलात्मक नकेल अपने पति को अच्छी तरह से पहना

कर उस पर पूर्णरूपेण सवार हो जाती है तो ऐसे मनुष्य को स्त्रैण कहते है। यहा क्या देखा जाता है कि गृहस्थी के दोनो पहिए अपना समानान्तर खो बैठे है और पति रूपी चक्का पत्नी रूपी चक्के की तरफ रुझान किए हुए सरकता चला जा रहा है। जहा ये दोनो चक्के सटे और गृहस्थी रूपी गाडी धराशायी होकर चकनाचूर हुए बिना कैसे रह सकती है। हम यहा ऐसी स्त्रियो के ऊपर ज्यादा व्यग्य तो नही करेंगे जो स्वच्छन्द हे तथा अछृखल हे लेकिन ऐसी ही स्त्रिया अपने पति को स्त्रैण बनाना चाहती हं। विवाह के समय आपस मे वचनो का विनिमय एक-दूसरे को सन्मार्गी बनाये रहने के मुख्य उद्देश्य से ही किया जाता है ताकि दोनो का जीवन धर्ममय एव सुख-शान्ति से व्यतीत हो सके और समाज एव राष्ट्र के यशस्वी व पुष्ट अग बने रहे। दोनो का स्वार्थ एक-दूसरे के स्वार्थ मे निहित रहता है, सन्तुलन के माध्यम द्वारा। पुरुष का सम्मान अपने ससुराल वालो की तरफ जब तक बना रहता है, वह बडा प्रसन्न रहता हे और जब उसका सम्मान अपने माता-पिता, अपने कुटुम्बियो की तरफ बना रहता है या बढा रहता है—वह उसका कारण अपनी स्त्री को नही मानता है।

धर्मचारिणी स्त्रिया अपने सासु-श्वसुर के प्रति आदर की दृष्टि लिए झुकी रहती हैं और ऐसी स्त्रिया अपने पति को स्त्रैण बनाने का स्वप्न मे भी विचार नही कर सकती। भला ऐसी स्त्रिया अपने पति को गुमराह, कृतघ्न, नुगुरा के रूप मे कैसे देख सकती है। दरअसल मे ये तो कोढ के दाग ह। कृतघ्न के समान गिराने वाला और कोई दोष हे ही नही। लडका बडा हुआ, पढ-लिखकर सयाना हुआ, माता-पिता के हृदय मे एक उत्साह भरी इच्छा लहराने लगती है कि हम अब अपने पुत्र का एक योग्य स्त्री के साथ सबध करेंगे। पात्र की खोज शुरू हो जाती हे और जब मनपसन्द की पात्री मिल जाए तो उनको कितनी खुशी होती है, फिर विवाह सम्बन्धी कार्यों मे कितने उत्साह-पूर्वक सलग्न उनका प्रतिपादन करते हैं और वही पात्री जब घर मे आए और उन्हीं को ठुकराने लगे तो उन माता-पिता की मानसिक स्थिति क्या होती होगी, प्रभु ही जाने। हमने ऐसे काण्ड देखे हे जहा कि वधू सास को रोटी के टुकडे मागने पर मजबूर कर देती है। उसका पति भी माता-पिता पर किए गए इन अत्याचारो को देख अघाता नही।

मेरे एक मित्र के घर पर एक समय कोई विशेष समारोह था, अत इस उपलक्ष्य मे वहा मुझे जाना पडा। अतिथियो को भोजन परोसा जा रहा था

कि इतने मे एक बालिका की चिल्लाहट सुनाई दी। समस्त अतिथिगण इस चिल्लाहट को सुन चौंके बिना न रहे। उनमें से एक उस दिशा मे चल पडा जहा लडकी चिल्ला रही थी। कारण पूछने पर मालूम हुआ, उस बच्ची ने अपने हिस्से की एक कचौडी अपनी कई दिन से भूखी दादी को दे दी थी और इस राज के खुलने पर उसकी माता लडकी पर टूट पडी। देखने मे वह स्त्री सुन्दर प्रसाधनो से लदी अत्यन्त ही भोली-भाली लगती थी जिसे देखते हुए हम अघाते नही। कुछ ही क्षणो के उपरान्त वह हसी-खुशी का वातावरण घृणा व ग्लानि से भर गया।

मनुष्य सोचता नही है कि उसका यह सुन्दर तन उसकी माता के रज तथा पिता के वीर्य ही से तो बना है। यह विशाल प्रासाद, जिसमे वह आनन्द की लहरिया लेता है, उन माता-पिता का ही तो है जिन्हे वह आज ठुकराता है। ये सब क्रिया-कलाप स्त्रैण पुरुषो के होते है। स्त्रैण पुरुषो की मानसिक अवस्था इतनी घृणित, हेय, त्याज्य समझी जाती है जिसकी कोई हद नही।

इस लेख मे उन्ही स्त्री-पुरुषो की तरफ हमारा सकेत है जो अपने जीवन-पथ से भ्रष्ट होकर नारकीय जीवन को मगलमय मान बैठे है। जो दैवी स्वरूपा स्त्रिया हैं, जो अपने घर मे शान्ति एव आनन्द की वर्षा करने मे सक्षम है, उनको हमारा शत्-शत् प्रणाम है।

स्त्रैण पुरुष नारी की मोह रूपी डोरी मे बधकर उसके हाथ मे बाजीगर के बन्दर के समान नाचने मे अपना गौरव और आनन्द समझते हैं। वे समझ नही पाते कि वे अपने मनुष्योचित रूप से कितना दूर भाग चले है। पुरुषत्व-हीन पुरुष ही ऐसी अशोभनीय स्थिति पर आकर टिकते है। पुरुषत्वहीनता तो पुरुष की मृत्यु है। जिस पुरुष मे स्त्री-जनित सब अवगुण घर कर लेते हैं, वह स्त्रैण तब अपने को स्त्री स्वभाव के परिप्रेक्ष्य मे ही देखता है और अपने अस्तित्व को खो बैठता है। वह मन्दबुद्धि समझता नही कि उसका पुरुषत्व ईश तत्व का बोधक है और नारी प्रकृति तत्व है जो त्रिगुणमयी है किन्तु गुणातीत होना पुरुषत्व है और गुणो के अधीन बाजीगर के बन्दर की तरह नाचना मृत्यु नही तो क्या? जिसके जीवन मे अकृतज्ञता, ईश्वर तुल्य माता-पिता के प्रति तिरस्कार है, इससे ज्यादा मनुष्य का पतन हो ही क्या सकता है।

स्त्रैण पुरुष ही तो अपनी स्त्री को बन्दरी की तरह इधर-उधर लिए घूमते फिरते है। जैसे बाजीगर को बन्दरी का नाच नचाकर अपना जीवन यापन का

तरीका आता है उसी प्रकार वह भी लाभान्वित होने का इच्छुक बना रहता है। तमाशा देखने वालो की क्या कमी है और दूसरी बन्दरियो को देखने के लिए कौन लालायित नही बना रहता। इन वृत्तियो के शिकार मनुष्य क्या-क्या कुकृत्य नही कर डालते। उन सबो को लिखकर हम अपनी लेखनी को क्यो लजाये। मातृहीन, पितृहीन अपने निजी भाई-बहन रोटियो के मोहताज बने रहे और वह गुलछर्रे उडाता रहे और उसकी छाया मे उसके सम्पन्न ससुराल वाले इतराने मे कोई कसर न रखे, उस स्त्रैण को सौ-सौ बार धिक्कार है। प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपनी स्त्री को यथोचित सम्मान प्रदान करे। वह दैवी स्वरूपा उसी से नही बल्कि सबके आदर की पात्री बनने की हकदार है। जिस घर मे स्त्री का यथोचित आदर-सम्मान नही होता, वह देश, वह घर कभी भी सुखी नही रह सकता। जब पुरुष स्त्री की रजोगुणी तमोगुणी वृत्तियो का उत्साहवर्द्धक बन जाता है, तब उसमे प्रकट होने वाली प्रलयकारी अग्नि मे वह देश, घर व समाज भस्मसात् हुए बिना कदापि नही रह पाता।

विमाता कैकेयी द्वारा दिया हुआ चौदह वर्ष का वनवास सहर्ष स्वीकार कर जब श्री राम अपनी निजी माता कौशल्या के पास जाते हैं, उससे विदाई लेने हेतु, तो क्या देखते है कि उधर सीता भी श्री राम के सग वन जाने का प्रस्ताव लिए माता कौशल्या के सम्मुख पहुच जाती है। वह अपने पति के साथ चौदह वर्ष वन मे रह यातनाएँ भुगतना सहर्ष स्वीकार लेती है किन्तु अपने पति को दिए गए वनवास का कदाचित् प्रतिवाद नही करती है और न अपने सास-ससुर पर परोक्ष या अपरोक्ष छींटे उछालती हुई ही दृष्टिगोचर होती है। वह पति-अनुगामिनी जो ठहरी। अपने पति के सामने वह यह प्रस्ताव भी नही रखती है कि वन न जाकर पति अपने श्वसुर के पास चला जाए। यहा उसमे अपने पिता के ऐश्वर्य की बू तक नही आती है। उसके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि बिम्ब से छाया अलग हो ही कैसे सकती हे। पति जगल मे ठोकरे खाये और मैं यहा सुख-साधनो का उपभोग करती रहू। वह सेज मेरे लिए कातिल नही बन जाएगी जो आज सुख-शैया हे? क्या वह आर्य-कन्या को शोभा देगा? उसका आग्रह स्वीकार कर राम उसे साथ ले जाते है।

रावण द्वारा हरण करने तथा उसके द्वारा दिये गए प्रलोभनो को भी वह ठुकरा देती है और रावण को यही कहती है कि रे राक्षस, तू अपनी सोने की लका का मुझे क्या गौरव दिखलाता है! मेरे राम की हस्ती का तो तू मुका-

है किन्तु ढीलेपन की मिठास इसमे ढिलाई लाने मे जागरूक बनी रहती है।

प्रारभ मे तो इसका रूप स्त्री-पुरुषो के मुक्त मिश्रण तक सीमित रहता है, तत्पश्चात् मुक्त यौनाचार मे परिणित हो जाता है। इसके साथ-साथ सुरापान, द्यूत-क्रीडा का भी समावेश हो चलता है जिसका बोल-बाला चतुर्दिक दृष्टिगोचर हो रहा है। भले-भले घरो के उच्च शिक्षित तक क्लबो, सैर-सपाटो, ताश के खेलो,— जैसे ब्रिज और फ्लश आदि के नशे मे धुत रहते है। हार-जीत की बाजी लगाते रहते हैं किन्तु देश का कानून इन्हे छू नही पाता। भला मस्तिष्क से काम लेने वालो को मन-बहलाव के लिए थोडा-सा भी अवकाश न मिले, तो क्या वह पागल न हो जायेगा! मानसिक स्तर की हीन वृत्तिया, व्यक्ति, समाज व देश को कितनी हानि पहुचाती हैं, अन्दाज नही लगाया जा सकता। उच्चस्तरीय मनुष्यो की हीन वृत्तिया अविकसित निम्न-स्तरीय मनुष्यो का मार्ग-दर्शन करने लगती है जैसे बालक माता-पिता से मातृ-भाषा सीखता है, उसी प्रकार बडो की वृत्तिया, छोटे अचेतनतावश अपनाने मे गौरव अनुभव करते है।

पुराने जमाने की बात है, रानी एलिजाबेथ प्रथम पैर मे चोट लगने के कारण लगडा कर चलने लगी। उसकी पोशाक के छोर भाग को हाथ मे पकडकर चलने वाली दासिया भी लगडाकर चलने लगी। उन दासियो ने समझा था कि महारानी ने कोई फैशन निकाला है, जो कि समय के उपयुक्त है।

इसी प्रकार देखा-देखी अच्छे आचरणो का भी प्रसार होता है। भारत-वर्ष मे आज भी करोडो की सख्या मे निरामिषी है, निश्चय ही यह किसी प्राचीन आचार का फल है। आचार, अनाचार, सदाचार की वृत्तिया बडी प्रभावशाली होती है जिनकी जागरूकता से जाच-पडताल बडा ही कल्याणकारी होता है।

जब मुक्त मिश्रण, सुरापान, द्यूतक्रीडा जैसे अनाचारो का सगम हो जाता है तब इनके ऊपर [illegible] स्थापित करना असम्भव-सा हो जाता है। परि-णामस्वरूप [illegible] ाये [illegible] नाना प्रकार के छोटे-बडे अपराधो का होता [illegible] ात [illegible]

[illegible] ाद का स्थान बन्दूक की गोली ने [illegible] पराधो की बाढ-सी आ गई है, [illegible] लग गया है। वहा अपराधी [illegible] है। यहा तक कि बात-की-

मुक्त यौनाचार

यौनाचार प्राकृतिक नियम है किन्तु उसको शुद्ध, पवित्र, सयत एव नियत्रित वनाये रखने की पुकार विश्व भर के सारे मत-मतान्तरो के शास्त्रो मे पाई जाती हे तथा इसमें अवहेलना की निन्दा कठोर शब्दो मे की गई है। भिन्न-भिन्न देशो मे एव सुदूर आदिम जातियो मे भी यौनाचार को मर्यादित वनाए रखने के लिए वडे ही कठोर नियम पाये जाते है किन्तु तथाकथित सभ्य कहलाने वाले देशो मे एव जातियो मे इसकी डोरी ढीली होती जा रही है। पहले-पहल तो व्यक्ति इसका शिकार होता है, तत्पश्चात् वह अपना निज का समाज बनाने मे तत्पर हो जाता है और धीरे-धीरे इसके आधार की डोरी सामाजिक स्तर पर डीली पडने लगती है तथा अवहेलना की गू ज जरा मन्द पड जाती है, आखिरकार समय की पुकार के विक्षिप्ताधार पर इसे मान्यता मिलती चली जाती है। आरम्भ की ढिलाई जहा मान्य एव सहन हुई तो यह आधार की डोरी क्रमश और ढीली पडने लगती है। जब कभी इसके विरुद्ध प्रतिवाद की आवाज उठती हे तब इसकी गति अवरुद्ध हुई-सी तो प्रतीत होती

है किन्तु ढीलेपन की मिठास इसमे ढिलाई लाने मे जागरूक बनी रहती है।

प्रारभ मे तो इसका रूप स्त्री-पुरुषो के मुक्त मिश्रण तक सीमित रहता है, तत्पश्चात् मुक्त यौनाचार मे परिणित हो जाता है। इसके साथ-साथ सुरापान, द्यूत-क्रीडा का भी समावेश हो चलता है जिसका बोल-वाला चतुर्दिक दृष्टिगोचर हो रहा है। भले-भले घरो के उच्च शिक्षित तक क्लबो, सैर-सपाटो, ताश के खेलो,— जैसे ब्रिज और फ्लश आदि के नशे मे धुत रहते है। हार-जीत की बाजी लगाते रहते हैं किन्तु देश का कानून इन्हे छू नही पाता। भला मस्तिष्क से काम लेने वालो को मन-बहलाव के लिए थोडा-सा भी अवकाश न मिले, तो क्या वह पागल न हो जायेगा! मानसिक स्तर की हीन वृत्तिया, व्यक्ति, समाज व देश को कितनी हानि पहुचाती हैं, अन्दाज नही लगाया जा सकता। उच्चस्तरीय मनुष्यो की हीन वृत्तिया अविकसित निम्न-स्तरीय मनुष्यो का मार्ग-दर्शन करने लगती है जैसे बालक माता-पिता से मातृ-भाषा सीखता है, उसी प्रकार बडो की वृत्तिया, छोटे अचेतनतावश अपनाने मे गौरव अनुभव करते है।

पुराने जमाने की बात है, रानी एलिजाबेथ प्रथम पैर मे चोट लगने के कारण लगडा कर चलने लगी। उसकी पोशाक के छोर भाग को हाथ मे पकडकर चलने वाली दासिया भी लगडाकर चलने लगी। उन दासियो ने समझा था कि महारानी ने कोई फैशन निकाला है, जो कि समय के उपयुक्त है।

इसी प्रकार देखा-देखी अच्छे आचरणो का भी प्रसार होता है। भारत-वर्ष मे आज भी करोडो की सख्या मे निरामिषी है, निश्चय ही यह किसी प्राचीन आचार का फल है। आचार, अनाचार, सदाचार की वृत्तिया बडी प्रभावशाली होती है जिनकी जागरूकता से जाच-पडताल बडा ही कल्याणकारी होता है।

जब मुक्त मिश्रण, सुरापान, द्यूतक्रीडा जैसे अनाचारो का सगम हो जाता है तब इनके ऊपर नियन्त्रण स्थापित करना असम्भव-सा हो जाता है। परि-णामस्वरूप आत्महत्याये, हत्याये एव नाना प्रकार के छोटे-बडे अपराधो का होता रहना साधारण-सी बात हो चलती है।

अमेरिका मे आज-कल शब्दो के द्वारा प्रतिवाद का स्थान बन्दूक की गोली ने ले लिया है। अमेरिका जैसे उन्नत देश मे अपराधो की बाढ-सी आ गई है, तथा हत्याओ एव आत्म-हत्याओ का तो ताता ही लग गया है। वहा अपराधी वृत्तिया दिन दूनी रात चौगुनी बढती चली जा रही है। यहा तक कि बात-की-

बात मे अपने प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा बडे-से-बडे व्यक्ति भी गोली के शिकार हुए बिना नहीं रहते । आज अमेरिका का प्रेसीडेन्ट बुलेट-प्रूफ कार मे ही अपने को सुरक्षित समझ सकता है जिसका प्रधान कारण है भौतिकवाद की चरम उन्नति के आवरण मे अध्यात्मवाद का घुटते रहना । परिणाम यह होता है कि आत्म-प्रकाश का प्रस्फुटन तक नहीं हो पाता और यह भय का कारण बने बिना नही रह सकता । जब तक भौतिकवाद की दुहाई लगती रहेगी तब तक भय, आतक, राग, द्वेष का ताण्डव प्रचण्ड गति से ही होता रहेगा, यह प्राकृतिक नियम है, इस पर किसी का जोर नही चल सकता ।

अब तो अमेरिका मे इस प्रकार के घातक कुकृत्यो की फिल्मे भी बनने लगी है जिसके द्वारा मनुष्य का मानसिक स्तर और भी दूषित होता चला जा रहा है । वहा रहस्य-रोमाच से पूर्ण जासूसी एव यौन सम्बन्धी पुस्तको की सदैव बहुलता बनी रहती है । 'इण्डियन एक्सप्रेस' मे प्रकाशित डा० डेरीन हिन्च के लेख पढने से हमारे शरीर के रोगटे खडे हुए बिना नही रहते । वे लिखते हैं कि 'सयुक्त राज्य अमेरिका के डेट्रोइट तथा मिशीगन राज्यो मे ८५ प्रतिशत अपराध तो केवल १२ वर्ष से २५ वर्ष के युवक-युवतियो द्वारा होते रहते हैं और इनका ५० प्रतिशत १७ वर्ष के कम के लडके-लडकियो द्वारा ।' फिन्से ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि, 'अमेरिका मे ५८ प्रतिशत लडकिया तथा ८६ प्रतिशत लडके यौन सम्बन्धो का जायका विवाह से पहले से ही ले लेते हैं ।' यह फल है मुक्त वातावरण मे पनपे हुए सह-शिक्षण एव मुक्त-मिश्रण का । जब वहा की आज यह दशा है तो भविष्य मे यह क्या रूप लेगा और कहा जाकर टिकेगा, यह तो कल्पनातीत है ।

मुक्त यौनाचार, सुरापान जुआ, आत्महत्या तथा अन्य नाना प्रकार के घातक अपराधो की लहरिया बडी सक्रामक होती हैं । हम उन्हे मानसिक रोग की सज्ञा देते हैं । महामारी के कीटाणु के साथ-साथ उपरोक्त दोषो के कीटाणु भी बडी तेजी से देश-देशान्तरो मे फैलते चले जा रहे हैं । पाश्चात्य यौन सम्बन्धी अश्लील साहित्य एव नाना प्रकार की अपराधी वृत्तियो का सक्रमण हमारे देश मे भी होता चला जा रहा है, तथा हमारे देशवासी इन्हे ग्रहण करने के लिए लालायित बने रहते हैं । बिना लगाम का मन लुभावने वातावरण मे अधोमुखी बने बिना नही रह पाता, जैसे पानी को ढालू जगह मिली और वह बहने लगता है । इस गरीब देश मे इस अनाचार के कीटाणु यदि

सर्वत्र फैल गये, तो हमारा समाज जो कि हजारो साल की गुलामी के माध्यम से गुजर चुका है तथा गुलामी की मदहोशी की तन्द्रा से पूरी तरह मुक्त भी नही हो पाया है, ऐसे गर्त मे जा गिरेगा, जिसमे उद्धार पाना और भी कठिन हो जायेगा। अत हमारा एव हमारी सरकार का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि इस प्रकार की कुवृत्तियो के सक्रामक कीटाणुओ को अपने देश मे बडी तत्परता से रोक-थाम करे, कारण कि सफाई से रहने मे मनुष्य को विशेष सावधानी वरतनी पडती है जबकि मैले-कुचैले बनने मे नही। सफाई का अभाव ही मैला-कुचैलापन है। दीपक के जलने पर ही तो तेल ज्योति के रूप मे वत्ती के द्वारा ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। ज्योति के अभाव मे तेल अपनी ऊर्ध्वगति खो अधोगति को प्राप्त हो जाता है। कुवृत्तिया मनुष्य को तेजहीन वना देती हैं। आत्म-ज्योति से वचित व्यक्ति व समाज की वही दशा होती है जो आत्मा के विलग होने से शरीर की।

पहले लोगो को कहते सुना जाता था कि मेरा गुरु तो अमुक सन्त है तो कोई कहता कि मेरा अमुक महात्मा। महापुरुषो के दर्शनार्थ जनता उमड पडती थी। हमने देखा भी है कि महात्मा गान्धी के दर्शनार्थ लोग आठ-आठ दस-दस घण्टे पहले से ही गतव्य स्थान पर जा जमते थे। नेहरूजी जिधर से निकल जाते भीड का सम्भालना मुश्किल हो जाता था। परन्तु आज उसकी जगह एक अजीव नजारा देखने मे आता है।

आज चल-चित्रो के अभिनेता एव अभिनेत्रिया जिधर से गुजर जाय, वहा इतनी भीड जमा हो जाती है कि पुलिस का नियत्रण भी काम नही कर पाता। इन आधुनिक सन्त-महात्माओ (अभिनेता एव अभिनेत्रियो) का जीवन ही आज के युवा-वर्ग के लिए अनुकरणीय एव आदर्श वन चला है जब कि ये लोग नाच, गान, आपस के आश्लेप, परिरम्भन, विविध प्रकार के अनैतिक, अश्लील भाव-भगिमाओ का ही तो प्रदर्शन कर पाते है और इसे ही देखने के लिए जनता इतनी वेतावी से टूट पडती है। आज मा-वाप अपने वच्चो को साथ ले जाकर सिनेमा दिखलाते है क्योकि उन्हे तो इन वच्चो को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य मे आदर्श व्यक्ति जो वनाना है। इतना ही नही, वहुत-सी स्त्रिया तो इन अभिनेताओ मे से आराध्यदेव की भाति अपना-अपना हीरो भी चुन लेती हैं। इसी प्रकार पुरुष भी अभिनेत्रियो मे से।

हमे तो आश्चर्य होता है कि आर्य सस्कृति मे पली हुई नारी या पुरुष,

पर-पुरुष या पर-नारी को इतनी सलग्नता के साथ अपने मन मे स्थान दे ही कैसे सकते हैं ? यह तो अनैतिकता की पराकाष्ठा है, और यह पतनोन्मुख घातक वृत्तिया व्यक्ति विशेष का नाश किए बिना नही रहती। यह सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति का निरन्तर ध्यान करता रहे तो उसमे उसकी आसक्ति उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी और आसक्ति के उत्पन्न होने पर उसे प्राप्त करने की प्रवल कामना घर दबायेगी। उस कामना की पूर्ति मे किसी किस्म का व्यवधान खडा हो जाता है तो वह क्रोध का शिकार हुए बिना नही रह पाता, तथा क्रोध मे अपने-आपको खो बैठता है जिससे बुद्धि विभ्रम हुए बिना नही रह पाती। फलत बुद्धि विनाश को प्राप्त होती है और बुद्धि के नाश होने पर व्यक्ति का विनाश निश्चित हो जाता है। इनमे से एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि जो व्यक्ति जिस चीज का विशेष ध्यान करता है वह उस ध्येय के मानसिक स्तर को प्राप्त हुए बिना नही रहता। यदि ध्येय निम्न स्तर वाला है तो ध्याता को उस स्तर पर पहुचाना ही होगा क्योकि ध्याता का मन ध्येय के अनुसार ही बनना शुरू हो जाता है। इसलिए अपनी ऊर्ध्वगति बनाये रखने हेतु अधोगति वाले का ध्यान नितान्त वर्जित है।

पहले वेश्याओ के नाच-गानो के शौकीनो की समाज मे निन्दा होती थी, वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे तथा निम्न कोटि मे गिने जाते थे, जब कि आज नाईट-क्लबो को सेने वाले लोग समाज मे प्रतिष्ठित, सम्मान्ति एव अनुकरणीय माने जाते हैं। यही कारण है कि हमारा नैतिक स्तर इतना ढीला एव शक्तिहीन हो चला है। फिर ढीले-ढाले को कोई घर दबाये तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही, क्योकि यह सत्य है कि विषयो मे विचरती हुई इन्द्रियो के बीच मन यदि किसी भी एक इन्द्रिय के साथ हो लेता है तो वह एक ही इन्द्रिय विवेकहीन पुरुष का बुद्धि-हरण कर लेती है। ठीक ही कहा गया है कि, 'बलवानिन्द्रिय ग्रामो विव्दासमपि कर्षित'— जिससे वह अपने शाश्वत केन्द्र से इतना दूर भाग चलता है कि उसे पतनोन्मुख कीटाणुओ से भरी हुई लहरियो मे बहने मे तनिक भी देर नही लगती है। इनकी दशा उस पागल से कम नही, जो अपने मन और बुद्धि का नियत्रण खो बैठा हो। पागल तो वही है जो अपनी विचार-धारा को बुद्धि के माध्यम से नियन्त्रित न कर पाये।

इस प्रकार की दशा से बचने के लिए यह अति आवश्यक हो जाता है कि जनता को नैतिकता की दृढ़ डोरी से बाध कर रक्खा जाय। उस डोरी

मे दृढ़ता आती है धार्मिक शुद्ध विचारो मे। जब यह शरीर आत्मा-रूपी रथ की अवहेलना कर बैठता है तो इसकी ये इन्द्रिया रूपी घोडे, सारथी रूपी बुद्धि की लगाम को तोडकर स्वच्छन्द दौड लगाने मे सलग्न हो जाते है, जिसका परिणाम पतन के रूप मे प्रगट होता है। अनियन्त्रित दौडते हुए घोडे के पैर भला बताओ तो नही कि टूटे बिना कैसे रह सकते है? ससार के बडे-बडे साम्राज्य नेस्तनाबूद हो गए, जिसका प्रधान कारण उनके सम्राटो की इन्द्रिय लोलुपता एव कामलिप्सा ही तो थी।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि घोर पतन से बचने के लिए अपने मन को विशुद्ध बनाये रखे तथा अपनी इन्द्रियो को विवेक रूपी बागडोर से नियोजित कर दे अन्यथा परिणामत विनाश से बचना असभव होगा। अनियन्त्रित यौनाचार मन की सभी प्रकार की भयकर-से-भयकर कुवृत्तियो की जननी है, इसी कारण से इसके नियन्त्रण पर इतना जोर दिया गया है। हमारे यहा ब्रह्मचर्य को जीवनदाता माना गया है और ब्रह्मचर्य-हीन पुरुष आत्मा की कदापि प्राप्ति नही कर सकता, जोकि जीवन का प्रधान उद्देश्य है। अत मुक्त यौनाचार का सनियन्त्रण अति आवश्यक हो जाता है।

यौनाचार का—जो कि मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव है—धर्मानुकूल होना ही श्रेयस्कर है। परन्तु आज खाओ, पीओ, मौज करो से परिपूर्ण वाममार्गीय प्रवृत्तिया समाज मे बडी तेजी से फैल रही है। मैने अखबारो मे पढा था कि अमेरिका मे ऐसे नाईट-क्लबो का जन्म होने लगा है जिसमे सदस्य रात्रि के समय आपस मे अपनी स्त्रियो का विनिमय कर बैठते है तथा वहा की नारिया इस मुक्त विनिमय को सहर्ष स्वीकार करती चली जा रही है। ठीक ही है, जब तक कि स्त्री-पुरुष दोनो इस अवाच्छनीय मन स्तर पर एक साथ न आ टिकें तब तक इस प्रकार के कुकृत्य कार्यान्वित हो ही कैसे सकते है।

कुछ काल पूर्व यानि लगभग ६०-७० साल पहले राजस्थान एव उत्तर प्रदेश मे अडौस-पडौस के लडके-लडकिया, भाई-बहिन के पवित्र सूत्र मे सगे भाई-बहन के रूप मे बध जाते थे और यह उनका आपसी सम्बन्ध घर वालो को भी मान्य बना रहता था। इस प्रेम-सूत्र की अभिव्यक्ति रक्षा-बन्धन एव भैया-दूज को देखते ही बनती थी, किन्तु जब इन्द्रिय-निग्रह के अन्दर लचक आने लगी तो यह रिवाज हेय-दृष्टि से देखा जाने लगा और इसका उन्मूलन हो गया। किन्तु आज हमारे यहा के लड़के-लडकिया जो आधुनिकता के

वातावरण मे पले हुए Girl Friend तथा Boy Friend का सम्बन्ध स्थापित कर लेते है तो इस सम्बन्ध के अन्तर्गत छिपी हुई उनकी कुवृत्तिया किसी की भी दृष्टि से ओझल वनी नही रहती । आज यह रिवाज काफी तेजी मे फैल रहा हे । कोई भी लडकी अपने Boy Friend को अपने घर ले जाने मे झिझकती नही, वल्कि उसका गर्व के साथ अपने माता-पिता से परिचय कराती है । इसी प्रकार लडका भी ।

कहो, आज आर्य जाति के युवक-युवतिया कैसी अन्धकारमय दिशा मे वहते चले जा रहे हैं जो कि मृत्युजनक वडे भयानक कीटाणुओ से प्रभावित है और जिसमे वहने वाले घोर विनाश से वच नही सकते । युवतिया अपने यौवन के मद मे, युवक अपने धन के मद मे अन्धे वने हुए देख ही नही पाते कि उनके द्वारा किए हुए कुकृत्यो का कैसा घोर परिणाम होगा । ये कवारी युवतिया विवाह के पूर्व ही अनेक कामी पुरुपो के ससर्ग मे आ जाती हैं तो विवाह के पश्चात् क्या ये अपने भावी पति को अपना हृदय सौप सकेंगी ? क्या सुख-शान्तिमय गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकेंगी ? क्या ये गौरवान्वित माता वनने की हकदार बनी रहेंगी ? क्या इनकी कोख से जन्मा वच्चा इनके शुद्ध पवित्र मातृत्व के ऊपर गर्व कर सकेगा ? क्या इनकी सन्तान गर्वोन्मुख समाज का एक आदर्श सदस्य वन सकेंगी ? ऐसा कदापि होने का नही । जव सोलह कला सम्पन्न राकापति स्वच्छन्द प्रसन्नमुख आकाश मे विहार करता हुआ कृष्ण पक्ष रूपी राहु के कराल गाल मे समाता जाता है, तव प्रतिदिन एक-एक कला को खोकर अमावस्या के दिन वह इस प्रकार खो जाता है कि उसकी एक कला भी दिखाई नही पडती । यही दशा उन शक्ति-स्वरूपा शुद्ध पवित्र चन्द्रमुखियो की होती है जव कि वे कामातुर या धन-लिप्सा से आक्रान्त होकर इन सभी धनाढ्य रूपी राहुओ के हाथो मे पड जाती हैं जो कि धीरे-धीरे इनकी कलाओ का पान करके इन्हे कला से हीन व दीन बना कर छोड देते है और तब ये मनुष्य के रूप मे तो वनी रहती है किन्तु इनकी दशा होती है अमावस्या के तिरोहित चन्द्रमा के समान, जवकि न तो उसकी किसी कला का दर्शन हो पाता है और न उसके अस्तिव का पता ही चलता है ।

आज की नारी की ऐसी दयनीय दशा क्यो हो चली है इसका कोई निगूढ कारण अवश्य होना चाहिये, और जहा तक हमारा खयाल है, इन अवलाओ के माता-पिता ही इसके लिए विशेष रूप के उत्तरदायी है । अल्पायु मे जब माता-पिता इनको साथ लिए हुए सभा-सोसाइटी मे अथवा व्यक्तिगत

ग्रापस के सम्मेलन मे ले जाते हैं तो ग्राज की इन सभा-सोसाइटियो मे राहुग्रो की कमी तो होती नही, ग्रौर इन राहुग्रो की दृष्टि इन पर पडे बिना रहती नही। वे इन ग्रबोध बालिकाग्रो को सहज सरल प्रेम की ग्राड मे फुसलाये बिना रहते नही ग्रौर इनके द्वारा दी हुई मोहक वस्तुग्रो को वे बालिकायें स्वीकार करने मे झिझकती नही। ग्रबोध बालक ग्रौर पशु का स्वभाव होता है कि जब कोई इन्हे खाने-पीने की ग्रच्छी वस्तुए देते है तो उनकी तरफ इनका स्वत झुकाव हो चलता है। धीरे-धीरे जब इनका सान्निध्य बढ जाता है तो एक-न-एक दिन राहु रूपी शिकारियो को सफलता मिले बिना नही रहती। मनुष्य के खून का स्वाद मिल जाने पर जगली जानवरो से उन्हे बचाना बहुत मुश्किल हो जाता है। उसी प्रकार इन भोली लडकियो को यौन सम्बन्धी चस्का मिल जाने पर ये उन जगली जानवरो के सदृश्य ग्रनियन्त्रित हो उठती है तथा मनुष्य को देख कर झपटे बिना नही रहती। यह पशुवृत्ति किसी भी रूप मे क्यो न हो, बडी भयानक होती है ग्रौर इनके विनाश का कारण बने बिना नही रहती। यही कारण है कि ग्राज का दाम्पत्य जीवन इतना सुखद शक्ति-मय देखने मे नही ग्राता, क्योकि इनका शारीरिक विवाह तो हो जाता है, लेकिन दोनो के मन व हृदय विवाह की डोरी मे गुन्थ नही पाते। जहा हृदयो का समन्वय न हो, एक-दूसरे मे ग्रात्मसात् न हो पाये, वहा विवाहित जीवन का ग्रसली सुख कहा मिलेगा ? वह ग्राशा निराशा मात्र ही बन कर रह जाती है।

कलकत्ते से प्रकाशित ग्रग्रेजी दैनिक समाचार-पत्र 'ग्रमृत बाजार पत्रिका' के ५-१०-६८ के ग्रक मे पृष्ठ ६ पर एक लोम-हर्षक समाचार पढने को मिला जिसको कि हम यहा पर उद्धृत कर रहे है

Amateur whores of Malabar Hill

BOMBAY, Oct 5 A Youth Association has been formed to eliminate "amateur prostitution" flourishing in Malabar Hill, one of the posh residential areas of the city

The Association under the guidance of Mr H N. Trivedi, municipal councillor of the ward has drawn up a programme including police help, social boycott and picketing of the posh residential buildings in Altamount Road and Peddar Road where the business is allegedly thriving

It said, educated girls from good families were coming for earning at these pleasure jaunts, run on shift system

Rich people visited these places where liquor flowed like water, it added.

The Association also said it had started collecting names and addresses of the amateur prostitutes and the clients so as to inform their families and stop the business —(UNI)

मलाबार की अवैतनिक वेश्याये .

बम्बई ५ अक्टूबर । मलाबार हिल बम्बई नगरी का वह क्षेत्र है जहा कि ऐशो-आराम सयुक्त मकान बने हुए हैं और इन मकानो मे अवैतनिक वेश्यावृत्ति पुष्पित होती चली जा रही है । इस अनैतिकता को मिटाने के लिए एक युवक सघ की स्थापना हुई है जिसका निर्देशन श्री एच० एन० त्रिवेदी, उस वार्ड के म्युनिसपल काउन्सिलर, कर रहे हैं । पुलिस की मदद के द्वारा उन्होने ऐसा कार्य-क्रम बनाया है कि आल्ता माउन्ट रोड, पेडर रोड स्थित मकानो मे, जहाँ कि ये घृणित कार्य फलीभूत हो रहे है, उन मकानो पर पिकेटिंग किया जाय । यह कहा गया है कि यहा वेश्या के रूप मे आनेवाली लडकिया शिक्षित और अच्छे घराने की होती हैं जिनका ध्येय, इन आनन्द-विहारो मे आकर धन कमाना है । यहा इनके क्लाइन्ट धनाढ्य व्यक्ति ही होते है और यहा शराब का दौर बडी जोर-शोर से चलता रहता है । इस सगठन का यह भी ध्येय होगा कि इन आनन्द-बिहारो मे आनेवाली लडकियो एव पुरुषो का नाम व पता नोट किया जाय, इसकी इत्तला इनके घरवालो को पहुचा दी जाय, ताकि यह घृणित व्यापार रोका जा सके ।

इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का सिर्फ इतना ही उद्देश्य है कि पाश्चात्य देश से आये हुए ये घातक सक्रामक कीटाणु इस पवित्र देश भारत मे भी फैलने शुरू हो गए ह । जब उच्च घराने की सुशिक्षित लडकिया इन कुकृत्यो मे रत होने लगे तो इनकी देखा-देखी निम्न स्तर की कम पढी-लिखी या अशिक्षित अथवा शिक्षित लडकिया भी इस घृणित प्रथा से क्या बची रह सकेगी ? जब मुक्त अनैतिक यौनाचार फैलने लगता है तब यौन सम्बन्धी बीमारिया भी अपना आघात किए बिना नही रहती, जो कि मनुष्य के जीवन को विषाक्त और आनेवाली पीढी को निकम्मा, अग-विहीन, बद्शकल बनाये बिना नही रहती । जब यह लडकिया दूसरे घरानो मे बहू बनकर जायेंगी, तो

उस घराने का वातावरण एवं उनका जीवन किस विन्दु पर जाकर टिकेगा, उसका अन्दाज नही लगाया जा सकता। ऐसी कुवृत्तिया शिक्षित लडकियो मे आई कहा से ? यह फल है अनैतिकता के वातावरण मे मुक्त मिश्रण का, अश्लील साहित्य के पढने का, यौन सम्बन्धी कमजोरियो के नजरअन्दाज का, सिने-अभिनेताओ एव अभिनेत्रियो के व्यवहारो के अनुकरण का इत्यादि-इत्यादि।

यह तो प्रत्यक्ष ही हे कि स्त्री आकर्पण का क्षेत्र है, फिर इसका अर्द्धवसना व पारदर्शी वस्त्रो मे पुरुप समाज मे मुक्त मिश्रण कितना मर्यादित वना रहेगा, यह तो समझने मे कोई कठिन विपय नहीं ह । पाश्चात्य देशवासियो के देखा-देखी पति का पर-स्त्री से, पत्नी का पर-पुरुप से मुक्त मिश्रण अव उनके हृदय को सालता नही है। चाकू, उस्तरा, तलवार आदि धार या सान-रहित होते ही अपनी उपयोगिता खो वैठते हैं तथा उनकी गिनती लोहे के टुकडो मे होने लगती है । जिस स्त्री व पुरुप के हृदय की सान भोथरी पड जाती है उसकी शान कैसे वच सकती है ? 'गुण विहीन सौन्दर्य विप रस भरा कनक घट है ।' सकोचशील मनोवृत्ति स्त्री की शोभा है, उसका सात्विक शृगार है । यह न तो उसकी कमजोरी है और न ही उसकी हीन अवस्था की द्योतक है । प्राण-दाता सूर्य ग्रहण लगने पर इतना विपाक्त हो चलता है कि उसकी तरफ देखने से आखें क्षतिग्रस्त हुए विना नही रहती, उसका देखना वर्जित है जवकि सामान्य स्थिति मे उसका दर्शन जीवन है । सान के साथ शान चली जाती है, टिक नही सकती । शान के अभिमानी मनुष्य को अपनी सान की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए ।

सूर्य की गर्दिश के समान इस ऋत का चक्र निरन्तर गतिशील वना रहता ह । अफसोस इतना ही है कि दृष्टिगत नही हो पाता किन्तु इसकी गति अवाध निरन्तर वनी रहती हैं । इसकी अवहेलना करने वाले इस चक्की के गाले बने विना नही रहते और जव पिसने लगते है तव मनुष्य चीख मारकर रोने लगता है, कुकियाता है तथा उसके पश्चाताप का ठिकाना नही रहता ।

किन्तु हम यह भली प्रकार समझ लें कि ऋत न क्रोधी हे न क्षमाशील, किंतु हे न्यायशील । न्यायशील दया से द्रवित वना रहता है । इस कथन मे विरोधाभास तो निश्चय ही प्रतीत हो रहा हे किन्तु न्याय दोपी के दोप के प्रच्छालन के लिए होता है । जग मिटाने की क्रिया लोहे से वैर करना नही बल्कि उसे

स्वच्छ रूप मे ले आना है। सोने को भी तपाया जाता है उसे विशुद्ध करने के लिए, उसके दोष के निवारणार्थ न कि उसे कष्ट पहुचाने के लिए। ताकि उसमे विशुद्धता आ जाय, मुलायमियत आ जाय तथा वह सुन्दर-से-सुन्दर रूप पाने के योग्य बन जाय। इस प्रकार का सस्कार किया हुआ सोना रमणियों के वक्षस्थल पर स्थान पाता है अथवा भगवान के गले का हार बनकर उसके भक्तो द्वारा पूजा की वस्तु बनता है अथवा राजा-महाराजाओ के सरताज का उपादान-कारण।

आज जो हमारे अन्दर अनैतिकता ने घर कर लिया है, उसके निराकरण के हेतु दावानल जैसी प्रचण्ड अग्नि मे हमारे समाज का सस्कार हुए बिना हम जीवन के सच्चे, शान्तिमय तथा सुखद जीवन-पथ पर आ टिकने के कदापि अधिकारी बन नही सकते। किन्तु इतनी आशा है कि ऋत का कार्य बडी समता एव समन्वय के साथ होता रहता है। प्रभु अपनी प्रजा का उद्धार करने हेतु सदैव जागरूक बने रहते है और रहेगे।

प्रदर्शन की बहक में बहता मनुष्य

आज का मनुष्य प्रदर्शन की बहक मे बहता चला जा रहा हे । मनुष्य ने प्रदर्शन को अपने जीवन की पतवार समझ लिया है । जीवन की सफलताए प्रदर्शन पर आधारित हं ऐसी गलतफहमी उसके दिमाग मे समा गई है । यह प्रदर्शन क्या है ? पोत का चौडे आना और पोत के अनुसार ही कपडे की कीमत होती है । किसी वस्तु का मूल्याकन क्या हे ?— उसकी उपयोगिता की सीमा का पता लगाना ही तो है । वस्तु के गुरुत्व की बडी महिमा है । सोने और पीतल के भाव मे जो अन्तर है वह उनके गुरुत्व पर अवलम्बित है । प्लेटिनम सोने से वहुत भारी होता है, तब प्लेटिनम की कीमत सोने से बहुत ज्यादा होनी चाहिए । गुरुत्व का दूसरा नाम है गम्भीरता, और गम्भीरता का अभाव है छिछलापन । इन दोनो का आदर समान नही होता । नदी को पार करते समय उसकी गम्भीरता का अन्दाजा लगाना वडा आवश्यक हो जाता है । छिछली नदी पर कौन नाव चलाता हे ? उसके तले से कौन डरता है ? उसके तले को तो रौन्दते हुए लोग पार हो जाते है । गम्भीर नदिया

बडी भयावनी होती है जिनको पार करने मे जीवन-मरण का प्रश्न बना रहता है। उससे कोई खिलवाड नही कर सकता।

किन्तु यहा तो सर्वत्र प्रदर्शन की होड लगी हुई है। जिस तरफ देखो उसी तरफ प्रदर्शन फूलो की प्रदर्शनी, साग-तरकारी की प्रदर्शनी, कला-कौशल की प्रदर्शनी, स्त्री-सौन्दर्य की प्रदर्शनी, विद्वत्ता की प्रदर्शनी, किन्तु इन सब प्रदर्शनियो का एक उद्देश्य होता है— वह है प्रदर्शित वस्तुओ का प्रचलन करना। प्रदर्शनिया क्या है ? एक तरह का बाजार ही तो है जहा मूल्य चुकाने पर चीजे प्राप्त हो जाती है। बाजार मे जाकर ही वस्तु का मूल्याकन होता है। जिस प्रकार जौहरी हीरे आदि जवाहरातो का मूल्याकन करता है उसी प्रकार प्रकृति भी मनुष्य की गभीरता और उसके छिछलेपन का मूल्याकन करती है।

आज की नारी यह समझ ही नही पा रही है कि यह असीम शक्तिस्वरूपा अपने अगो का प्रदर्शन करते ही अपने को कितना सीमित बना लेती है और फिर उसके गाम्भीर्य के तुलने मे देर नही लगती। तुलना लघुता का द्योतक है। तुलसी है जड वस्तु। चेतन को आज तक कोई तोल नही सका। तो क्या उस दिन को दुर्दिन नही कहेगे जिस दिन चेतन की अधिष्ठात्री देवी किसी के तराजू पर तुल जाय ?

प्रदर्शन आवश्यक हे। परम आवश्यक है। लेकिन मात्र उन जड वस्तुओ का ही प्रदर्शन आवश्यक है जो मनुष्य के उपभोग मे आने वाली हैं और जिन पर मनुष्य का भौतिक जीवन निर्भर रहता है। किन्तु मातृत्व बिकने की वस्तु नही है, यह पूजा की वस्तु है। यह तो धात्री व दात्री है। स्त्री जाति का जितना आदर व सम्मान बना रहेगा समाज व देश उतना ही समुन्नत शक्तिशाली, प्रभावशाली, स्वाधीन, स्वतन्त्र, सदाचारी व अनुशासित बना रहेगा। इसी आधार पर नारी की पवित्रता अभिप्रेत, अपेक्षित, वाञ्छनीय मानी गयी है। यह उसकी स्वतन्त्रता का हरण नही हे। उसकी स्वच्छन्दता एव उच्छृखल स्वाधीनता मे व्यक्ति व समाज, देश का विनाश छिपा रहता हे। पवित्रता उसका स्वभाव है। यह पुरुषो द्वारा थोपी हुई मजबूरी नही हे। यदि हीरे के अन्दर गहराई लिए हुए पानी (प्रभा) न झलके तो उसमे और पत्थर मे कोई अन्तर नही हे। जितना उसमे पानी होता है उतनी ही उसकी कीमत होती है।

ऐसे हीरो का मूल्याकन करना जौहरी की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नही

रहता । इस मूल्याकन का आधार है हीरे के अन्दर उसका नैसर्गिक गुण । वह है उसके अन्दर का पानी न कि उसकी ऊपरी चमक दमक । किन्तु आज की नारी अज्ञानवश ऐसा समझ बैठी है कि स्त्री से पवित्रता की माग मनुष्य की थोथी युक्ति है । नारी की इस परम पुनीत पवित्रता को ही पतिव्रत धर्म कहते हैं । यह पुरुष की थोपी हुई माग नहीं है, यह अपनी अभिलाषा मे नारी को सीमित बना देने का उपक्रम नही है । इसमे पुरुष की अभिलाषा इतनी ही है कि वह नारी को पूजा की दृष्टि से देख सके । क्योकि अन्तत वह शक्तिस्वरूपा पूजा ही तो हे । वह स ी भी हे । सती इसलिए है कि वह सत्य प्रतिष्ठित है ।

एक बहुत ही ताजा अभिनव सम्प्रदाय चला ह जिसको चले ३० साल के लगभग हो रहे हैं और जिसकी केन्द्रस्थली आबू मे हैं । इस मत के अनुसार वेदो को अपुरुषेय न मानकर मनुष्यकृत माना गया हैं । इस सम्प्रदाय ने वेदो का रचना-काल २५०० साल पहले का माना ह । इस सम्प्रदाय द्वारा वेदो की अवहेलना करने का आधार—गीता अध्याय २, श्लोक ४३, ४५, ४६ हैं जिनका अर्थ इनके आचार्य समझ नही पाये या अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उन्होंने इनको तोड-मोड डाला हे ।

स्त्री-पुरुष के बीच मे प्रतियोगिता का भाव या उपक्रम हास्यास्पद है । फुटबाल और क्रिकेट के बीच मे प्रतियोगिता होने की बात तो कभी सुनी ही नही और हो भी कैसे सकती हे । प्रतियोगिता होती हे समान क्षेत्रों मे । जब नारी पुरुष के क्षेत्र ही अलग हे तो इनमे प्रतियोगिता कैसी ? प्रतियोगिता होती हे समान धर्म वालो मे ।

स्त्री-सौन्दर्य की प्रतियोगिता तो होती रहती है, जिसके फलस्वरूप विजयी स्त्रिया मिस इण्डिया, मिस जापान, मिस इगलेण्ड उपाधियो से विभूषित की जाती हैं किन्तु स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य की प्रतियोगिता की बात तो कभी सुनी नही । कभी इसकी चर्चा भी नही हुई । इसकी चर्चा मात्र ही हास्यास्पद समझी जायेगी और हे । डाक्टर, इन्जीनियर मे कैसी प्रतियोगिता जब कि दोनो का क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न हे ।

पुरुषो मे भी प्रतियोगिता होती हे । पुरुषो के शारीरिक बल की प्रतियोगिता तो सुनने मे आती है जो कि कुश्ती के नाम से जानी जाती है और जो पहलवान सब पहलवानो को मार गिराता है वह देश का चैम्पियन कहलाता

है, किन्तु चैम्पियन उसी क्षेत्र का जिस क्षेत्र मे वह सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। यह क्षेत्रीय प्रतियोगिता हे किन्तु प्रतियोगिता होगी सदा ही समान क्षेत्र मे।

यहा सती-प्रथा के विपय मे दो शब्द लिखने का लोभ सवरण नही हो पा रहा हे। सतीयज्ञ अनुष्ठान स्त्री जाति पर पुरुप द्वारा थोपा हुआ नही है। यह न प्रथा थी न है। सत्यनिष्ठ होना प्रथा नही हे। यह स्वभाव है। तीज-त्यौहार आदि प्रथा हे। अग्नि मे लकडी का जलना उसका स्वभाव है, यह प्रथा नही है। यदि प्रथा हे तो पत्थर को जला के देखे, लोहे को जला के देखें, इनको अग्नि मे डालने से ये तप्त तो हो जाते हैं लेकिन इनमे से अग्नि नही फूट निकलती, किन्तु लकडी मे प्रसुप्त अग्नि कारण को प्राप्त होते ही प्रज्ज्वलित हो जाती है। स्त्री की चरम पवित्रता, सती हो जाने का व्यापक रूप हे, किन्तु आगे चलकर इसमे विकृति आ जाने से इसने प्रथा का रूप ले लिया जोकि निश्चय स्त्री जाति पर अनाचार, अत्याचार का द्योतक था। इस प्रथा को रोकने के लिए वडे कठोर नियम वनाए गए, और फलस्वरूप इस कुप्रथा का उन्मूलन हो गया। किन्तु शासकीय विधि-विधानो की कठोरता का अनुष्ठान वने रहने पर भी, समय-समय पर किसी एक स्त्री का सती हो जाना सुनने मे आता ही रहता है। जवकि शासन-विधान इतना कठोर है कि सती के घर वाले कत्ल के प्रोत्साहक के समान मुजरिम ठहराये जाते है। इस प्रकार की सतिया किसी जाति विशेष मे ही होती हो सो भी नही।

स्त्री सती क्यो हो जाती है? इसका रहस्य बुद्धिगम्य नही है। और आज की जागृति के युग मे कोई भी स्त्री या पुरुष इस प्रथा का हिमायती नही है। जब कभी पति के मरने पर उसकी स्त्री मे सती होने की भावना का किंचित् मात्र भी सकेत मिल जाता है तो उसे ऐसा करने से रोकने मे कोई भी कसर नही उठा रखते। यहा तक कि उसे ताले मे वन्द कर दिया जाता है तो भी किस प्रकार वह बाहर आ जाती है यह पता नही चलता।

प्रत्येक धर्म के दो रूप होते है। विशेष व सामान्य। स्त्री-पुरुष दोनो के सामान्य धर्म समान है, विशेप धर्म भिन्न-भिन्न है जो एक क्षेत्री दूसरे क्षेत्र विपयक धर्म को जानने मे असमर्थ बना रहता है। यौन सम्बन्धी भावनाये दोनो क्षेत्रो की समान नही होती। ये भावनाए क्षेत्र-विशेष के अनुसार होती है। जीवन-निर्वाह की क्रियाये एव भावनायें दोनो क्षेत्रो में समान है जैसे भूख, निद्रा, खान-पान, चलना, फिरना, इत्यादि-इत्यादि। माता बनने की भावना

पुरुष कितना ही सर पटके उसकी कल्पना तक नही क~ सकता ।

जव तक कि हम एक-दूसरे के क्षेत्र की मर्यादाओ का समादर न करेंगे, तव तक स्त्री-पुरुप मे छोटे-वडे की भावना की यह गुत्थी सुलझने वाली नही। यहा उनके ऋण (Negative) एव घन (Positive) रूप का प्रदर्शन एक-दूसरे के प्रति निष्क्रिय वना रहेगा । तत्वज्ञान के समझने मे ब्रह्म तत्व का समझना इतना कठिन नही है जितना की प्रकृति तत्व का । बुद्धि कुठित होती है प्रकृति तत्व को समझने में, कारण वह इतनी विस्तृत और रहस्यमय हे जिसके उद्घाटन की गुन्थी अभी तक सुलझ नही पाई है ।

वहुत से फूहड हलवाई अपनी वनाई हुई मिठाइया तथा और-और सामान विक्री के लिए थालो मे सजाकर अपने सामने रख लेते हे । फलस्वरूप मक्खिया, मधुमक्खिया, वरै, ततैये उन मिठाइयो पर मडराते रहते है, और उन पर वैठ भी जाते है, उनको चाटते रहते है और अपनी गलाजत भी उनके ऊपर थोपते रहते है और साथ ही ग्राहको को अपने स्वभाव का अनुभव भी करा देते है । सडक व गली की गन्दी धूल, उनके ऊपर पडे विना नही रहती। जो समझदार हलवाई होते है वे अपनी मिठाइयो के स्टॉक को आलमारियो मे वन्द रखते हैं और उनके नमूने वाहर काच के 'शो केस' में, ताकि ग्राहक उनको देख कर अपनी पसन्द की मिठाई का आर्डर दे सकें।

जब तक खनिज पदार्थ पृथ्वी के आवरण को तोड कर वाहर निकलने शुरू नही हो जाते, तव तक मालिक उनके आवरण के अनावरण तक उन पर डटा रहता है, और जहा वे खनिज पदार्थ निकालने शुरू हो जाते हे और बाजारू चीज बन जाते हें तव वह उन्हे अपने मुन्तजिमो के हाथ मे छोड देता है । प्रदर्शन वस्तु के मूल्याकन मे वडी सहयोगी होती है और साथ ही उसके मूल्यो को सीमित वनाये विना भी नही रहती । इससे हम यही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं कि मूल्यवान वस्तु का प्रदर्शन श्रेयस्कर नही होता हैं । वडे-वडे राजमहल, किले इत्यादि जव आम-प्रदर्शनार्थ खोल दिये जाते हैं तो उनका महत्व घटे विना नही रहता और दुश्मनो को उनको अपने कब्जे मे करने के लिए सहूलियत भी हो जाती है ।

इन उदाहरणो से हम जितनी भी शिक्षा ग्रहण कर सके, लाभदायक ही होगी ।

जीवन—एकप्रश्न

यह जीवन क्या है, यह एक जटिल प्रश्न बना हुआ है और इसका भली-भाति समाधान अभी तक नही हो पाया है। यो ऊपर से देखने पर जीवन एक सामान्य सी चीज दिखाई देती है जो प्राणी मात्र मे सर्वत्र व्याप्त है जैसे कि सूरज का प्रकाश सभी को उपलब्ध बना रहता है चाहे वह छोटा हो या बडा, पशु हो या पक्षी। वेद, उपनिषद एव षठ् शास्त्रो के निष्णात् पण्डित भले ही एक प्रकार के आश्वासन की श्वास लेते दिखाई पडते रहे और जिज्ञासु भले ही उनके पास जाकर अपनी जिज्ञासा को क्षणिक सात्वना दे पाए, किन्तु इस प्रश्न की जटिलता ज्यो-की-त्यो बनी हुई है।

इस प्रश्न का समाधान हो भी कैसे पाए, क्योकि इस जीवन का बाह्य पहलू इतना व्यापक बना रहता है कि इसकी पृष्ठभूमि के पहलू को देखने की आभ्यन्तर दृष्टि प्राप्त ही नही हो पाती। हम अपनी बाह्य दृष्टि को आभ्यन्तर-मुखी बनाने का प्रयास भी करे और बहुत से लोग करते भी है, किन्तु उस पृष्ठभूमि का वह कितना दर्शन कर पाते है, वह तो दर्शनकर्त्ता ही जाने।

हमारी भाषा जो कि बाह्य जगत के ज्ञान तक ही सीमित है, उस ज्ञान को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ है, कारण भाषा के द्वारा आन्तरिक जगत की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप मे हो पाती ही नही, ये भावोद्वेग के द्वारा इसकी झलक बीच-बीच मे मिलती रहती हैं जिनके द्वारा इतना तो बुद्धिगम्य हो ही जाता है कि इस दृश्यमान जगत के अलावा भी एक बडी ही सक्षम जागरूक स्थिति है जो कि इस बाह्य जगत को थामे हुए है, और उसी की सत्ता पर इस जगत का कार्य-सचालन हो रहा है। जितने भी भाव शुद्ध, अशुद्ध, छोटे, बडे हैं, वे सब अन्दर से उठते हैं और उनकी अभिव्यक्ति बाह्य इन्द्रियों द्वारा होती रहती है। भाव-शून्य व्यक्ति तो जडवत् ही होते है। शरीर-शास्त्र, शरीर के अन्दर स्थित यन्त्रों का ही तो परिचय दे पाता है जैसे हृदय, श्वास-यन्त्र, आमाशय, यकृत, मूत्राशय, आँते इत्यादि-इत्यादि, किन्तु किस शक्ति के द्वारा ये सचालित होते रहते हैं और किस शक्ति के निष्क्रिय हो जाने पर ये भी निष्क्रिय हो जाते हैं ? उस शक्ति के निवास-स्थान का पता शरीर-शास्त्र ज्ञानियो को भी अभी तक नही मिल पाया है।

शरीर के अन्दर गुह्यातिगुह्य एक गुहा है जिसका चर्म-चक्षुओ द्वारा दर्शन नही हो पाता, जिसके दर्शन ध्यान-योग के द्वारा ही किसी-किसी भाग्यवान् को हो पाते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन मे एक अलौकिक शक्ति, दीप्ति, प्रकाश का प्राकट्य हुए बिना नही रहता, जिसको देखकर हमारे जैसे जीव नेत्र-विस्फारित कर अवाक् रह जाते हैं और हम इतना कहकर शान्ति ले लेते हैं कि ये महान् आत्मा कहा तक पहुची हुई हैं। उसकी पहुच तो वही जाने, हमारी बुद्धि तो नाकाम हो जाती है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु का अनुभव सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही कर सकता है। मामूली से बाल को पकडने के लिए कितनी बारीक, नुकीली चिमटी की दरकार होती है। जिन पदार्थों के बाह्य रूप तो दृष्टिगत होते रहते हैं किन्तु चर्म-चक्षुओ से जो ओझल बनी रहती है, वह इनके द्वारा कैसे दृष्टिगत हो सकती है, इसे तो मोटी बुद्धि वाला भी समझ सकता है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि भावोद्रेक स्थूल इन्द्रियो के द्वारा समय-समय पर अभिव्यक्त होते रहते है किन्तु इनसे जो सूक्ष्म, शुद्ध, पवित्र भाव हैं उनकी अभिव्यक्ति इन इन्द्रियो के द्वारा अभिव्यक्त नही हो पाती है, अलबत्ता उनका प्रकाश उनके माध्यम से प्रसारित होते हुए अनुभव होता है। एक उदाहरण के द्वारा हम अपने इस कथन को एक व्यापक रूप देने का प्रयत्न करेंगे, जो शायद हमारे मनोरथ को

सिद्ध करने मे समर्थ हो सकता है।

महाभारत युद्ध छिडने के समय दुर्योधन एव अर्जुन दोनो ही कृष्ण के पास अपनी-अपनी सहायता की याचनार्थ जाते है। कृष्ण ने शर्त रक्खी थी कि मैं सहायता उसी को दूगा जो दोनो मे से पहले मेरे पास आ जाय। दुर्योधन अर्जुन से पहले ही पहुच गया। उस समय कृष्ण सोये हुए थे और राजमद का अभिमानी कृष्ण के शीर्ष-स्थान की ओर बैठ गया। थोडी देर मे अर्जुन पहुचे और श्रीकृष्ण के चरणो की तरफ बैठ गए। कृष्ण की जब आख खुली तब पहले उन्होने अर्जुन को देखा और कहने लगे, 'तुम आ गए?' इतने मे दुर्योधन बोला, 'यादवराज, पहले मैं आया हू, अर्जुन पीछे। अत सहायता का हकदार मैं हू न कि अर्जुन?' कृष्ण दुविधा मे पड गए लेकिन उन्होने इस प्रश्न का बडी सरलता से समाधान खोज निकाला। वे कहने लगे, 'दुर्योधन, चूकि तुम पहले आए हो इसलिए तुम तो मेरी सहायता के हकदार हो ही, किन्तु अर्जुन पर मेरी दृष्टि पहले पडी इसलिए वह भी कुछ-न-कुछ सहायता का हकदार है। मैंने बीच का मार्ग खोज निकाला है जो तुम दोनो को मान्य होगा ऐसी मेरी धारणा है। मैं अपनी सहायता के दो भाग कर देता हू। एक मे मेरी अक्षौहिणी सेना होगी और दूसरे भाग मे मैं स्वय, निरस्त्र, रथ के सारथी के रूप मे। चूकि तुम पहले आए हो इसलिए दुर्योधन, तुम इन दोनो मे से कोई भी एक चुन लो।

अभिमानी, स्थूल बुद्धि दुर्योधन ने तो कृष्ण के बाह्य स्थूल रूप यानि उसकी अक्षौहिणी सेना को चुन लिया। अर्जुन के महायोगेश्वर के अति सूक्ष्म, अति सशक्त एव अन्तर्जगत मे व्यापक महान रूप को चुन लिया। ऐसा अद्भुत, अलौकिक रूप केवल सम्पूर्ण बुद्धि वाली आत्मा को ही तो प्राप्त हो सकता है। इस रूप को प्राप्त करने का केवल मात्र साधन है, नितान्त निर्पेक्ष आत्मा-समर्पण जिसमे अभिलाषा की बू नितान्त शून्य बनी रहती है। समर्पण करने के पश्चात् अपना तो कुछ रहता नही। किसी को हम कोई वस्तु दे दें, उसका यही तो अर्थ हुआ कि उस वस्तु के प्रति हमारा लगाव बिल्कुल समाप्त हो चुका है और वह लेने वाले की ही वस्तु है। किन्तु इसमे भी एक सूक्ष्म भेद बना रहता है। जरा विचारिए कि अपने एक अवयव की रक्षार्थ दूसरे अवयव की आहुति तक दे दी जाती है किन्तु समर्पित वस्तु की रक्षा वह अपने सारे अवयवो द्वारा करता है और जब तक कि अवयव बना रहेगा, वह उसकी समर्पित वस्तु की रक्षार्थ सतर्क बना रहेगा। यह आत्म-समर्पण क्या है? यह तो प्रभु के

हाथ विकना है ।

लडाई मे शस्त्र न चलाना कृष्ण का पण है, उस प्रण को स्वय की रक्षार्थ तोड देना उसकी मृत्यु है किन्तु अपने अस्तित्व की आहुति देकर समर्पित की रक्षा कर देना यह उसकी विजय है । यह उसका महान् त्याग है, इससे विशेष और दूसरे धर्म का पालन हो ही क्या सकता है ? कैसा विचित्र दृश्य उपस्थित है । एक तरफ भीष्म कह उठते हैं, कृष्ण, अब मैं ऐसा युद्ध करूंगा जिससे अर्जुन की रक्षार्थ तुम्हे हथियार धारण करना पडेगा और यदि मैं तेरे हाथ मे शस्त्र न दिला सका तो अपने को गगा का पुत्र कहलाना छोड दूंगा । भीष्म भी कृष्ण के अनन्य भक्त थे । श्री कृष्ण भी अब दुविधा मे पड गए कि यदि शस्त्र-धारण नही करूंगा तो भीष्म असत् प्रतिज्ञ बनेंगे और शस्त्र धारण किए विना अर्जुन की रक्षा करना असभव होगा । शस्त्र को उठाते ही मेरा नाम कलकित होना निश्चित है । किन्तु भक्तवत्सल अपने आश्रितों व समर्पितो की रक्षा करना पहले सोचते हैं ।

प्राय लोग ये समझ बैठते है कि भीष्म के प्रण के सामने कृष्ण ने अपनी हार मानकर अपना सुदर्शन चलाया किन्तु जडमति सोच नही पाते कि कृष्ण की योग-शक्ति रूपी गगा मे भीष्म जैसे कितने ही योद्धा वह जाते है । वह भीष्म, जो अपने ध्यान-योग मे जिनका ध्यान करे, वह उसी को इतना अशक्त समझे कि मेरे प्रण के सामने वह नत-मस्तक हो चलेगा । यहा तो तकाजा था वालक का पिता से कि वह पिता उस वालक के हठ को कहा तक पूरा कर देता है और उस महाप्रणधारी भीष्म को अपने इष्टदेव मे अटल विश्वास था कि आज कृष्ण मेरे रूप की रक्षा करेंगे । श्रीकृष्ण वडी दुविधा मे थे । एक पक्ष का महारथी अपने कर्तव्य मे जरा भी ढिलाई ले आता तो पथभ्रष्ट हुआ और सामने लडने वाला निज का वालक । उसका क्या अपने शस्त्र से गला काट दे । ऐसी दुविधा से उद्धार तो सिर्फ उस महायोगेश्वर हरि के द्वारा ही सभव था । उनका प्रण क्या था, एक प्रार्थना थी कि हे प्रभु, मेरे इस जीवन के अन्तकाल मे मेरे धर्म की रक्षा करो । अशरण-शरण ही ऐसा कार्य कर सकते हैं ।

भीष्म का प्रण रह जाता है और उनके प्रलयकारी शस्त्रो की मार से अर्जुन बच जाते है । यह कृष्ण का महात्याग मनुष्य मात्र के लिए ध्रुव तारे के सदृश सही दिशा का निर्देशक बना रहेगा यानि अपना सर्वस्व त्याग करके भी शरणागत की रक्षा करना । इससे वडा कर्त्तव्य हो ही क्या सकता है ? इस

पकार के समर्पण द्वारा ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म परतो मे उस आनन्द-शक्ति के दर्शन हो पाते हैं और फिर हमारे जैसे स्वार्थी वहिर्मुखी स्थूल बुद्धिजीवी उस शक्ति के दर्शन न करने पर उसके अस्तित्व की अवहेलना कर बैठे, तो इसमे कोई ताज्जुब की बात नही। बिना दूरदर्शी-यत्र के क्या आकाश स्थित तारा-मडलो का हम ज्ञान प्राप्त कर सकते है और बिना सूक्ष्म-दर्शक यत्र के क्या सूक्ष्माति-सूक्ष्म कीटाणुओ के अस्तित्व का पता लगा सकते हैं? तभी तो कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाते हुए कहा था, 'अर्जुन, तू मेरे इस रूप को चर्म-चक्षुओ से नही देख सकता। मेरे द्वारा प्रदत्त दिव्य-चक्षुओ से ही मेरे इस रूप को देख सकता है।'

एक और दूसरा उदाहरण ले। मोटी बुद्धि का जब कोई हमसे पूछ बैठे कि यह कपडा कहाँ से ले आए तो हम झट उत्तर दे बैठते हैं कि बाजार से खरीद कर लाए है। दूसरे प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि क्या तुम्हारे पैसे ने कपडे को पैदा किया है या दुकनदार ने अपनी दुकान से? किन्तु ऐसी बात नही है, कपडा बनता है कल-कारखानो मे, रेल और रेल द्वारा उसका स्थानान्तरण किया जाता है। अब जरा विचारो तो सही कि कल-कारखानो, मशीनो के उत्पादन मे कितनी नाना प्रकार की धातु अथवा लकडी लगी है? उन पदार्थों के उत्पादन मे कितने हजार आदमियो का सहयोग रहा होगा? इन कल-कारखानो के अन्दर रूई कहा से आई होगी, वह किस रूप मे उत्पण्न हुई होगी, फिर उसके उत्पन्न होने मे किस-किस का सहयोग रहा होगा, कौन-कौन कारण बने होगे? इस प्रकार विचार करते-करते हम कपास के बीज यानि बिनौला एव पृथ्वी तक पहुँच जाते है। इसके आगे पहुँचने के लिए बुद्धि कुण्ठित हो उठती है। यह पता नही चलता कि बिनौला रूपी बीज कहाँ से आया और पृथ्वी रूपी गर्भ धारण करने वाली माता कहाँ से उत्पन्न हुई। और ये बीज प्रतीक है, उस आनन्द-प्रभु के और पृथ्वी प्रतीक है उस महामाया आद्या शक्ति की। इस प्रकार हर वस्तु का, चाहे वह जड हो या चेतन, उसका व्यक्त मध्य भाग ही दृष्टिगोचर होता है, उसका आदि-अन्त अदृश्य, अव्यक्त बना रहता है।

इसी प्रकार इस दृश्यमान जगत का आदि-अन्त भाग भी अदृश्य, अव्यक्त है। उस अव्यक्त का एक अश इस व्यक्त विश्व रूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर कहो तो सही, इस जीवन रूपी प्रश्न का हल किस प्रकार हो जिसके आदि-अन्त का पता ही नही चलता। बीज को जब हम भूमि मे बो देते हैं,

तो पृथ्वी के रसो मे वह इतना घुल-मिल जाता है कि वह अपना अस्तित्व खो बैठता है। किन्तु उसकी जगह जब कोपलें फूटकर वृक्ष के रूप मे आ जाती है तो उस वृक्ष के द्वारा उस बीज के सदृश हजारो बीज उत्पन्न होते चले जाते है। मजे की बात तो यह है कि बीज के असली रूप मे परिवर्तन नही हो पाता, वह हजारो बार बोया जाए और उससे हजारो-लाखो बीज पैदा हो जाए, फिर भी बीज का अस्तित्व शाश्वत बना रहता है। तभी तो ऋषियो ने ठीक ही कहा था कि—"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" उस पूर्ण से कितने ही पूर्ण निकलते जाएँ शेष मे पूर्ण ही बना रहेगा। बीज से बीज के सदृश कितने ही बीज उत्पन्न हुए किन्तु बीज का रूप अक्षुण्ण बना रहा। वाह रे प्रभु तेरी इस अपार महिमा का! इस जीव-धारी मनुष्य का एक छोटा-सा मस्तिष्क तेरे अनन्त अपरिमित रूप का पूर्णत वर्णन कैसे कर सकता है! जब कभी तेरी कृपा हो जाये तो उस गरीब को तेरी जरा-सी बिजली के सदृश विलयमान झलक कभी-कभी भले ही मिल जाय। हमारी-तुम्हारी तो क्या बिसात, जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि महाराज एक दफा मे फिर आपके श्रीमुख से गीता सुनना चाहता हूँ तो उत्तर यही मिला था कि आज मेरी वह योग स्थिति नही है जिसके द्वारा फिर मैं उस गगा रूपी गीता का दुबारा बखान कर सकूँ। इस पर भी उन्होंने कुछ कहा तो जरूर जो अनु-गीता के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु कहाँ गगा, कहाँ यमुना? जब उस महा-योगेश्वर की यह दशा है तो फिर हम किस गिनती मे है। क्या उसकी जरा-सी झलक हमारे जीवन को आनन्दमय बनाने मे समर्थ न हो सकेगी?

वह भू-भाग जिसमे बीज बोया जाय और वह उसे विकसित न कर सके, बीज को निगल जाय, तो उस भूमि को हम ऊसर या बजर कहते हैं तथा उसकी अवहे-लना की जाती है। इसी प्रकार वह स्त्री जो अपने पति के वीर्य को विकसित न कर सके, वह बाँझ के नाम से सम्बोधित होती है बाँझ नारी का बडा अपमान होता है। इसी प्रकार जिस बुद्धि मे परमात्मतत्व विकसित न हो सके वह बुद्धि जडमति कहलाती है। जो जड हैं वे लोग बडे तामसी एव राजसी होते हैं तथा लोभी होते है जो लेना जानते है, देने का नाम भी नही। ऐसे जडमति मनुष्यो की बडी निन्दा होती है। एक आदमी कितना ही भजन-ध्यान करे, पाठ पूजा करे, यदि वह लोभी हो, पर-धन, पर-धरा को हडपने वाला हो, तो उस मन्दमति मे ईश्वर तत्त्व विकसित नही हो पाता, इससे ज्यादा जीवन मे दूसरी हानि हो ही क्या सकती है। ऐसे जडमति जीवन के महा प्रश्न को समझने और सुलझाने मे कैसे समर्थ

हो सकेंगे, हमे तो इस बात का बडा ताज्जुब है। पर धन, बिच्छू के डक के समान यदि उस लोभी को पीडित नही कर पाता तो निश्चित ही वह सर्प दश के व्याघात सदृश सम्मोहन की निन्द्रा को प्राप्त हो रहा हे जिसका नाम मृत्यु है। निज के पुरुपार्थ मे कमाया हुआ धन जीवन को सुखी बना सकता है, आनन्द-प्रदाता बन सकता हे अन्यथा वह विपवत् मृत्यु का कारण ही बन कर रहेगा।

इस जीवन के प्रश्न की गुत्थी को खोलने मे केवल आप्त वचन के अन्दर सक्रिय विश्वास ही समर्थ है। कारण विद्वानो वेद-वेदान्त इत्यादि का ज्ञान विद्वानो के तर्क तक ही सीमित बना रहता है जो कि साधारण व्यक्ति के लिए अति दुष्कर है। दर्शनो मे सत्सग की महिमा भी खूब गाई गई है। पारस मणि के ससर्ग मे आते ही विना प्रयास लोहा स्वर्ण रूप को प्राप्त हो जाता है। हमारी मन रूपी चद्दर जितनी साफ व स्वच्छ रहेगी उसी के अनुपात मे हम गन्दगी से दूर रहेगे और जहाँ गन्दगी से नफरत मिट गई तो वह चादर कितनी मैली हो चलेगी, इसका अन्दाज मनुष्य की बुद्धि नही लगा सकती। उन्नति के सोपान परिश्रम द्वारा तय होते हे। और जिनमे परिश्रम नही वे ऊपर उठने के बजाय अधोगामी होगे। आलसी, प्रमादी, लोभी, लम्पट ही यदि पथभ्रष्ट न होगे तो दूसरा कौन होगा। प्रशसा का लालची 'दाता' क्या सचमुच में दाता है या दूसरो को अपने धन के द्वारा अपनी अहकार रूपी वेडियो मे जकडना चाहता है। प्रभु को तो देखो, एक अद्भुत सृष्टि की रचना कर इसे धन-धान्य से सम्पन्न कर हजरत ऐसे गायब हुए कि मनुष्य आज विश्वास ही नही कर पाता कि इसका कोई बनानेवाला भी था क्या ? कोई भाग्यवान् उसे खोज निकालने के लिए उसके पीछे ही पड जाय तो शायद कभी-कभी उसकी झलक मिलती रहती है जैसे ढकी हुई लजवती स्त्री का कोई भाग कभी भूल से परिलक्षित हो जाय।

जीवन एक जटिल प्रश्न है। इसकी गुत्थी सुलझाने का अवसर एक बार भीष्म पितामह के जीवन मे भी आ पडा। भीष्म दोनो पक्षो की धर्म, अधर्म-ग्राही वृत्तियो से भली प्रकार परिचित थे। धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर का पक्ष धर्मयुक्त एव पूर्ण न्याय-सगत था। दुराग्राही दुर्योधन का असगत्, अन्याययुक्त, क्रूरता से भरा पक्ष था। भीष्म थे धर्मनिष्ठ-धर्मज्ञ। वे दुर्योधन की तरफ थे लेकिन अर्जुन एव युधिष्ठिर के गुण इनके हृदय-पटल पर अकित थे। दुर्योधन किसी की भी—स्त्री हो या पुरुष—लाज हरण करने मे नि शक, क्रूर, निडर एव

दक्ष था। भरी सभा मे रजोधर्मिणी द्रौपदी को उसने पकड बुलाया और उसे निर्वस्त्र करने हेतु यह अनुचित काय अपने छोटे भाई दुशासन को सौपा। भरी सभा, भीष्म भी थे, द्रोण भी उपस्थित थे, उसने चीर-हरण का उपक्रम शुरू कर दिया। वहा श्री हरि ने उसके वस्त्रो के रूप मे प्रकट हो उस अबला सती-साध्वी नारी की इज्जत बचाई। ऐसा ही विकट सकट भीष्म के जीवन मे भी आ उपस्थित हुआ। रणागण मे दुर्योधन ने भीष्म की लाज लेने मे कोई कोर-कसर न रखी। उनको साफ शब्दो मे पक्षपाती कहकर सम्बोधित किया। ऐसे महामना, धर्मनिष्ठ आत्मा को पक्षपाती कहकर उनकी लाज ले ली गई। पक्षपात मे निहित है छल, कपट, असत्यव्यवहार। इन शब्दो से और ज्यादा कटु शब्द उनके ऊपर लांछन लगाने मे हो ही क्या सकते थे?

अर्जुन और युधिष्ठिर जैसे धर्मनिष्ठ नरपुगव जो शैशवकाल मे पितामह की गोद मे खेले थे और आज उसी पितामह को उन्ही के चचेरे भाइयो की बातो द्वारा लाछित किया जा रहा था, कि तुम हमारे सेनापति होकर भी इनको रण मे मार डालने मे पक्षपात कर रहे हो, इससे ज्यादा भयकर और दूसरा सकटकाल भीष्म के जीवन मे दूसरा क्या हो सकता था? उनके सामने एक ही प्रश्न था कि महारथी की हैसियत से उनके धर्म की पूर्ण रक्षा हो जाए। कही भी जाने-अनजाने किसी तरह की खामी न रह जाए और साथ-ही-साथ अर्जुन के प्राणो की रक्षा भी हो जाय। वे अपने कर्त्तव्य को एक ऐसी अचूक कसौटी पर कसकर दिखाना चाहते थे जो कसौटी उनकी शत्-प्रतिशत सच्चाई की साक्षी देने मे समर्थ हो। ऐसी अद्भुत कसौटी सिर्फ महायोगेश्वर श्री हरिकृष्ण को ही प्राप्त थी जिन्होंने युद्ध से पूर्व ही घोषणा की थी कि मै निहत्थे, रथ-सारथी के रूप मे ही रहूगा। अब यदि भीष्म अर्जुन के साथ ऐसा घोर युद्ध करे जिसके रक्षार्थ उस महायोगेश्वर को अपना प्रण छोडकर भीष्म के ऊपर अपना सुदर्शन चलाना पडे तो इससे ज्यादा दूसरी और कसौटी हो ही क्या सकती है? श्रीकृष्ण के सामने एक प्रश्न था—एक तरफ अपना प्रण, दूसरी तरफ अपने दोनो अनन्य भक्तो की रक्षा। यहा कोई भूल से भी यह खयाल न कर ले कि भीष्म से भयभीत होकर श्रीकृष्ण ने प्रण को तोडते हुए रथ के चक्को को सुदर्शन का रूप देकर अर्जुन की रक्षा की थी। हम जरा सोचे, उनकी योग-शक्ति की धारा मे भीष्म जैसे कितने हजारो वीरो को बहने मे क्या देर लगती? जिनके भ्रू भग से सृष्टि का सृजन एव प्रलय हो सकता हो उनके सामने भीष्म की क्या सत्ता थी? यहा श्रीकृष्ण का सुदर्शन

चक्र हाथ मे ले लेना, भीष्म की निष्पक्ष युद्ध-घोषणा मात्र थी। अत रूप कृष्ण सर्वदोषो से विमुक्त थे। यदि गहराई से सोचे तो कृष्ण अवतार साधु-जनो के परित्राण के लिए ही हुआ था। दुष्कृत्यो के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए। यदि इस युद्ध मे दुर्योधन से लेकर भीष्म तक की मृत्यु न होती और पाण्डवो के अस्तित्व की रक्षा न होती तो धर्म की स्थापना कैसे हो पाती तथा धर्म-अधर्म का राज़ भी कैसे खुलता? यही राज़ जीवन का भी राज़ है।

हम तो समझे थे

'हम तो समझे थे'... ऐसा कहते प्राय लोग पाये जाते है। लोगो की इस प्रकार की धारणा कभी-कभी सत्य भी निकल जाती हे किन्तु अधिकतर असत्य ही सिद्ध होती है। इस प्रकार की जिन धारणाओ का एक विशेष आधार होता हे वे तो सत्य निकल जाती है, किन्तु विना आधार की इस प्रकार की धारणाये असत्य ही निकलती हे। ऐसी गलत धारणाए निरर्थक एव कभी-कभी तो वेहद घातक सावित होती है। मानसिक कमजोरियो के फलस्वरूप मनुष्य प्राय इनका शिकार बना रहता है। कुछ उदाहरणो द्वारा हम अपनी वात स्पष्ट करे।

एक समय की वात हे कि मेरे एक मित्र ने कहा, 'भाई, मैं अमुक दिन तुम्हारे यहा आ गया था, किन्तु तुम्हे न पाकर वापस लौट आया।' मैंने उत्तर दिया, 'मैं तो उस दिन कही गया नही, घर पर ही था।' वे कहने लगे, 'गैरेज मे तुम्हारी गाडी न देखकर मै तो समझा था कि तुम वाहर चले गये होगे।' मैने उत्तर दिया, 'उस गाडी मे क्या कोई दूसरा नही जा सकता था ? मेरे दरवाजे

पर दस्तक् तो दी होती, पूछ-ताछ तो की होती।' लेकिन मनुष्य इतना कष्ट उठाने को तैयार नही।

आज मनुष्य अपनी धारणाओ का गुलाम बन चुका है। ऐसी धारणायें मिथ्या शका एव असयत मन की अवस्था से उत्पन्न होती हैं। किसी भी धारणा को हृदय मे स्थान देने के पहले: उसका आधार भली-भाति टटोल लिया जाय तो हम अनेको अनर्थों से अपने को बचा सकते हैं। जैसे कोई स्त्री अपने घर के दरवाजे पर खडी किसी दिशा मे देख रही थी। उसी दिशा से आने वाला एक व्यक्ति उसे देखकर—अथवा किसी अन्य कारणवश—ठिठक गया। वह मनुष्य अभी तक उस स्त्री की दृष्टि मे प्रवेश नही कर पाया था कि इतने मे उसके किसी सम्बन्धी ने यह दृश्य देख लिया एवं उस स्त्री के प्रति गलत धारणा बैठा ली। यह मिथ्या धारणा आगे चलकर कितना भयकर रूप ले सकती है इसका अन्दाज साधारणत मनुष्य नहीं लगा सकता। कलकत्ते की एक सत्य घटना है। एक व्यक्ति फुटपाथ पर चला जा रहा था कि केले के छिलके पर पैर पडने से फिसल कर गिर गया। अपनी छत पर से एक स्त्री इधर-उधर झाक रही थी। उसका ध्यान गिरे हुए पथिक की तरफ चला गया और वह हस पडी। पथिक की दृष्टि भी उधर चली गई। स्त्री को अपने ऊपर हसता देख, वह अपनी झिझक मिटाने के लिए फीके ढग से मुस्करा पडा। इसी समय उस स्त्री का पति वहा आ निकला। पथिक तो अपने रास्ते चला गया। आशका से अभिभूत होकर आव देखा न ताव, और उस व्यक्ति ने अपनी स्त्री की हत्या कर दी। क्योकि वह तो समझा था कि... ।

इसी तरह की एक घटना और है। एक गृहस्थन ने एक नेवला पाल रक्खा था। एक दिन उस घर के सभी सदस्य कार्यवश बाहर चले गये थे। उस गृहस्थ का नवजात शिशु एक कमरे मे सोया हुआ था। कही से एक सर्प आ निकला और बच्चे को डसने के लिए बढने लगा। नेवले ने ज्योही साप को देखा, त्योही वह उस पर टूट पडा तथा साप का काम तमाम करके आगन मे खेलता रहा। जब गृहपति लौटा तो सबसे पहले उसकी नजर नेवले पर पडी। नेवले के मुह मे खून देख वह समझ बैठा कि नेवले ने मेरे पुत्र का हनन कर दिया है अत उसने उसे तुरन्त मार डाला। शयन-गृह मे प्रवेश करने पर गृहपति ने बच्चे को सोया हुये पाया तथा चारपाई के पास एक मृतक सर्प भी देखा। उसे सारा रहस्य समझने मे देर नही लगी। तथा वह

पश्चाताप कर रोने लगा ।

इस प्रकार की अनेक घटनाये होती रहती है । अक्सर हम इस प्रकार की गलत धारणाये वना लेते हैं, जिनके द्वारा पिता-पुत्र का, भाई-भाई का, मित्र-मित्र का सम्वन्ध विच्छेद हुए विना नही रहता । यदि मनुष्य कोई धारणा वनानेके पूर्व उसकी तह मे चला जाय और छान-वीन करने पर जो तथ्य नजर मेआए उस पर निर्धारित धारणानुसार व्यवहार करे, तो गलती नही होती तथा वह कई अनर्थों से वच सकता है । शकाओ पर निर्धारित धारणाये डगमगाने वाली होती हैं । शका का अर्थ ही है अनिश्चितता । शकाओ का अस्तित्व सवल नही होता ।

वगाल के एक वहुत वडे जमीदार थे महाराजा कृष्णचन्द्र । उनके दरवार मे मनोरजनार्थ गोपाल नाम का एक भाट था । उमसे हसी-मजाक होता रहता था लेकिन वह हसी-मजाक भी सदा सार-गर्भित होता था । एक वार महाराज कह उठे, 'अरे गोपाल, क्या आखो देखी वात भी असत्य हो सकती है ?' गोपाल ने उत्तर मे कहा, 'अवश्य हो सकती, महाराज ।' वात आई-गई हो गई । एक रात्रि को नाच गाने की महफिल जमी हुई थी । राजा एव रानी भी शामिल थे । रात्रि अधिक होने से रानी की आखें नीद से वोझिल होने लगी । वह शयनागार मे चली गई और अपने पलग के निश्चित पार्श्व मे जाकर सो गई । कुछ काल पश्चात् राजा भी आये तथा पलग पर दूसरे पार्श्व मे वूढे फर्राश को सोते देख तिलमिला गए और अत्यन्त क्रुद्ध हो उसे मार भगाया । दूसरे दिन दरवार हुआ । राजा ने सारा वृत्तान्त गोपाल को कह सुनाया । गोपाल वोल उठा, 'इस घटना को आप सत्य मानेंगे, महाराज, क्योकि आपने इसे स्वय अपनी आखो से देखा है । लेकिन इसमे कुछ राज छिपा है, और मेरा विश्वास है कि ये दोनो ही निर्दोष है । 'प्रश्न करने पर रानी ने वताया, 'नीद से अभिभूत मे पलग पर उसी पार्श्व मे सो गई जहा सदा सोया करती थी ।' फर्राश को वुलाया गया । उसने कहा, 'शाम के समय जव मैं शयनागार मे सेज को सजा रहा था तो मेरे मन मे आया कि मै इतना वूढा हो चला हू परन्तु एक वार भी मैंने इस सेज का आनन्द अनुभव नही किया । एतदर्थ मे उस पर लेट गया । मेरी आख लग गई तथा मै गहरी नीद मे सो गया । महाराज के जगाने पर मे वडा लज्जित हुआ । महारानी मेरी पूज्या माता ह । उनकी ओर दोप दृष्टि से देखने की मै कल्पना भी नही कर सकता ।' दोनो की पूरी वात सुनकर गोपाल वोल उठा, 'देखा महराज, आखो

देखी बात भी झूठ हो सकती है ।' महाराज ने कहा, 'मैं तो समझा था कि ....।'

मेरे जीवन मे भी इस प्रकार की अनेक घटनाये घटित हुई है। जो व्यक्ति मेरी दृष्टि मे ६६ प्रतिशत दोषी ठहरा हुआ था वह नितान्त निर्दोषी साबित हुआ । मै एक बार कलकत्ते जा रहा था । मेरे सूटकेस मे मेरे पुत्र ने खर्च के लिए थोडे-से रुपये रख दिये थे । मेरे साथ दो नौकर थे और मेरा सूटकेस उन्ही के हाथ मे था । कलकत्ते पहुचकर मुझे रुपयो की जरूरत पडी । कपडो को उलट-पुलटकर देखा लेकिन रुपये नही मिले । शक होना वाजिब था कि रुपये नौकरो ने ही निकाले है, लेकिन मैने उनसे कुछ कहा नही और बात आई-गई हो गई । कुछ काल पश्चात् फिर मुझे कलकत्ता जाना पडा । अभी सूटकेस मे मेरे कपडे फिर सजाये गये, किन्तु ऐसा करने के पहले सफाई के लिहाज से तले पर विछाया हुआ कागज भी उठाया गया । नोट वहा पडे हुए थे और उन्हे देख कर मेरे पश्चाताप का ठिकाना न रहा क्योकि 'हम तो समझे थे कि. ।' इसी प्रकार की घटना १९६२ मे रामवन, सतना मे घट गई । जब मै घर लौटा और बच्चो ने मेरा ट्रक खाली किया तो एक रकम, जिसे मैं खोई मान बैठा था, अक्षुण्ण मिल गई ।

उपरोक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैं तो समझा था इस प्रकार की गलत धारणाये कितनी विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देती हे ।

यह स्मरणीय हे कि जो दोषी आत्म-निरीक्षण के अभ्यस्त नही होते वे बडे ही दुराग्रही, हठी व उग्र स्वभाव वाले वन जाते हैं। उनके ऊपर नियत्रण ढीला कर दो तो वे वडे निश्शक, उद्दण्ड, प्रतिशोधी एव क्रूर हो जाते हैं। घोडे लगाम मे रहना पसन्द नही करते । वे तो यह समझते नही कि यह लगाम उनके जीवन के रक्षार्थ ही है । उनकी लगाम ढीली कर देने पर वे बेतहाशा छूट भागते है और कही-न-कही गड्ढा मे गिरकर गहरी चोट खाये बिना नही रहते । फिर उनका जीवन भार रूप हो जाता है । किसी को दोषी ठहराने के पहले छान-बीन करना आवश्यक है । क्योकि निर्दोषी को वडी आत्म-पीडा होती है किन्तु दोपी को नही होती क्योकि वह आत्म-निरीक्षण के अभाव मे और अधिक दोप अपनाता चला जाता हे । एक दिन वह मृत्यु का शिकार हुए विना नही रहता । मनुष्य को सदा धैर्य से काम लेना चाहिए । धैर्य सद्गुणो का शिरोमणि है, इसका उपासक सदा सुखी बना रहता है ।

प्रान्तीयता का अग्निकुण्ड

इतिहास के पृष्ठों से ऐसा अनुमान लगता है कि समान संस्कृति, समान भाषा वाले मनुष्यों ने शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न अपने-अपने राष्ट्र बना लिए। मानव अपनी रक्षा के लिए सदा सतर्क बना रहता है। उसका जीवन ही उसकी अपनी रक्षा पर निर्भर करता है। जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता वह जीने का हकदार नहीं तथा अपने से अधिक बलवान का वह भोज्य बनजाता है। यह नियम जड़ और चेतन सभी में परिलक्षित होता रहता है। हम चाहे इसे विकासवाद कहें या "Survival of the fittest" कहें। जो जातिया जहाँ थीं उन्होंने वहा अपने राष्ट्र जमा लिए तथा जब रजोगुण सपृक्त काम, क्रोध, लोभ वृत्तियाँ जोर से सक्रिय होने लगीं, तब हर एक ने अपनी-अपनी शारिरिक, मानसिक, बौद्धिक शक्तियों के अनुपात में एक दूसरे को धर दबोचना चाहा और ऐसा ही हुआ भी।

मनुष्य अपने कामुक वृत्तियों की तुष्टि के साधनों में न्याय-अन्याय के पक्ष को नजर अन्दाज कर देता है, और अपने कुकृत्यों पर न्याय का चोगा पहनाने

के लिए एक ऐसे परिधान की खोज मे रहता है जिसके द्वारा वह अपने कुकृत्यो को सहृदयता का रूप दे सके। इसका नाम है बलवान द्वारा बलहीन की रक्षा। सुयोग्य ही तो अयोग्य की रक्षा कर सकेगा, शिक्षित ही तो अशिक्षित को पढा सकेगा। अपने पैर पर खडा हुआ ही तो बच्चे को चलना सिखा सकेगा। इसी तरह की भावनाएँ विजेताओ के हृदय मे काम करती रहती है। विजेता सदा ही बुरे होते हे। सो बात भी नही हे। वे अपनी कुछ अच्छाइयाँ भी विजित को दे चलते है।

ससार मे कितनी भी भापाएँ बनी, उनका मूल उत्पति-स्थान एक ही था या अनेक, कुछ कहने मे आता नही, किन्तु ये भापाएँ आपस मे इतनी एक-दूसरे से भिन्न है कि एक-दूसरे को कुछ समझ मे आ नही सकता। समझने की बात तो दूर रही, एक-दूसरे की भापा का उच्चारण तक नही किया जा सकता। अपनी भापा को छोडकर दूसरे की भाषा का ज्ञान प्राप्त करने मे सर्वप्रथम बडी कठिनाई होती हे और चाहे वह आगे चलकर क्यो न उसका धुरन्धर विद्वान ही बन जाय, किन्तु इतना होने पर भी उसकी ममता अपनी भापा से कम नही हो पाती। इसका विशेष कारण है।

भापा बनती हे भाव से। मनुष्य अपने भावो को भापा के अभाव मे सकेतो द्वारा ही तो प्रकट करता था। जो एक-दूसरे के सकेतो को समझने लगते थे वे आपम मे नजदीक आ जाते थे। सकेतो की प्रतिक्रिया का प्रेरक मन ही तो है और ज्यो-ज्यो मानसिक, बौद्धिक स्तरो का निर्माण होता चला गया, इच्छाओ, भावनाओ का विस्फोट हुआ। ये भावनाएँ स्थूल या सूक्ष्म जगत की होती थी और जब प्रकृति इन स्थूल सकेतो से अपना काम न चला सकी तो वाक् शक्ति का विकास हुआ। किन्तु, अन्दर से उठने वाला शब्द तो एक है, बस उसके अनेक रूप कण्ठ और ओष्ठ रूपी आकाश मे ही तो उदय होते है जो कि एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते है। समानता न बोली मे, न रूप मे। बहुत-सी ऐसी भापाएँ है जो थोडे ही अक्षरो से काम चला लेती हे और किसी-किसी भाषा मे तो इतने अक्षर होते है जिनका हम उच्चारण तक नही कर सकते और प्रयत्न करने पर भी पूर्णता नही ला सकते।

एक देशवासी दूसरे देशवासियो के समान नही होते है। एक देशवासी अपने देशवासी को पहचानने मे इतनी कठिनाई प्रतीत नही करता जितनी कि एक देशवासी दूसरे देशवासी को पहचानने मे। इसलिए भापा व भाव मे

और वहाँ के लोगो से मिलते है तो उनमे वही भावना मिलती है जिन भावनाओं से प्रेरित होकर हम वहाँ जाते है। वे लोग हमारी तरफ के तीर्थ-स्थानो मे आने के लिए हमारे ही जैसी भावनाओ से प्रेरित पाये जाते है। एक बार लेखक जगन्नाथपुरी गया, वहाँ कई गण्यमान्य व्यक्तियो के सम्पर्क मे आना पड़ा। एक दफा बात-ही-बात मे मैं कहने लगा कि आप लोगो के भाग्य की क्या बात है, हम लोग हजारो मील का सफर तय करके, हजारो रुपये खर्च कर इस पुरी के दर्शन कर पाते हैं और सो भी बहुत ही अल्प समय तक जब कि आप लोगो को यह पुण्यभूमि जन्म से ही प्राप्त है। उत्तर मिला—निःसन्देह हमारी भूमि पुण्य लोक है किन्तु जीवन की सफलता तो अन्य तीर्थों के करने पर ही मिलेगी और सब तीर्थों का साक्षी आप ही की पुण्य भूमि मे स्थित है, जहाँ ब्रह्मा का मन्दिर भी मौजूद है। वहाँ मैं ही अकेला यात्री नही था, हजारो यात्री हजारो कोसो दूर विभिन्न प्रदेशो से चलकर आए थे। इन यात्रियो के हृदय मे पुरी उडियाओ की है ऐसी तनिक सी भी भावना नही पाई गई बल्कि उन सब के मन मे एक ही भावना थी कि यह पुण्य भूमि हमारी ही है। जब पण्डो से भेंट हुई तो देशान्तर का ख्याल काफूर हुआ सो तो हुआ, जब उन्होंने हमारे पिता-पिता- मह, प्रपितामह के हाथ की लिखी हुई लिखावट दिखाई तो हम उन लिपियो मे अपने पूर्वजो के दर्शन पाने लगे। यह दूसरी बात है कि आज की पण्डा वृत्ति मे पहले की पण्डावृत्ति से कुछ अन्तर आ गया हो किन्तु वृत्तियाँ तो प्राय सभी की नष्ट प्राय और कुवृत्तियाँ हो चली है, फिर उन्ही का क्या दोप। इन वृत्तियो मे ऐसी बात तो है नही कि किसी व्यक्ति विशेप को ही घरदबाया हो, वरन् शनै शनै असर सभी पर समान रूप से हो रहा है। एक स्थान का गठित अग दूसरे स्थान के अग को प्रभावित किए बिना नही रहता है। इसलिए स्थानान्तर के दोप से भले ही इन पण्डो को हम हीन वृत्ति वाले कहें लेकिन उनकी सेवा की उपादेयता भी विशेप महत्त्व रखती है।

आनन्द की बात तो यह है कि गगोत्री का गगाजल ले जाकर हम दक्षिण हैं रामेश्वर मे चढाते हैं और रामेश्वर की बालू उत्तर मे ले जाकर गगोत्री मे डालते है। एक दफा मैं श्राद्ध करने हेतु पितृपक्ष मे गयाजी गया था। मैं तो यह समझे हुए था कि हम राजस्थानो व उत्तर प्रदेशीय लोगो के लिए ही गयाजी मे श्राद्ध करना उत्तम है तथा उससे पित्रो को शान्ति मिलती है। हम लोग तो वही के पण्डो से श्राद्ध-कर्म की क्रिया करा लेते है। जब

हम नदी पर पहुँचे तो अक्ल चकरा गई कि वहाँ तो भिन्न-भिन्न प्रदेशो के तथा भिन्न-भिन्न समाजो के आदमी एकत्र है । दक्षिण भारतीय तो अपने स्थानीय पण्डितो तक को साथ लिए हुए थे । उनकी श्रद्धा को देखते हुए हमारी श्रद्धा और भी मजबूत हो गई । कोई ऐसा प्रान्त बाकी न था जहाँ से आए हुए यात्रियो के दर्शन न हो रहे हो । उनसे बातचीत करने के दौरान, कि ये इतनी दूर से अपने साथ पण्डितो को क्यो लाए, जबकि यहाँ पण्डित श्राद्ध कर्म के लिए आसानी से मिल जाते है, उत्तर यही मिला कि हमारे यहाँ के पण्डितो जैसा वेदोच्चारण इन पण्डितो का नही हो सकता ।

सन् १९६६ मे जब मैं हरिद्वार गया तो वहाँ भी सारे ही प्रान्तो के यात्रियो के दर्शन करने को मिले । १९६६ के जनवरी माह मे मैं कुम्भ मेले पर जब इलाहाबाद गया तो काशी तथा अयोध्या भी गया । तीनो जगह वही भीड का नजारा । देखिये तो, प्रत्येक भारतवासी के हृदय-पटल पर तीर्थ-पर्यटन करते समय प्रान्तीयता की द्वेषपूर्ण भावना ऐसी काफूर हो जाती है जैसे हवा मे रखा हुआ कर्पूर । तपस्वीनी गगा का हृदय भी देखते ही बनता है । उस मिलन मे भावो के समन्वय के परिपेक्ष्य मे भाषा का अवरोध टिक नही पाता । भाषा भावो की वाहिनी मात्र ही तो है ।

सही अर्थों मे देखा जाए तो हमारे तीर्थ-स्थान देश के चारो कोनो को एक सूत्र मे पिरोने का अति उत्तम साधन हैं । यह पिरोना क्या है, भारतीय सस्कृति को अक्षण्ण बनाये रखना है । धन्य है उन ऋषियो की दूर दर्शिता को कि भारत पर ढाई हजार वर्षों तक यवन आक्रमणो के उपरान्त भी इस लडी मे तनिक भी लचक नही आने दी ।

आज यही के निवासी प्रान्तीयता की झूठी लडाई लडकर इस लडी को तोड देने का प्रयास करे तो आगे चलकर इसका परिणाम कितना भयकर होगा, इसकी कल्पना तक नही की जा सकती ।

आज के द्रुतगामी यानो की उपलब्धि से यात्रा की कठिनाइयाँ अब इतनी तीक्ष्ण प्रतीत नही होती है जब कि उस जमाने की यात्राएँ कितनी दुष्कर थी । यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि इन यानो के अभाव मे भी मनुष्य किस भावना से प्रेरित होकर तीर्थाटन को निकल पडता था और उसकी इस पवित्र भावना का उद्गम स्रोत क्या था ? ये स्रोत थे—वेदान्त, पुराण, भागवत् महाभारत, गीता आदि । एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक चले जाइये, किसी भी हिन्दू धर्मावलम्बी के हृदय मे गौ का स्थान माता के समान

ही मिलेगा। गौ के अन्दर मातृ-भावना हिन्दू समाज के सगठन मे बहुत काम कर रही है। गौ माता भारतीय सस्कृति की प्रतीक है।

सारे भारतवर्ष मे बच्चो के नाम हिन्दू देवी-देवताओ के नाम पर ही रक्खे जाते है। नामकरण सस्कार के समय किसी के दिमाग मे यह पिशाच ढुकता ही नही कि कृष्ण वृन्दावन मे हुए, राम अयोध्या मे, शकर कैलाश पर्वत पर, हनुमान दक्षिण मे तो हुए इस प्रान्त के रहने वाले दूसरे प्रान्त के देवताओ का नाम क्यो रखे ? जब सारे प्रान्तवासियो को देवताओ के नाम की सार्वभौमिकता मान्य है तब छोटे से हित के लिए और वह भी नगण्य, अपनी मातृभूमि की सार्वभौमिकता खो बैठना क्या हास्यास्पद नही है, हेय नहीं है ? एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त मे जाकर यदि उन्नति कर लेता है तो स्थानीय निवासियो को प्रसन्नता होनी चाहिए और पहले हुआ भी करती थी कि चलो इनके आने से हमारा प्रान्त तो उन्नत हुआ। राष्ट्र तो वह यान है जिसमे सभी लद,कर चलते है, जड चेतन का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। यान के चार भाग होते है—यान कका ढांचा जिसे रथ या गाडी कहते हैं यान को गति देने वाले घोडे, बैल या इजिन, इन घोडो को सही मार्ग निर्देशन कराने वाले को सारथी कहते हैं। इजिन या घोडे जितने अधिक मजदूत होगे उतनी ही यान को गति मिलेगी। अब आवश्यक यह होता हैं कि यान के इन चारो भागो मे पूर्ण समन्वय बना रहे। राष्ट्र भी एक रथ या यान के समान है। राज्य के कर्मचारी रथ का ढाँचा, कानून, कायदे इस रथ के घोडे तथा व्यापारी वर्ग सारथी और जनता है रथी।

विधान बनाने वालो का चुनाव जनता करती है जो आगे चलकर विभिन्न प्रकार के विधान, कानून, कायदे लागू करते है। कानून के सचालनार्थ प्रशासकीय अधिकारियो को चुना जाता है। कृषक, व्यापारी और उद्योगपति उस राष्ट्र रूपी रथ को सचालित करने मे योग प्रदान करते है। यह उस रथ की शक्ति है—और इस शक्ति से खिलवाड करने का मतलब होगा इस शक्ति का ह्रास, पारस्पिरिक समन्वय, सौहार्द्र की भावना का विकेन्द्रीयकरण।

आज के युग मे हम इस प्रान्तीयता के जहर को अच्छी तरह देख-सुन रहे हैं। सभी प्रान्तो मे आज प्रान्तीयता की भावना उग्ररूप धारण किए हुए है और वहाँ के निवासियो का नारा यही हो गया है कि अमुक प्रान्त उन्ही का निज का प्रान्त है। वे अपने इस प्रान्त को राष्ट्र की इकाई के रूप मे प्राय भूल-सा गए हैं। इस प्रान्तीयता का ज्वालामुखी मुंह बाये खडा है जो न जाने कब आग उगल दे, कल्पना नही की जा सकती।

यह विवादास्पद है। शकुन से सम्बन्धित थोड़ी-सी बाते नीचे दी जा रही है—

यात्रा करते समय किसी का टोकना, टोकने पर यात्रा न करना अच्छा होता है। इसके विपरीत प्राय दुखद घटनाए घटते देखी गई है। यात्रा मे छीक का होना अच्छा नही माना जाता। परसी हुई थाली को छोडकर, परिस्थितिवश किसी कार्य के लिये चले जाना अच्छा नही होता। पैर के तलुओ मे खुजली का आना यात्रा करने का सूचक है। पुरुष के लिए दायें-बाये अगो का फडकना शुभ-अशुभ का सूचक है, इसके विपरीत स्त्री के लिए होता है। यात्रा आरभ करने के बाद खर (गदहा) का बाये आना, गाय का दाये आना, सामने से काले नाग का आना, मुर्दे का आना शुभ माना जाता है। लेकिन कोई भी शकुन अपवाद से खाली नही।

शकुनो की मान्यता Law of Average पर बहुत कुछ निर्भर करती है। फलित ज्योतिष भी इस नियम पर ही आधारित है, किन्तु उसमे सार्वभौमिक सत्य नही रहता ? सब देशो मे एक ही प्रकार के शकुन नही माने जाते। इसलिए इनकी सार्वभौमिकता सिद्ध नही हो सकती, यह जातिगत सस्कार पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

शुभ और अशुभ स्वप्न आगामी घटनाओ के सूचक होते है। स्वप्न-विज्ञान सिद्धान्त अभी तक सिद्ध नही हो सका है, किन्तु भयकर स्वप्न, यदि मल-मूत्र वेगो से रहित, अर्द्ध रात्रि के पश्चात् देखने मे आयें, तो अशुभ घटनाए घटे बिना नही रहती। इन घटनाओ के घटने मे समय का प्रश्न बना रहता है। सपनो के ऊपर फ्रायड इत्यादि मनोवैज्ञानिको ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु निश्चयात्मक रूप से स्वप्नो का फलित निर्णय हम अभी तक कर नही पाये है। किन्तु हम इनको निरर्थक या मन का विकार मात्र ही मान बैठे तो हमारी अज्ञता का सूचक ही माना जायेगा। कोई व्यक्ति बहुत दिनो से बीमार है, और यदि स्वप्न के अन्दर वह ऐसा कहते मिले कि मैं अब स्वस्थ हो गया हू और स्वस्थ दीखे भी, तो अपवादो को छोडकर प्राय ऐसे मनुष्यो की मृत्यु होते देखी गई है, और यदि मृत्यु नही भी हो तो उस व्यक्ति के साथ दुर्घटना होते अवश्य पाई जाती है।

किसी भी विज्ञान के तथ्यो के बारे मे शतप्रतिशत निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। रात-दिन नये-नये विज्ञानवेत्ता विज्ञान के पुराने सिद्धान्तो को

सत्य

सत्य सदा-सर्वदा मगलम् सुन्दरम् है। यह सूर्य के प्रकाश से भी विशेपतम् प्रखर ज्वाजल्यमान है। प्रकाश को जैसे अन्धकार के आभासमात्र का आरोपण नही हो सकता, उसी प्रकार सत्य मे अनृत को स्थान नही। सूर्य की प्रचण्ड किरणो के सामने बादलो का आवरण आ जाना हमारा नित-प्रतिदिन का अनुभव है और उन किरणो की प्रचण्डता से हमे राहत मिलती हुई नजर आती है। हम ऐसा समझ बैठते है मानो उन बादलो के आवरण ने उस प्रचण्डना को निगल डाला हो किन्तु थोडे समय के बाद वे प्रचण्ड किरणे उन बादलो की खील-खील उडाये विना नही रहती और फिर तो उनके अस्तित्व तक का पता नही चलता।

ठीक इसी प्रकार आर्य सस्कृति से प्रसूत पाश्चात्य मभ्यता की छाया से अभिभूत, उसके प्रति प्रवंणशील भ्रमितबुद्धि वाला आज का मनुष्य सत्य के शाश्वत मूल्य पर अपनी आस्था खो बैठा है। उसकी ऐसी धारणा बन गई है कि सत्य का कोई शाश्वत अस्तित्व नही है अपितु देश-देशान्तरो मे प्रचलित

विभिन्न प्रकार के धर्म और मत-मतान्तरो की भाति सत्य की कल्पना की भित्ति पर सामाजिक एव देश-देशान्तरो के पारस्परिक विस्तृत व्यापार-व्यवसाय की व्यवस्था को सुचारू रूप से सचालित करने के निमित्त और नियमो की भाति सत्य रूपी एक नियम का भी निर्माण हुआ है। इससे विशेप इसका कोई अन्य प्रयोजन नही है।

किन्तु वह इस बात से अनभिज्ञ है कि ऐसा वह अपने प्राकृतिक मन की दुर्बलता के कारण सोचता है, उसके ऐसा सोचने से इस सत्य रूपी प्रकाश के ऊपर अनृत का आवरण आरोपण हुये बिना नही रहता। थोडे समय तक तो इस आवरण का बोलबाला अवश्य प्रतीत होता है जो कि मनुष्य मात्र को गुमराह किये बिना नही रहता, किन्तु सत्य की ज्वाजल्यमान किरणे इस अनृत के पर्दे को सहने मे असमर्थ हो उठती है या यो कहिये कि इसे भी खील-खील उडाये बिना नही रहती। और यह तो हम अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी देखते हैं कि हर समय हर बात मे सत्य की दुहाई दी जाती है, और थोडी देर के लिये मान लिया जाये कि यदि हम सत्य को तिलांजलि दे भी दे तो समाज और देश की व्यवस्था को बिगडते देर न लगे, फिर तो इसकी कुत्ते भी खीर न खाये। पर इतना होते हुये भी असत्य का साम्राज्य कम मजबूती लिये हुये नही दीख पडता है।

वास्तव मे ससार के समस्त व्यापार की आधार-शिला केवल एक सत्य है। इसमे जितने भी दैहिक, दैविक एव भौतिक क्लेप परिलक्षित हो रहे है, जिनमे मनुष्य उलझकर निरन्तर सिसकता रहता है, उन क्लेपो का प्रधान कारण केवल मात्र सत्य का नितान्त अभाव है। छल, कपट, घृणा, राग, द्वेप, ईर्ष्या, प्रवचना, प्रतिशोध, इत्यादि इन सब का उत्स है सत्य की अवहेलना। किन्तु इतना होने पर भी असत्य सत्य को निगल नही सका। उसे अभिभूत भले ही करले किन्तु सत्य का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। जैसे रज और तम सत को अभिभूत कर अपना ताण्डव शुरू कर देते है, जो कि रसातल का पथानुगामी बने बिना नही रहता। इतना होने पर भी सत झाकता रहता है, उसका अस्तित्व लोप नही होता, इसी प्रकार असत्य सत्य को छू नही सकता, उसकी हस्ती को मिटा देना तो दूर की बात है। केवल असत्य की छाया सत्य के प्रकाश को धूमिल भले ही कर दे। जैसा कि सब लोग कहते है और पचागो मे भी लिखा रहता है कि चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, फला दिन लगेगा। सूर्य, चन्द्र को ग्रहण से छुडाने के लिये लोग भजन-कीर्तन-

यज्ञ इत्यादि भी करते है पर उनको यह पता नही कि ग्रहण सूर्य चन्द्र को स्पर्श नही कर सकता, न निकट जा सकता है, यह केवल व्यवहार-निर्वाह करने की भाषा है ।

विचारे मनुष्य का तो कहना ही क्या है असत्य की चपेट मे आकर बडे-बडे साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये । महाभारत जैसे भयकर महायुद्ध के सूत्रपात का कारण था असत्य व्यवहार । किन्तु अन्त मे जय हुई सत्य की । आज भी ससार अविश्वास, अशान्ति के आवर्त्त (भवर) मे चक्रान्वित हो रहा है और मरणासन्न की भाति उच्च उच्छ्वास ले रहा है, जिसका मूल कारण है असत्य व्यवहार, सत्य का पद्दलन ।

प्रारम्भिक अवस्था मे तो मनुष्य को निश्चय ही असत्य लाभावित दिखाई पडता है किन्तु जव उसका लाभ अनृत की चोटी पर अवलम्बित सत्य की प्रक्रिया के कारण खण्ड-खण्ड अवस्था को प्राप्त होता है तो वह तिलमिलाए बिना नही रहता । जैसे बाजीगर के आम्रवृक्ष की भाति अनृत से प्राप्त वस्तु का कोई अस्तित्व नही, उसी तरह वे दोनो विनाश को प्राप्त हुये बिना नही रहते । बाजीगर के तमाशो की समाप्ति पर हमे खेद नही होता क्योकि पहले से ही हमे ज्ञात रहता है कि यह इन्द्रजाल है, क्षणिक है, अस्तित्वहीन है । किन्तु अनृत के अस्तित्व को सत्य मानकर उसके ऊपर हम अपनी इमारत बना लेते हैं, हम उसके विनष्ट होने के कारण खेद के शिकार हुये बिना नही रहते ।

सूर्य की भाति सत्य स्वय प्रकाशमान है । सत्य के उद्घाटन पर विचारा असत्य क्या कर सकता है । सत्य केवल सत्य की कसौटी पर ही सिद्ध हो सकता है । सत्य का दर्शन केवल व्यवहार मे सिद्ध होता है । यह विश्व प्रसूत हुआ है ऋत और सत्य से । कारण कार्य मे प्रविष्ट हो जाता है, फिर उसके साक्षात् दर्शन 'नही होते' जैसे घट मे मिट्टी का नैसर्गिक रूप नही दिखाई पडता, घट से मिट्टी के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है ।

आजकल शिक्षणालयो मे जो अशान्ति मची हुई है उसका भी मुख्य कारण शिष्य और शिक्षक के बीच मे असत्य व्यवहार है । आज का शिक्षक अपने शिष्यो के प्रति अपना दायित्व खो बैठा है । यही कारण है कि शिष्य भी शिक्षक के प्रति श्रद्धा भाव खो बैठे है । इसी के कारण तो शिष्य को शिक्षक पर प्रहार करने मे तनिक भी झिझक नही होती । असत्य का अस्तित्व है

रजोगुण और तमोगुण के अन्दर। आज का शिक्षक तमोगुणी हो चला है, फलत उसके शिष्य भी तमोगुणी हो चले है। इस तमोगुण के ताण्डव का तभी शमन होगा जवकि सत्य के प्रकाश मे शिक्षक अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत बन जाये। जिन शिक्षको के हाथो मे हजारो-हजारो विद्यार्थियो का जीवन निर्माण सौप दिया जाता है, यदि वे अपने धर्म से विमुख हो चले और फलत शिष्यगण वागडोर से छूटे हुये पशुओ की भाति इधर-उधर लक्ष्यहीन भटकते फिरे और किसी राजनैतिक नेता के शिकार बन जाये और उग्र हो चले और उन पर नियन्त्रण की वागडोर कसने का प्रयत्न किया जाय, तो उसके प्रतिकार रूप मे वे कुछ हिंसात्मक कार्य-कलापो मे जुट जाय तो इसमे विद्यार्थी गणो का क्या दोष ? इनके जीवन से कोई खिलवाड करे और वे चुपचाप इस अत्याचार को सहन करते रहे और फिर भी शिक्षको के प्रति सहानुभूति की दुहाई दी जाये ! इन सब क्रिया-कलापो का जो फल हो सकता है वह आज दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस सब का कारण है केवल सत्य की अवहेलना और सत्य की आड मे असत्य का पृष्टपोषण। यह सभी बाते समाज एव राष्ट्र के लिये घातक है। तथा रसातल मे ले जाने वाली है।

इन सब कथनो के आधार पर अब यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक ही है कि सत्य और सतोगुण के प्रकाश मे असत्य का साम्राज्य क्यो बना रहता है ? असत्य का बल है लोभ, और लोभ के चट्टे-बट्टे है काम, क्रोध, राग, द्वेष, मद, 'मात्सर्य, घृणा, प्रतिशोध,' इत्यादि-इत्यादि। ये दुर्गुण रजोगुण तमोगुण धर्मा है। रज, तम, सत—इन तीनो गुणो की कार्यरूपी इस सृष्टि मे इन तीनो गुणो का आपस मे चढाव-घटाव बना रहेगा। बुद्धिजीवी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रज और तम के वशीभूत न होकर इनको अभिभूत कर अपना लक्ष्य निर्दिष्ट करे।

यह रेखागणित का सिद्धान्त है कि किसी भी त्रिकोण की दो भुजाए तीसरी भुजा से बडी होती है। यही बात लागू होती है इन तीनो गुणो के त्रिकोण पर। जब तम और रज भुजाएँ मिल जाती है तो ये स्वभावत सत की भुजा से प्रबल हो जाती हे। फलत सतोगुण इनसे अभिभूत हो जाता है। लोभ का साम्राज्य बहुत व्यापक है। चोर, डाकू, गिरहकट, ढोगी लोभ के वशीभूत होकर अपने कुकृत्यो मे रत रहते है। इन्हे लाभ होता है किन्तु इनका यह लाभ अपने शिकारी के खून से लिसा रहता है। फलत इनका जीवन-

नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। असत्य व्यवहार से कर्ता को सिद्धि तो तुरन्त मिलती है किन्तु यह न स्थायी रहती है न उसको फलीभूत होती है वरन् उसे यह ले डूबती है।

सत्य किसी देश कालावच्छिन्न विशेष धर्म के सदृश कोई नैतिक विशेष धर्म नही है। भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न विशेष धर्म पाये जाते है। एक धर्म के अन्दर अपनी सगी बहन को छोडकर चाचा ताऊ इत्यादि की कन्याओ से विवाह करना विहित माना गया है। जबकि हमारे यहाँ ऐसे विवाहो की कल्पना भी नही की जा सकती, यहाँ तक कि सगोत्र के अन्दर भी विवाह सम्पादन नही हो सकता। विभिन्न मत-मतान्तरो मे उपासना की विविध विधियाँ है। यह उन मतो के विशेष धर्म हैं। यह सामान्य निरविशेष धर्म एव दिक्-कालातीत धर्म नही जो कि सारे मत-मतान्तरो मे एक से हैं, कोई भी मत इसका विरोध नही करता। सत्य इसी कोटि का धर्म है। यह किसी परिस्थिति वश बदलता नही है। जल सभी जगह ठण्डा पाया जाता है, प्रकाश का रूप भी एकसा बना रहता है। इसी प्रकार यह सत्य शाश्वत है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। इसको शरीर से 'काम मे लाना शारीरिक सत्य है।' वाणी से कहना वाणी का सत्य है और विचार मे लाना मन का सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थ रूप से करना चाहिये वही सत्य है अर्थात कर्त्तव्य ही सत्य है।

अहिंसा और सत्य एक साथ रहने वाले है। अहिंसा के विना सत्य की प्रतिष्ठा नही हो सकती। सब प्रकार की हिंसा का नितान्त निवारण ही सत्य के प्रतिष्ठान के लिये पृष्ठभूमि है।

हिंसा का पुट लिये सत्य, सत्य नही है। किन्तु असत्य बोलकर यदि किसी निरीह निर्दोष अबला अथवा किसी की भी डाकू इत्यादि से रक्षा हो सकती है तो वह असत्य, असत्य की कोटि मे नही आता क्योकि उस असत्य ने अहिंसा की रक्षा की है। हिसात्मक कार्यों मे सत्य कभी प्रतिष्ठित नही हो सकता। जहाँ कहीं भी हमारे द्वारा दूसरे की हिंसा हो, उस पर किसी भी प्रकार का आघात हो—शारिरीक, मानसिक, आध्यात्मिक—तो वह आघात हिंसा है और जहाँ हिंसा का ताडव है वहाँ सत्य का क्या लेना-देना!

हिंसा दो प्रकार की होती है—एक दैवी, दूसरी आसुरी। कृष्ण के जीवन मे जितने भी हिंसात्मक कार्य परिलक्षित होते हैं वे सब दैवी हिंसा की कोटि

मे आते है। दैवी हिंसा के द्वारा आसुरी वृत्तियों का दमन किया जाता है। दैवी हिंसा का प्रयोग किया जाता है साधुओं के परित्राण के लिये अर्थात् उद्धार के लिये और 'दुष्ट' कर्म करने वाले आततायियों के विनाश के लिये जो कि समाज के और देश के उत्पीडन मे लगे रहते है। इस प्रकार के उद्धार करने के कर्म हिंसा से खाली नही बल्कि हिंसा के द्वारा ही सिद्ध होते है किन्तु यह हिंसा बंधन कारक नही होती, यह तो मुक्ति की निशानी है। निर्दोष को सताना, आगजनी, लूट-पाट' स्त्री व बालकों का हरण— यह हिंसा है। ऐसे दुष्कर्म करने वाले आततायी कहलाते है। उनका दमन तो शुभ है, वे कर्म अशुभ कैसे होंगे ?

अहिंसा और सत्य के अवतार महात्मा गांधी ने जब एक गाय के बछडे को अत्यन्त रुग्णावस्था मे, सारे शरीर मे कीडे पड जाने तथा उसका कष्ट असहनीय हो जाने पर उसके बचने की कोई सम्भावना न देखी, तब उनकी सत्य प्रधान बुद्धि ने इसी को विवेक निश्चय किया कि उसको उस असहनीय कष्ट से बचाने के लिये किसी औषधि द्वारा उसके रुग्ण शरीर को पृथक कराने मे सहायता की जाये। यह कार्य हिंसक होने पर भी अहिंसा की कोटि मे आता है किन्तु कोई चिकित्सक रोगी की चिकित्सा से तग आकर या उसका कोई सम्बन्धी उसकी सेवा-सुश्रुषा से बचने के लिये तमरूपी प्रमाद से इस प्रकार हिंसा करे तो वह घोर हिंसा ही मानी जायेगी। अहिंसा और सत्य एक के बिना दूसरा सिद्ध नही हो सकता। अथवा अहिंसा के बिना सत्य की खोज असभव है। अहिंसा और सत्य एक सिक्के के दो पहलू जैसे है। उनमे किसे उलटा कहे किसे सीधा! यदि एक नही तो दूसरा नदारत। मानव जाति का यह शाश्वत धर्म है कि 'धर्मोधारयते प्रजा' अर्थात् धर्म प्रजा को धारण करता है (व्यवस्था मे रखता है), धारण करने से ही उसे धर्म कहते है। प्रजा व्यवस्थित रह सकती है केवल सत्य और अहिंसा के आधार पर। इस आधार मे कमी आने पर प्रजा की व्यवस्था बिगडे बिना रह नही सकती जो कि आज सभी क्षेत्रो मे दृष्टिगोचर हो रही है।

सत्य की आराधना के लिये हमारा अस्तित्व है इसलिए इसीके लिये हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिये हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिये। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज मे हमारे हाथ लग सकते है। उनका पालन भी हो सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

जब निरन्तर सत्य बाह्यान्तर एकनिष्ठ प्रतिष्ठित हो जाता है, तो ऐसे पुरुष की वाणी के द्वारा जो शब्द निकलेंगे वे तीर की भाति अपने लक्ष्य को भेदन किये विना नही रहेगे। ऐसा पुरुष सत्यसकल्पी हो जाता है। जब १९४२ मे काग्रेस अधिवेशन मे गाधीजी का Quit India वाला प्रस्ताव पारित हुआ तब देश-विदेशो के आदमी इस प्रस्ताव पर हसे। और हम भी पीछे न रहे, किन्तु Quit India इन दो शब्दो ने ब्रिटिश सिंह को तिलमिला दिया और आखिर उनको भारत छोडना पडा। यह अमोघ शक्ति थी ब्राह्मण की गऊ की अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित वाणी की।

सत्य की शक्ति अपार है। अनृत की शक्ति सीमित। सत्य की विजय होगी और असत्य की हार। इसमे शका को कोई स्थान नही है। गाधीजी का कहना था कि झूठ को जवाब ही नही देना चाहिए, यह अपनी मोत ही मर जायेगा। असत्य के पास अपनी कोई शक्ति नही होती। यह विरोध के बल पर फूलता-फलता है।

मनोभाव

मनुष्य के भाव इस प्रकार विश्व मे फैल जाते हे, जिस प्रकार शब्द-लहरियाँ, जिसे हम रेडियो मे सुन पाते है, और मूक प्रकृति मे भी इनकी प्रतिक्रिया होती है। उस प्रतिक्रिया का परिणाम विचारो की तीव्रता के अनुपात मे ही सीमित रहता है, यह बडे रहस्य की बात हे। हमारा मन एक सार्वभौमनस (universal mind) का एक अश मात्र ही है जो कि इस कार्यरूप जगत का कारण है। यह सौर्वभौम मन उस समुद्र के सदृश्य है जिसमे कही भी हलचल मचने से वह सारे समुद्र मे व्याप्त हो जाती है। जैसे किसी जलाशय के किनारे पर एक नमक की ढेरी इस प्रकार लगा दे कि उसके तले का एक अश उसके पानी से सलग्न बना रहे, तो शनै शनै जल सारी ढेरी मे व्याप्त हुए बिना नही रहेगा।

भाव सूक्ष्म तो होते है, लेकिन उनकी प्रतिक्रिया कार्यरूप मे स्थूल जगत मे प्रकट हुए बिना नही रहती। ऐसे कार्यों के कारण का प्रत्यक्षीकरण भी नही हो सकता। हम गुमराह होकर सब कुछ भाग्य के मत्थे मढ देते है और

नि सहाय हो इधर-उधर भटकते है, किन्तु हमारा ध्यान भावो की शुद्धि की तरफ जाता ही नही । जो कुछ भी हमारे जीवन मे घटता है, उसके जिम्मेदार हम खुद ही है, यह वात हमारी बुद्धि मे उतर ही नही पाती और हम दूसरे के मत्थे दोपारोपण करते जरा भी हिचकते नही ।

जब कभी किसी अनाचारी-दुराचारी का भेद खुल जाता है तो वह माध्यम से वदला लेने पर उतारू हो जाता है, लेकिन वह सोचता ही नही कि कारण तो वह खुद ही था, कारण के विना कार्य तो होता ही नही । फिर कार्य से माथा-फोडी करने से क्या लाभ । लडाई लडनी हो तो कारण से लडनी चाहिए, उसे हटा दो, उसे मिटा दो, फिर तुम्हारी जीत ही जीत है आज तुम्हारी निन्दा होती है, कारण मिट जाने पर प्रशसा होगी ।सोना तो तभी तक गन्दा है जब तक उसमे मिलावट है, मिलावट के दूर करने पर शेप सोना ही सोना है । आप तो आत्म-स्वरूप है । दोपो के कारण आत्मा के स्वभाव मे परिवर्तन आता नही । दोपो के आच्छादन से दोपी ही दिखता है और अज्ञानवश अपने को दोपी मान बैठता है ।

कोई भी पतित यह कभी न मान ले कि पतित होने पर वह पतित ही बना रहेगा और फिर पवित्र हो ही नही सकता । जब पतित हो ही गए, तो पतित अवस्था के सुख से भी वचित क्यो वने रहे ? यह ऐसा भाव हे जो फलस्वरूप घोर दुख का कारण बने बिना नही रहेगा । मनुष्य कैसी भी अवस्था मे क्यो न रहे, उसमे उत्थान की शक्ति बराबर निहित बनी रहती है । यहाँ निरुत्साह होने का कोई कारण नही । ऊर्ध्वगति एव अधोगति मन के चाचल्य के अनुपात मे गतिमान बनी रहती है । मन जितना पवित्र होगा ऊर्ध्वगति उतनी ही वेगवती होगी । मन की अपवित्रता अधोगति मे तीव्रता लाये बिना न रहेगी । जीवन मे सुन्दरता, शान्ति, कल्याण लाना हो तो मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य शिव सुन्दरम् का पथानुगामी बने । यही श्रेय कल्याण का उत्स् है ।

गंगा

आज के नव-शिक्षित वर्ग के हृदय मे धर्म के प्रति उसी प्रकार की अश्रद्धा उत्पन्न हो गई है जैसे काष्ठ एव पापाण मूर्त्तियो के प्रति। गगा-यात्रियो के प्रति वे नाक-भौ सिकोडते हुए उनकी दिल्लगी उडाते नजर आते है। उनका तर्क है कि यदि गगा-स्नान करने से हमारे सारे ही पाप धुल जाये तो बडा सस्ता सौदा रहेगा, विशेप पाप करते चले जाँए और उन्हे गगा मे धोते चले जाँय। इस तर्क मे असत्यता है ऐसी बात तो नही है किन्तु किसी वस्तु को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे न देखने से भ्रम का सभूत होना स्वाभाविक है, किन्तु उस पाप-पुरुष को पृष्ठभूमि क्या है उसे भली-भाति समझने के पश्चात् फिर ऐसे तर्क नही उठेंगे।

यह सारा विश्व जिसे हम स्थूल कहते है, जिसमे हम भी शामिल है, एव हमारा ससार तीनो गुणो के कार्य-रूप ही हे—रज, तम, सत। इन तीनो की धारा वह रही हे और विभिन्न मात्रा मे इन तीनो के समिश्रण से ससार एव ससार मे नाना प्रकार के जीव-जन्तु व अनेकानेक पदार्थों की उत्पति होती

रहती है जिनकी वृद्धि, स्थिति, और विनाश साथ-साथ चलते हैं। मकान मे झाड़ू लगादे, थोडे घण्टे वाद फिर झाड़ू लगा देने की आवश्यकता पड जाती है क्योंकि वायु के द्वारा रेत का प्रवेश हो जाता है इसलिए वरावर झाड़ू लगाने पर ही मकान को साफ रख सकते हैं। लोहे, पीतल, काँसे, ताँवे, यहाँ तक कि चाँदी के वर्तन भी एक दफा भली-भाँति साफ करने पर भी विना काम मे लाए पडे-पडे मलिन हो जाते हैं यानि माँजने के पश्चात् जो आभा आती है, वह धीरे-धीरे मन्द पड जाती है क्योंकि वायु और वायु के अन्दर स्थित जल का सम्पर्क इनकी आभा को हरने मे समर्थ वना रहता है।

इसी प्रकार जीवन मे प्रकृतिस्थ बने रहने तक मन नितान्त स्वस्थ नही रह सकता और हमारे नाना प्रकार के विचार अच्छे या बुरे अपना असर आत्मा पर डाले विना नही रहते यानि आत्मा के ऊपर आवरण होता चला जाता है। मनुष्य के विचार मनुष्य को अच्छा व बुरा वनाते हैं। मनुष्य के जीवन मे अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उसके विचार ही तो उत्तरदायी हैं। यह तो मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जैसी श्रद्धा वैसा मनुष्य। श्रद्धा के महत्त्व को तो कोई तिलाजलि दे ही नही सकता। अग्रेजी मे कहावत है 'Faith moves the mountain' अर्थात् हम दृढ विश्वास के माध्यम से पहाड तक को गतिवान् वना सकते हैं।

हमारी सारी जीवनचर्या ही हमारे विचारो पर आधारित है और विचारो की जन्म-भूमि है इच्छा, इच्छा के अनुसार विचार और विचारो के अनुसार कर्म वनते है। यदि हमारे अन्दर श्रद्धा न हो तो पढना भी असभव है। जब बच्चा जोड-वाकी लिखता है तो वहाँ श्रद्धा ही काम करती है। दो और दो चार होते है, उसे मानना ही पडता है किन्तु दो-दो चार क्यो होते हैं इस सिद्धान्त को समझने के लिए आज उसका मस्तिष्क परिपक्व नही है। अक्षर पढते समय वह अपने गुरु से यह पूछ बैठे कि इनके सयोग से शब्द कैसे बनते है और शब्दो से वाक्य। इनको समझने के पश्चात् ही अक्षर सीखूंगा, पढूंगा तो उसका पाठ्य्‌क्रम समाप्त हुआ ही समझो क्योंकि यदि गुरू इन सब बातो को समझाने भी लगे तो वह समझ नही पायेगा। यहाँ भी विद्यार्थी को श्रद्धा से ही काम लेना पडेगा नही तो वह गतिशील वन नही सकता। यदि श्रद्धा के अन्दर इतनी शक्ति और इतना रहस्य भरा हुआ है तो श्रद्धा का उपहास एव उसे ठुकरा देना मनुष्य की कितनी ज्यादती है।

गगा-यात्री जब यात्रा पर जाने का विचार करता है। तब गगा के प्रति

एक अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है और गगा की पवित्रता तक उसकी पवित्र करने की शक्ति का विचार उसके हृदय मे उत्पन्न होता है। ये विचार उसके हृदय मे मैल को दूर करने के लिए झाडू का काम करते है। गगा-यात्रा तय करने मे जितना भी समय लगे और स्नान करने के पश्चात् वापिस आने तक जितना भी समय लगे, उतने समय तक वह अपनी खोटी प्रवृत्तियो से बचने का भरसक प्रयास करता है। यह मन की पवित्रता गगा की पवित्रता का ही तो प्रसाद है। यदि वह गगा की तरफ उन्मुख ही नही होता तो वह इतने समय कुवृत्तियो से बच थोडे ही पाता ? यदि इन कुवृत्तियो को बीच-बीच मे इतना अवकाश मिलता चला जाए तो क्या शुभ वृत्तियो को अपने विकास का मौका न मिलेगा ? मन तो निश्चल रह नही सकता उसे तो निरन्तर खिलवाड चाहिए, चाहे वह मोटर मे खेले चाहे गुडियो से। अर्थात् चाहे अच्छी बात सोचे अथवा बुरी। क्या एक दिन की कमाई दूसरे दिन के लिए हमारे जीवन की आधारभूता नही है ? महीने भर नौकरी करने के पश्चात् हमे वेतन मिलता है, क्या हम उस वेतन से अपना गुजारा एक मास तक नही कर लेते ? जो व्यापारी प्रतिदिन खोते-कमाते रहते हैं, उनकी सम्पत्ति उसी कमाई के अनुपात मे बढती-घटती रहती है। एक काल का भोजन दूसरे काल के लिए ही पर्याप्त नही है तो आज का किया हुआ भोजन दूसरे दिन के लिए कैसे पर्याप्त हो सकता है ? भरना, खाली होना यह तो प्रकृति का नियम है। ऐसा हम कहाँ कहते है और कहाँ हो पाता है कि एक दफा खाले और फिर खाने की छुट्टी। हम किसी को एक समय खाते देखले और ५-७ घन्टे पश्चात् फिर उसे खाता देख पावें और उसके दुबारा खाने का उपहास करें तो क्या यह हमारी मूर्खता का द्योतक नही है ?

जीवन मे श्रद्धा की बहुत ही आकांक्षा होनी चाहिए। बगाल के बगाली-घरो मे जिस दिन सत्यनारायणजी की कथा होती है उस दिन उनके घर मे आमिष पदार्थ का प्रवेश नही हो पाता और साल मे एक दफा भी ऐसी कथा कराने मे एक शान्ति का अनुभव होता है। एक दिन की सात्विक वृत्ति के आधार पर वे बडे उत्साहित बने रहते है। शुभ कृत्य चाहे किसी भी निमित्त हो सदैव ही शुभ व मगलमय फलप्रदाता होते है।

शरीर पांच तत्त्वो का बना हुआ है और उसका पोषण भी इन्ही तत्त्वो के द्वारा होता है। इन पाँचो तत्त्वो मे से आकाश व वायु स्वत प्राप्त है और शेष तीन—अग्नि, जल, पृथ्वी तत्त्व—प्रकृति मे स्वत प्राप्त होने पर भी

प्रयास–साध्य बने रहते है । इनकी प्राप्ति के लिए प्रयास की आवश्यकता होती हे जिनका उद्देश्य है विकास । प्राणी मात्र का विकास उसके प्रयास के अनुपात मे ही होता है । बहुत से प्राणी इस प्रयास मे स्वतत्र है और बहुत से परतत्र । मनुष्य बुद्धिजीवी होने के कारण अपने प्रयास मे स्वतत्र है । उतना ही वह अपने विकास मे भी स्वतत्र है ।

जीवन के आधार के लिए अन्न एव पानी की विशेष आवश्यकता है जो कि मनुष्य के प्रयास से सिद्ध होते है, शेष तत्त्व स्वत प्राप्त हैं । पानी एव अन्न मे से जल की प्रधानता हे क्योकि विना अन्न मनुष्य जीवित रह सकता है किन्तु जल के अभाव मे जीवन की परिधि वडी सीमित है । यो तो जल भी स्वत प्राप्त हे—वर्षा द्वारा जो कि एक विशेष काल मे ही होती है । पानी की आवश्यकता हरदम पडती है । इस जल के रक्षार्थ तीन पात्र उपलब्ध है—कूआ, तालाब और नदी । समयानुसार इन तीनो मे भी जलाभाव हो सकता है लेकिन कुछ नदिया बारहो महीने पानी का अजस्र स्रोत वहाती रहती है । ऐसी नदियो मे एक नदी गगा भी है ।

गगा का वहाव उत्तर से पूर्व है । इसकी लम्बाई करीव दो हजार मील से कम न होगी । इसके द्वारा लाखो करोडो एकड भूमि सीची जाती है और इसके किनारे वसे हुए वडे-वडे शहरो का सारा नाबदान इसी मे आकर गिरता है । कल्पना करो, आज यही गगा अपना रुख मोडकर किसी पाकिस्तानी नदी से सम्बन्ध जोड ले, तब उन प्रदेशो की क्या हालत होगी जिनमे से होकर यह गुजरती है । तब क्या करोडो आदमी अन्यान्यो के मुहताज नही हो जाएगे और इसके किनारे वसे हुए वडे-वडे शहरो की दुर्गति नही हो जाएगी जिनके लिए यह माता की गोद का सा काम करती है ? ये शहर गन्दगी से ढक नही जायेंगे ? जो हमारा पालन-पोषण करे, इतना ही नही जो घरो को भी शुद्ध बनाये रखे तो वह माता नही तो और कौन है ? यदि माता अपने लडको को सफाई से न रक्खे तो और की तो बात छोडिये, क्या पिता भी उसे गोद मे लेने को तैयार होगा ?

यह तो उसका व्यापक रूप है । यदि उसके इस भौतिक रूप मे उसका आध्यात्मिक रूप छिपा रहे तो कौन से अचम्भे की बात है । ससार मे ऐसी-ऐसी जडी-बूटिया उपलब्ध है जिनका सेवन एक विशेष काल मे करने से ही लाभ होता है, उस काल के अलावा नही । इससे सिद्ध होता है कि

प्रत्येक देश के अन्दर विशेष विशेष नदियां हैं जिनको वहां के निवासियों का समादर प्राप्त है। इन नदियों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। ऐसे-ऐसे वृक्ष देखे जाते हैं जो मांसाहारी हैं, पशु-पक्षियों को अपनी पकड़ में लेकर उनके खून को चूस डालते हैं। छुई-मुई एक ऐसा पौधा होता है जिसे अंगुली से छूते ही अपने आप उसके पत्ते शीघ्रातिशीघ्र सिकुड़ने लगते हैं और हाथ के हटते ही फिर फैलने लगते हैं। चाहे हम इनमें अपने मनुष्य जीव की स्थिति न सिद्ध कर पायें किन्तु यह सर्वमान्य है कि इन वृक्षों में, इन पौधों में विशेष शक्तियां हैं जो कि हमारे स्वभाव से मिलती-जुलती हैं। इनके बारे में वैज्ञानिक अनुसंधान क्या सिद्ध कर पायेगा यह भविष्य की बात है किन्तु ये विशेष शक्ति-सम्पन्न हैं यह बात असंदिग्ध है।

ऐसी ही कुछ शक्ति गंगाजल के अन्दर भी है जिसकी खिल्ली उड़ाना हमारे जैसे बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियों को शोभा नहीं देता। हम अनेक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं की घटना सुनते रहते हैं, उनमें कितना सत्य है उसका प्रमाण

सहज उपलब्ध नही है। इस प्रकार की घटनाए कभी-कभी घट जाती है जो कि प्रयोग का साधन नही बन सकती। प्रयोग के साधन तो वे ही बन सकते है जिनका बाहुल्य हो। ऐसी घटनाओ को सत्य मानना केवल व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर करता है। जो बाते रहस्य के आवरण मे छिपी रहती हैं, उनके बारे मे निश्चयात्मक विश्लेषण करना सहज बात नही है किन्तु हम इन सब बातो को न मानते हुए भी यदि मनुष्य को उन चीजो से लाभ प्राप्त होता हो तो उन्हे लाभप्रद तो वह मान ही लेगा, साथ ही वह उन्हे देवी-देवता का स्वरूप भी समझने लगेगा।

रही बात यह कि क्या गगा मानव के पापो को धो सकती है? इसका स्पष्टीकरण तो हम पहले ही कर आये हैं। हमारे शुद्ध भाव हमारी आत्मा के ऊपर चढे पाप के आवरण को अनावरण करने मे समर्थ हैं। यह तो सब मानते ही हैं कि पापो से मुक्ति पाने का माध्यम है शुद्ध भावना। शुद्ध भावना का अर्थ है अशुभ कार्यों के प्रति घृणा और ऐसे किए हुए कृत्यो के प्रति पश्चाताप तथा इनसे बचे रहने का प्रयास। तो इसी शुद्ध भावना के साथ यदि हम गगा मे स्नान करे और स्नान करते वक्त हम अपने कुकृत्यो के प्रति पश्चाताप करे और आगे के लिए शुभ कार्य करने की अपने अन्दर भावनाए भरें तो क्या यह पापो का प्रायश्चित नही है? क्या गगा-स्नान इसका निमित्त नही बना? हम किसी भी कारणवश शुभ मार्गानुगामी बन जाय, तो क्या वह श्रेयस्कर नही होगा? इसे चाहे स्थूल जगत की ही बात समझो, किन्तु यदि गगा मे कोई रहस्यमय शक्ति छिपी हुई है जिसका हम प्रत्यक्षी-करण नही कर पाते तो फिर कहना ही क्या।

पौराणिक गाथा के अनुसार, भगीरथ अयोध्या के एक प्रसिद्ध सूर्यवशी राजा सगर के प्रपौत्र दिलीप के पुत्र थे। कपिल मुनि द्वारा भस्म किए हुए सगर के साठ हजार पुत्रो की सद्गति के लिए घोर तपस्या करके यही भगीरथ गगा को पृथ्वी पर लाये थे। यह बात यदि न भी माने तो भी यदि भगीरथ गगा की किसी भी तरफ बहती हुई धारा को यदि देश के उत्तरी विभाग के भूतल पर मोड कर ले आये तो इनका प्रयास अवश्य ही सराहनीय है, जबकि आज देखने मे आता है कि नदियो मे बाध बाँधने के लिए करोडो रुपये की आहुति देनी पडती है और वह भी भूतल के एक छोटे-से क्षेत्र को ही सीचने मे समर्थ रहते हैं और ऐसे क्षेत्रो के मुकाबले मे गगा के द्वारा सीचे जाने वाले क्षेत्र कितने विशाल है। जो गगा बडे-बडे शहरो मे और छोटे-छोटे

गावो मे वसे हुए करोडो मनुष्यो की प्राण-रक्षा करती है, उसके उपकार की महिमा का गान किसी भी रूप मे क्यो न किया जाए, चाहे साधारण शब्दो मे चाहे भावात्मक भाषा मे, कोई दोष की बात तो नजर नही आती। विना भावना के हम कोई भी सत्कार्य नही कर पाते और ऐसी सद्भावना को कुचल देना नितान्त अशोभनीय है, हानिप्रद है, आस्था का नाशक है। आस्था जीवन है, विना आस्था के हम एक कदम भी आगे चल नही सकते। इसलिए किसी पवित्र धारा के प्रति यदि हम हिन्दुओ की आस्था है, तो वह सराहनीय है, शोभनीय है, उज्ज्वल है, प्राणप्रद है।

यह मूर्खों की वात है कि गगा-स्नान करने वाले निडर होकर विशेष कुकृत्य मे रत रहते है। शरीर की शुद्धि से मन शुद्ध होता है, यह तो प्रत्यक्ष है। शुद्ध भोजन सात्विक होता है जो कि सात्विक बुद्धि का पोषक है, वर्द्धक है, यह धर्म की वात नही। जो प्रात काल गगा-स्नान करता है वह निरोग होता है। साधारण स्नान से शरीर का इतना मैल माफ नही होता जितना कि किसी नदी मे स्नान करने से। छाती भर पानी मे खडे रहने से और पेट पर हाथ फेरने से अतडिया वलिष्ठ होती हैं, पाचन-शक्ति वढती है और मन मे एकाग्रता आती है। गगा मे खडे होकर गायत्री जप करने से मानसिक एव बौद्धिक शक्ति वडी तीव्र वन जाती है।

स्वामी वृजानन्द सरस्वती, स्वामी दयानन्द के गुरु, चार साल की उम्र मे चेचक के प्रकोप से प्रज्ञाचक्षु हो गये। माता-पिता हीन होने के कारण भाई-भौजाई ने उन्हे वारह साल की उम्र मे घर से बाहर निकाल दिया। रहने वाले ये पजाव के थे। हरिद्वार मे आकर गगा मे खडे रहकर गायत्री साधन करने लगे। गगा के किनारे एक महाराष्ट्र का पण्डित अष्टाध्यायी व्याकरण का पाठ कर रहा था। इन्होने उससे पूछा कि तुम किस चीज का पाठ कर रहे हो ? उस महामानव ने उत्तर दिया, मैं अष्टाध्यायी का पाठ कर रहा हू जिसके ज्ञान से वेद मत्रो का सही अर्थ निकल पाता है। इनकी प्रार्थना पर उस पण्डित ने उस अष्टाध्यायी का आद्योपान्त पाठ सुना दिया और वह पाठ उनको कण्ठस्थ हो गया और वे वहा से मथुरा आ गये और वहा उन्होने सस्कृत पाठशाला खोल दी और इस पाठशाला के अन्दर इसी गुरु से उन्होने (स्वामी दयानन्द ने) वेदो का अध्ययन किया। यह तो ऐतिहासिक सत्य घटना है। इस सिद्धि मे कितना हाथ गगा का रहा, कितना गायत्री का, सही-सही कहा नही जा सकता, किन्तु यह घटना सत्य है इसमे सन्देह नही। इस

प्रकार की अनेक घटनाए होती रहती है जो कि इतिहास के पन्नो तक पहुच नही पाती ।

इसी प्रकार की एक पुस्तक 'गगा लहरी' है जिसका महत्त्व सभी हिन्दुओ के हृदय पर अकित बना हुआ है । हमारा शरीर भी बडा जड है । इसकी जडता मे और सभी पदार्थो की जडता मे कोई फर्क नही है । फर्क इतना ही है कि हमारे शरीर मे जीव शक्ति व्यापक विशेप बनी रहती है, दूसरे पदार्थों मे यह जीव-चेतना सुषुप्त बनी रहती है । इस विश्व का कोई भी ऐसा कण नही है जो ईश तत्त्व से स्वतन्त्र हो । और हो भी नही सकता क्योकि इस विश्व का प्रत्येक कण उसी महान् शक्ति की कृति है । कर्ता व कार्य मे अभिन्न सम्बन्ध बना रहता है, चाहे कार्य स्वतन्त्र सत्ता लिए हुए भले ही प्रतीत हो । यह प्रतीति भ्रमात्मक होती है । पिता और पुत्र भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति होने पर भी एक के गुण दूसरे मे व्यापक बने रहते हैं, यह ऋत है, इसकी परिधि के बाहर कोई रह नही सकता ।

सान्निध्य के विविध रूप

किसी का प्रगाढ सम्पर्क या सामीप्य प्राप्त करना उसका सान्निध्य प्राप्त करना है। सान्निध्य मे घनिष्ठता की ध्वनि सन्निहित रहती हे। यदि घनिष्ठता नही है तो सानिध्य नही कहेगे वरन् सम्पर्क कहेगे। सान्निध्य एव सम्पर्क मे यही अन्तर है।

प्रकृति के सारे ही तत्व श्लेपण-विश्लेपण धर्मवाले ह। तत्वो के श्लेपण के बाद उनका विश्लेपण अनिवार्य है। प्रत्येक तत्व अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होने के लिए लालायित बना रहता हे, किन्तु साथ ही-साथ श्लेपण की आकर्पण शक्ति उन तत्वो का शिकार करने मे सदा सलग्न बनी रहती है। केवल श्लेपण-क्रिया ही बनी रहे तथा विश्लेषण-क्रिया शून्य हो चले तो सृष्टि का विनाश निश्चित हे। कीचड, कूडा, कर्कट आदि अवाञ्छित पदार्थ यदि अपनी ही अवस्था मे बने रहे तो फिर एक ऐसी अवस्था आ जायेगी कि सृष्टि मे इनको छोडकर अन्य कुछ रहेगा ही नही। सृष्टि के आदिकाल मे हम विचार करे तो पायेगे कि अब तक इन दुर्गन्धयुक्त पदार्थों की कितनी उत्पत्ति

हुई होगी यह मनुष्य के अनुमान के बाहर की बात है, किन्तु इनका आज कुछ पता नही चलता। क्योकि अपने अन्दर की नैसर्गिक विश्लेपण की शक्ति द्वारा, ये जिन पदार्थों से बने थे, पुन अपने उसी वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होते चले गए। कूडा, कर्कट, गोवर, विष्टा आदि रूप वदलकर खेती के लिए वडे ही उपयुक्त खाद के रूप मे काम मे लाये जाते है। इन्ही के वल पर हम कितनी हरी-भरी खेती उपजा लेते हैं। यही दो शक्तिया (श्लेपण एव विश्लेपण) समाज को स्वस्थ्य बनाये रखने मे सक्रिय वनी रहती हैं। लेकिन जव केवल श्लेपण की शक्ति प्रवल हो उठती है तो समाज का अनिष्ट किए विना नही रहती। मनुष्य-मनुष्य के वीच का सान्निध्य दो प्रकार का होता है। एक विरागात्मक तथा दूसरा रागात्मक। पहला है सूक्ष्म, सात्विक तथा दूसरा है स्थूल, आसक्तियुक्त।

विरागात्मक सान्निध्य आत्म-स्तर पर होता है। इसमे आत्मा के प्रकाश की उपलब्धि होती है। जहा इन्द्रिय-जन्य विकार नितान्त शून्य वने रहते हैं वहा यह आत्म विभोर से भरा रहता है जैसे महात्मा गाधी एव कस्तूरवा, महर्षि रमण एव परिचारिका के रूप मे उनकी परम भक्त एक शिष्या, भगवान रामकृष्ण परमहस एव उनकी अर्द्धांगिनी शारदा देवी के बीच का सान्निध्य लोकोत्तर एव गुणातीत था। यह सान्निध्य अलौकिक विभूतियो मे सम्पन्न होता है जिसे हम जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि कह सकते हैं। रागात्मक सान्निध्य की आधार-शिला है इन्द्रियजनित सुखो की अनुभूति। इस प्रकार का सान्निध्य एक-दूसरे के शारीरिक अवयवो तक ही सीमित रहता है। सीमाबद्ध वस्तु त्रिगुणात्मक हे—रज, तम, सत गुणो का कार्यरूप। सान्निध्य तभी तक सात्विक बना रह सकता है जब तक कि रज और तम गुण, सत्व गुण द्वारा अभिभूत बने रहते है। किंतु दोनो अपना सिर उठाने के लिए सदा प्रयत्नशील बने रहते हैं तथा अपने दाव की फिराक मे रहते हैं। इन तीनो गुणो के बीच निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है तो फिर वताओ तो सही कि साधारण स्त्री पुरुष के बीच का सान्निध्य सदा सतोगुणी ही वना रहेगा, ऐसी आशा रखना क्या आकाश-कुसुमो के चयन के सदृश्य नही? यह सच है कि मर्यादित दूरी युक्त सान्निध्य निर्दोष होता है किन्तु इस दूरी को सकुचित होने मे कितनी देर लगती है।

सान्निध्य चाहे जड-जड के बीच हो, जड चेतन के बीच हो, या चेतन-चेतन के बीच हो, एक-दूसरे के गुण या दोप एक-दूसरे मे व्याप्त हुए विना नही

रहते। यह तो 'ऋत' का स्वभाव है। जैसे अकेला आम का वृक्ष उतना नही फल पाता जितना कि अपने समूह मे। माली एक किस्म के वृक्ष एक ही जगह लगाते है जैसे आम बगान, केला बगान, पपीता बगान। खरबूजे, ककडी, खीरो की बेल अपने-अपने समूह मे ही ज्यादा फलवती होती है। कहावत भी तो मशहूर है कि खरबूजा खरबूजे को देखकर रग वदलता है। यह जड-जड के बीच का सान्निध्य है।

प्रात काल हम किसी वृक्ष के नीचे जाकर बैठ जाय तो हमे बहुत अच्छा लगेगा। वहा प्राणवायु (आक्सीजन) विशेप रूप से मिलती है। प्रात काल मे वृक्ष आक्सीजन को नि सृत करते है। उनके नीचे बैठा मनुष्य प्राणवायु को लेते हुए अपने नि श्वास के द्वारा कार्वन डाईआक्साईड फेकता रहता है जो कि वृक्ष की खुराक है और वही कार्बन डाईआक्साईड वृक्ष मे प्रवेश करने पर विश्लेपण को प्राप्त हो जाता है, उसका कार्वन तो वृक्ष ले लेता है तथा आक्सिजन वापस कर देता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान होते रहते है। यह है जड चेतन का सान्निध्य। जैसे गगा मे स्नान करते समय उसका जल हमारे शरीर के मैल को धो डालता है तथा उसमे सन्निहित पौष्टिक पदार्थो को हमारे शरीर को प्रदान करता है। हमारा मैल ही क्या, सम्पूर्ण जगत के मल-मूत्र इसमे गिरने पर भी इसके जल को गन्दा नही कर पाते, क्योकि उस जल मे विश्लेपणात्मक शक्ति भरी रहती है और उन पदार्थो का विश्लेपण होने पर उनमे मिश्रित तत्व अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो जाते है। इस प्रकार आपस मे एक-दूसरे के गुण-दोपो का आदान-प्रदान होता रहता है। यही तो सृष्टि का नियम है। यदि सृष्टि मे इस प्रकार का नियम न होता तो सृष्टि को चौपट होने मे क्या देर लगती।

जब हम किसी महात्मा के सान्निध्य मे रहते है तो हमे उसके गुण अपने अन्दर प्रवेश करते हुए प्रत्यक्ष प्रतीत होते है। उस समय हमारा मन बडा शान्त और निर्दोप बन जाता है। तो क्या इसी प्रकार हमारे दोष महात्मा मे प्रवेश न कर पायेंगे ? तो क्या महात्मा उन दोपो का शिकार बन बैठता है ? कदापि नही। क्योकि —

ज्यो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकै कुसग।
चन्दन विप व्यापत नही, लिपटे रहत भुजग।

हमारे दोप महात्माओ के विश्लेपणात्मक यत्र रूपी हृदय मे अपनी हस्ती खो बैठते है। हम महात्माओ को अपने स्तर पर उसी समय घसीटने में सफल

होते है जवकि उनका यह यत्र निष्क्रिय हो उठता है, अथवा यू कहे कि जव उस यत्र की शक्ति के परे वह दूसरे के दोपो को ग्रहण करता चला जाता है, एव वहिर्मुखी वनता चला जाता है तथा सिद्धियो का प्रदर्शन करने लगता है, तो वावाजी का दीवाला पिटते देर नही लगती। वहिर्मुखी होने मे शक्ति का जितना क्षय होता हे उससे अधिक शक्ति अन्तर्मुखी होने मे प्राप्त होती है। वह वहिर्मुखी महात्मा भी रजोगुण तमोगुण के सभी रूप काम, क्रोध, लोभ का शिकार हुए विना नही रहता। इसीलिए महात्माओ के लिए सासारिक मनुष्यो का घनिष्ठ सान्निध्य उपेक्षणीय माना गया है, स्त्री की तो वात ही अलग है। महर्पि दयानन्द ने स्त्रियो को अपने सान्निध्य मे कभी नही आने दिया। यही वात महात्मा बुद्ध मे पायी जाती है आनन्द के आग्रह पर ही भगवान बुद्ध ने एक-दो योग्य स्त्रियो को दीक्षित कर भिक्षुणियो के रूप मे सघ मे स्थान प्रदान किया था। किन्तु जब इनकी सख्या मे वृद्धि होने लगी तव वौद्धो मे तत्र आ घुसा और शासकीय कार्यों मे भी इनका हस्तक्षेप वढता चला गया। फलस्वरूप इनका सघ धराशाही हुए विना न रहा। रामकृष्ण मिशन मे पुरुपवर्ग ही ब्रह्मचारी एव सन्यासी के रूप मे पाये जाते है। शकर मठो मे भी स्त्रिया सन्यासिनियो के रूप मे मठाधीशो की शिष्या नही बन पाती, तभी तो अभी तक ये जीवित है। इस नियम को स्त्री की अवहेलना नही समझना चाहिए। स्त्री शक्ति-स्वरूपा हे। उसमे चुम्बक जैसी अदम्य आकर्षण शक्ति निहित रहती है जिसका परिलक्षण उसके अग-प्रत्यग से टपकता रहता है, और जिसके आघात को सहने मे मनुष्य नितान्त असमर्थ है। कुशल वही मनुष्य कहलाते है जो अपनी शक्ति के अनुपात मे ही भार उठाने का उपक्रम व साहस करते हैं। गुरुतर भार को उठाने मे चोट खाने का भय वना रहना स्वाभाविक हे।

स्त्री-पुरुप का सान्निध्य खतरे से खाली नही रह पाता। इन दोनो के बीच का आकर्पण वडा ही सक्रिय होता है। इस आकर्पण मे रजोगुण की प्रधानता रहती है, साथ-ही-साथ तमोगुण इसका पृष्ठपोपक बना रहता है, तथा सत्व गुण नाकभौं सिकोडता मात्र दृष्ट्रा के रूप मे निष्क्रिय बना रहता हे। ये दोनो तत्व (स्त्री-पुरुष) धनात्मक एव ऋणात्मक होने के कारण सान्निध्य मे आने पर अपना वृत्त वनाये बिना नही रहते और वृत्त के बनने पर उनके हृदय की तन्त्रिया उस वृत्त मे चक्कर मारने लगती है, जिनका प्रत्यक्षीकरण होता हे आपस के आश्लेष-परिरम्भन मे। इसमे एक के परमाणु दूसरे के परमाणुओ मे

आत्मसात होने के लिए चचल हो उठते है, अथवा यू कहे, आपस के सान्निध्य मे एक के परमाणु दूसरे के परमाणु मे विलय होने के लिए स्पन्दनशील हो उठते है जिसकी अभिव्यक्ति स्वरूप उनके कर्ण-कुहरो मे एक-दूसरे के शब्दो की ध्वनि ध्वनित होती रहती है एव उनके स्मृति-पटल के ऊपर उनकी आकृति अकित हो चलती है जिसका कि वे अपनी अन्तर्दृष्टि से बराबर दर्शन करते रहते है और दोनो के मन मे एक-दूसरे का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए तीव्र उत्सुकता बनी रहती है।

इस प्रकार की प्रतिक्रियाये केवल स्नेहियो के बीच मे ही नही होती, विद्रोहियो के बीच मे भी इस प्रकार की प्रतिक्रियायें होती रहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहली कक्षा की प्रतिक्रिया प्रिय तथा दूसरी कक्षा की अप्रिय होती है। जब इन भाव-भगिमाओ की ग्रन्थि पड जाती है तो विस्फोट हुए बिना नही रहता जिसके परिणाम भावनाओ के ऊपर निर्भर करते है। प्रगाढ सान्निध्य मे छोटी-बडी अवस्था का भेद, रग, रूप, जाति और स्तर का भेद अपनी हस्ती खो बैठते है। अश्लील पुस्तको का पठन तथा अश्लील चित्रो का दर्शन एक प्रकार का सान्निध्य ही है जोकि हमारे मन को विकृत किए बिना नही रहता। इसी आधार पर एकान्त मे माता, बहन, बेटी का भी सान्निध्य निषिद्ध बताया गया है, तथा आवश्यकतानुसार ही इनका सम्पर्क अपेक्षित है। इन बातो को कोई माने या न माने, यह दूसरी बात है।

प्रत्येक वस्तु द्विधर्मी होती है—ऋणात्मक एव धनात्मक। जल अग्नि के सान्निध्य से वाष्प के रूप मे आते ही बहुत अधिक सक्रिय हो जाता है। उसके द्वारा कल-कारखाने चलते नजर आते है। यह उसका धन रूप है किन्तु यदि वही उबलता हुआ पानी अग्नि पर गिर जाय तो दोनो का ही विनाश हो जाता है। इसी भाति नारी की अनियन्त्रित, असयत, मर्यादाविहीन, स्वच्छन्द अवस्था विनाशकारी होती है, यह नारी का ऋण रूप है। मर्यादित, सयत एव नियन्त्रित अवस्था धन रूप है।

महात्माओ के प्रत्यक्ष सान्निध्य की तो बात ही निराली है, बल्कि इनका तो अप्रत्यक्ष सान्निध्य भी सैकडो-हजारो साल तक इनके वचनो के माध्यम द्वारा प्राप्त होता रहता है। अत सान्निध्य मे प्रभावोत्पादकता निहित रहती है। गीता का निर्माण काल ५ हजार वर्ष पूर्व का माना गया है, जिसका प्रभाव आज भी पूर्णरूपेण विद्यमान है। यह अपरोक्ष धनात्मक सान्निध्य का रूप है, जिसकी प्राप्ति से हजारो-लाखो आदमी उपकृत होते चले जा रहे है।

इसी प्रकार जब हम दुश्चरित्र पुरुषों के सान्निध्य मे आते हैं तो उनकी कुसगति के फलस्वरूप मन मे विकार पैदा हुए बिना नही रहते। इनके दूषित परमाणु (ऋणात्मक परमाणु) हम मे विलय हुए बिना रह ही नही सकते। इसीलिए इनका सान्निध्य सदा वर्जित माना जाता है। इसी प्रकार अश्लील साहित्य का पठन-पाठन रूपी सान्निध्य चाहे कितना भी लोभायमान क्यो न हो, मनुष्य को पतनोन्मुखी बनाये बिना नही रहता, यह उसका ऋणात्मक रूप है। चाहे कैसे भी घृणोत्पादक दुर्गन्धयुक्त पदार्थ क्यो न हो, सूर्य की किरणो का सान्निध्य पाकर पवित्र हुए बिना नही रहते। जब इन पदार्थों का ऋणात्मक रूप सूर्य की किरणो के धनात्मक रूप से अभिभूत होता है, तो उनमे से घृणोत्पादक तत्व विलग हो जाता है। विष्टा अग्नि मे पडते ही अपनी हस्ती खो बैठता है और अग्नि रूप हो जाता है, फिर तो कोई उसकी राख से घृणा नही करता। किसी भी प्रकार का सान्निध्य स्थापित करने के पहले यह मनुष्य का कर्तव्य होता है कि उसके ऋणात्मक एव धनात्मक रूप का परिचय प्राप्त कर ले। ऐसा करने से मनुष्य अनेक आपत्तियो से अपने को बचा सकेगा तथा लाभान्वित हो सकेगा।

ससार मे मनुष्य के भोग मे आने वाली जितनी भी वस्तुए है, वे उसकी एक या दो इन्द्रियो के ही उपभोग के विषय है। मिठाई रसेन्द्रिय का विषय है, मुलायम मखमल या मलमल स्पर्शेन्द्रिय का विषय है, हीरा, मोती, जवाहरात नेत्र का विषय है, अन्धकार मे इनका स्पर्श कठोर व अप्रिय है, आदि-आदि, किन्तु सारी पुरुषेन्द्रिया अपने-अपने विषय को एक ही स्थान पर एकत्रित स्त्री के शरीर से प्राप्त करने मे सक्षम होती है। इसी न्याय से पुरुष भोक्ता तथा नारी भोग्या कही गयी है। यह प्राकृतिक नियम है। इसमे एक की विशेषता मानना या दूसरे की अवहेलना नितान्त मूर्खता की बात है। भिन्न-भिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुण होते है। स्त्री-पुरुष जब शरीर के नाते एक-दूसरे से इतने भिन्न है तो समान धर्म वाले कैसे हो सकते है, वे तो एक-दूसरे के पूरक है। एक-दूसरे की पूर्ति करने वाले है।

दूरी दो प्रकार की होती है—शारीरिक एव मानसिक। शारीरिक दूरी बने रहने पर भी यदि मानसिक दूरी सकुचित हो चले तो घातक हुए बिना न रह पायेगी। किसी के भी सपर्क मे आने से उसका प्रभाव स्मृति-पटल पर अकित हो जाना साधारण-सी बात है, और यह हमारा दैनिक अनुभव भी है। किन्तु विशेष भाव-भगिमाए लिए हुए किसी की मूर्ति किसी के स्मृति-पटल पर

अंकित हो जाना विशेष अर्थ में खाली नहीं। यह भाव-भंगिमा धनात्मक एवं ऋणात्मक हुआ करती है। धनात्मक होने में राग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता, और ऐसा राग शारीरिक स्पर्श के द्वारा व्यक्त होने के लिए लालायित बना रहता है। ऋणात्मक भंगिमा विकर्षक होती है, तथा एक-दूसरे को घृणास्पद बनाने में सहायक होती है। शारीरिक दूरी व समीपता मानसिक दूरी बनी रहने पर कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। इसी प्रकार मानसिक दूरी शारी-रिक निकटता बने रहने पर भी अर्थहीन हो जाती है। इच्छा परिणत होती है विचारों में, जिनकी अभिव्यक्ति मानस-पटल पर होती है और विचारों की साकार अभिव्यक्ति शारीरिक स्तर पर। सान्निध्य के प्रकरण में मानसिक संघर्ष विशेष स्थान रखता है जो कि चर्म-चक्षुओं द्वारा नहीं परिलक्षित होता।

जब स्त्री-पुरुष एक-दूसरे का सानिध्य प्राप्त करते हैं तो स्त्री की लज्जा से बोझिल पलकें निमिषन-उन्मीषन का खेल करने लगती हैं और लज्जावश झपकती हैं तथा भावावेग के द्वारा उन्मीलित हुए बिना नहीं रह पातीं। चतुर सज्जन को इसका रहस्य जानने में देरी नहीं लगती। रागात्मक अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर ये दोनों एक-दूसरे को निगले बिना नहीं रहते। इनका शमन शारीरिक स्पर्श में ही हो पाता है और यही गिरावट का गर्त है जिससे बचे रहने के लिए रागात्मक सान्निध्य की तिलांजलि अनिवार्य है, अन्यथा सत्य शिव सुन्दरम् का अपने वास्तविक रूप में बना रहना संदिग्ध है। यह "शर्त" है।

स्पर्श की अनूठी क्षमता

स्पर्श छूत की महामारी के सदृश्य है। आपस का स्पर्श एक-दूसरे को प्रभावित किए विना नही रहता। स्पर्श के अन्त स्थल मे एक प्रचण्ड कामना की धारा प्रवाहित होती रहती है, और स्पर्शकर्ता दूसरे को अपनी इस धारा मे निगल जाना चाहता है। पाश्चात्य सभ्यतानुगामी आज का समाज इसको अपनाने मे तनिक भी न झिझकता है और न लज्जा प्रतीत करता है। यह मूर्ख समझ ही नही पाता कि स्पर्श केवल चर्म तक ही सीमित नही रहता। चर्म-स्पर्श तो वडा स्थूल होता है। प्रत्येक स्थूल का सूक्ष्म रूप हुआ करता है। सूक्ष्म के ऊपर ही स्थूल का आरोहण होता है। स्थूल की गति वडी मन्थर होती है, जवकि सूक्ष्म वडा तीव्र शक्तिशाली एव द्रुतगतिशील होता है। पानी की तरल अवस्था स्थूल है, वाष्प उसकी सूक्ष्म अवस्था है। पानी कल-कारखाने नही चला सकता, यह उछलकर आकाश मे वादल के रूप मे नही जा सकता। वाष्प ही उपर्युक्त कार्यों के सम्पादन मे सक्षम हो पाता है, जो कि पानी का सूक्ष्म रूप है।

गब स्पर्श के सूक्ष्म रूप का दर्शन करे। ग्राखो द्वारा स्पर्श होता है। घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय एव रसेन्दिय के द्वारा भी स्पर्श स्थापित होता हे, किन्तु स्पर्श का यह रूप सूक्ष्म वना रहता है, दृष्टिगोचर नही होता। वस्तुत स्पर्श तो इन्द्रियो द्वारा मन का होता है न कि केवल ग्रापस मे मात्र इन्द्रियो का। मन तो इन्द्रियो का स्वामी एव इन्द्रियो से भी सूक्ष्म है। जब मन मन को स्पर्श कर लेता है ग्रौर जब यह स्पर्श सुहा जाता है, तब दो मन एक ग्रन्थि मे बध जाते हे, जिसे छुडाना बडा मुश्किल होता है। इसे कहते हैं प्रेम। इसके विपरीत एक मन दूसरे मन पर ग्राघात करता है तो उसे घृणा एव द्वेप कहते हें।

जब ग्राख से ग्राख ग्रापस मे बात करती है तो क्या ग्रापसी स्पर्श स्थापित नही होता ? क्या किसी के मधुर कठ की ध्वनि श्रोता को ग्रपनी तरफ ग्राकर्षित करने मे सिद्ध नही होती ? क्या एक-दूसरे के शरीर से स्रवित गन्ध एक-दूसरे को प्रभावित नही करती ? क्या जिह्वा के द्वारा स्पर्श ग्रपनी प्रेमिका पर ग्रपनी ग्रमिट छाप नही लगा देता ? यदि हम एक-दूसरे के ग्रनुचित ग्रनैतिक प्रभाव से वचना चाहे तो क्या यह ग्रनिवार्य नही कि स्पर्श को एक मर्यादित दूरी पर रखा जाय ? ग्रार्य सस्कृति मे इसी कारण तो स्त्री ग्रौर पुरुप का ग्रापसी स्पर्श वर्जित माना गया है हमारे यहा तो यहा तक कहा गया हे कि युवा पुत्र, युवा भाई एव पिता क्रमश ग्रपनी माता, वहिन एव युवा पुत्री के साथ भी मर्यादित दूरी के ग्रन्तर्गत ही सपर्क स्थापित करे। नीतिकारो ने ग्रमर्यादित सम्पर्क की वडे-वडे शब्दो मे ग्रालोचना की है। ग्राज के दिन, जब सम्पर्क की मर्यादित डोरी टूट गई हे, यह स्पर्श गजब ढाये बिना नही रहता, जिसके परिणामस्वरूप क्या ग्राज हम समाज को रसातल मे जाते हुये नही देखते ?

साधारण बुद्धि स्पर्श की प्रचण्ड शक्ति का ग्रनुमान लगाने मे कुठित रहती है। ग्रापस का स्पर्श एक-दूसरे को ग्रपने मन मे समेट लेने मे सदा सलग्न बना रहता है। इसको स्थूल दृष्टि देख नही पाती ग्रौर सूक्ष्म दृष्टि से हम काम नही लेते। कारण सूक्ष्म दृष्टि सभी को तो प्राप्त होती नही। स्थूल जगत का जीव सूक्ष्म जगत मे पदार्पण करे, तो कैसे ? वह दृष्टिगोचर तो होता नही। वह तो ग्रन्त स्थल की वस्तु है। ग्रन्तर्दृष्टि बिना इसकी स्थिति की प्रतीति हो ही नही पाती। एक वैज्ञानिक दृष्टान्त द्वारा हम ग्रपने इस कथन की पुष्टि करे। चादी ग्रौर सोने के ऐसे चौकोर गुटके ने जिनके पहलू पूर्ण

समतल हो और इन दोनो के पहलुओ को आपस मे जोडकर किसी सुरक्षित स्थान पर रख दे, तो कुछ काल पश्चात देखने मे आएगा कि एक के परमाणु दूसरे मे जा चुके हैं। इन दोनो धातुओ के परमाणु वडे ही घन और आपस मे कसे रहते है। इतना होने पर भी स्पर्श इन दोनो धातुओ के परमाणुओ पर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या, जिसका मन इतना चचल एव असयत होता है। फिर भी वह स्पर्श के ऊपर विजय प्राप्त करने की डीग मारता दिखाई पडता है। क्या यह उसकी घृष्टता नही है?

यहाँ तक तो स्पर्श के स्थूल एव साधारण सूक्ष्म रूप का विवेचन हुआ। स्पर्श के सूक्ष्म रूप की भी एक सूक्ष्मतम अवस्था होती है, जिसकी गति एव क्रियाशीलता बडी तीव्र होती है। इसके आघात-प्रत्याघात पर विजय पाना साधारण बुद्धिजीवी मनुष्य की शक्ति के परे की वात हे। स्थूल जगत की क्रियाशीलता का शक्ति-भण्डार उसका सूक्ष्म जगत होता हे। जीव का आवा-गमन तो सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही होता है। माता के गर्भमे सूक्ष्म शरीर ही तो प्रवेश करता है। स्थूल के प्रवेश करने की वहा गुजाइश ही नही। सूक्ष्म शरीर का उसे छोड देना ही तो स्थूल शरीर की मृत्यु कहलाती है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के भी परे की बात है। जव वह (जीवात्मा) इसके (सूक्ष्म शरीर जो कि उसका खोल है) ऊपर उठ जाता है तब वह शरीर से अपने को पृथक पहचानने योग्य बनता है और उसके (सूक्ष्म शरीर) विनाश होने पर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। जगत के कर्दम से विमुक्त हुआ यही जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। स्थूल शरीर तो मिट्टी के पुतले के सदृश्य पडा रह जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का आवरण मात्र है जिसके द्वारा वह व्यक्त होता है या दूसरे शब्दो मे सूक्ष्म का स्थूल माध्यम है जिसके द्वारा वह इस जगत का उपभोग करता है।

अब देखिए इस सूक्ष्मतम स्पर्श की सक्षमता एव करतूत। मनुष्य शरीर से, स्त्री हो या पुरुष, दो चीजो का स्रवण होता रहता हैं। एक गन्ध, दूसरा स्वर। इन दोनो की सूक्ष्म अवस्था बडी ही शक्तिशाली होती है। इसका स्थूल रूप तो अनुभवगम्य है किन्तु सूक्ष्म रूप स्थूल के अनुभव के बाहर की वात है, उसके सूक्ष्म रूप की पहचान इनकी प्रतिक्रिया के फल से ही स्थिर की जाती है। हम इस बात को एक उदाहरण द्वारा प्रशस्त करने का प्रयास करेंगे। जिस प्रकार रोग के कीटाणु चर्म-चक्षु के विपय नही, उनकी स्थिति की जान-कारी के लिए अणुवीक्षण यत्र (माइक्रोस्कोप) की आवश्यकता है, उसी प्रकार

इन गन्ध एव स्वर के सूक्ष्म तत्त्वो की पहचान के लिए बहुत ही सवेदनशील यत्र की आवश्यकता है। वायुमण्डल मे तैरती हुई स्वर-लहरियो को रेडियो ही व्यक्त कर पाता है। उनके घात-प्रत्याघात की क्रिया का हम प्रत्यक्षीकरण नही कर पाते। उन घातो के फलस्वरूप शब्द का व्यक्तिकरण ही हमारे पल्ले पडता है। किन्तु हमारे यहा घर-घर मे जो कि एक अच्छी प्रयोगशाला से कम नही—जब कभी पापड बनाया जाता है तो इन दोनो (गन्ध और स्वर) की अभिव्यक्ति कितनी साघातिक होती है, इसका स्पष्ट पता चलता है। पापड के बेसन को सज्जी के पानी से उसनते समय यदि उस पर रजस्वला व दस-पन्द्रह दिन की जच्चा की परछाई पड जाये या इनके शरीर से स्रवित गन्ध अथवा धोबिन के स्वर उसे स्पर्श कर लें, तो उस पापड के घन के ऊपर आघात किए बिना नही रहते जिससे पापड के घन मे छोत पड जाता है, तथा वे पापड सेकने पर बेलज्जत, लाल रग के व खट्टे हो जाते है। जब यह गन्ध और ये स्वर-लहरिया पापड के पिण्ड जैसे स्थूल पदार्थ पर अपना असर किए बिना नही रहती, तो फिर मनुष्य के सुकोमल सजीव हृदय की तो बात ही छोड दीजिए। गन्ध के परमाणु अदृश्य रूप मे वायु मे लहरियो के रूप मे किस प्रकार तैरते रहते हैं, इसकी अभिव्यक्ति होती है कुत्ते की घ्राण-इन्द्रिय मे जाकर। पुलिस के द्वारा ऐसे कुत्ते पाले जाते हैं जिनकी घ्राणेन्द्रिय स्वर-लहरियो के सदृश्य तैरती हुई इन गन्ध-लहरियो को पकडने मे सक्षम होती है। यदि भूल से कोई चोर-डाकू किसी घर मे चोरी या डाका मारते समय अपने जूते या रूमाल या अगोछा या शरीर का कोई भी वस्त्र छोड जाए, तो उमसे निकलती हुई गन्ध को सूघकर वह कुत्ता उस वस्तु के मालिक को मीलो दूर जाकर पकड लेता है क्योकि जाते समय वह अपने शरीर से बहती हुई गन्ध की धारा को छोडता चला जाता है। इसी प्रकार हमारे शरीर से गन्ध की धाराए बहती रहती है जो एक-दूसरे को अभिभूत करने मे सक्षम बनी रहती है। इसका उल्लघन जीवन नही मृत्यु है, और हमको अनेक आपदाओ मे डाले बिना नही रहता। समाज मे मिलने-जुलने वाले जो लोग सेन्ट इत्यादि लगाकर जाते है, उनके शरीर की गन्ध इस सेन्ट की सुगन्ध से सयुक्त होकर और भी सक्रिय हो चलती है। हमारे यहा रजस्वला स्त्री के लिए तुलसी को सीचना वर्जित है। ऐसा करने से तुलसी के पत्ते मुरझा जाते है और वह सूख जाती है। छोटी एव बडी माता के निकलने पर रोगी के गृह मे उपर्युक्त स्त्रिया प्रवेश नही

पा सकती । इनका प्रवेश घातक होता है । इसी कारण से रजस्वला स्त्री का स्पर्श वर्जित है, जिसको कि आज के मन्दमति युवक युवतिया प्राय ठुकराते चले जा रहे है ।

इसी प्रकार गन्धी की दुकान पर हम कुछ समय तक बैठे रहे तो उस दुकान के वातावरण मे तैरते हुए गध के परमाणु हमारे शरीर और कपडो मे प्रवेश कर जाते है । ये परमाणु बडे ही सूक्ष्म होते है और स्थूल अनुभव के परे हैं, किन्तु उस बैठे हुए व्यक्ति के कपडो मे व्यक्त हो जाते है क्योकि सूक्ष्म तत्त्व व्यक्त होने के लिए बडा लालायित बना रहता है और स्थूल स्तर की फिराक मे रहता है । उपर्युक्त स्तर मिलते ही वह उसमे व्यक्त हुए बिना नही रहता । प्रत्येक कार्य के प्रेरक विचार है, छोटी-सी हल्की-सी चुटकी भी इस प्रेरणा से रहित नही हो सकती । प्रत्येक विचार का उत्पत्ति-स्थान इच्छा है, तदर्थ कोई भी कार्य कार्यकर्ता की इच्छा से स्वतत्र नही । कोई भी अपनी स्वतन्त्र हस्ती रख नही सकता । इसलिए जब कभी हम समाज मे किसी प्रकार के विप्लव, उथल-पुथल या किसी भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार की अभिव्यक्ति देखे, तो यह बात हमारी दृष्टि से फिसलनी नही चाहिए कि उसमे कर्ता की इच्छा निहित थी । एक अन्य उदाहरण से हम उक्त तथ्य की पुष्टि करेगे । खाद्य एव अखाद्य वस्तुओ के परमाणु भी मनुष्य के मानस पर किस प्रकार आघात करके अपना आधिपत्य जमा लेते है, जरा इसे देखे । कोई खाटी निरामिष व्यक्ति यदि हठात् प्याज, लहसुन, अण्डे, मास, मछली एव मद्य को चखना चाहे तो वह ऐसा नही कर सकता जब तक कि उनके परमाणु उसके घ्राण मानस स्तर पर घर न कर लें, जब तक कि उनके परमाणुओ से उनकी घ्राणेन्द्रिय अभिभूत न हो जाय और जिह्वा के अन्दर उन पदार्थो को ग्रहण करने की रसना का उद्भव न हो जाय, तब तक उसके लिए इन पदार्थों का सेवन करना सभव नही । मसान जगाने वालो मे एक औघड बाबा भी होते हैं जिनके मन-मस्तिष्क को जलते हुए मुर्दों की गन्ध या उसके परमाणु इतना अधिक प्रभावित कर देते हैं कि अर्द्ध-जलित मुर्दों को चिता मे से निकाल कर उसके मास तक को खा जाते है । इस नर-मास-भक्षण के अनुपात मे मद्यपान तो गौण है । औघड सिर्फ छोटी जाति के ही नही होते, ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए विभ्रमित युवक भी इस साधना मे प्राय सलग्न पाये जाते है । अत किसी चीज का प्रगाढ सान्निध्य अपनी तरफ खीचे बिना नही रहता । जबकि इनकी गति इतनी प्रबल एव सूक्ष्म है, तो इनके आघात-प्रत्याघात से बचना तथा भ्रष्टाचार,

दुराचार एव व्यभिचार के कर्दम मे फस जाने से अपने को वचाये रखना क्या बुद्धि जीवी मनुष्य का कर्तव्य नहीं है ? इसलिए स्त्री-पुरुप के बीच मे मर्यादित दूरी को मान्यता देना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा हम भी फूलो की दुर्दशा को प्राप्त हुए विना नही रहेगे। यदि हम डालियो पर लगे हुए फूलो को नजदीक से थोडी देर सूघते रहे, तो उनके गन्ध-वाहक रन्ध्र कुठित पड जाते है और फिर उनमे से गन्धो का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता हे। यदि हम फूलो को इतनी दूरी से सूघे कि हमारी नासिका की गर्म वाष्प उन तक न पहुँच सके, तो वे सुरक्षित वने रहते है। और हम उनकी भीनी सुरभि का आनन्द भी ले सकते है। फूलो और हमारी नासिका के वीच की यह दूरी ही मर्यादित दूरी कहलाती है। यदि इस मर्यादित दूरी का उलघन कर फूलो को दोनो हथेलियो के बीच दवाकर सूघना शुरू करदे, तो उनकी पखुडिया हमारी हथेली की गरमी से झुलसे विना नही रहती, तथा उनके मसलने पर हाथो मे दुर्गन्ध आये विना नही रहती। यह है मर्यादित दूरी के व्यक्तिक्रम का फल।

यदि सही परिप्रेक्ष्य मे देखा जाय तो यह स्पर्श अचार के सदृश्य है। भूख के न लगने पर भी इसका जरा-सा सेवन भूख को जागृत कर देता है, और फिर अचार के द्वारा हम काफी खा भी लेते है। फलस्वरूप चाहे अजीर्ण ही क्यो न हो जाय। जव हम किसी के साथ बराबर उठते-बैठते रहते है, तो उसकी अनुपस्थिति जरा खटकने लगती है। आपस के उठने-बैठने का यह सम्पर्क किसी भी छोटी-बडी उम्र वाले काले-गोरे रग वाले किसी भी स्तर वाले के साथ हो सकता है, और होता भी है। इसी प्रकार रात-दिन साथ रहने वाले घर के नौकर-चाकर भी जब छुट्टी पर चले जाते है तो उनकी अनुपस्थिति खटकने लगती है खासकर विशेष अवसरो पर। यहा तक कि जब हम कुत्ते, बिल्ली जैसे पालतू जानवरो के भी विशेप सम्पर्क मे आ जाते हैं तो वे भी हमारे पैरो मे लिपट जाते हे और हमारे हाथ पैर चाटना शुरू कर देते है। और हम उनको प्यार की दृष्टि से देखते है। हिली हुई गाय घर के वच्चो को चाटना शुरू कर देती हे। ये सब करिश्मे है स्पर्श के। स्पर्श के माध्यम से एक के परमाणु दूसरे मे इस प्रकार प्रवेश कर जाते है कि वे ग्रन्थि के रूप मे आ जाते है मानो दो मित्रो ने एक-दूसरे के गले मे अपने हाथ डाल लिए हो।

आज विज्ञान के युग मे कीटाणुओ से बचने के लिए कितनी सावधानी बरती जाती है, यह एक सर्वविदित तथ्य है। आपरेशन करते समय डाक्टर

अपने मुह और नासिका पर पट्टी बाध लेते हैं ताकि उनकी श्वास—प्रश्वास मरीज के घाव पर आघात नही कर सके। सावधानी का अर्थ ही है उनके सम्पर्क से बचे रहना। विज्ञान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि ये बडे साघातिक होते है तथा धावा बोलने मे तनिक भी देर नही लगाते। एतद् इनसे मर्यादित दूरी पर बना रहना श्रेयस्कर है, किन्तु हमारी इन्द्रियो का प्रहार तो इनसे भी बहुत ज्यादा आग्रही होता है। स्पर्श का प्रयोग भोजन के परिवेषण मे भी व्यक्त होता है। एक ही भोजन रसोइया, नौकर, माता स्त्री, बहिन, पुत्री द्वारा परिवेषित होता है, तो उनकी भावनाओ से प्रभावित हो उस भोजन का स्वाद व्यक्ति के अनुसार बदलता जाता है। नौकर के हाथो का परोसा भोजन उतना सुप्रिय नही लगता जितना कि माता व स्त्री आदि के हाथ का। इस स्पर्श की गुरुता के प्रभाव का प्रत्यक्षीकरण अनेकानेक परिस्थितियो मे होता रहता है। इसलिए मर्यादित दूरी पर ही स्पर्श श्रेयकर है।

प्रकृति के रस-पाश के अधिपति बनिए

यह एक निर्विवाद सत्य है कि प्रकृति ने मनुष्य की रचना दु ख भोगने के के लिए नही अपितु रसास्वादन के लिए, "ब्रह्मरसो वै-स" की है। अस्तु, उसकी यह सृष्टि भी रसमयी होनी चाहिए। यह बात भी बिलकुल ठीक है, जिधर देखो रस ही रस है। ब्रह्म से नि सृत प्रकृति के द्वारा जिस सृष्टि के अन्दर इस रस की अभिव्यक्ति होती है वह अपने माध्यम के दोषो और गुणो से अलग नही रह पाता—यह माध्यम है प्रकृति के सत्व, रज, और तम।

प्रकृति मे जितने भी मीठे रस उपलब्ध है उनका माध्यम कसैला है। आम का रस इतना मीठा, उसकी गुठली कसैली, जामुन का रस मीठा पर गुठली बडी कसैली। फलो की गुठलिया मीठी नही पायी जाती। अनार कितना मीठा है, पर उसका छिलका कितना कसैला है। इसी प्रकार मनुष्योपभोग के लिए जितने भी पदार्थ है उनमे मिठास और कसैला का सम्मिश्रण है। नीम कितना कडुवा है, पकने पर उसकी निवौली मीठी, किन्तु उसका बीज कितना कडुवा और दुर्गंधयुक्त जो सहज मे सहन नही हो सकता।

लेकिन इसी बीज से निकाला हुआ तेल चर्मरोग के लिए महौषधि । कच्चे नारियल का जल त्रि-दोषनाशक, पके नारियल का गूदा (खोपरा) बडा ही पौष्टिक, किन्तु उसके ऊपर का आवरण बडा कठोर और उस आवरण के ऊपर जटाजूट वडी मजबूत जिससे रस्सी और रस्से बनते है । इन फलो को खाते समय, इनके आवरण, इनकी गुठलिया फेंक देते हे । अगर सभी को साथ खाना शुरू कर दें तो उनका रस वेरस हो जायगा । इसी प्रकार जीवन मे उपभोग के लिए जितने भी पदार्थ हैं उन सब को उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार ही अपने उपभोग मे लाना चाहिए । किन्तु, जब मनुष्य अपने लोभ का सवरण नही कर पाता और त्याग की भावना से रहित होकर सभी उपलब्ध पदार्थो को ज्यो-का-त्यो खा जाना चाहता है, तव उन पदार्थों का रस वेरस हुए विना नही रहता और कही-कही तो दात टूटे बिना भी नही रहते तभी तो 'ईशोपनिषद्' के ऋषि ने प्रथम मत्र मे ही कहा है—

ॐ ईशा वास्य मिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम् ।

अर्थात् "जब वह (ब्रह्म) जगत् के अणु-अणु मे बसा हुआ है, और 'ईश'-स्वामी की हैसियत से वसा हुआ है, तव तो यह सब उसी का है, हमारा क्या है ? मनुष्य अगर यह धारणा कर ले कि विश्व का स्वामी वही है, तो ससार का उपभोग वह किस बुद्धि से करेगा ? वह यही तो समझेगा कि मैं उसका दिया खाता हू, उसका दिया पीता हू, उसका दिया मैं लेता हू । वह ससार के पदार्थों का भोग करेगा, परन्तु यह समझकर कि यह सब उसका है, मेरा नही, वह भोग करेगा किन्तु त्याग बुद्धि से, वह काम करेगा किन्तु नि सग भाव से । ससार की सब वस्तुए उसकी है, अत उसकी वस्तु को अपना समझना तो चोरी के समान है । जो अपने पास हे, जब उसे भी अपना समझना चोरी हे, तो जो दूसरे के पास है, उसे अपनाने का प्रयत्न करना तो उसकी दृष्टि मे दोहरी चोरी है ।"

यहा यह भी सकेत मिलता है कि प्रभु ने अपनी सृष्टि मे अपनी प्रजा के उपभोग के लिए पर्याप्त मात्रा मे सामग्री उत्पन्न की है । यदि ईमानदारी से वाट कर खाए तो किसी को भी भुखमरी का कष्ट सहन करने के लिए अवसर ही उपस्थित न हो । ऋषि त्रिकाल-दर्शी होते थे । उनकी दृष्टि मे यह अवश्य शका बनी रही होगी कि रजोगुण और तमोगुण से प्रभावित होकर

मनुष्य लोभ-वृत्ति के वशीभूत होकर छीना-झपटी किये बिना नही रहेगा। इसी हेतु से ऋषि ने 'गृध' शब्द का उपयोग किया है। 'गृध' शब्द अपने मे बडा ही व्यापक है जिसका पर्याय अग्रेजी मे Greed है। यह शब्द बडा ही ध्वन्यात्मक है जिससे 'गृध्र' शब्द ध्वनित होता है। इसका यह अर्थ निकलता है कि लोभी को गृद्ध-योनि प्राप्त होती है, किन्तु 'गीता' साफ शब्दो मे लोभ को नरक का द्वार कहने मे भी हिचकती नही—

'त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशन मात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत ॥"

(गीता अ १६ श्लो २१)

अर्थात् "काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले है अर्थात् अधोगति मे ले जाने वाले है, इससे इन तीनो को त्याग देना चाहिए।" किन्तु ऋषि ने लोभ के ऊपर ही विशेष जोर दिया ह, क्योकि यह बडी ही जघन्य वृत्ति है। काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा इसी लोभ के चट्टे-वट्टे ह। लोभी अपनी लोभ-वृत्ति को प्रकृति के न्याय की परिधि मे सीमित कर मत्स्य-न्याय की दुहाई देते झिझकता नही, और उसी न्याय को Survival of the fittest की आधार-शिला मानता है, किन्तु वह भूल जाता है कि कहाँ जलचर, और कहाँ मनुष्य! वह अपने को मत्स्य के स्तर पर ले आने मे शरमाता नही जो कि तमोगुण से अभिभूत है। यह तो तामसी प्रकृति का नियम है, न कि सात्विक वृत्ति का। मनुष्य को तो विकास के मार्ग पर चलकर "अतिमानव" बनना है, न कि आसुरी योनियो मे गिरकर उनमे चक्कर लगाते रहना है। जीव-जन्तुओ की योनि भोग-योनि है, किन्तु मनुष्य की योनि कर्म-योनि है। सिंह इत्यादि के पास क्षुधा-निवारणार्थ छोटे जीवो का शिकार करने के अलावा दूसरा चारा नही, किन्तु मनुष्य अपनी सात्विक बुद्धि के बल पर निर्लोभ-वृत्ति के द्वारा जीवन यापन करने मे समर्थ है।

भाई-भाई मे, पिता-पुत्र के बीच मे, मित्र-मित्र के बीच मे, भागीदारो के बीच मे वैमनस्यता का कारण हे केवल लोभ। भ्रष्टाचार, दुराचार की सृष्टि का आधार है लोभ। घूसखोरी की आधार शिला तो लोभ है ही। समाज मे जितनी भी बुराइयाँ है, उन सब का प्रधान कारण लोभ है। लोभी उत्तमर्ण (ऋणदाता) से रुपये प्राप्त करने पर कितना प्रसन्न होता है और जब वह उत्तमर्ण अपने रुपयो की वापसी की माँग करता है, तो कर्जदार

लोभी को गर्म तेल के छींटे लगने लगते हैं। निर्लोभी की कसौटी यह है कि उसे दूसरे का रुपया बिच्छू के डक के समान काटने लगता है। जब तक मनुष्य इस मानसिक अवस्था को प्राप्त नही होता, तब तक वह लोभ की मोटी एव झीनी परतो के अन्दर ही लिप्त बना रहता है। लोभी का अत करण इतना काष्टवत् कठोर एव भावशून्य बन जाता है, कि उसे अपने कुकृत्यो का भान ही नही हो पाता। यह दूसरी बात है कि प्रकृति उसे सुमार्ग पर लाने के लिये डडेबाजी से काम लेना शुरू न कर दे। प्रकृति के डडे की चोट पडने पर वह चिल्लाता है, रोता है और रहम करने के लिए प्रार्थना करता है किन्तु जब तक वह सही मार्ग पर नही आ जाता प्रकृति का प्रहार जारी रहता है। प्रकृति देखने मे तो मूक है, परन्तु वास्तव मे बडी सक्रिय है। उसका नियम अचूक है, उसके तराजू मे अच्छे-बुरे सभी तुलते रहते है और जिसको वह तराजू तोलने मे असमर्थ हो जाता है, वह है महात्मा, वह अतुलनीय कहलाता है। इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने को अतुलनीय बनाये और प्रकृति के पाश से मुक्त हो, उसका अधिपति बन जाये। यह अवस्था गुणातीत की है। मनुष्य की उन्नति का मूर्धन्य शिखर है गुणातीत हो जाना, जो अवस्था प्रभु के प्रसाद को पाकर ही प्राप्त की जा सकती है।

प्रेम गली अति सांकरी

यह प्यारा विमोहक ढाई अक्षर का शब्द 'प्रेम' इतना रहस्यमय बना हुआ है कि इसके रहस्योद्घाटनार्थ ससार के भिन्न-भिन्न देशो के मूर्धन्य कवियो तथा लेखको ने इसकी व्याख्या एव परिभाषा करने का प्रयास किया है, किन्तु इसकी परिभाषा अभी तक पूर्णरूपेण नही हो पाई है। पूर्ण को अपूर्ण अपने बाहुपाश मे बाध ही कैसे सकता है। जब कि भाषा भौतिक और परिमित है, प्रेम लोकोत्तर एव दिव्य है। प्रेम शक्ति एव आनन्द का अक्षय भण्डार है। उसकी अभिव्यक्ति केवल आत्मा मे ही होती है। क्योकि प्रेम आत्मा का ही धर्म है। भौतिक जगत मे उसका प्रतिबिम्ब मात्र पडता है। उसके प्रतिबिम्ब पडने का स्थान है हृदय। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब विशुद्ध पानी मे जाज्वल्यमान एव आखो मे चकाचौध पैदा करने वाला होता है किन्तु पानी मे सूर्य का अवतरण नही होता, ठीक इसी प्रकार मन स्तर प्रेम के अवतरण का स्थान नही, वह तो केवल उसमे प्रतिबिम्ब होता है, यानी उसकी हमे केवल अनुभूति होती है, आभास होता है। इस प्रकार जल एव हृदय

की अवस्था है, जैसे जल सूर्य को पकडने मे असमर्थ, उसी प्रकार हृदय प्रेम को।

तालाव के पानी की सतह जैसे निरन्तर सदा-सर्वदा तरगित वनी रहती है उसी प्रकार हृदय भी निरन्तर तरगित वना रहता है, जिसे मन की चचलता कहते है। वायु-शून्य पानी की ही सतह स्थिर रह सकती है। परन्तु ऐसा हो नही सकता। नदी का पानी तालाव की अपेक्षा अधिक गतिशील रहता है। इसी प्रकार वायु-शून्य पानी की तरह ही विचारो के नितान्त अभाव मे ही मन स्थिर रह सकता है। वयस्क एव प्रौढो का मन वच्चो के मन की अपेक्षा अधिक गतिशील तथा चलायमान होता है या तरगति होता है। इन तरगो के आकार-प्रकार के अनुसार ही प्रेम रुपी सूर्य के प्रतिविम्व की झलक की अभिव्यक्ति होती रहती है। जव तरगे वहुत हल्की, धीमी और सरलता से वहती हैं उस समय प्रतिविम्व का प्रकाश विशेप होता है, या सूर्य जल मे स्पष्ट प्रतिविम्वित होता है। वेगमान तरगो में उसका प्रतिविम्व वडा ही अस्थिर, असम्वद्ध तथा प्रभावहीन होता है। गन्दले पानी की तरगो मे सूर्य का प्रतिविम्व परिलक्षित तो होता हैं, किन्तु प्रकाशवीहिन।

ठीक यही अवस्था हृदय की है। जव सूर्य की किरणें पानी पर आघात करती हैं तो प्रत्येक तरग स्वच्छ एव अस्वच्छ पानी मे, तरगो के घनफल के अनुपात मे, त्रिपार्श्व (Prism) की क्रिया करती है और इनमे से अनेक रग परिलक्षित होने लगते है जैसे लाल, नारगिया, पीला, वैंगनी, नीला, आसमानी, हरा। किन्तु इनमे से पाच ही रग प्रधान होते है—लाल, पीला, हरा, बैंगनी, आसमानी। पीले तथा लाल के मिश्रण से नारगी रग होता है तथा बैंगनी एव आसमानी से नीला रग बनता है। इसी प्रकार हृदय मे प्रेम का प्रतिबिम्ब पडने पर यह कई प्रकार के रूप ले लेता है, जैसे स्नेह, वात्सल्य, प्रीति, प्रणय, राग, मोह, राग मे लिप्सा तथा प्यार आदि। इस प्रतिविम्ब की अभिव्यक्ति मन की सात्विक, राजसी तथा तामसी अवस्थाओ पर निर्भर करती है। यह वडा ही निगूढ मनोवैज्ञानिक विषय है, जिसकी परतो मे जाने से विषयान्तर हो चलेगा। मोटा-मोटी इन प्रवृत्तियो के अभिव्यक्त होने के स्थान भिन्न-भिन्न है।

माता-पिता पुत्र के बीच मे प्रेम का रूप है स्नेह, वात्सल्य, प्यार, नि स्वार्थ त्याग—यह भी अनन्य कोटि का है जिसमे विनिमय की गन्ध नहीं, यदि विनि-

मय है तो शिशु को केवल प्रसन्न वदन देखने का । मा के स्तनो का दूध मानो स्नेह का स्थूल रूप ही है । साधारण वर्ग मे रात्रि के समय वच्चो के पेशाव करने पर भी माता उसी गीले कपडे को अपने नीचे कर, अपनी सूखी धोती की गद्दी वना उसके नीचे विछा देती ह । माता का वह विशाल भव्य हृदय सदा अथाह स्निग्ध स्नेह, प्यार, वात्सल्य से लवालव भरा रहता हे । माता के रूप मे स्त्री भगवान की सर्वोत्कृष्ट कृति है । किन्तु माता-पिता के प्रति पुत्र का प्रेम स्थायी नही होता । ये ही वच्चे जिनको वाल्यकाल मे माता-पिता का सान्निध्य परमवाच्छनीय होता था एव उनकी गोदी मे परम शान्ति मिलती थी, वडे होने पर यह सानिन्नध्य की डोरी शिथिल पडती जाती है, और उनके विवाह शादी के वाद तो एक झटके से टूटे विना नही रहती । यही माता-पिता अव उनके जीवन मे वाधक तथा अवाच्छनीय समझे जाने लगते है । यह है मन की घोर विकृति—राजसी, तामसी रूपी गदली गन्दी मानसिक तरगो की करतूत । अत प्रेम की अभिव्यक्ति मन की अवस्था पर निर्भर करती है ।

भाई-भाई के वीच, भाई-वहन के वीच प्रेम स्नेह का रूप ह । किन्तु जव उनका निज का ससार चलने लगता है तो स्नेह के वन्धन भी शिथिल पड जाते है और जहा लोभ-लालच एक दूसरे को आ धर दवाता है तो द्वेष, घृणा, हिसा की अग्नि को भी प्रज्ज्वलित होने मे देर नही लगती । ये सव प्रति-क्रियाएँ मन मे ही तो होती रहती ह । ये ही तो मन के विकार हे ।

मित्र-मित्र के वीच के प्रेम का रूप हे प्रीति । प्रीति अवलम्वित रहती है प्रतीति पर । इन दोनो के हृदय की डोरी प्रतीति के हाथ मे रहती है । इसमे खामी आने पर दोनो के हृदय तडक जाते है । एक-दूसरे के सान्निध्य मे रहने पर इनमे आपस मे आकर्पण तो हो जाता है, जिसको ये प्रेम की सज्ञा दे बैठते है, लेकिन यह प्रीति जिसकी आधार-शिला हे प्रतीति, जव इन्हे स्वार्थवृत्ति घर दवाती हे, तो उसकी अपूर्ति वनी रहने पर वे एक-दूसरे के दुश्मन हुए विना नही रहते ।

प्राकृतिक नियम हे कि स्त्री-पुरुप अपनी-अपनी इकाई मे अधूरे है या एक-दूसरे के पूरक ह । यह दोनो पाणिग्रहण सस्कार के द्वारा प्रणय-सूत्र मे बधकर एक पूर्ण इकाई वनती हे । इसी प्रणय की आधार-शिला हे स्निग्ध स्नेह, प्यार, प्रीति, प्रतीति, त्याग, तप तथा एक-दूसरे का हित ही इनका स्वार्थ हे । अभिन्न हृदय न होने पर ये सद्भावनाये टिक नही सकती । प्रणय मे इन्द्रिय

सुख तो निहित रहता ही है, किन्तु उसका लक्ष्य है प्रणयन, जिसमे अपना, समाज का एवं राष्ट्र का हित तथा सृष्टि-विकास के कार्यक्रम का समावेश बना रहता हे। जब इस सम्बन्ध मे मन की निम्न कोटि की विकृत वृत्ति घुस-पैठ कर जाती हे तो यह भी भयकर रूप धारण किए बिना नही रहती। प्रेम के उपरोक्त वर्णित रूपो मे विकृति आने का कारण बनता हे सयम की कमी, असयतता का निषिद्ध प्रवेश।

मन मे गदले गन्दे स्तर पर प्रेम की एक और अभिव्यक्ति होती हे जो कि राग का रूप धारण करती है। यह उपपति-उपपत्नी के रागात्मक सम्बन्ध मे परिलक्षित होती है। इस गुप्त सम्बन्ध की आधार-शिला है दोनो का असयत मन एव केवल शारीरिक आकर्षण। इसमे शका, भय, हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष भरपूर बना रहता है। यह कभी-कभी बडा ही वीभत्स रूप धारण कर लेता हे। स्त्री को अपनी राह मे किसी भी दिशा से आया हुआ व्यवधान असह्य हो जाता है। वह व्यवधान उसका शिकार हुए बिना नही रहता। स्त्री अपने पुत्र की आहुति तक देने मे नही हिचकती। आये दिन इस प्रकार की घटनाये सुनने मे आती रहती हे। स्त्री का यह असत्य अशिव रूप है। ऐसी स्त्रियो का उपपति की दृष्टि मे कोई स्थान नही होता। आगे चल कर वह उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। किन्तु अपने नैसर्गिक हठ के कारण वह यह सब कुछ सह लेती है तथा उसके चरणो मे लोटते-पलोटते रहने का लोभ नही छोड पाती।

प्रेम का एक और भी रूप होता है—वह हे भक्ति। यह दिव्य प्रेम है। भक्ति भी कई प्रकार की सुनने मे आती है, जैसे मातृभक्ति, पितृभक्ति, गुरु-भक्ति। वस्तुत भक्ति का तात्पर्य होता हे ईश्वर मे आसक्ति, अत ईश्वर से प्रेम ही भक्ति है। ईश्वर मे अपने को लीन कर देना, आत्म-विभोर हो जाना भक्ति कहलाती है। चूंकि शास्त्रो मे माता-पिता एव गुरू को देव-तुल्य बतलाया गया है, अत इन पूज्य व्यक्तियो के साथ भी भक्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रेम की अभिव्यक्ति व्यक्ति के मन स्तर के अनुसार होती है। रज-तम को अभिभूत कर मन के अन्दर जब सतोगुण की वृद्धि होने लगती है तब वह प्रकाश से भर जाता है, बडा ही निर्मल, स्वच्छ हो जाता हे अत इसमे दया, करुणा, नि.स्वार्थ प्रेम, स्नेह, त्याग, नि स्वार्थ सेवा-भाव इत्यादि की

अभिव्यक्तिया होती रहती है जिनके धनी होते हैं साधु, सन्त, महात्मा। मन की यह अवस्था भी द्वन्द्वातीत नही हो पाती कारण तीनो गुणो के कार्य-रूप मन स्तर पर हा विकसित होते रहते है, किंतु जब मन नितान्त लय हो जाता है, अर्थात् यो कहे कि वह तीनो गुणो को अभिभूत कर लेता हे, यानी मन विचार-शून्य हो जाता है, तब इस प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, आत्मस्तर पर। तब परमानन्द की वर्षा होती है और वहा प्रेमी और प्रेमिका की आत्मा एक-दूसरे मे समरस हो जाती है, फिर उनका मन ही दृष्टा और दृश्य का रूप धारण कर लेता है, दोनो मे कोई भेद नही रहता। इन्द्रिय-जन्य जितने भी सुख है वे आनन्दाभास है, आनन्द नही। आनन्द तो गुणातीत होता हे।

जब मै था तू न था तू पायो मं नाय।
प्रेम गली अति साकरी जा मे दो न समाय ॥

विवाह

विवाह पाणिग्रहण सस्कार के नाम से जाना जाता है और इन दोनो को एक-दूसरे का पर्याय समझा जाता है, लेकिन विवाह वस्तुत बहुत ही व्यापक है, इसका क्षितिज असीम हे, हालाकि देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि यह इतना ही तो हे। जब हम इस इतने को पकडने को जाते हे अथवा यू कहे जब हम उसके निकट पहुँचने का प्रयास करना चाहते हे तो वह हमसे उतना ही दूर भाग जाता है और हम उसी विन्दु पर टिके रह जाते हे जिस पर पहले थे। मृगतृष्णा का क्षितिज ही व्यामोह से भरा हुआ रहता हे जो कि तृसित जीव को व्याघात करने मे तनिक भी लिहाज नही करता। लेकिन इसका क्षितिज और मृगतृष्णा का क्षितिज एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हे, पहला आधार लिए हुए है, दूसरा निराधार है। विवाह के सम्पादनार्थ पाणिग्रहण एक पद्धति है और यह पद्धति विश्व के सारे समाज मे प्रचलित हे—रूपान्तर से।

विवाह का उद्देश्य हे व्यक्ति और समाज के जीवन मे स्थिरता एव शान्ति प्राप्त करना। हमारी सस्कृति मे विवाह को उच्चतम स्थान प्राप्त है, और

यदि इसको सही -परिप्रेक्ष्य मे देखा जाय तो बात भी ऐसी ही है। इसकी मर्यादा के समादर के फलस्वरूप समाज मे स्वच्छन्दता, उच्छृंखलता, दुराचार, व्यभिचार इत्यादि-इत्यादि जो कि वडे दुष्कृत्य है, जिनसे समाज छिन्न-भिन्न बन जाता है—इन सब दुर्दान्त दोषो का उच्छेदन करने का एक बहुत ही सरल मीठा सहज साध्य साधन विवाह हे।

तरल वस्तु को रखने के लिए पात्र की आवश्यकता है, आवश्यकता ही नही नितान्त अनिवार्यता है। इसी प्रकार मनुष्य के हृदय के भाव भी नितान्त तरल हे जिनकी अभिव्यक्ति बिना माध्यम के हो नही सकती और जिनकी स्थायी अभिव्यक्ति के लिए भापा की आवश्यकता होती है और उस भाषा को लेखबद्ध करने की आवश्यकता होती है जो कि उन भावो को सुरक्षित बनाये रखने के लिए पात्र का काम करती हे। यह लेखन-कला उन भावो को सुरक्षित वनाये रखने के लिए पात्र का काम करती है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषो के हृदय के अन्दर भी विभिन्न प्रकार की भाव-तरगो का उद्रेक होता रहता है तथा उनको ऐसे माध्यम की आवश्यक्ता होती है जिसके द्वारा इनका सामजस्य हो सके, उनकी अभिव्यजना हो सके और वह किसी पात्र मे जाकर स्थिरता प्राप्त कर सके, निर्दोप एव पवित्र बनी रहे। यह माध्यम, यह पात्र, यह पट्ट है स्त्री-पुरुष के हृदय जो कि एक-दूसरे से जुडने के पश्चात् एक पूर्ण पात्र वनते हैं और वह स्वर्ण-कलश उपयुक्त होता है एक-दूसरे के भावो को सजोने के लिए।

हम ऐसे मनुष्य की कल्पना करे जिसके एक ही हाथ और एक ही पैर हो तो वह वैशाखी के सहारे से भी काम नही चला सकता। वैशाखी तो वहाँ काम आ सकती है जिसके दोनो हाथ हो और एक टाँग न हो, ऐसी अवस्था मे वैसाखी को दोनो बगल लगाकर वह काम चला सकता हे। किन्तु हाथ-पैर एक ही तरफ के हो या एक ही हाथ हो तो ऐसी अवस्था मे भी वैसाखी काम नही आ सकती। हम दो ऐसे व्यक्तियो की कल्पना करे जिनमे से एक का दक्षिण अग हो और वाम अग न हो तथा दूसरे का वाम अग हो दक्षिण अग न हो। यद्यपि इन दोनो की अपनी-अपनी इकाई तो है, लेकिन अपनी इकाई मे ये अधूरे हे किन्तु यदि इनको सयुक्त कर दिया जाय और इनके बीच किसी प्रकार की भी दरार न रहने पाये तथा ये दोनो आपस मे इस प्रकार सन्तुलन पैदा करलें जिससे चलने-फिरने या काम करने मे लचक का नितान्त अभाव बना रहे तो यह एक ऐसी इकाई वनेगी जो त्रुटि-रहित और सर्वांग-सुन्दर

होगी जिससे कि दोनो ही दक्षता-पूर्वक अपने कार्यों का सम्पादन करने मे सक्षम बने रहेगे । इस प्रकार दोनो का जीवन सुखी होगा । यह दोनो इकाइयां एक-दूसरे की पूरक है जो कि मिलकर एक-दूसरे की पूर्ति करती हैं यानी पूरित-होती है। ये दोनो ही पूरक अग पूरित होने की उग्र अभिलाषा से प्रेरित बने रहते हैं । इस प्रकार पूरित होना सृष्टि के नियम-मर्यादा का सम्पन्न होना ही हे जो कि सुख व शान्ति-प्रद हुआ करता है ।

इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के एकीकरण को, जोकि अपनी-अपनी इकाई मे अधूरे है, विवाह की सज्ञा दी जाती हे । किन्तु यदि ये दोनो भिन्न-भिन्न इकाइयाँ एकीकरण होने के पश्चात् यदि यह एकीकरण कुण्ठित बना रहे, और अपने एकीकरण के परिवेश के वाहर और-और बैसाखियो के प्रयोग की लालसा के शिकार बने रहे, तो क्या यह हास्यापद बने बिने रह सकेगा ? तथा अन्य-अन्य वैसाखियो को प्रयोग मे लाते ही तत्क्षण धराशाही होने से बच सकेगा ? ऐसी वैसाखियो का प्रवेश विवाहित जीवन के अन्दर पर-पुरुष, पर-नारी का समागम है जिसके द्वारा पुरुष-स्त्री दोनो ही सर्वनाश को प्राप्त हुए विना नही रह सकते । इन दोनो इकाइयो के एकीकरण मे निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो दोनो का समान महत्त्व है । दोनो एक-दूसरे पर आधारित हैं, एक-दूसरे को थामे हुए है, एक-दूसरे के पोषक-पूरक हैं । अपने-अपने स्वरूप मे एक-दूसरे से भिन्न है, एक-दूसरे की उपयोगिता मे भी भिन्न-भिन्न दिखाई पडते हैं किन्तु एक-दूसरे की योग्यता उनके परस्पर एकीकरण मे ही उपयोगिता का रूप धारण करती है । अलग होने पर उपयोगिता काफ़ूर होने मे देर नही लगती ।

इन दोनो की योग्यताए समान स्तर की नही होती । जैसे रोटी बनाने मे आटा-पानी-अग्नि इन सबकी आवश्यकता होती है और एक-दूसरे के बिना ये निष्क्रिय हैं, यद्यपि अन्न और जल अपनी-अपनी योग्यता मे पूर्ण है, अन्न को अन्न बने रहने के लिए पानी की आवश्यकता नही, पानी को पानी बने रहने मे अन्न की आवश्यकता नही । इन दोनो पदार्थों मे अपनी-अपनी योग्यताए तो है किन्तु रोटी के रूप मे आने के लिए इनका सम्मिलित प्रयोग कितना आवश्यक है । यदि अन्न और जल आपस मे अपनी-अपनी योग्यता की सराहना करने मे तानाकसी करें तो यह तानाकसी हास्याष्पद ही है । स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के लिए कितने आवश्यक है इस बात का अनुभव अभाव मे ही परिलक्षित हो सकता है, भाव में नही ।

मस्तिष्क से काम लेने वाले बडे-बडे जज, बैरिस्टर, डाक्टर, इन्जीनियरो को भी एक ऐसे आश्रय की आवश्यकता पडती है जहा जाकर उनके अपने दिमाग को शान्ति मिल सके। एक बहुत व्यस्त आदमी अपने कार्य से थोडे समय के लिए अवसर प्राप्त कर एकान्त स्थान मे इसलिए चला जाता है कि वहा जाकर उन दैनिक व्यवहारो से थोडे समय के लिए छुट्टी पाले। वे व्यवहार जितने प्रिय है उतने ही क्लान्त करने वाले भी है। मनुष्य शान्ति का इच्छुक है, शान्ति जीवन मे अनिवार्य आवश्यकता है। यह शान्ति स्फूर्ति एव कार्य के सम्पादन मे दक्षता प्रदान करने वाली होती है। शान्ति मे निष्क्रियता तो प्रतीत होती है लेकिन उस निष्क्रियता मे थकावट व क्लान्तता को निकाल बाहर फैकने की एव पुन जीवन प्रदान करने की शक्ति निहित रहती है।

मनुष्य की तो बात अलग रही, मशीनो को भी विश्राम चाहिए। उस विश्राम-काल मे पुरानी तेल-चर्बी को साफ करके उनमे नयी तेल-चर्बी दे दी जाती है ताकि उनके व्यवहार-काल मे किसी प्रकार का घर्षण न होने पाये। यह घर्षण ही तो आगे चलकर उन्हे निकम्मा बना देता है।

इसी प्रकार दैनिक कार्य-कलाप मे घर का स्थान है। मनुष्य दैनिक कार्य-कलापो के फलस्वरूप थका हुआ एक विश्राम स्थान चाहता है और यह विश्राम स्थान है उसका घर। केवल ईंट-चूने से ही बना हुआ घर नही वरन् ऐसी सामग्री से सम्पन्न जो प्रश्रयदाता हो, जिसकी गोद मे लेटकर वह विश्राम और आनन्द का अनुभव कर सके, जो कि उसके थके हुए मस्तिष्क को सहलाकर अदम्य शक्ति एव नवजीवन का सचार कर सके। उस समय वह एक ऐसी शान्ति का इच्छुक बना रहता है जो कि उसकी उग्र मस्तिष्कीय शक्तियो को थोडे समय के लिए सुषुप्ति मे ला सके। नीद मनुष्य की शक्ति का ह्रास नही करती अपितु शक्ति के ह्रास को हर लेती है और अगले दिन के कार्य-कलापो के सम्पादन करने की उद्दाम शक्ति भर देती है।

देखने मे जागृत एव निद्रित अवस्थाओ मे कोई समानता नही। लेकिन दोनो कालो की महिमा अपने मे पूर्ण है। यह विश्राम प्रश्रयदाता स्त्री ही है। स्त्री-पुरुष दोनो का रूप एक नही है, न उनके क्षेत्र एक है। लेकिन एक दूसरे के क्षेत्र का सहयोग नितान्त अपेक्षित बना रहता है और एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र का प्रश्रयदाता बना हुआ है चाहे दोनो क्षेत्र अपने मे उग्र है। किन्तु उग्रता को हमेशा शान्ति चाहिए। चाहे हम स्त्री को ऋण शक्ति का रूप माने और पुरुष को धन शक्ति का, किन्तु ये दोनो शक्तिया अपने मे सतुष्ट है। किन्तु अलग-

अलग निष्क्रिय इन दोनो शक्तियो के सम्मिलन मे ही नव-जीवन का सचार निहित रहता है। इस न्याय से यह सिद्ध होना हे कि दिग्गज पण्डित को दिग्गज पण्डिताइन ही चाहिए, ऐसी कोई बात सिद्ध नही होती। पुरुष को एक ऐसी शान्तिप्रदाता की आवश्यकता पडती हे जिसकी गोद मे वह विश्रान्ति पा सके। अत स्त्री की शिक्षा ऐसी हो जोकि स्त्री-पुरुष के जीवन मे घर्षण का निराकरण कर सके और जीवन की गतिशीलता के अन्दर सरलता ला सके। इसका सच्चा रूप सरल एव स्निग्ध प्रेम, स्नेह से भरा हुआ उसका हृदय ही सच्चा रूप हो सकता है। उसकी शिक्षा का वह रूप होना चाहिए जिसके माध्यम द्वारा उसका हृदय उक्त स्तर को प्राप्त करने मे समर्थ हो जाय और इधर-उधर की तरफ झाकने की कामना नितान्त शून्य बनी रहे। स्त्री के हृदय मे यह शून्यता वह नन्दन-वन है जहा देवतागण आनन्द-विहार के लिए आया-जाया करते है। यानी ऐसी ही चरण पूज्या कलित ललित गोदी के अन्दर पुत्र-रूप मे देवतागण किलोल करने के लिए अवतरित होते हैं।

स्त्री की महत्ता, जिसका नैसर्गिक रूप मातृत्व है, का प्राकट्य तो तब होता है जब कि मनुष्य असहाय पीडा से क्लान्त उस वेदना के विमोचनार्थ उसके मुख से अनायास 'अरी मैया अरी मैया' शब्द का उद्घोष होता है जिसका भाव है अपनी माता का आव्हान। वह भली-भाति जानता है कि माता की गोदी ही एक ऐसी गोद है जहा कि विश्राम पा सकता है क्योकि वह जन्म से ही माता की गोद मे झूमा था उसीकी गोदी मे मचलते हुए उसका अमृतमय दुग्ध-पान करके पनपा था। पनपने का स्थान तो गोदी है। समयान्तर होने से इस गोदी का रूप बदल जाता है बालक के लिये माता की गोदी और युवावस्था मे पत्नी की गोदी समान सुखप्रद होती है। इस गोदी को किसी विशेषण की जरूरत नही। गोदी गोदी बनी रहे, इतना ही पर्याप्त है। गोदी तो वही स्थान है जहा कि मनुष्य पनप सके, आनन्द तथा शक्ति और विश्राम प्राप्त कर सके। यह गोदी उस तरल स्निग्ध नवनीत के सदृश्य है जिसमे कोई ठोस वस्तु पडते ही निमग्न हो जाय। एक-दूसरे मे आत्मसात न हो पाना, उस तरल वस्तु की कमी का द्योतक है। यह दोनो ही पदार्थ अपने-अपने व्यक्तित्व के हिमायती बने रहे तो एक दूसरे को अपने मे आत्मसात करने के अधिकारी नही बन सकते। जब तक कि एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व मे पूर्णत आत्मसात नही हो सकता तब तक दोनो व्यक्तित्व अपनी इकाई का

आनन्द प्राप्त नही कर सकते। यही एकत्व है। इसी एकत्व को सज्ञा प्राप्त है विवाह की।

बगाल के एक बडे सभ्रात घराने की बात है। उसके ही सदस्य थे एक स्त्री और एक पुरुष। ये कलकत्ता हाईकोर्ट के जज थे और ये थी उनकी धर्म-पत्नी। आपस मे कुछ घरेलू बात-चीत हो रही थी। धर्म-पत्नी ने तत्सम्बन्धी किसी वार्त्ता के बारे मे पति की सम्मति लेने की इच्छा प्रकट की। उस भद्र पुरुष ने अपनी मति के अनुसार अपनी राय दे दी। आगे चलकर इन दोनो का वार्त्तालाप बडा ही विनोदात्मक और गम्भीर रहस्य से भरा हुआ है। पत्नी कह उठी, 'थाक, तुमी किछु जानो ना, तुमी नितान्त अनभिज्ञ, एकमात्र तुमी जानो कलम-घिसाई। 'पतिदेव बोल उठे,' 'देवी तुमी ठीक ई बोलछो।' यदि कोर्ट के इजलास मे कोई वकील या बैरिस्टर उसी हाकिम को इतना बोलने का साहस कर लेता तो Contempt of Court का मुजरिम करार दे दिया जाता और उस वकील को लेने-के देने पड जाते और वही शब्द अपनी पत्नी के श्रीमुख से निकले हुए अमृतमय उसके कर्ण-गुहरो मे प्रवेश कर रहे थे। वह एक दिव्य आनन्द की अनुभूति कर रहा था। जिस पद पर वह आसीन था वह सहज प्राप्त नही होता, कितने पाण्डित्य व अनुभव की आवश्यकता होती है उस पद के योग्य बनने के लिए। उस योग्यता के अनुपात मे उनकी पत्नी की योग्यता नगण्य थी। किन्तु उस धर्म-परायण पत्नी मे एक इस प्रकार की योग्यता थी जो इनकी योग्यता की पूरक थी और वह इनकी थी प्रश्रयदाता। दाम्पत्य-जीवन की इकाई का यह बडा ही सुप्रिय ज्वलन्त उदाहरण है। स्त्री-पुरुष के आपस के तादात्म्य के ऊपर उपर्युक्त वार्त्ता बडी रोचक और शिक्षाप्रद है।

पाश्चात्य देशो की देखा-देखी हमारे समाज मे यौन सम्बन्धी नियम बडे ढीले पडते जा रहे हैं जब कि इस ढिलाई के खिलाफ उन देशो मे आज एक बडी तीखी चीख उठी हुई सुनाई देती है। रूस के अन्दर जब पहले-पहल साम्यवाद आया, तो यौन सम्बन्धी जितने भी नियम थे उनको ताख पर रख दिया गया और अनुबद्ध पद्धति (Contract System) के ऊपर एक निश्चित काल के लिए शादिया होने लगी। किन्तु इस अस्थायी एव घृणित पद्धति से ऊब कर वहा के लोगो ने विवाह-पद्धति की पुन शरण ली। किन्तु विवाह-पद्धति को केवल एक सामाजिक व्यवस्था मान लेने पर मनुष्य को इच्छित शक्ति प्राप्त नही होती क्योकि इनमे यौन सम्बन्धी कुछ छूट बनी रहती है जो

कि स्वभावत एक-दूसरे को चुभती रहती है और आगे चलकर यह चुभन असह्य हो उठती है। आत्मा का रुझान स्वभावत विशुद्धता की तरफ बना रहता है, विशुद्धता के न रहने पर मन को शान्ति नही मिल सकती। जो व्यवस्थाये शान्ति प्रदान नही कर सकती, वे केवल बन्धन मात्र बनी रहती है। नियम-सयम रहित बन्धन शान्तिप्रद नही हुआ करता, जिससे ऊब कर मनुष्य या तो उसे तोडने पर उद्यत हो जाता है या उन बन्धनो को दोष-विमुक्त करने का प्रयास करता है। इसी न्याय से प्रेरित आज रूस के अन्दर एक ऐसी लहर उठ खडी हुई है जो कि लडकियो से विवाह काल के पहले सही अर्थ मे क्वारी बने रहने के लिए आग्रह करती है। वहा युवको ने एक सघ का सगठन किया है जिसमे उपर्युक्त बात को बुलन्द किया गया है और वह सघ (league) अपना निज का पत्र निकालकर इस बात का प्रचार करने मे सलग्न दिखाई पडता है। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' दिल्ली के १२ जनवरी १९६९ के अक मे पेज ग्यारह पर उक्त आशय की खबर प्रकाशित हुई है जिसे हम नीचे उद्धृत करते है—

Red badge of virginity

Moscow, Jan 11 (AP)—The Soviet Young Communist League has come out in defence of virginity

The league's newspaper told the youth of the country not to be taken in by the talk that virginity is oldfashioned An article in it said that young men and women should wait for real and lasting love

The paper explained that it was speaking out on the delicate question of sexual relations because this is avoided in the schools and by many parents, and young people were urgently seeking advice

"How many times boys have left me because I wouldn't let them touch me" wailed one 19-year-old "Should a girl of my age experience everything ?"

She said she was waiting for somebody who would love her "with all his heart," but sometimes she wondered if this was a mistake

The article told the girl she had been right and she should disregard friends who made fun of virtue

पाश्चात्य देशो मे यौन सम्बन्धी बुराइयो के प्रति आज एक अभियान चालू हो गया है जिसका उद्देश्य है यौन सम्बन्धी पवित्रता को बनाये रखना। उन्हे अब अनुभूत होने लगा है कि इस प्रकार की पवित्रता के बिना जीवन मे रस नही आ सकता जो कि जीवन का सार है और आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य प्रथम सीढी है जिसके सरक्षणार्थ हमारे ऋषियो ने हजारो वर्ष पहले बडे-बडे कडे दृढ नियम बनाये थे, और जिनका अनुसरण आज तक आर्य जाति करती चली आ रही है। उसी के परिप्रेक्ष्य मे हमारे यहा विवाह सस्कार को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है और जिस व्यवस्था को हम बडी ही पुनीत आस्था से आदर करते आए है। तथा जिसके फलस्वरूप हमे बडे मीठे फल भोगने को मिले हैं। इसलिए हमारा आग्रह है कि आज हमारे गुमराह युवक-युवतिया व्यामोह से भरी हुई पाश्चात्य सभ्यता के परिवेश मे न भटकते हुए अपनी सस्कृति का समादर करने मे सलग्न एव हिमायती बने रहे, इसमे ही उनका व देश का कल्याण निहित है।

स्त्री-पुरुष यानी पति-पत्नी के बीच, माता-पिता एव पुत्रो के बीच, भाई-भाई के बीच, व ईश्वर व भक्तो के बीच मे विजातीय तत्त्व का प्रवेश—जिसे हम लोभ व लोलुप वृत्ति कहेंगे–इनके बीच मे एक दीवाल खडी कर देता है। और इस दीवाल को हम व्यभिचार की सज्ञा देंगे। इसलिए गीता मे कहा गया है कि ईश्वर की प्राप्ति मे अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा ही सिद्धि हो सकती है। व्यभिचार के अर्थ ही होते है दो हृदयो के बीच बहती गगा मे अवरोध लाना। वह अवरोध चाहे किसी प्रकार का क्यो न हो, इसका परिवेश है लोभ या लोलुपता की वृत्ति जो कि दूध मे काजी का काम करती है।

प्रभु से माँग

सन्त-महात्माओं के मुख से सुनते आये हैं कि ईश्वर से कुछ नहीं मांगना चाहिए। उससे किसी चीज का मांगना उसे कष्ट देना है। उसकी प्रार्थना निःस्वार्थ निष्काम भाव से करनी चाहिए।

किन्तु हमारी समझ में यह बात जरा कम उतरती है। जो किसी को बुलाए तो आगन्तुक की आवश्यकताओं को पूरा करने का भार बुलानेवाले पर ही रहता है। प्रभु लीलामय हैं। लीला रचाने के लिए अभिनेताओं की आवश्यकता पड़ती है। अभिनेता न हो तो रंगमंच खाली। खाली मंच द्रष्टा को रस नहीं दे सकता। रंगमंच के ऊपर खेलनेवाले अभिनेता रस की सृष्टि करते हैं जो कि द्रष्टा को बड़ी प्रिय लगती है। रंगमंच के निर्माता को सारा साज-सामान जुटाना पड़ता है, अभिनेता अपने साथ कुछ लाता नहीं और उसकी गतिविधि भी निर्देशक के संकेतों तक सीमित रहती है। उसके संकेतों की अवहेलना अभिनय की असफलता है।

प्रभु निर्माणकर्त्ता भी है, और निर्देशक भी है, ऐसा हमारा उससे सम्बन्ध

है तो फिर बोलो, प्रभु से यह मत मागो वह मत मांगो, यह प्रश्न उठ ही कैसे सकता है ? बालक अपने माँ-बाप से नही मागेगा तो किससे मागेगा ? लडका योग्य होने पर फिर माँ-बाप से कुछ नही मागता। बल्कि उल्टे वही उनकी सेवा करने लायक हो जाता है और सेवा करता भी है। वह चाहे तो उनसे स्वतन्त्र भी रह सकता है, उनसे न्यारा-जुदा होकर नया मकान बना कर मा-बाप से अलग उसमे रह सकता है और बहुत-से आदमी ऐसा करते भी है। किन्तु समझ मे नही आता, 'उसके' मकान को छोडकर हम कहा जाय ? और जा भी कहा सकते है ? जहाँ कहीं भी हम जाते हैं उसी के मकान को उपस्थित पाते हैं। जो कोई भी चीज हम प्राप्त करते हैं वह भी उसी की बनाई चीज है। कभी आपत्ति काल मे आ जाते है और जब आस-पास से सहायता नही मिलती तो उसीको सहायतार्थ पुकारते है और हमारा आर्तनाद उसने सुना नहीं कि उसका हृदय पिघला नही। हमको यहा स्वतन्त्रता है किस बात की ? न आने की है न जाने की। श्वास-निश्वास भी तो हमारे अधीन नही। हम उस दिन उससे मागना छोड देगे जब हम उसकी सहायता के बिना अपने पैरो पर खडे हो जायेगे और हम अपना न्यारा मकान बना लेंगे। इधर तो हम प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो, हम तेरे बालक हैं और उधर यह कहे कि हम तुमसे कुछ न मागेंगे ?

बालक अपनी माँ के स्तनो की अवहेलना भले ही कर दे, किन्तु वह दूध तो उसे दूसरी जगह मिलना नही। भूख लगने पर जब बालक रोता है तो उसके रोने के शब्द से माँ के आँचल से दूध झरने लगता है और अपने बच्चे को दूध पिलाये बिना उसको चैन नही पड सकता। बच्चे का पोषण माँ के दूध से तो अवश्य होता है किन्तु माता को जो सुख मिलता है उसकी भी कोई सीमा नही है।

उससे हम क्या मागे और मागना भी नही चाहिए जिसके पास चीजे सीमित हैं। हम किसी की कमी मे कमी क्यो पैदा करें ? यह तो हमको शोभा नही देता। किन्तु अजस्र स्रोत वाले कुए मे से पानी कितना ही निकाल लो, उस पानी निकालने मे कोई लाछना नही। कुए को कोई कष्ट नही होता, न उसका पानी कम होता है, बल्कि इससे तो उस कुए की प्रतिष्ठा ही बढती है कि वह ऐसा दानी है जिसके दरवाजे पर २४ घण्टे जरूरतमन्दो की भीड लगी रहती है। प्यासा तो वही जायेगा न जहा पानी होगा। पानी तो प्यास बुझाने के लिए ही है। प्रभु ही हमारी प्यास नही बुझायेगे तो फिर दूसरा कौन होगा

जो इस प्यास को बुझा सके ?

माँगने मे एक शर्त अवश्य है और उनका (प्रभु) कहना भी है कि यदि तुझे मुझसे माँगना है तो फिर तुम और किसी से न माँगो और अपने रिरियाने से वाज न आये तो मैं तुम्हारा पल्ला छोड दूगा । फिर तुम मुझसे कोई आशा न करना । तुम्हे एक-तरफा बनना पडेगा । हम एक तरफा बनने को ही भक्ति कहते है । ईश्वर के साथ एक-तरफा बनने मे ईश्वर का ऐश्वर्य प्राप्त होता है । और मनुष्य के साथ एक-तरफा वनने मे उसके सीमित ऐश्वर्य को भोगता है । प्रभु का ऐश्वर्य असीम है, मनुष्य का ऐश्वर्य सीमित है । सीमा के अन्दर सुख-दुख दोनो होते है । असीम मे पहली वस्तु रहती है, दूसरी का अभाव है । प्रभु के ऐश्वर्य का स्वरूप है आनन्द । हमारे जीवन के सारे कार्य-कलापो का उद्देश्य केवल आनन्द पाना ही तो है अर्थात दुखो से, आवश्यकताओ से नितात निवृत्ति और आनन्दमय स्थिति । श्रीकृष्ण महाराज भी तो यही कहते है अर्जुन को — विना मेरे प्रसाद के कार्य-सिद्धि होनी नही । तू मेरा प्रसाद पाने का इच्छुक वन । तू 'मन्मना भव', तू 'मद्भक्तो भव' । मेरे विना तेरी गति ही नही है । तू मैं मैं क्या करता है, तू है कौन लडने वाला या नही लडने वाला ? विश्व की गति मेरा इगत मात्र ही तो है । मेरे प्रसाद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील वन ।

जव हम ईश्वर की प्रार्थना करते है इन शब्दो के द्वारा—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' तब क्या हम बालक भाव मे नही आ जाते ? बालक माता-पिता के सरक्षण के अधीन और दोनो के बीच अग अगी का सम्बन्ध, फिर दोनो मे अन्तर रहा कहा ? कौन किससे मागता है ? इस व्दैत भाव को यहा स्थान ही कहा है ? प्रभो, तेरे-मेरे वीच का पर्दा हटा ले, ताकि तेरी जरा झाकी ले सकू । यह भी तो मागना ही है । प्रभु की झाकी मिलने के वाद कमी किस बात की रहेगी ?

एक भक्त के ऊपर प्रभु प्रसन्न हो गए । कहने लगे, एक वर मागले । वह कगाल था, पुत्रहीन था, माता थी अन्धी, घर-बार भी नही । लेकिन ब्राह्मण था बडा बुद्धिमान । उसने एक वर यह माग लिया कि मेरी मा अपने पोते को सोने के कटोरे मे दूध पीता देखे । प्रभु वडे हसे । मन्द-मति कोई दूसरा होता तो वन माग लेता, या पुत्र या माता की आँखे, तो एक आवश्यकता पूरी होने पर दूसरी चीजो का अभाव ज्यो-का-त्यो बना रहता ।

भक्त तो वह तो एक ही चीज मागता है—प्रभु की भक्ति, जिसकी प्राप्ति से सारी आवश्यकताये पूरी हो जाये। इस बात से तो हम सहमत है, किन्तु भगवान से याचना करना अनुचित है या भक्ति मे कमी का द्योतक है, यह बात तो हमारे राम के गले उतरती नही। प्यासे को तो जलाशय के पास ही जाना होगा। इसमे उसकी कोई कमजोरी नही है। कमजोरी उसकी इसमे है कि वहा जाकर भी प्यासा बैठा रहे। जब प्रभु जैसा आर्णव रूपी जलाशय प्राप्त हो, फिर भी प्यासे बैठे रहे, तो यह तो बुद्धिमत्ता नही।

प्रभु से बात करो बेतकल्लुफी से। बात छिपानी तो उससे चाहिए जिससे बात को हम छिपा सके। वह तो हमारे मन की दशा को जानता ही है। क्या माँ नही जानती कि बालक को भूख लगेगी और लगती ही है, किन्तु वह दूध पिलाती है उसके कुल बुलाने पर। बिना भूख दूध पिलाने से बच्चो को अजीर्ण हो जाता है, और वही माता को कष्ट दायक हो जाता है, लेकिन प्रभु के प्रसाद मे तो शाश्वत आनन्द है, न वह कष्टकर है न हो सकता है।

किन्तु उसके सामने थोडासा कुलबुलाए बिना काम चलने का नही। वह तो हमारा माता-पिता दोनो ही है, आवश्यकता पडने पर जरा चीख मार कर रो तो दो, उसका हृदय माता के हृदय से भी मुलायम और कोमल है, उसे पसीजते देर नही लगती। वह अपने बालक की तडफन सहन करने मे असमर्थ है।

भिखारिन

एक दिन प्रातः काल भ्रमण करने के पश्चात् मैं जंगल मे लबे-सड़क-वायु-सेवन कर रहा था। इतने मे शरीर से भारी एक बुढ़िया भिखारिन सिर पर छोटी-सी गठरी लिए हुए आ निकली। भिखारिन मन्थर गति से चली जा रही थी और उसके सिर की पोटली डिगमिगाती चली जा रही थी, किन्तु उसके सिर का सन्तुलन उस पोटली को गिरने नही दे रहा था।

यह पोटली क्या थी, भिखारिन का सिमटा हुआ संसार था। पोटली उसके कान मे फुसफुसाती जा रही थी—"हे भिखारिन! 'तेरा इस संसार में कुछ नही रहा, तू अब अपने में अकेली है, अब तक जिसने तेरी रक्षा की है वह आगे भी तेरी रक्षा करेगा। देख, तेरी इस पोटली में न हीरे हैं, न मोती, न कोई सुन्दर परिधान। इसमें मनुष्यों के निरादर तिरस्कार और झिड़क के रूप मे थोड़े-से फटे चिथड़े और दाने हैं। तू उन गगन चुम्बी अट्टालिकाओं में रहने वाले और अपने बीच के अन्तर को देख नही पा रही है। उनका संसार लाखों गहरा जमीन में गड़ा हुआ है और तूने अपने संसार को सब कुछ कर

अपने हाथ मे ले ली है। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि के शिकार बने हुए हैं किन्तु न तेरे अन्दर राग है न द्वेष, न काम न क्रोध, न मद न मात्सर्य, न प्रवचना है और न प्रतिशोध। केवल थोडा-बहुत बचा हुआ है वह है तेरा लोभ व इस गठरी के साथ तेरी ममता। यदि तू इस गठरी की ममता से छुटकारा पाले तो इस ससार से छुटकारा पालेगी और प्रभु के परम-धाम को प्राप्त करने मे तुझे तनिक भी देर नही लगेगी। इन ससारी लोगो के सामने क्यो रिरियाती है जबकि वे स्वय दूसरो के सामने रिरियाते है। तुझे देने के लिए उनके पास रक्खा ही क्या है सिवाय तिरस्कार या झिडक के ?

वाह्य रूप मे तेरे मे और उनमे वहुत अन्तर है, इसमे कोई शक नही किन्तु आभ्यन्तर दृष्टि से देखा जाय तो तू अपने स्वामी को पाने वाले मार्ग पर वहुत कुछ अग्रसर हो चली हे। तुझ अपने अन्तर्चक्षु खोलकर देखने की आवश्यकता है। तू भिखारिन उसी समय तक है जव तक तू अपने-आप को भिखारिन समझे हुए है, अपने को निराधार माने हुए है। विना आधार के न कोई चीज उत्पन्न हो सकती हे और न ही उसकी स्थिति हो सकती है। इस न्याय से तेरा आधार तो अवश्य है। तू अपने आधार को पहिचान और वह हे तेरा स्वामी, जगत्-नियता, जगदाधार, अशरण-शरण। तू उसकी तरफ अभि मुख हो, न कि इन अट्टालिकाओ के स्वामियो की ओर जो तुझसे भी कही अधिक गिरे हुए हे। अरी भिखारिन देख। तू अजात-शत्रु हे, न तेरे राग हे न द्वेष, न तुझे किसी के धन को हडपना है, किन्तु जिनके सामने तू रिरियाती ह वे तो शत्रुओ से घिरे हुए है। उनके महान् शत्रु हे उनका राग-द्वेष, उनकी प्रवचना, उनमे प्रतिशोध की भावना, जो कि शत्रुओ के जनक है। जरा हिम्मत से काम ले। मुझे ठुकरा दे और देखते-ही देखते तेरा ससार काफूर हो जायेगा। मनुष्य का लोभ ही तो ससार-वन्धन है। इस वन्धन की कोई हथ-कडियाँ नही जो कि जालिम को जकडे रखे और सभी को दृष्टिगत वनी रहे। मुझे ठुकराते ही तू परम पवित्र होकर अपने स्वामी के धाम पहुच जायेगी। इस लोभ वृत्ति ने तेरे ही समान सबको भिखारी वना रखा है। भिखारी वनना तो आत्मा का स्वरूप नही है, वह तो आनन्दमय, परम चैतन्य हे, वह तो परम् ब्रह्म का अश है और तू वही है। अपने अन्त चक्षु जरा खोल कर तो देख, तेरा कल्याण इसी मे है।"

अछूतोद्धार

अछूतोद्धार का सही अर्थ है अस्पृश्यता के प्रश्न का निवारण। अस्पृश्यता की जननी है अस्वच्छता। अस्वच्छता उन सक्रामक रोगो के सदृश्य है जिनसे आक्रान्त रोगी के सान्निध्य अथवा स्पर्श से भला-चगा मनुष्य भी उन रोगो का शिकार वन जाता है। इसलिए रोग का निदान एव यथोचित चिकित्सा नितान्त अपेक्षित रहती है। ऐसे रोगियो के स्पर्श एव सान्निध्य का वर्जन रोगी का अपमान नही। वैद्य या डाक्टर जव इन रोगियो के निदान के लिए आते है, यदि वे भी सतर्कता न बरतें तो वे भी उन रोगो के शिकार हुए बिना नही रह पायेंगे। ऐसे रोग का निवारण अति अपेक्षित है, नही तो रोगी वच नही सकता। ऊपर की औपचारिक व्यवस्थायें भी आवश्यक होती हैं, किन्तु रोग का निवारण यथोचित औपधि ही है। जव तक सक्रामक रोगो की उपयुक्त औपधियो का आविष्कार नही हो पाया था, तब तक लाखो की सख्या मे मनुष्य मृत्यु के घाट उतरते रहे। इसलिए रोग के निवारणार्थ यथोचित औपधि की नितान्त आवश्यकता है।

महात्मा गाधी के द्वारा एव राज-दण्ड के बल पर अनेकानेक अभियान चलाए गए यथा-दोनो (परिगणित एव द्विज) वर्गों के बीच सान्निध्य-स्थापना सहभोज, कुओ एव मन्दिरो मे परिगणित जातियो का अनवरोध प्रवेश, दोनो वर्गों के बच्चो की एक ही शिक्षालय मे सह-शिक्षा, एव आपस मे विवाह सम्बन्ध करने की प्रेरणा इत्यादि। किन्तु इन अभियानो के बावजूद भी इसका इच्छित फल नही प्राप्त हुआ। हम इनको औपचारिक व्यवस्था मात्र की सज्ञा देगे। उपर्युक्त अभियान औपचारिक व्यवस्था की परिधि मे ही आते है किन्तु दु ख का विषय तो यह है कि रोग का पूरा निदान करने मे उपयुक्त औषधि का प्रयोग ही नही किया गया। उपयुक्त औषधि के बिना रोग निवारण नही हुआ करता। हम डाक्टर को कितना भी दोषी ठहराये, यदि रोगी व्यवस्थित औषधि का सेवन न करे, और वह रोग मुक्त न हो पाये तो इसमे डाक्टर या वैद्य का दोष क्या ? उसके माथे दोष को मढकर रोगी की अवस्था मे सुधार तो नही हो पायेगा।

अब प्रश्न तो यह हे कि इन परिगणित एव अत्यज जातियो मे अस्पृश्यता का रोग कैसे घुसा। बहुत से विचारको का ऐसा कथन है कि विशेष जीविकाए इसका कारण है। किन्तु हम इस मत से सहमत नही। जीविका प्रत्येक मनुष्य के मानसिक एव बौद्धिक विकास के द्वारा जीवन-यापन का साधन है। पाच सेर को उठाने वाला दूसरो की देखा-देखी दस, पन्द्रह या बीस सेर वजन कैसे उठा सकता है ? ससार के आज तक किसी भी वाद के अनुयायी अपने देश के मनुष्यो के शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक विकास को एक समान नही कर पाये। फलत सभी मनुष्यो के जीवन-यापन का स्तर एकसा नही हो पाया और न यह सम्भव ही है। एक मजदूर की आय एक इन्जीनियर की आय से कैसे मुकावला कर सकती है ? इसी प्रकार साधारण कोटि का डाक्टर एक विशेषज्ञ डाक्टर के समान वेतन का अधिकारी कैसे हो सकता है ? सभी को एक ही स्तर पर लाने मे प्रगति करने की प्रेरणा कुठित हो जायेगी, फिर उस जाति मे बडे-बडे इन्जीनियर, डाक्टर, वैज्ञानिक कहा से आयेंगे ?

जीव-जन्तुओ के वर्ग के अन्दर भी समानता नही देखी जाती। जगल का निवासी सिंह, सुअर, भेडिया, रीछ आदि सब समान रूप के नही होते, न सामर्थ्य मे समान होते हे। उनके रूप, शरीर की बनावट तथा स्वभाव मे सदा ही असमानता पाई जाती है। पानी के बरसने पर भूमि के स्तर के अनुसार कही छोटी-सी नाली बहती है, कही बडा नाला एव कही नदी बहने लगती है।

भिन्न-भिन्न स्तर पर, भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति होती रहती है। सूर्य सारे ही तालावो मे एक समान प्रतिविम्बित नही हो पाता। जिस तालाब का पानी गन्दा है वहा उसका प्रतिबिम्ब मन्द और जहा पानी स्वच्छ है वहा सूर्य का प्रतिविम्ब चम चमाता है, आखो के अन्दर चकाचौध पैदा कर देता है।

मनुष्य मात्र के मन की स्थिति, विचार शक्ति भिन्न-भिन्न स्तर की हुआ करती है। और-तो और सहोदर भाइयो का भी एक-सा विकास नही हो पाता। कभी पुत्र-पिता से विशेष बुद्धिशाली तथा कभी विद्वानो के पुत्र मन्द-मति पाये जाते है। ऐसा क्यो होता है, यह तो गूढ मनोवैज्ञानिक विषय है जिसका विवेचन यहा उपयुक्त नही है,

कोई भी जीविका विशेष हेय एव घृणित नही, इसके साधन मे विधि प्रधान रहती है। हम अपने इस दृष्टिकोण को दैनिक अनुभव-गम्य एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करेगे। किसी रोगी के दुर्गन्धयुक्त गर्हित अग को काटना, किसी मुर्दे को चीर कर उसकी मृत्यु के कारण का निर्धारण करना—क्या ऊपर से देखने पर यह घृणोत्पादक एव अस्पृश्यता का कारण नही है, लेकिन यदि गहराई से देखा जाय तो ऐसा नही है क्योकि सिद्धहस्त शल्य-चिकित्सक रोगी के गर्हित अगो को काटते समय अथवा मुर्दे को चीरते समय चाहे कितना ही घृणास्पद प्रतीत होता हो, लेकिन वह सर्जन कितनी सतर्कता से स्वच्छता को अपनाये रहता है। अपने उक्त कार्य के दौरान वह भली-भाति जानता है कि उसकी स्वच्छता के प्रति जरा-सी लापरवाही दोनो के (रोगी व डाक्टर) प्राणो को हरण करने मे समर्थ है। आपरेशन करते समय डाक्टर के द्वारा अपनायी स्वच्छ-व्यवस्था का जरा निरीक्षण तो करें। उसके शल्य-गृह मे एक मक्खी का तो प्रवेश हो जाय, बिना पानी मे उबले हुए एक भी औजार का इस्तेमाल हो जाय, तथा रूई एव पट्टी भी किटाणु रहित ही काम मे आती है। यहा तक कि डाक्टर तथा उसके अन्य सहायक भी अपनी-अपनी नासिकाओ के ऊपर पट्टी बाधे रहते है, ताकि उनके श्वासोच्छ्वास का सीधा घात मरीज के घाव पर न होने पाए। वायु मे निहित असख्य कीटाणुओ से मरीज की रक्षा करना डाक्टर का प्रथम कर्त्तव्य होता है। कही ये जहरीले कीटाणु उसके घाव के ऊपर आक्रमण न कर बैठें जोकि रोगी की मृत्यु का कारण हो सकते है। आपरेशन करने के बाद जब वह अपने शल्य-गृह से बाहर निकलता है तो आप उसके शरीर एव कपडो से किटाणु-निरोधक डीटोल एव

कार्बोलिक एसिड की महक निकलती पायेगे । सर्जन भली-भाति जानता है कि जब तक वह इन कीटाणुओ के आघात-प्रत्याघात से अपनी यथोचित रक्षा नही कर लेता तब तक वह आपरेशन को सफल नही बना सकता और न रोगी के जीवन की रक्षा कर सकता है और न अपनी । डाक्टर की इस घृणास्पद जिविका का साधन तो कोई सुप्रिय दृष्टिगत नही होता । साधारण व्यक्ति तो उस आपरेशन को देख तक नही सकता किन्तु इस डाक्टर की गिनती भूलकर भी अस्पृश्य वर्ग मे नही की जाती और न की जा सकती है क्योकि वह रोगी का प्राणोद्धारक है । स्वच्छता के माध्यम से अपनी जिविका को अपनाये हुए डाक्टर अपने वर्ग एव समाज मे सम्मान तथा आदर का भाजन बना रहता है ।

दूसरा उदाहरण हम एक इन्जीनियर का ले ले । वह अपने कारखाने मे अपनी कार्य विधि के दौरान चर्वी एव तेल का उपयोग करते समय बीच-बीच मे रुई अथवा जूट के द्वारा अपने हाथ पोछता रहता है, तो भी उसके हाथ, उसके कपडे यहा तक कि उसका मुह भी इन पदार्थों से व्याप्त हुए विना नही रहता । परन्तु कार्योपरान्त वह अपने घर जाकर स्नानादि कर स्वच्छ हो जाता है, और यह भी उस डाक्टर के सदृश्य आदर एव सम्मान का पात्र बना रहता है । इसके विपरीत, इसी के नीचे काम करने वाले फिटर, मिस्त्री एव कुली इतनी स्वच्छता को न वरतने के कारण अपने को अस्पृश्य बना लेते है जबकि इन फिट र मजदूरो की आर्थिक अवस्था इन्जीनियर की आर्थिक अवस्था के अनुपा त मे हेय नही होती किन्तु अस्वच्छता को सहन करते-करते ये अस्पृश्य बन जाते है ।

मुझे अपनेवाल्यकाल की एक घटना का स्मरण हो आया है जिसे यहा प्रस्तुत करना तर्कसगत ही होगा । रविवार के दिन हम भर पेट कलेवा कर लेते, अत दोपहर के खाने मे देर हो जाती । इतने मे भैया (जो डाक्टर थे) अस्पताल से आकर स्नानादि से निवृत्त हो चौके मे बैठ जाते । उस समय वह कच्ची रसोई चौके मे ही खाते । उनके भोजनोपरान्त हम लोगो के जीमने की वारी आती तथा सभी जीम लेते । मै नही जीमता । मै साफ कह देता कि भैया चौके मे जीम लिए, जिससे रसोई उतर गई, अब मैं नही जीमूगा । यह बात मेरी मा तक पहुची । उसे बुरा लगा । उसने मुझे बुलाया और पूछा कि यह मिथ्या दृष्टिकोण अपने भाई के प्रति किस कारण से अपनाया है । मैने उत्तर दिया कि भैया तो मुर्दा तक चीर देते है, प्रतिदिन फोडे-फुन्सियो का आपरेशन करते

रहते है । वह ऐसे कार्य करके पवित्र कैसे बने रह सकते हैं ? क्या चौके मे उनके प्रवेश करने से चौका उतर नही जाता ? मुझे तो उस चौके की रसोई रुचिकर नही लगती, मैं तो नही खाऊगा । भूख लगेगी तो कलेवा कर लेगे। मेरी मा मुस्कराकर बोली, देख तुझे एक बात बताऊ । तू विशेष साफ रहता है या तेरा भैया ? क्या तू देखता नही कि वह अस्पताल से आते ही अस्पताल के कपडे एक जगह उतार देता है और जब तक तेरी भाभी उसके ऊपर स्नान करने के लिए पानी नही डाल देती तब तक वह बाल्टी मे से पानी लेकर स्नान तक नही करता। । उसके बाहर जाने के कपडे अलग ही रहते है । शौच इत्यादि करने के बाद क्या तूने नही देखा कि वह मिट्टी से एव साबुन से अपने हाथो को कितनी बार धोता है । और वह प्रात मध्याह्न एव रात्रि वेला स्नान करता है, और प्रत्येक बार स्नान करने के पश्चात् अपनी बनियान बदलता है । देखा नही तूने भोजनोपरान्त वह कितनी बार कुल्ले करके मुख प्रक्षालन करता है । इस प्रकार पवित्र रहने वाले को तू अस्वच्छ एव अछूत समझने लगे तो क्या इसमे तेरी नितान्त मूर्खता नही ? अब मैं तुझसे पूछती हू, तू अपने कपडे कितने दिनो मे बदलता है, कितनी दफा एक दिन मे स्नान करता है, तेरी सफाई उसकी सफाई के अनुपात मे किस बिन्दु पर आकर टिकती है ? मैंने उत्तर दिया, हम तो अपने कपडे रविवार को ही बदलते है और मेरी बनियान भी उसी दिन बदली जाती है । मेरी मा फिर पूछ बैठी, क्या तू बनियान पहने एव जाडो मे कमीज पहने शौचालय नही जाता ? अस्वच्छ हाथो से क्या तू अपनी धोती की लाग नही लगा लेता ? अस्वच्छ हाथो से जो वस्तु छू गई, कपडा हो या अन्य, क्या वह अस्वच्छ नही हो जाती ? क्या वह किसी मुर्दे का स्पर्श या अन्त्यज् जाति का स्पर्श कर स्नान करने के बाद अपना यज्ञोपवीत बदल नही लेता ? क्या वह प्रतिदिन सन्ध्या हवन नही करता ? मैं हस पडा और कहने लगा, मा, तू मुझे क्षमा कर दे, अब इस प्रकार की धृष्टता मुझसे न हो पायेगी । मेरी भाभी खडी-खडी मुस्करा रही थी। वह कहने लगी, माताजी, बच्चो को इतने आडे हाथो नही लिया जाता। यदा-कदा यह बात इनके भैया के कानो तक पहुच जाती हैं तो मुस्कराते हुए कह उठते है कि लडका सस्कारी है । उस दिन से मैं भी स्नान कर के बनियान बदलने तथा अपनी धोती स्वय धोने लगा । इस प्रकार माताए बच्चो को उनके बाल्यकाल मे ही स्वच्छता के पाठ पढाये तो स्वच्छता उनके हृदय मे घर कर लेती है ।

व्यक्ति चाहे कार्य कैसा भी क्यो न करे, यदि स्वच्छता अपनाये हुए है तो वह शुद्ध है, स्पृश्य है। किन्तु धीरे-धीरे व्यक्ति अस्वच्छता से घृणा करना बन्द करदे तथा स्वच्छता का त्याग कर दे तो उसकी जीविका की अस्वच्छता उसे अस्पृश्य बनाये बिना न रहेगी। सवर्ण सदस्यो की तो बात ही छोड दे। परिगणित जाति का कोई शिक्षित सदस्य जब उच्चपदस्थ हो जाता है तो उसका रहन-सहन अपने सहकर्मियो के देखा-देखी उन्नत हो जाता है। यहा तक कि व्याह-शादी के सम्बन्ध मे भी उसको विचार करना होता है कि अपने लडके अथवा लडकी का सम्बन्ध अपने वर्ग के किसी योग्य लडकी अथवा लडके से ही करे या नही। उसकी आकाक्षा यह बनी रहती है कि वह किसी उच्च वर्ण से कन्या ले आवे और अपनी कन्या उच्च वर्ण मे दे। ऐसा होते देखा गया है। हम इस अस्पृश्यता को जाति-प्रथा का दोष कैसे मान लें ?

सारे ससार मे न्यारी-न्यारी जीविकाओ को अपनाने वाले उस जीविका के नाम से पुकारे जाते हैं विशेषकर पारसियो मे। यदि हमारे यहा लोहार, सुनार, खाती एव मोची होते है तो इगलैण्ड मे भी ब्लैक स्मिथ, गोल्डस्मिथ, कारपेन्टर तथा कोब्लर होते है। ऐसा होना आवश्यक भी है। यदि मनुष्य को यह पता न चले कि उसकी जरूरत की अमुक वस्तु कहा मिलेगी तो वह उस वस्तु के लिए दिन भर भटकता ही रह जायेगा। इनके पेशे के आधार पर इनके नाम साइनबोर्ड का काम करते है। यदि किसी व्यक्ति को कोल की आवश्यकता है और वह सुनार की दुकान पर चला जाए तो उसे अवश्य ही निराशा मिलेगी। जब विभिन्न पेशे वालो की पेशागत जाति बनती है और उस पेशे मे निहित अस्वच्छता का निवारण न कर वे उसे अपना लेते है तो उस अस्वच्छता के परमाणु उनके शरीर, उनके मन एव बौद्धिक स्तर को भी अभिभूत कर बैठते है। एक लोहार को दूसरे लोहार को पहचानने मे देर नही लगता, तथा सुनार सुनार को। मनुष्य को अपने, सजातीय सदस्य को पहचानने मे सुविधा रहती है। किसी इन्जीनियर, डाक्टर अथवा वकील को उसके रूप, आकार अथवा रहन-सहन को देख सिद्ध नही कर सकते कि यह इन्जीनियर, डाक्टर अथवा वकील है। यह तो पता लगता है उस के साथ बात-चीत करने के दौरान मे।

इसी प्रकार अन्त्यज एव परिगणत जातियाँ अपने पेशे मे रहते हुए अपने को भली-भाति स्वच्छ बनाये रक्खे तो उनको अस्पृश्य कहने की कोई भी हिमाकत नही करेगा। मनुष्य शरीर से अस्पृश्य है ही नही, उसका शरीर तो आत्मा का मन्दिर है। उसके मन के विकार ही उसे छोटा या बडा

बनाते हैं। मनुष्य रोगी तो जन्म से नही होता किन्तु असावधानी बरतने से रोग से आक्रान्त हो जाता हे। भगी का ही उदाहरण ले लो। मैले को ढोते-ढोते उसके प्रति उसकी घृणा ही जाती रहती है। इनकी अस्वच्छता ने इन्हे इतना घर दबाया है कि उन्हे काम करते समय कोई खाने की चीज दे दें तो वे अपनी झोली मे ले लेंगे और घर जाकर खा लेगे। सवर्ण जाति के भोज के समय जूठी पत्तल पर वे कुत्तो से लडाई करते पाये जाते है उस निकृष्ट भोजन से उनकी घृणा ही जाती रही, फिर कहो तो ये अपने घर के बर्तन-भाडे आदि कैसे स्वच्छ रख सकते है ? इनके कपडो को तो देखो, विष्टा की दुर्गन्ध से व्याप्त बने रहते है। इन्ही हाथो से और इन्ही कपडो से अपनी अस्वछ बाल्टी द्वारा ये कुएँ से पानी निकाले तो इनसे स्वच्छ रहने वाली जातियो को कष्ट हुए बिना भला कैसे रहेगा। हम दूसरो को स्वच्छ बनाये यह तो हमारे अधिकार की चीज है, समाज का नैतिक नियम भी है, किन्तु हम भी अपने को अस्वच्छता के स्तर पर ले जाये, यह कहाँ तक न्याय सगत है ? और हम अस्वच्छ बने भी क्यो ? और यदि हम अपने को कोई अस्वच्छ बनाये भी तो उसको कोई लाभ नही होगा, इससे स्वच्छता उनमे आने की नही। अस्पृश्य को स्पृश्य वर्ग का सान्निध्य तभी प्राप्त हो सकता हे जबकि अस्पृश्य अस्वच्छता को तिलाजलि दे दे, स्वच्छ रहने का स्वभावगत अभ्यास करले। जब तक कि स्वच्छता हमारे स्वभाव मे घर नही कर लेगी, हम कदापि स्वच्छ नही रह सकते है। निम्न उदाहरण इस बात की पुष्टि करता है। जब गन्दा पानी दूध मे मिला दिया जाता है तो वह दूध को विकृत कर देता है तथा दूध बिक्री के अयोग्य बन जाता है। दूसरी तरफ, स्वच्छ जल दूध मे मिलने पर दूध के मोल बिक जाता है क्योकि दूध के रूप मे विकृति नही आ पाती। अत अन्त्यज एव परिगणित जातियो को स्वच्छ होकर सवर्ण मे मिलना चाहिए ताकि दोनो की हस्ती दिनो-दिन वृद्धि को प्राप्त होती रहे। किसी को दुर्व्यवहार से कुठित बना देना तो बुद्धिमत्ता नही है।

शूद्रो मे भी अनेकानेक स्पर्श वर्ग है जैसे कहार, गोप, माली इत्यादि-इत्यादि। ये उच्च वर्ग एव मध्य वर्ग के घरो मे सेवा करके अपना जीवन-यापन करते है। पूर्व काल मे इनके हाथ का पानी ही चलता था और इनका स्पर्श मान्य था। किन्तु ये आज-कल बडे-बडे घरो मे भोजन भी बना लेते हैं तथा इस विषय मे दक्ष भी होते चले जा रहे हे। ये लोग अपने को काफी स्वच्छ रखते है तथा स्वच्छता पूर्वक मालिक का भोजन भी बनाते है किन्तु

ज्ञात होने पर भी मालिक के घर मे बरती जाने वाली स्वच्छता उनके मन मे घर नही कर पाती। इसलिए इनके घरो मे इस प्रकार की स्वच्छता नही बरती जाती। इनके घर का प्रत्येक सदस्य, स्त्री-पुरुष एव बच्चे, उतनी स्वच्छता बरतने मे शिक्षित नही हो पाये है। उनके देखा-देखी इनके घर के सदस्य भी स्वच्छता को अपनाने मे प्रयत्नशील तो है किन्तु इनका और इनके मालिक के घर की स्वच्छता का वातावरण एक स्तर पर नही आ पाया है। हम उनके हाथ का पकाया हुआ भोजन तो खा लेते है लेकिन हम हठात् इनके घर पर चले जाय तो वहाँ अपनी रुचि के अनुसार इतना स्वच्छ भोजन न पा सकेगे, तदर्थ हम उनके यहा का भोजन स्वीकार नही करते। उनके घर का भोजन अस्वीकार करने मे प्रधान बात है अस्वच्छता। इनकी बात तो दूर ही रही, अपने किसी सजातीय भाई के यहा भी हमारे अनुकूल यदि स्वच्छता का वर्तन नही होता तो उसके यहाँ भी भोजन करने की रुचि नही होती। वह दुःख भी मानता है, किन्तु उसे किसी को भी अपने अस्वच्छ निम्न स्तर पर घसीटने का अधिकार नही। निम्न स्तर वाले को उच्च स्तर पर ले आना श्रेयस्कर है, उन्नति वाछनीय है, अवनति है अवाछनीय। पतनोन्मुखी की कही प्रशसा नही होती है। ऊर्ध्वगामी ही तो श्रेय का भागी होना है।

किसी भी सस्था मे, चाहे उद्योग हो या अन्य, एक समान कार्य करने वालो को समान वेतन मिलता है। जातीयता के आधार पर वेतन निर्धारित नही होता। यह कोयला उद्योग सस्थान का मेरा निज का अनुभव है। इन श्रमिको को आज पहले की अपेक्षा वेतन काफी अधिक मिलता है। इन्ही श्रमिको मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, परिगणित, अन्त्यज, हरिजन आदि सभी सम्मलित है किन्तु अपने अपने जातीय सस्कारो के अनुरूप कोई बहुत स्वच्छ रहता है और साथ ही-साथ पैसे बचाकर उनका सदुपयोग करता है। लेकिन निम्नकोटि की जातियाँ मद्य, मास, एव जुआ जैसी बुरी आदतो के शिकार बनी रहती है तथा हमेशा ऋणी ही बनी रहती है। इनके साप्ताहिक वेतन का आधा भाग ऋण के व्याज चुकाने मे लग जाता है। जिस श्रमिक को बीस वर्ष पूर्व प्रतिदिन ६ या ८ आने मिलते थे, आज उसी को निम्नतम कोटि का वेतन भी ५-६ रुपयो से कम नही मिलता। फिर भी उनके रहन-सहन मे रचमात्र भी अन्तर परिलक्षित नही हो पा रहा है। अस्वच्छता ज्यो-की त्यो बनी है। क्या यह सवर्ण जातियो का ही दोष है कि अन्त्यज जातियाँ

अच्छे पैसे अर्जित करते हुए भी अस्वच्छता को अपनाये हुए है और घृणास्पद जीवन व्यतीत करते है ? मुझे याद है कि जब मैं खदान के कार्य करके घर आता, तो मेरे बच्चे बुलाने पर भी मेरे पास नही आते, किन्तु स्नानादि से स्वच्छ हो जाने पर वे ही बच्चे मेरी गोद मे टूट पडते थे। फिर यहाँ पर क्यो मेरे ही बच्चे मुझे अस्पृश्य समझते ? क्या मैं अन्त्यज हरिजन या किसी परिगणित जाति का सदस्य हो जाता था ? लेकिन नही, अस्वच्छता से घृणा स्वभाविक है। जिन्होने अस्वच्छता को स्वभावगत कर लिया है, अस्वच्छता उनके जीवन का अनिवार्य अग बन चुकी है। तो फिर वे अस्पृश्य एव घृणास्पद बने बिना कैसे रह सकेंगे ?

उपरोक्त विचारो के आधार पर अब हम यह विवेचन करेंगे कि इस अस्पृश्यता रोग का किस प्रकार निवारण हो सकता है ? यदि हम यह कहे कि जागृत सवर्ण इनसे मिश्रण कर इनको ऊपर उठाये यह कदापि होने का नही। यदि हम यह देखें कि स्वच्छ सवर्ण जाति से इनका मिश्रण इनकी उन्नति का कारण बनेगी, तो यह हमारी धारणा नितान्त निराधार, भ्रमपूर्ण है। वस्तुत यह होना चाहिए कि अस्वच्छ को स्वच्छ बनाकर स्वच्छ के साथ मिला दे। ऐसा मिश्रण सहज-सुलभ हो जाता है किन्तु यदि स्वच्छ वस्तु अस्वच्छ मे मिला दी जाय तो वह भी अपनी स्वच्छता को खो बैठेगी जैसा कि हम ऊपर कह चुके है। जब कभी हम किसी बडे आफिसर से मिलने जाते है तो हम अपनी शक्ति भर अपने को स्वच्छ बना कर ही उसके पास जाते है ताकि उससे नजदीक स्तर पर मिल सके। यदि वही अफसर हठात् हमारे घर पर आ जाये तो उसको हमारे घर के वातावरण से सामजस्य करना ही पडेगा। अस्पृश्यता का निवारण ही श्रेयस्कर है। उसकी वृद्धि अथवा उसको सहन करने का अभ्यास न हितकर है, न श्रेयस्कर।

यहाँ एक बात स्मरण रखने की है कि गलाजत को किसी भी अश मे बर्दाश्त करने पर गलाजत हमारे ऊपर अधिकार जमा लेती है। गलाजत का निराकरण ही जीवन है। स्वच्छ सफेद चादर मे गलाजत का एक बिन्दु भी असह्य हो उठता है किन्तु गन्दी चादर मे दो-चार सफेद स्थान उल्टे बडे बुरे प्रतीत होते है जैसे किसी गेहुँआ रग के चहरे पर सफेद दाग। भलाई इसी मे है कि हम इनको अपनी तरफ घसीटें न कि हम इनमे जाकर मिल जाय। यह आकाश-के सुमनो के समान सदा अलभ्य बना रहेगा। यह गुत्थी तभी सुलझ सकेगी जबकि हम इस परिगणित जाति को विद्या के प्रसार के माध्यम

से स्वच्छता का पाठ पढा कर स्वच्छ बने रहने का अभ्यास करा दे। हमारा उनके साथ ममत्व-प्रेम-व्यवहार भी उनके उत्थान मे कम मायने नही रखेगा तब इनकी अस्पृश्यता को काफूर होने मे देरी नही लगेगी।

हमे चाहिए कि इनके लिए पाठशालाये खुलवाई जाय, कुए खुदवाये जाय तथा भव्य मन्दिरो का निर्माण किया जाय और इन सस्थानो मे प्रवेश के लिए अस्वच्छता निरोधक कडे नियम बनाये जाय। इनके अन्दर स्वत ही स्वच्छ रहने की प्रवृत्ति जागृत हो चलेगी और इन्हे स्वच्छ बनाने के लिए एक अभियान चलाया जाय जिसके सदस्य सद्भावना से प्रेरित हो। इनको गलाजत के दल-दल से निकालने का यथेष्ट प्रयास करें। यह कार्य जितना सफल समाज के सच्चे सेवको द्वारा हो सकता है, राज-दण्ड के द्वारा नही। राष्ट्र कितना-कितना रुपया खर्च करता है किन्तु यह धन-राशि उन तक पहुँच नही पाती वैसे ही जैसे कि रेगिस्तान मे हम एक नदी को ले जाय किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही वहाँ की बालू उसे चूस डालती है। एक भष्टाचारी, अनाचारी, अत्याचारी, पतनोन्मुखी पतित दूसरे पतित को क्या ऊँचा उठा पायेगा? यहाँ आवश्यकता है सच्चे देश भक्तो की? हाँ, ऐसे देश भक्तो को राज्य की सहायता सदा-सर्वदा अपेक्षणीय बनी रहनी चाहिए। सच्चे सेवक बहुत मिलेंगे किन्तु अर्थाभाव के कारण वे निष्क्रिय बन जाते हैं। यदि एक महान् पुरुष एक राष्ट्र का उलट-पुलट कर दे सकता है, एक विजातिय राष्ट्र की कठोर जजीरो से अपने देश को मुक्त करा सकता है तो यह कार्य तो उसके अनुपात मे बहुत छोटा-सा है। यहाँ तो किसी के साथ शस्त्र-युद्ध नही करना है। न यहाँ किसी लुटेरे, चोर, डाकुओ को मार भगाना है। यहाँ तो सिर्फ अछूत को अपने ही अस्वच्छ अग को स्वच्छ बनाना सिखाना है, अस्वच्छता रूपी कीटाणुओ से एक विशेष वर्ग को मुक्ति दिलानी है।

पहले-पहल हिन्दुस्तान मे प्लेग आई तो शहरो और गावो को साफ करने के अनेक प्रकार के अभियान चलाये गये जिसमे हम सफल भी हुए। सफलता तो पुरुषार्थी के हाथ का फल हे। हम किसी ऊबड-खाबड जमीन मे मकान बना लेते है, वहाँ के जगल को साफ करके और जमीन को समतल कर अच्छे भवन का निर्माण भी कर लेते है। वहाँ के विशैले जीव-जन्तुओ से उनको वहा समझकर भी बच जाते है। छोटा-सा उद्यान लगा कर प्रकृति का आनन्द भी ले लेते है। किन्तु मनुष्य तो उस ऊबड-खाबड जमीन के सदृश्य नही। यह आत्म-ज्योति का मन्दिर है, सिर्फ अवांच्छनीय परत हटाने की दरकार है

जो कि प्रयास-साध्य है। इसलिए राष्ट्र का यह परम कर्त्तव्य है कि अस्पृश्यता को जाति-प्रथा का दोष न मान कर इस अस्पृश्य वर्ग के उत्थान हेतु साधन उपस्थित करे। क्या नदियो मे बाध बाधने मे सफलता नहीं मिली। खेतो मे नलकूप बनाने से खेती की सिचाई मे पर्याप्त सुधार नही हुआ ? क्या नाना भाति के प्रशिक्षणालय खोलकर हम डाक्टर, इन्जीनियर, टेक्नीशियन पैदा न कर सके ?, सीमेन्ट, इस्पात एव खाद इत्यादि की फैक्टरिया खोल कर देश की यथा साध्य उन्नति मे सफल नही हुए ? तो वह कौन-सा बडा कार्य है जिसको हम करने के लिये उद्यत हो जाए और वह हमारे हाथो से फिसलता रहे और अपने बचाव के लिए अपना दोष दूसरो के मत्थे पर मढते चले जाए ? पुरुषार्थी के लिए कोई पदार्थ दुर्लभ नही होता, पुरुषार्थहीनता सब दु खो का मूल कारण है।

सफाई मे आर्थिक समस्या का प्रश्न उपस्थित नही होता। प्रकृति के अन्दर बिना मूल्य पर्याप्त मात्रा मे पानी, मुल्तानी मिट्टी, सफेद मिट्टी इत्यादि उपस्थित है। यहा तक कि राजस्थान के अन्दर हाथ बालू से ही धोये जाते है और बालू के द्वारा ही जूठे बर्तन माजे जाते है, और माजने मे बडी सफाई आती है। पहले राजस्थान मे पानी की बडी कमी थी किन्तु जो सफाई के प्रति सचेत थे वे थोडे पानी से ही काम चला लेते थे। बाल्टी भरे पानी से जब लोटे के द्वारा हम स्नान करते है तो पानी का बहुत-सा भाग शरीर को बिना छुए ही बह जाता है। मुझे बालकपन की याद है। हमारी तरफ बडे-बडे लोटे होते हैं। उस लोटे के पानी से गिलास के द्वारा हम स्नान कर लेते। पहले एक-दो गिलास पानी डालते और शरीर एव हाथो को खूब रगडते जाते। जब मैल फूल जाता तो मैल धुल जाता। ५-७ गिलास पानी डालने से और शरीर बडा हल्का हो जाता। बदन मे बडी ताजगी आती जो बाल्टी भरे पानी से नही आती। ज्यादा पानी से नहाने से अपने शरीर को मलने का कष्ट नही करना पडता। शरीर पर पानी डाला और उसके स्नान करने की क्रिया समाप्त हुई।

चुनाव के दौरान मे एक उम्मीदवार का हरिजनो की बस्ती मे जाने का उद्देश्य है उनके वोट रूप बल का अपने लिए सग्रह करना। वह भली-भाति जानता है कि उसकी जाति मे उनका बल कितना अपेक्षित है, इसी प्रकार यह परिगणित जाति समाज का अग है। यह अग जितना कमजोर बना रहेगा समाज उसके अनुपात मे कमजोर बना रहेगा। गर्हित अग स्वच्छ अग के लिए मृत्यु-भार (dead weight) है। इस मृत्यु-भार को सहते चलना कदापि

कल्याणकारी नहीं हो सकता। इस अंग को निरोग बना कर ही, रुग्ण अंग को निरोगी बनाने में ही दूसरे निरोगी अंग का कल्याण है। इसलिए अछूतोद्धार समाज को सबल बनाने के लिए कितना आवश्यक है, इसमें जितना समाज का हित है उतना अछूतों का नहीं। यह समाज के ऊपर कलंक है। यह समाज का कैंसर है। अपनी भलाई के हेतु मनुष्य जितना प्रयत्नशील होता है, दूसरे की भलाई के लिए उतना नहीं होता। दूसरे की भलाई के लिए उसकी प्रयत्नशीलता उसकी उदारता का द्योतक है। किन्तु इनके सुधार में हमारी उदारता नहीं है, अपने को बनाये रखने के लिए यह हमारा प्रयत्न अनिवार्य है और बिना इस दृष्टि को अपनाये हम अछूतों के लिए हृदय से प्रयत्नशील न बन सकेंगे। जब कभी अपनी स्त्री व बच्चे बीमार हो जाते है तो उनके रोग निवारणार्थ हमारी दौड़-धूप उनके प्रति हमारी उदारता नहीं है बल्कि हमारे हृदय की टीस के शमन हेतु ही है। जब तक वे स्वस्थ नहीं हो जाते हमारे हृदय की टीस मिटती नहीं।

हरिजनों के उद्धार के लिए भी जब तक हमारे अन्दर इस प्रकार से टीस पैदा नहीं होगी, तब तक अछूतोद्धार में हम क्या सफल होंगे। उदारता का भाव द्वैत-भाव को पैदा करने वाला होता है जबकि हमको इस द्वैत-भाव को मिटा कर अद्वैत की स्थापना करनी है। माता के हृदय में अपनी सन्तान के प्रति द्वैत-भाव बना रहने पर क्या वह उनका इस प्रकार लालन-पालन करने में सक्षम बनी रहेगी? माता के हृदय में अद्वैत भाव बालकों की रक्षा में सक्षम है। द्वैत भाव कदापि नहीं। इसलिए सवर्ण व परिगणित वर्ग के बीच में जब द्वैत भाव मिट जायेगा तब ही यह अछूतोद्धार सफल हो पायेगा। अन्यथा आकाश सुमनों के चयन के समान बना रहेगा।

छलक न पाये तो

नदी मे गम्भीरता से बहने वाला पानी उस नदी कि शोभा है। यह पानी स्वच्छ व निर्मल भी होता है, और इसी मे इठलाता हुआ पानी गदला और किनारो से टकराता हुआ भी वहता चलता है। इसकी टक्करो से कमजोर बाँध टूट भी जाते है और यह विनाश की सृष्टि कर बैठता है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के जीवन मे यौवन समयानुकूल उद्भूत होता है, यह प्राकृतिक नियम है। किन्तु गाम्भीर्य और अनुशासन के अभाव मे जो लोग इसे मर्यादित नही बनाये रख पाते, उनमे यह छलकने लगता है। विशेष कर स्त्री जाति मे। वह समझ नही पाती कि चचलता की अपेक्षा गम्भीरता उसकी सुन्दरता मे चार चाँद लगा देती है।

देखने मे आता है कि मारवाड के छोटे गाँवो एव कस्बो मे प्राय घर की स्त्रिया ही जल भरकर ले आती है। कई-कई स्त्रिया सिर पर दो घडे और बगल मे दो घडे भर कर ले आती है और इस प्रकार सन्तुलन से चलती हैं कि घडो से एक बूद पानी छलकने नही पाता है और जिन स्त्रियो की चाल सन्तु-

लन जो रंठनी है उनका पानी छलक-छलक कर गिरता चला जाता है, उनकी रंगीन ओढनी भी भीग जाता है। सूखने पर इनमे धब्बे एव सलवटे पड जाती हैं, फिर वे दुबारा पहनने लायक नही रह जाती है और कई दफा तो रास्ते मे ही घडे गिरकर फूट जाते हैं। घडे का पानी एक दफे छलका तो फिर छलकता ही जाता है और ज्यो-ज्यो पानी घडे मे घटता जाता है त्यो-त्यो उसका छलकना भी बढ़ता ही जाता है।

यह छलकना क्या है ? गम्भीरता का अभाव ही तो है। गम्भीरता एक बडा दिव्य गुण है जो कि जीवन के सारे क्षेत्रो मे अपेक्षित बना रहता है।

युवावस्था मे यौन सम्बन्धी असयत कमजोरिया यानी विकृत भावनाए इतनी विपाक्त हो चलती ह कि जीवन को रसहीन बनाए बिना नही रहती। निर्दोष जीवन ही दिव्य जीवन है और सारी सम्पत्तियो का घर है। ऐसा जीवन ही सच्चे सुख, शान्ति एव आनन्द का भण्डार है। विपाक्त जीवन यानी रज, तम से घनीभूत जीवन हमारी आत्मा पर ऐसा कठोर आवरण डाल देता है जिसके परे हम कुछ देख ही नही पाते। और उस आवरण के अन्दर जीवात्मा का दम घुटने लगता है जैसे सर्वव्यापी आकाश का एक अश चारो तरफ से बन्द एक कमरे मे। शुरु-शुरु मे हम जरा-सी भी गलाजत सहने लग जाये तो क्रमश गलाजत से हमारी नफरत चली जाती है, और धीरे-धीरे यह गलाजत हमारे ऊपर छाती चली जाती है और एक दिन ऐसा आता है कि हम अपने को इसके गर्क मे डूबे हुए पाते है।

दूसरी तरफ सफाई, पानी, शुद्धता हमारे शारीरिक व मानसिक स्तर को क्रमश अभ्यास के द्वारा इतना शुद्ध एव निर्दोष बना देते है कि फिर हमे जरा-सी भी अशुद्धता सहन नही होती जिस प्रकार कि मैल का एक जरा-सा भी चिह्न सफेद चादर पर आँखो मे गडे बिना नही रहता। देखिए, प्याज न खानेवाला—प्याज की तो बात दूर है—प्याज के सहवास मे आई हुई वस्तु का उपभोग करने मे असमर्थ बना रहता है और प्याज के खानेवाले को प्याज के सम्मिश्रण बिना कोई साग-तरकारी स्वादिष्ट ही नही लगती, उसकी गन्ध उसकी भूख को जगाने व तीव्र बनाने मे सक्षम बनी रहती है।

इसी प्रकार विशेष सत्यनिष्ट को झूठ बोलने का जरा-सा भी ख्याल कम्पायमान किये बिना नही रहता। उसकी वही स्थिति हो जाती है जो किसी भीषण महाकाय राक्षस के सामने या किसी भयानक खूखार बर्बर शेर के

सामने किसी स्त्री व पुरुष की हो सकती है। जीवन के असली रस को सयमी पुरुष ही भोग सकता है। असयमी जीवन इतना तिरस्कृत, इतना उपेक्षित और इतना घृणास्पद इसलिए समझा जाता है कि इसमे झझावात लिए हुए तूफान आ जाता है जो विनाशकारी होता है। किन्तु सयत जीवन शान्त एव महार्णव के सदृश्य वडा ही गम्भीर एव विस्तार वाला परिलक्षित होने लगता है जो कि जीवन का सही रूप है। शान्त महासागरो के वृक्ष स्थलो पर हजारो अग्नि-वोट इठलाते हुए अमन के साथ हजारो मील का सफर करते हुए अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने मे सक्षम बने रहते है। इन अग्नि-वोटो को, वडे-वडे जहाजो को, पानी की कब्र तव मिलती है कवकि उन सागरो की सतह पर भीषण उत्ताल तरगे वडी वेरहमी से उथल-पुथल मचा देती है। इन तरगो का क्षेत्र यद्यपि सीमित रहता है, किन्तु इनको अभिभूत कर इनके परे चले जाना अग्नि-वोटो के लिए सहज नही है। यो तो प्राय सभी अग्नि-वोट इन पागल तरगो से लडाई करते हुए इनके पार हो ही जाते है किन्तु कोई-कोई इनकी चपेटो मे आये विना रहता नही जो कि इसके सर्वनाश का कारण बनती हैं।

ऐसी पागल तरगो से अभिभूत समुद्र को देखने पर मनुष्य को शान्ति तो क्या मिलेगी ये उसे भयभीत वनाए विना नही रहती जवकि उसी शान्त महा-सागर को देखते रहने पर उसके हृदय मे ऐसी भावनाए उद्भूत होने लगती हैं कि क्या वह भी इस महार्णव के विस्तार के सदृश्य नही है। यह शान्त महा-सागर मनुष्य के लिए वडा प्रेरणादायक होता है और उसको देखकर उसका हृदय नौ-नौ वास ऊचा उल्लासित होता है और उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो यह महासागर उसकी ही महानता का सकेत दे रहा है। जिस समय मनुष्य आकाश की तरफ देखता है और थोडे समय तक देखता रहता है तो अपने शरीर का भान खोकर अपने आप को सारे आकाश मे व्याप्त हुआ अनु-भव करता है किन्तु जव कभी बादल के टुकडे बीच मे व्यवधान के रूप मे आकर उसकी दृष्टि को सीमित वना देते है तो वह तुरन्त शरीरस्थ हो जाता है। इस जीवन की महानता के अन्दर यह असयम यह छलक उन वादलो की तरह से है जो असीम को सीमित बना देते हैं यानी उसे अति छोटा, निकम्मा और निष्क्रिय वना देते है।

सज्ञानता

सज्ञानता के दो पहलू है—एक धनात्मक (Positive) तथा दूसरा ऋणात्मक (Negative)। इसका धनात्मक पक्ष मनुष्य को ऊर्ध्वगति प्रदान करता है और ऋणात्मक पक्ष मनुष्य को मिट्टी मे मिलाये बिना नही रहता। ऋणात्मक पक्ष का प्रधान रूप है अहकार जो कि सर्वनाशक है।

धनात्मक पक्ष वाले पुरुष आत्मनिरीक्षक होते है, अभ्यन्तर मुखी होते है और वे अपने बाह्य प्रसार पर मुग्ध नही होते है अपितु अपनी त्रुटियाँ, कमी, दोषो के दर्शन मे बडे सतर्क और जागरूक बने रहते है तथा उनका निराकरण करने मे सतत् प्रयत्नशील बने रहते है। वे अन्धकार रूपी अहकार को अपने मन स्थल मे स्थान देने के बडे कट्टर विरोधी होते है। चाटुकार, खुशामदी, इनको भुलावे मे डालने मे असमर्थ ही बने रहते है। अपनी असलियत की जानकारी करने में बने सावधान बने रहते है। फलत' ये उन्नतिशील, मनीषी, सहिष्णु, परमार्थी होते है। दैवीय सम्पदा इनके हृदय मे प्रवेश करने के लिए सदा तत्पर और लालायित बनी रहती है। आगे चलकर इनमे जीवन के असली

तत्व को पाने के लिए प्रबल इच्छा जागृत हो उठती है और उस दिशा मे वे बहुत ही प्रयत्नशील बने रहते हे ।

ऋणात्मक पक्षी पुरुष अहकारी, दभी और बहिर्मुखी होते हैं और अपने केन्द्र से बहुत दूर बने रहते है । ये चाटुकार, खुशामदी लोगो के शिकजो मे आसानी से फँस जाते है । व्याध के द्वारा फैलाये हुए जाल के भीतर का अन्न चुगने के लिए पक्षी, हरिण इत्यादि अपनी लोभवृत्ति के फलस्वरूप उसमे फसे बिना नही रहते । प्रधानतया स्त्री अपनी बाह्य सुन्दरता की बडी अभिमानि है । यह उसका निर्बल पक्ष है । सुन्दरता की प्रशसा करने वालो के चरणो मे वह अपने आपको समर्पित कर देती है । इसे पता ही नही चलता कि ये असम्बन्धित व्यक्ति मेरे प्रति इतने विनीत, विनम्र क्यो बने हुए है । वह भूल जाती है कि ससार मे कोई भी कार्य, छोटा अथवा बडा, बिना कारण के नही हो सकता । कार्य व्यक्त हे तो कारण सदैव अव्यक्त बना रहता है । उसका स्थान मन है । मन स्थूल इन्द्रियो के सदृश्य स्थूल नही हे और वह भोली-भाली जो बहिर्मुखी हो चली है और स्थूल तत्व को ही अपना धन माने हुई है, वह मन की सूक्ष्म गति को कैसे पहचाने और ज्यो-ज्यो वह अपनी रूप-प्रशसा सुनती है त्यो-त्यो अपनी रूप-राशि की समृद्धि मे और टीप-टाप यानी आज की भाषा मे मेकअप, मे सलग्न बनी रहती है । प्रशसा की भूखी वह नारी अजगर जैसे इन खुशामदियो के कराल गाल मे प्रविष्ट हुए बिना नही रह पाती । दूसरी ओर साध्वी स्त्रिया अपने प्राकृत रूप मे कोई विकृति लाना असगत समझती हे और उससे बडी सतर्क रहती है ।

आज-कल देखने मे आता है कि आज का साहित्य-सेवी—स्त्री हो या पुरुष—जासूसी व रोमाटिक साहित्य की ही सृष्टि करने मे गौरवान्वित होता है । नारी यह भी भूल जाती हैं कि उसके मन को भाव-भगिमाये उसके शरीर कीभगिमायें द्वारा व्यक्त हो जाती है । ये भाव भगिमाये अपने पार्श्ववर्त्ती पुरुष पर आघात किए बिना नही रहेगी और उसे इन भगिमाओ द्वारा उद्भूत मानसिक भावो को पहचानने मे देर नही लगती । यदि वह भी उसी अनुपात मे प्रत्युत्तर दे बैठता है तो उनका बेडा गर्क हुए बिना नही रहता । इस विषय का हमने सान्निध्य' शीर्षक परिच्छेद मे खासा विवेचन किया है । उन दोनो की आकृतिया एक-दूसरे के स्मृतिपटल पर अकित हो जाती है और वे इसका मानसिक दर्शन करने मे सलग्न बने रहते है । ऐसी स्त्रियाँ तुनकमिजाज, अहकारी और हठीली बन जाती है। जरा भी कोई बात

इनकी मरजी के खिलाफ हुई तो इन्हे उलझते देरी नही लगती। खुशामदी व्यक्ति इनके इन निकृष्ट भावो के पोषाक होते है और फल यह होता है कि ये एकदम से उन पर लट्टू हो जाती है। आजकल के आधुनिकता के हिमायती यदि नैतिकता की परवाह न करे और इसे कुचलते चले जाय तो यह दूसरी बात है लेकिन नैतिकता कुचल दिये जाने पर भी बदला लेकर ही मानती है। बडी छोटी-सी बात हे, लोग यह कहते सुने जाते है कि जब मन न लगे, समय व्यतीत न हो तो कोई शगल तो अख्तियार करना ही होता हे जैसे ताश, चौपड व शतरज आदि। समय अट्टहास के साथ बोलता हे कि ऐ जालिम! तू मुझे कत्ल कर, खुद कत्ल हो जायेगा। मेरा कत्ल तेरा कत्ल है और मेरा सदुपयोग, मेरी पूजा तुम्हारे जीवन की सफलता की कुजी हे। इतना होने पर भी यदि मनुष्य न समझे तो मृत्यु के गर्त मे गिरना अवश्यम्भावी है।

इसी तरह आज के धनी-मानी पुरुष, तथा कथित शिक्षित कहे जाने वाले पुरुष बडे ठाट-बाट से रहते हैं और अपने ठाट-बाट के लिए पानी की तरह रुपये बहाते हैं। इनका भी एक ही ध्येय रहता है कि जब हम समाज मे मिले-जुले, बैठें-उठे तो लोग हमारे प्रसाधनो को देखकर हमे बडे आदमियो की सज्ञा से विभूषित करे। इस सज्ञा को पाने के लिए ये अपने चाटुकारो के ऊपर, जो इनके पीछे लगे रहते है, अपने को न्यौछावर करने मे देर नही लगाते। ये बहिर्मुखी जीव अपने केन्द्र से कितने विचलित हो जाते हैं इसका उन्हे पता ही नही चलता और तब कवि की यह उक्ति कितनी सत्य सिद्ध होती हे—"अति को फूलो सहिजन डार-पात सो जात।" क्योकि ऐसे प्रमादी लोग कर्त्तव्यच्युत हो जाते है और ऐसे काम इन्हे बडे पसन्द आते है जिनमे बाह्य आडम्बर विशेष हो। वे भूल जाते हैं कि जिस कर्त्तव्यपरायणता से इनके पूर्वजो ने धन सचय किया था उस पर आज वह फूले नही समाते। इसमे ढिलाई आ जाने पर उनका यह आज का राग-रग कब तक चलता रहेगा? ऐसे पुरुष पदार्थों की असलियत का ज्ञान खो बैठते हैं और अपने चाटुकारो की बाते बहुत रुचि से सुनते ह जो कि वे उन्हे उल्लू बना अपना उल्लू सीधा करने के फेर मे रहते है। ये चाटुकारो की बातो को तनिक भी ठुकरा नही सकते। चाटुकार ऐसे सेठियो को बुद्धिहीन और मूर्ख समझते है।

उपनिषदो मे एक आख्यायिका आई हे कि एक ऋषि का लडका धर्मशास्त्र व ज्योतिष मे पूर्ण पारगत हो गुरुकुल से घर लौटा। चारो दिशाओ

मे उसकी शिक्षा की प्रशसा फैल गई किन्तु जब इसके पिता तक बात पहुची है तो वह कहता है कि ठीक है, उसे अभी और उन्नति करने की आवश्यकता है। पिता के ये शब्द उसे झकझोर देते है फलत वह अपने पिता पर उबल पडता है। यहा तक कि एक दिन उसने अपने पिता को मारने की योजना भी भी बना डाली। ऋषि भोजन कर रहे थे और स्त्री परिवेपन। इतने मे वह कहने लगी की मेरे हृदय मे बार-बार एक प्रश्न उठता रहता है और आपसे उसके समाधान की इच्छा बनी रहती है। किन्तु मुझे ऐसा अवसर ही न मिला कि मैं आपसे कुछ पूछू। ऋषि बोले, भला ऐसी कौनसी बात है, अभी पूछ लो। स्त्री ने कहा कि अपने पुत्र की देश-देशान्तरो मे ख्याति फैली हुई है किन्तु आप उस ख्याति के प्रति सदा उदासीन बने रहते है। इसका कारण क्या है? ऋषि बोले, बावली, तेरे पवित्र मन मे ऐसी शका को स्थान ही कैसे मिला, यह मेरी बुद्धि से परे की बात है। हमारा इकलौता बेटा जिसकी प्रतिष्ठा मे मैं सदैव तत्पर रहता हू, किन्तु मै भी यदि इसकी प्रशसा उसके मुख पर करने लग जाऊ तो उसकी प्रगति अवरुद्ध न हो जायेगी? मै यही तो चाहता हू कि वह सदा सर्वदा प्रगतिशील एव सम्मुनत होता चला जाय, इससे बढकर मेरे जीवन मे दूसरी वस्तु इतनी प्यारी हो ही कौन सकती है।

लडका छिपा हुआ समस्त बाते सुन रहा था। आखिर था तो ऋषि-पुत्र ही न, अपने उस भाव से तिलमिला उठा और पिता के चरणो मे वह कटार, जिसके द्वारा पिता का हनन करना चाह रहा था, रख कर बिलख-बिलख कर रोने लगा। उसने सारी कहानी पिता को सुनादी और क्षमा-प्रार्थना करते हुए उस पाप का प्रायश्चित-विधान मागने लगा। वे ऋषि ही तो ठहरे, विधान दे डाला। स्त्री तिलमिला गई तब ऋषि ने उस विधान का विकल्प प्रायश्चित मे बदल दिया।

आज-कल के नवयुवको मे यह बात घर करने वाली नही रही है। अपनी बाह्य स्थिति का सज्ञान (Consciousness) इनको कितना छोटा बना डालता है, हृदय, दिमाग, विचार-शक्ति कितनी सकुचित बन जाती है—इन सब बातो का बोध आज के नवयुवको को तनिक भी नही है। उनके दिमाग मे तो सिर्फ एक बात भरी रहती है कि बाहर के लोग जब मुझे इतना सत्कार, आदर व सम्मान देते है तो क्या वे मूर्ख है? वह भूल जाता है कि तुझ जैसे काष्ट, वज्र को वे आदर-सत्कार नही देते है बल्कि तेरे ऐश्वर्य को छीनने के लिए उनका यह एक सुगम मार्ग है जिससे सर्प भी मर जाए और लाठी भी न

टूटे। किन्तु जो अपने अहकार पर नियत्रण पा जाने हे या प्रयत्नशील बने रहते है, उन्हे अहकार रूपी विपधर कभी भी नही डस सकता।

कहते है कि एक सेठ के यहा एक मुनीम था जो पहले बहुत गरीब था। उसकी ईमानदारी एव कार्य-तत्परता से प्रसन्न होकर सेठ ने उसे अपना प्रधान मुनीम बना लिया और वही उसे एक कमरा रहने को दे दिया। वह प्रात एव सध्या शौचादि मे निवृत्त होकर उस कमरे मे प्रवेश कर और कपाट बन्द करके बैठ जाता तथा अपना एक सन्दूक खोलता व थोडी देर बाद फिर बन्द कर देता। स्वभावत मालिक की जिस पर विशेप कृपा हो जाती है, निम्न-पदाधिकारी उससे द्वेप करने लग जाते है और धीरे-धीरे ये लोग सेठ के कान भरने लगे कि दिन भर मे जो ऊपर की कमाई यह करता है, अपने ट्रंक मे रखता जाता है। सेठ से न रहा गया और एक दिन ज्योही ट्रक खोलने की आवाज आई, दरवाजा खोलने के लिए दस्तक दी गई। मुनीम ने तुरन्त ट्रक को बन्द करके किवाड खोल दिए। सेठ का सन्देह और भी दृढ हो गया और उसने प्रवेश करते ही ट्रक को खोलने के लिए कहा। मुनीम चुप था, आखो से आसू बहने लगे तथा उसकी हिचकिया बध गईं। सेठ का सन्देह प्रवल होता गया। उसकी वाणी मे उत्तेजना व कठोरता भर गई। मुनीम गिडगिडा कर कहने लगा, सेठ साहव, यह मेरी पूजा की वस्तु है, मेरे इप्ट देव है, देखकर आप क्या कीजियेगा। मुनीम का विनयभाव सेठ के सन्देह मे आहुति का काम कर रहा था। सेठ ने ट्रक खुलवाने की हठ पकड ली। तव मुनीम लाचार होकर ट्रक खोलकर दिखाने लगा। सेठ अवाक रह गया, किकर्तव्य विमूढ हो गया। वह पूछने लगा, मुनीमजी, यह तो चिथडे है, इनके अन्दर छिपी हुई तुम्हारे इष्टदेव की मूर्ति के दर्शन तो कराओ। उसने उत्तर दिया, सेठजी आपकी अभी तक आख नही खुली, अव तक ये पुराने चिथडे मुझे अहकार से परे रखे हुए है। इनके प्रतिदिन के दर्शन के फलस्वरूप ही अहकार मेरे ऊपर अपने दाव-पेच खेलने मे असमर्थ रहा है यदि मै अपनी पूर्व-स्थिति की स्मृति खो बैठता तो अहकार का शिकार हुए विना कदापि न रहता।

जो मनुष्य अहकारी है, वे वहिर्मुखी होते है। स्थूल जगत की पृष्ठ-भूमि मे कैसी-कैसी शक्तियाँ कार्यरत है, अहकारी कभी भी नही सोच सकता। इस-लिए अपने 'ऐश्वर्य' की प्राप्ति के प्रति सज्ञान सचेत बना रहना यानी दूसरे शब्दो मे अहकार पर विजय पा लेना मनुष्य का परम पुरुपार्थ है और सच्चे ऐश्वर्य का प्रदाता भी, जिससे वह लोक एव परलोक दोनो मे ही ऐश्वर्य-

शाली बना रहता है।

यह Consciousness आखिर है क्या बला, ऐसा प्रश्न पाठको के हृदय मे उद्भूत हुए बिना शायद न रह पाये। जब मनुष्य को अपने ऐश्वर्य की प्राप्ति मे सन्तोष आ जाता है और वह उसे लोकोत्तर समझ बैठता है तब उसके अन्दर एक प्रबल कीर्ति की एषणा जागृत हो उठती है और अपने ऐश्वर्य की परिधि के अन्दर-ही अन्दर दूसरो के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए व्याकुल हो उठता है। वह समझ नही पाता कि जितना ऐश्वर्य उसके पास है वह तो दूसरो के ऐश्वर्य के अनुपात मे नगण्य है। सासारिक ऐश्वर्य की तो कोई सीमा नही। साधारण खाता-पीता आदमी एक लक्षाधिपति के सामने अपने को अकिंचन महसूस करने लगता है और वही लखपति करोड पति के सामने, करोडपति, अरबपति के सामने और वही अरबपति राजा-महराजाओ के सामने। इस प्रकार की शृंखला का कभी अन्त नही हो पाता। आत्मज्ञानी ही सच्चे ऐश्वर्यपति है। जिसके ज्ञान मे कोई छोटा या बडा नही और सारे विश्वभर मे जो वायु के सदृश आत्मदर्शन मे विभोर बना रहता है। यही सज्ञानता व आत्मज्ञान है जो जीवन मे अत्यधिक अपेक्षित है। इसके विपरीत स्थूल ऐश्वर्य का भान अहंकार है जो कि सज्ञानता (Consciousness) का ऋणात्मक पक्ष मात्र है।

नकल

नकल करना मनुष्य की बडी कमजोरी है और कमजोर स्वभाव का लक्षण बहती हुई धारा मे वह जाने के सदृश्य है, बडे-बडे कष्टो का आवह्लन करना है, नैतिक एव आध्यात्मिक स्तर से गिर जाना है। नकल करने वाले को अवैध ढग अपनाने पडते है और यह आत्मा के ऊपर कालिमा पोते बिना नही रहती।

नकल करने वाला, जिसकी वह नकल करता है उसकी सामर्थ्य और अपनी सामर्थ्य का मुकावला करके स्व-वुद्धि का सतुलन खो वैठता है। वह उस सामर्थ्यवान के स्तर पर आने का प्रयास करता है, जिसके सिर्फ दो रास्ते है-या तो वह भी अपने को उतना ही सामर्थ्यवान वनाले, जिसमे अपने वुद्धि स्तर को उस सामर्थ्यवान के वुद्धिस्तर तक ले आने मे प्रगाढ पुरुषार्थ निहित है, जवकि ऐसा करने मे मनुष्य प्राय सफल नही हो पाता, क्योकि विभिन्न मनुष्यो के भिन्न-भिन्न वौद्धिक स्तर हुआ करते है किन्तु उस सामर्थ्यवान के ठाट-वाट जो कि उसके वौद्धिक स्तर का विकास मात्र है, उसकी नकल

करने मे उस शक्ति के लिए कुत्सित प्रयासो का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। कुत्सित भावनाए मनुष्य को गिराये बिना नही रहती जिससे उसका जीवन अशान्ति एव कष्टो से भर जाता है। उसे धन प्राप्ति के लिये अवैध एव अनुचित साधनो का सहारा लेना पडता है जो भय एव खतरे से खाली नही रहता। उसके जीवन मे अभाव का साम्राज्य उमड पडता है क्योकि लोभ वृत्ति उसे दबोचती चली जाती है तथा अभावो की पूर्ति के लिये उसे नीचातिनीच नीतियो का अवलम्बन करना पडता है जिससे कि वह घन-घोर अन्धकार के प्रदेश मे जा टिकता है, जहाँ पद्-पद् पर ठोकरे खानी पडती है तथा करम फूटे बिना नही रहते फलत समाज के अन्दर भ्रष्टाचार, अना-चार, दुराचार का ताण्डव-नृत्य होने लगता है।

उस नकलची के दिमाग मे एक ही बात चक्कर काटती रहती है कि फलाँ आदमी जब इतने सुख से रहता है तो फिर मैं क्यो नही इतने सुख से रहूँ। किन्तु वह भूल जाता है कि उस सुख से रहने वाले के साधनो के जुटाने मे केवल अनाचार-अत्याचार का आधार था अथवा अपने बौद्धिक तत्व को परिमार्जित करने के पीछे एक अनवरत् प्रयास जिस पद्धति को नकल करने वाले ने अपने जीवन के निर्माण मे लापरवाही से ठुकरा दिया था। डाकू-चोर चोरी करने पर भी न धनवान दीख पडते है न सुखी, किन्तु जिनको वे लूटते हैं वे उनका धन तो लूट लेते हैं किन्तु उनकी धन कमाने की शक्ति को तो वे छू तक नही पाते और थाडे काल पश्चात् फिर वे वैसे-के-वैसे सम्पन्न हो जाते हैं। थोडे काल के लिए उन्हे कष्ट तो होता है लेकिन डाकू-चोर सदा भय और खतरो से जकडे रहते है। ये सिन्धी, पजाबी मुसलमानो द्वारा बेरहमी से लूट लिये गये तथा अपने स्थान से निकाल दिये गये किन्तु जिस बौद्धिक तत्व से वे वहाँ बडे हुये थे, उसी बल-बुद्धि द्वारा भारत मे आकर फिर सामर्थ्यवान हो गये। इसके विपरीत जिन मुसलमानो ने उन्हे लूटा था, इनकी इतनी भारी सम्पत्ति प्राप्त करने पर भी कगले के कगले बने रह गये। अत हम कमजोर मनुष्य को सामर्थ्यवान के बाह्य आडम्बरो की नकल न करके उसके बौद्धिक स्तर तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिये ताकि वह भी उस सामर्थ्यवान की शक्ति को प्राप्त कर सके।

नकल सर्वनाशमूलक है। किसी के अच्छे गुण को ग्रहण करना नकल नही होती, बल्कि यह तो जाति व व्यक्ति के जीवन के शुभ लक्षण है। हमने पाश्चात्य देशवासियो की नकल की, उनके अवगुण हमारे अन्दर आ गए।

उनके सदगुणो से हम दूर बने रहे। फल यह हुआ कि हम अपनी सस्कृति से ही हाथ धो बैठे। मुसलमान भी पाश्चात्य देशवासियो के सम्पर्क मे आये किन्तु न वे अपने लिवास मे अन्तर लाये और न अपने धर्म की भावनाओ मे। अत इनकी जाति सबल बनी रह गई और बनती चली जा रही है। अपनी सस्कृति के जो हिमायती होते है ससार उनकी इज्जत करता है। अन्तरिक्षयान मे जाने वाले अन्तरिक्ष यात्रियो ने चन्द्रमा की परिक्रमा लगाते समय भी क्रिसमस मनाने का पूरा ध्यान रक्खा और मनाई, तथा पृथ्वी से २ लाख ४० हजार मील की दूरी पर भी अपने धर्म को न भूले और क्रिसमस मनाने के उपलक्ष्य मे अपने देशवासियो को शुभ सन्देश भेजा। ईद का दिन जब आता है मुसलमानो मे कितना हर्षोल्लास भर जाता है। गरीब-अमीर कितने उल्लास से ईद मनाते है। वे नही कहते कि महगाई और गरीबी के दिनो मे क्या ईद मनाए। उनके मुकावले मे हिन्दू जाति के त्योहारो को मनाने का उत्साह उनके उत्साह से मुकावला करने पर हिन्दुओ का उत्सव निर्जीव प्रतीत होता है, यह इनकी जागृति का चिन्ह नही है। आज की शिक्षित हिन्दू नारी-तीज-त्यौहार को ढकोसला मान बैठी है जिसका कि देश व जाति के अगो मे जीवन फूंकने हेतु निर्माण किया गया था। आज की रमणी सगर्व उनको ठुकराती चली जा रही है।

हमने पाश्चात्य देशवासियो की नकल की किन्तु किस क्षेत्र मे ? शराब पीने मे, माँस, अण्डे खाने मे, क्लबो मे जाने मे, वहाँ बाल-डान्स करने मे, लिपिस्टिक आदि कृत्रिम प्रसाधनो के प्रयोग करने मे, और न जाने क्या-क्या करने मे, किन्तु वे विदेशी अपनेधर्म मे कितनी आस्था रखते है, इन्हे कितनी गहराई से जानने को सचेष्ट रहते है, उन्हे अपनी भाषा से कितना प्रेम है, वे वैज्ञानिक गवेषणा एव अन्वेषण मे कितनी तत्परता से लगे हुये है, वैज्ञानिक सिद्धान्तो की परिपक्वता हेतु वहाँ के लोग विषम से विषम स्थितियो का सामना करने के लिये सदा तत्पर रहते है। जवकि हमारे यहाँ हमारे ही वन्धु-बान्धव हमारी भाषा का विरोध करते है। वहुत से अपने धर्म की ही आलोचना-प्रत्यालोचना करते है तथा अपनी सस्कृति के विरुद्ध आचरण करते हे और न जाने क्या-क्या नही करते। जो थोडा पढ-लिख गए और राजसत्ता मे कोई पद पा गए, फिर देखो उनकी त्योरियाँ, उन्ही वोटरो को कुचलना और उन्ही के हक-हकूक हडप कर जाना और कुकृत्यो की होली मचाना, जिसका दिग्दर्शन जरा राजधानी मे चले जाय और अपनी विस्फारित

आँखो से देख लें। ऐसी जाति जिन्दा रहने का दावा नही कर सकती।

जब कभी हम श्री वल्लभ भाई पटेल की तरह भारत माता के सच्चे सपूतो को कुर्ता धोती तथा ऊपर से चादर डाले हुए देखते हैं तो हमारी छाती नौ-नौ बाँस उछले बिना नही रहती। जब कि हमारे तथा कथित शिक्षित उच्चपदस्थ चलते समय पतलून मे हाथ डाले गौरवान्वित, जरा कमर झुकाए, पदचाप करते हुये, जब सडक पर चलते है तब नजारा देखते ही बनता है। हृदय मे एक टीस उठे बिना नही रहती, साथ ही उनकी बुद्धि पर तरस भी आता है। आज का साधारण स्थिति का मनुष्य इन सूट-बूटो मे अपने पसीने की गाढी कमाई को अपने बच्चो एव स्त्रियो को मोहताज बनाए किस तरह पानी की तरह बहा देता है, और यह गर्व करते लजाता भी नही कि इस सूट पर मेरे ४०० रुपये बैठे है। सौ रुपये तो सिलाई के दिये है जब कि इनके बच्चे एव स्त्रियो के तन पर कपडे नही हैं। इस प्रकार देश का गुमराह व्यक्ति समाज व देश की सेवा तो क्या करेगा, उसे रसातल मे पहुँचने मे सहायक न बने तो गनीमत है।

भौतिक एव आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार वेद, आत्म-ज्ञान के भण्डार उपनिषद् एव हमारे षट्शास्त्र जिनके कि ससार के विद्वान तत्ववेत्ता कायल हैं तथा तारीफ करते अघाते नही हम उन शास्त्रो को ठुकराते लजाते नही और इन शास्त्रो को ही अपने पतन का कारण घोषित करते गौरवान्वित प्रतीत होते है। क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसी अशोभनीय अध पतन की ओर ले जाने वाली यह कुवृत्ति कहाँ से आकर हममे समा गई? विजेताओ ने हमको पद दलित करने हेतु हमारे इतिहास और हमारे शास्त्रो की अवहेलना की। गुलामी के वातावरण मे पलने के कारण हम उनकी नकल करने के आदी हो करइस हद तक नकलची बने कि उनकी राय मे हमने भी अपना राग मिला दी। विजेता अपनी खैर उसी समय तक मना सकता है जब तक कि वह विजित के स्वाभिमान को भली-भाँति कुचल न दे और विजित उसका जूठन खाने का आदी न हो जाय यानी इतना अन्धा बन जाय कि विजेता की बतलाई हुई राह को ही सही राह मान ले और उस पर ही चले। जब तक कि विजित का स्वाभिमान चूर्ण नही हो जाता, विजेता कभी भी चैन की सास नही ले सकता।

आज का हिन्दू शिक्षित वर्ग अपने शास्त्रो के ज्ञान से नितान्त शून्य है। किन्तु वे शकराचार्य जैसे आर्य सस्कृति व शास्त्रो के उत्कृष्ट विद्वान धर्माचार्यो के ऊपर

टीका-टिप्पणी करते हुये तनिक भी लजाते नही तथा गौरव अनुभव करते है। यह वे समझ ही नही पाते कि आचार्य क्या कह रहे थे ? चूकि वे समझ ही नही पा रहे थे इसलिये आचार्य जो कुछ भी कह रहे थे उनके लिए सिर्फ वकवास था। ठीक भी है, भैस के सामने वीन वजे तो वह क्या समझेगी, वह तो चमकेगी, भडकेगी और भागेगी। किसी ने ठीक ही कहा है कि भैस के आगे वीन वजावे भैस वैठी पगुराये, क्योकि ऐसे महात्माओ के प्रवचनो मे आदमियो को नीद आती है क्योकि उनका मस्तिष्क उन वातो को ग्रहण करने मे असमर्थ वना रहता है।

गौ-आन्दोलन हुआ। हमारे देश के महानुभाव शकराचार्य और अन्य मण्डलेश्वर सन्त-महात्माओ पर प्रहार करते मे हमारे शासक न अघाये। और मजा यह है कि पारलियामेन्ट के सदस्य एव उच्च पदाधिकारी अपने घरो मे श्रद्धापूर्वक गऊ को गौ माता ही कहकर पुकारते है लेकिन वाहर ऐसा कहने मे लज्जा अनुभव करते हैं। कोई भी हिन्दू का लाल सुअर को मार कर मस्जिद मे फेंक तो दे, फिर देखो, सारे के सारे मुस्लिम समाज की एक वोली निकलती है कि नही। और उनके सामूहिक रोप की नदी वहती है कि नही। इसके विपरीत, यदि कोई मुसलमान हिन्दुओ को चिढाने के लिये ग्राम वाजार या किसी धर्म-स्थान पर गऊ का कत्ल कर दे तो हिन्दू भाई इस कुकृत्य को देखी-अनदेखी कर जायेगे। क्यो अघे न्यौतें क्यो दो आये। या यो कहकर सन्तोप की साँस ले लेगे कि किसी गुमराह ने ऐसा कर दिया होगा, इस झूठे झगडे मे अपने को जाना नही है। मरी हुई गाय तो वापस आ नही सकती, विद्वेप की अग्नि को भडकाने मे वुद्धिमता नही।

जव हिन्दू नारी मुसलमानो के द्वारा अपहरण कर ली जाती है तो राजसत्ता के कानो पर जूँ तक नही रेगती, और उनका अभिभावक इधर-उधर ठोकरें खाता हुआ, शिथिल हुआ अपने घर मे आ वैठता है, और सवसे लज्जाजनक वात तो यह होती है कि उन लडकियो के भगाने मे हिन्दूओ का भी हाथ वना रहता है तथा अडोसी पडोसी यह कहते लजाते तक नही कि अजी क्या कहे, हम तो जानते ही थे कि यह लडकी उसके साथ एक-न-दिन भागे विना नही रहेगी। उसका घर मे वरावर आना जाना वना रहता था और यदि घर वाले ही इस वात का विरोध न करे, तो हमको क्या पडी। क्यो विना मतलव का झगडा मोल लें। और ऐसी लडकियो को मुसलमानो के चगुलो से वरामद करने मे वडे-वडे हगामे तक हो जाते है जिनकी वे परवाह

गत नहीं करते किन्तु हाथ मे आये हुये शिकार को वे छोडने को तैयार नही। इसके विपरीत क्या मजाल कि हिन्दू, किसी मुसलमानी की तरफ देख ले, भगाने की वात तो दूर रही। ऐसी मानसिक व नैतिक कमजोरियो का गहरा कारण है नकल करना।

नकल करने वाले आलसी दुर्बुद्धि आराम तलव हो जाते है तथा इन्द्रियो के क्रीतदास वन जाते है इन्द्रिय लोलुपता मनुष्य को रसातल मे पहुँचाये बिना नही रहती। अग्रेजो मे मुक्त मिश्रण प्रचलित है, इसकी हमने नकल की। उसका मुक्त मिश्रण जिस स्तर पर होता है, यह तो हम समझ नही पाये किन्तु उनकी नकल कर वैठे तथा हम अपनी यौन सम्बन्धी मर्यादाओ को तिलाँजलि दे वैठे तथा जिस स्त्री-सतीत्व के आधार पर हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था उसी ने अपने हाथो उसकी जड खोद डाली। उदाहरण की आवश्यकता तो है नही। आप आत्म-निरीक्षण करके स्वय देख लें कि हमारे कथन मे कितनी सत्यता है।

सऊदी अरव के शाह जब भारतवर्ष मे आये थे तो काशी विश्वनाथ के मन्दिर के पार्श्व मे स्थित मजिस्द के अन्दर नमाज पढने गए। साथ मे जितने भी मुसलमान थे, जो कि मस्जिद मे समा सके थे, सभी ने सुलतान के साथ नमाज पढी। यह धार्मिक समानता का नजारा देखते ही बनता था, किन्तु जव कोई ख्याति प्राप्त धनाढ्य राजनैतिज्ञ उच्चपदस्थ सम्मानित हिन्दू, मन्दिर मे दर्शनार्थ जाता है तो दोनो तरफ रस्से लगा दिये जाते है ताकि उक्त श्रीमान के सिवाय उस समय कोई प्रवेश न कर पाये। वे पसन्द नही करते कि उनके सहधर्मी उनके साथ जाकर एक साथ पूजा कर ले। किन्तु वे भाग्यवान वहाँ न पूजा करने जाते है न प्रार्थना। वे वहाँ की मूर्ति देखने जाते है कि वह कैसी बनी है, किस धातु की बनी है। उनका वहाँ जाना केवल औपचारिक मात्र होता है और मन्दिर से बाहर आकर भी उनके श्रीमुख से यही निकलता है कि मूर्ति वडी अच्छी है, फलो का वडा अच्छा शृगार हुआ था। किन्तु वह मूर्ति अनुष्ठान के द्वारा उस देवता से जिसकी वह प्रतीक है, अनुप्राणित है, इसका विचार उनके दिमाग मे घुस तक नही सकता, न उसमे उनको विश्वास ही आता है। यानी श्रीमान् जी की दृष्टि जड-वस्तुओ तक ही सीमित बनी रही। वे चैतन्य का आभास मात्र भी प्राप्त न कर सके। मन्दिर मे ऐसा निरर्थक प्रवेश व दर्शन, हास्यास्प्रद है और समाज मे निर्जीवता का सृष्टिकर्त्ता है।

हमारे यहाँ आज-कल जितने त्यौहार मनाये जाते है वे केवल औपचारिक होते है उनमे प्राणो का नितान्त अभाव बना रहता है। हम किसी सन्त-महात्मा के पास जाते है तो केवल कौतुहल की दृष्टि से या छिद्रान्वेषण हेतु। उनमे क्या-क्या गुण है, इस पर तो हमारी दृष्टि-केन्द्रित हो ही नहीं पाती, किन्तु उसके रहन सहन पर ही हमारी दृष्टि जाती है। उससे विदा लेने के बाद जब बाहर आते है तो हम लोगो को यही कहते पाते है कि वे इस प्रकार बैठे थे, इस प्रकार के कपडे पहने थे, बोलते समय उनकी दाढी मूछें हिलती थी, आँखे किस प्रकार चलती थी, हाथ की अगुलियाँ किस प्रकार गति कर रही थी इत्यादि। इस प्रकार की मानसिक स्थिति से हम उन महात्माओ से क्या सीखेगे किन्तु हमने तो किसी मुसलमान को अपने किसी भी उलेमा व औलिया की टीका टिप्पणी करते नही सुना है। उन उलेमाओ व औलियां के मुख से जो भी निकला वह तो फतवा (आप्तवचन) था, मानो कुरान की आयते ही थी। जो जाति अपने धर्माचार्यों की इज्जत करती है वही जिन्दा बने रहने का दावा कर सकती हे।

हम अपनी बहन-बेटियो को जरा आगाह करने का लोभ सवरण नही कर पा रहे हैं। देखा-देखी आज हमारे यहाँ कि स्त्रिया पेट उघाडे रहने, कमर उघाडे रहने मे आधुनिकता की दुहाई देते हुए कुछ गौरव अनुभव करती हैं। उनको यह पता नही कि भिखमगा ही अपना पेट उघाड कर दाता से दया की भीख मागता है, और यदि हमारी स्त्रियो की यही इच्छा है कि दूसरे हमारे अग-प्रत्यगो की सराहना करें तो यह इच्छा भी उनको भिखारी ही तो बना रही है। भिखारी तो आदृत नही होते। फिर ये कैसे समाज मे आदर पा लेगी, समझ मे नही आता। यहाँ की नारियाँ किस आदर्श के बल पर निर्वसना होती चली जा रही है, उन्हे क्या आनन्द मिलता है, समझ मे नही आता। जो कमजोर दिमाग के कामुक व्यक्ति हे वे तो अलबत्ता उनकी तरफ ताकते रहते ह किन्तु समाज के गम्भीर विचारशील पुरुपो के हृदय मे ये घृणा एब तिरस्कार की भावना ही उत्पन्न कर पाती है। एक समय था हमारे यहाँ की नारी कामुक पुरुपो की दृष्टि से झुलस जाती थी, आज वही दृष्टि उनको सम्मोहित करने मे समर्थ है। आज इस बात की होड लगी है कि स्त्री-पुरुष समाज मे कितनी घनिष्ठता के साथ चल-फिर सकते हैं और यहाँ तक की हसी मजाक मे वह कितना सहयोग दे सकते है। वह इसमे अपना गौरव समझती है, जबकि पुरुपो मे हसी-मजाक का आधार स्त्री है और स्त्री-समाज

मे हँसी- मजाक का आधार पुरुष ।

ससार के विभिन्न देशो मे जितने भी धर्म हैं उन धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को अपनी-अपनी देश जाति की रीढ की हड्डी माने हुए है और बात भी सही है, वे केवल इसके बल पर ही तो अग्रसर होते चले जा रहे हे। पिछले ही दिनो की बात है जब शर्मिला टैगोर ने पटौदी के नवाब के साथ शादी करनी चाही तो उसको मुसलमान होना पडा। हिन्दू जाति की ललना की कहा ताकत कि वह भावी शौहर को मुसलमान से हिन्दू बना ले। उनके यहा धर्म पहले, प्रेम पीछे, हमारे यहा मन की वृत्तियो की पूर्ति पहले है, धर्म पीछे। हम धर्म को आगे नही आने देते। क्योकि हम बडी ही जाग्रत एव आधुनिक जाति के जीव जो ठहरे। नवाब पटौदी ने शादी के समय कुरान का पाठ किया था। इसके माने यह हुए कि वह अरबी जानते हैं और कुरान के अन्दर उनकी असीम आस्था है। शर्मिला ने तो ऐसा कुछ किया नही। हिन्दू शास्त्र तो वह पढ नही सकती थी, शायद पढना जानती भी न हो, और मुसलमान हो जाने पर पढ ही कैसे सकती थी। उसे पढने देता भी कौन, किन्तु कुरान इसलिये नही पढी, कि कुरान पढना सीखा नही था क्योकि अभी-अभी तो मुसलमान हुई थी। क्रिस्तानो मे जब शादी होती है तब चर्च मे जाकर बाईबिल मे से कुछ प्रार्थनाए पढनी होती हैं। ऐसे ही सारे मजहबी लोग अपने-अपने शास्त्रो का पाठ करते हैं।

और हमारे यहाँ जब शादियाँ होती है तो लोग शादी कराने वाले पण्डित से कहते लजाते नही, पण्डित जी, जल्दी करो, और बेचारा पण्डित ही दूल्हे की तरफ से मन्त्रोच्चारण करता है और दूल्हा कठपुतली की तरह से केवल साक्षी रहे, सो यह भी नही। उसका मन तो और ही कही चक्कर मारता रहता है। शर्मा-हुजूरी उसे मण्डप मे बैठना तो पडता है लेकिन यह बैठना उसे अखरे बिना नही रहता। जो जाति अपने शास्त्रो की इस प्रकार अवहेलना करे और अपनी रीढ की हड्डी अक्षुण्ण देखना भी चाहे, हमारी सम्मति से तो यह प्रयास आकाश के फूलो का चयन मात्र है। इसी कारण दिनो-दिन हिन्दू समाज अधोगति को प्राप्त होता चला जा रहा है। हमारे सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन मे वह दिन स्वर्णिम दिन होगा जबकि हम इस पतनोन्मुखी तन्द्रा से जाग उठेंगे।

हमारा आज का युवक जिन माता-पिता से पैदा हुआ हे उन्हे सभ्य कहने

के लिए तैयार नही है जब तक कि वे भी उसकी तरह सूट-बूट मे रहना न सीख जाय। वह धोती-कुर्ते मे रहने वालो को असभ्य समझकर उनका तिरस्कार करता है जबकि और-और देशवासी अपने देश की पोषाक को अपनाये रहने मे गौरव महसूस करते हैं। जो जाति अपनी सस्कृति को ठुकरा देती है, ससार उसे ठुकरा देता है। जिसने अपने को आदर करना नही सीखा, उसे कही से भी आदर प्राप्त नही हो सकता। अपने यहा एक कहावत मशहूर है और बडी सार गर्भित है कि "घर खीर-बाहर खीर"।

जब हमे नकल ही करनी है और जबकि नकल के बिना हमारा काम चल ही नही सकता तो क्यो नही हम नकल उन लोगो की करें, जो अपने धर्म मे अटूट श्रद्धा, आस्था एव विश्वास रखते है। जो अपनी जातीयता के रक्षार्थ तथा उसे सगठित एव सुदृढ बनाये रखने के लिए अपनी जान पर खेल जाते हैं, जो अपने राष्ट्र अपनी सस्कृति को सदैव जीवित एव सशक्त देखना चाहते है, तथा जो अपने धर्म, सस्कृति, जाति एव भाषा के प्रति गौरव अनुभव करते है। नकल करे तो क्यो नही अच्छी चीज की करे, जिसका फल अच्छा हो, लेकिन वह नकल किस काम की जिसमे अपनी आत्मा का हनन हो तथा अपने देश एव समाज का विनाश। ऐसी नकल तो घातक है। ऐसी नकल के प्रति अपनी आवाज को जितना भी बुलन्द कर सके, बुलन्द करे। यह हमारा कर्त्तव्य है, अधिकार है, इसे कोई छीन नही सकता। क्योकि नकल न करने वाले एव अपने धर्म एव कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने वाले भी नकलचियो के साथ पिसे बिना नही रह सकते, क्योकि नकल करने का स्वभाव बडा सक्रामक होता है तथा सक्रामक रोग के कीटाणुओ का नाश करना सदैव श्रेयस्कर है।

उपेक्षा एवं तिरस्कार

ये दोनो मन की वृत्तिया हैं किन्तु एक-दूसरे से विपरीत और भिन्न, तथा इनमे आपस मे वडा विरोधाभास है। मनुष्य इन दोनो को एक कोटि मे मानकर वडी भूल कर बैठता है। उपेक्षा दैविक सतोगुणी वृत्ति हे जवकि तिरस्कार आसुरिक तमोगुणी।

तिरस्कार मे निहित है प्रतिशोध, घृणा, क्रोध, द्वेष, लाछना, मद, मात्सर्य, अभिमान। इसकी प्रतिक्रिया हुए बिना नही रहती। यह आपस की क्रोधाग्नि को भडकाने मे सहायक होती है। इसके परिणाम भयानक होते हैं। इसका कभी अन्त नही हो पाता, यह अग्नि के सदृश्य दहकती रहती है, बुझने का नाम नही लेती। यह मनुष्य को पतनोन्मुखी वना डालती है।

उपेक्षा मे निहित हे तितिक्षा, क्षमा, धृति, दया, अहिंसा तथा उपेक्षित की दुर्बल बुद्धि पर, उसके सकुचित दृष्टिकोण पर तथा उसके हृदय की सकुचित व्यवस्था पर दया एव तरस। यह मन की सतोगुणी वृत्ति है, यह मन के सयम की विजय रूप है। यह उपेक्षित के हृदय का परिशोधन करती है। यह उसके

हृदय में सतोगुण का सचार करती है। उपेक्षित अपनी भूल को महसूस करने लगता है, अपने कुकृत्य पर लज्जित होता है।

एक अनार्य वृत्ति का व्यक्ति बुद्ध देव को गाली दे रहा था। भगवान बुद्ध उसकी गालियो की उपेक्षा किए चले जा रहे थे। जब उसने देखा कि भगवान बुद्ध उनकी गालियो की बौछार से रचमात्र भी विचलित नही हो रहे है तब वह हैरान हो चुप हो गया। भगवान प्रसन्न मुद्रा बोले, 'भाई, एक बात तो बता, दाता की दातव्य वस्तु को दूसरा ग्रहण न करे तो वह वस्तु कहा बनी रहेगी।' बात सीधी-सी थी, वह बोल उठा कि वह वस्तु दाता के पास ही बनी रहेगी। भगवान हसकर बोले, 'देख,— मने तेरी गालियां को स्वीकार नही किया है।' यह सुनते ही वह लज्जित हो उनके चरण कमलो पर गिर पडा और फूट-फूट कर रोने और क्षमा मागने लगा। भगवान को तो उसे शिक्षा देनी थी। वह उनका पथानुगामी बन गया तथा कल्याण के मार्ग पर पदस्थ हो गया। यह है उपेक्षा का करिश्मा।

भगवान श्री कृष्ण की रासलीला का तथ्य, रहस्य तथा उद्देश्य कम ही लोग समझ पाते है। इस रास का रहस्य है 'काम' की चुनौती को स्वीकार करते हुए, उसको उपेक्षा रूपी आयुध से परास्त करना।

उपेक्षा मन का महान् बल है, मन के सयम द्वारा ही यह उपलब्ध होती है।

उपेक्षा रहित जीवन, इतना कटीला बन जाता है कि मनुष्य जहाँ कही भी जाय, किसी स्थिति मे रहे, उलझे बिना नही रहता। वह ससार के कर्दम मे बिना कारण ही फसता चला जाता है। ये सब जीव, जन्तु जैसे सर्प, बिच्छू, सिंह, चीता, रीछ इत्यादि उपेक्षाशून्य होते हैं, तभी तो ये भयभीत-से घात लगाये बैठे रहते हैं तथा मनुष्य के शिकार हुए बिना भी नही रहते।

कोई सफल प्रशासक तभी बन पाता है जब उसमे उपेक्षा सक्रिय बनी रहती है। अज्ञानवश उपेक्षा-उपेक्षा नही। उपेक्षा तो सक्रिय होनी चाहिए। मनुष्य के स्वभावगत होनी चाहिए, तभी उपेक्षा अपना चमत्कार दिखा सकती है। सन्त-महात्मा तो उपेक्षा की साक्षात् मूर्ति होते है, तभी तो वे शान्ति और आनन्द की रासलीला मे अवगाहन कर पाते है। उपेक्षा मनुष्य का नपुसक गुण नही, यह तो सयम की पराकाष्ठा है।

उपेक्षा मे घातक की ज्ञान-शून्यता नही बनी रहती। उपेक्षक के हृदय मे

घातक का ज्ञान जागरूक तो रहता है और उसमे उपेक्षा भी सक्रिय बनी रहती है तथा वह घातक का प्रतिकार रक्षार्थ ही करता हे । यहा वह अपने मन्यु बल का प्रयोग करता है न कि प्रतिशोध भावना का । मन्यु मे प्रतिशोध की भावना नही रहती, बल्कि आततायी का दमन ही इसका मुख्य उद्देश्य रहता है । क्रोध मे प्रतिशोध होता है तथा अपने घातक का प्रतिकार व्यक्तिगत होता है । राम द्वारा रावण का बध सीता-हरण के कारण नही था अपितु पर-स्त्री-हरण के कारण था जो कि समाज के लिए वडा घातक होता है । धर्म के रक्षार्थ आततायी का दमन पाप नही होता, उसमे प्रतिशोध की भावना नही होती, भगवान राम द्वारा रावण के वध मे मन्यु काम कर रहा था, वही उनका दिव्य आयुध था । जैसे डाकू हमारे घर मे घुस आये तथा अत्याचार करने लगे तथा यदि हम अपने रक्षार्थ उन पर गोली चला दे और फलस्वरूप उनमे से एकाध मर जाय, तो यहाँ हमने व्यक्ति विशेष को नही मारा । हमारा प्रहार तो डाकुओ पर था जो कि आततायी के रूप मे कुकृत्य करने पर उतारू हो चले थे ।

कभी-कभी बुद्धजन उपेक्षा को दण्ड की सज्ञा दे बेठते है । एक रूप मे यह दण्ड तो है किन्तु प्रतिशोध के रूप मे नही । परन्तु इसका प्रयोग परिशोधनार्थ ही होना चाहिए । इसमे प्रतिशोध की भावना आते ही यह तिरस्कार का रूप धारण कर लेगी और इसके दैविक रूप मे विकार आये बिना नही रहेगा । प्रतिशोध और उपेक्षा का आपस मे विरोध है, दोनो एक साथ नही रह सकते । ये आपस मे प्रतिद्वन्द्वी हैं, जो एक-दूसरे को अभिभूत करने मे सक्रिय बने रहते है ।

माँ

माँ शब्द कितना मधुर, कितना प्यारा, स्नेह-स्निग्ध, कितना पवित्र, किनना व्यापक है, इसकी अभिव्यजना न केवल मनुष्य मे अपितु पशु-पक्षियो मे भी परिलक्षित होती रहती है। नवजात वच्चे के रोने मे मा शब्द व्यापक रहता है और प्रथम शब्द जो उसके मुख से मुखरित होता है वह है मा।

माँ आखिरकार प्रकृति का ही तो प्रतीक है। गाय, भैस के वच्चे के मुख से भी पहले-पहल माँ शब्द ही निकलता है। जव इन वच्चो को अपनी माँ की याद आती है तो उनके डकराने मे माँ शब्द साफ सुनाई देता है। विश्व के सारे वाड्मय मे भगवान के अनेक नाम हैं—कही अल्लाह, कही खुदा तो कही गॉड। हमारे यहाँ भगवान, ईश्वर, प्रभु, ब्रह्म ये सव ईश्वर के नाम हैं किन्तु आश्चर्य की वात है कि माँ शब्द का पर्याय कही नही मिलता। कही इसको माँ कहते हैं, कही अम्मी, कही अम्मा, कही मम्मी, कही मदर, कही मादर, कही कुछ, कही कुछ। ये सव मा शब्द की विकृतियाँ है किन्तु पर्याय नही। ॐ शब्द, जो ब्रह्म का प्रतीक है, उसमे भी माँ शब्द व्यापक है, क्योकि ब्रह्म मे प्रकृति का समावेश वना रहता है। वीजप्रदाता पिता ब्रह्म का प्रतीक है और

माता महत प्रकृति की प्रतीक।

माता केवल जन्मदात्री ही नही अपितु जीवन का सिंचन भी इसी से होता है। मनुष्य और पशुओ के वच्चो का सिंचन यदि स्तन से होता है तो पक्षियो का सिंचन उनकी माताओ की चोच के द्वारा। प्रकृति मे जितने भी खाद्य पदार्थ हैं वे सब मातृत्व भाव से भरे हुए है क्योकि ये सब पोषक है और माता भी पोषक है। मातृत्व भाव इतना व्यापक है जितना कि आकाश। आकाश-रहित किसी पदार्थ की हम कल्पना ही नही कर सकते तो फिर वताओ माता के विना हम अपने अस्तित्व की कल्पना कर ही कैसे सकते है। इस परम पवित्र शब्द को कहलाने का अधिकार जननी को ही है।

इससे पता चलता है कि स्त्री तत्व कितना पवित्र, कितना शक्ति-सम्पन्न और व्यापक हे और यही कारण हे कि प्रत्येक स्त्री माँ शब्द से सम्बोधित होने के लिए इतनी व्याकुल और व्यग्र वनी रहती है। स्त्री का नैसर्गिक धर्म माता वनना ही तो है। स्त्री जव माता बन जाती है तो अन्दाजा लगाइये वह कितनी पवित्र हो उठती है। माँ, वेटी, वहन ये तीन शब्द बडे पवित्र हैं लेकिन माँ शब्द हे पवित्रतम्। शिशु को माता ही तो पिता के दर्शन कराती है और इसी प्रकार ब्रह्म के दर्शन प्रकृति माँ ही तो करा सकती है।

प्रकृति भी सत्य है, लेकिन है सापेक्ष सत्य, कारण यह त्रिगुणमयी है। जीव ब्रह्म मे तभी मिल सकता है जब वह गुणातीत बन जाता है, लेकिन इस त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का आधार प्रकृति ही है। दुर्गा, काली, ब्रह्माणी ये सब प्रकृति के भिन्न-भिन्न शक्ति-रूप है। तभी तो रामकृष्ण परम-हस के मुख से जब माँ शब्द निकलता था तो उस पुकार मे एक प्रार्थना का समावेश वना रहता था कि माँ मुझे पिता का दर्शन करा दो, मैं तेरा पुत्र हू। बीज का कारण तो बीज ही है, इसीलिए जीवात्मा की ब्रह्म दर्शन करने की लालसा नैसर्गिक है, आखिरकार जीव ब्रह्म का अश ही तो ठहरा। इस अश को धारण करने वाली महत रूपी प्रकृति माता ही तो है।

ब्रह्मचर्य के सफल साधन मे माँ शब्द बडा सहायक होता हे। इस शब्द की सहायता के बिना ब्रह्मचर्य के सफल साधन मे इतनी खामी रह जाएगी कि साधारणतया मनुष्य उसका अन्दाज नही लगा सकता, इसलिए मनुष्य ब्रह्म-चर्य के सफल साधन मे असमर्थ बने रहते है। महात्मा गाधी ने ब्रह्मचर्य का प्रण करते समय अपनी स्त्री मे मातृत्व के दर्शन शुरू कर दिए और तभी वे अपने ब्रह्मचर्य व्रत मे सफल हो सके। यदि कस्तूरवा उनकी दृष्टि मे स्त्री वनी

रहती तो यह सदिग्ध है कि उनका ब्रह्मचर्य व्रत अखण्ड बना रहता।

जब कभी हम किसी स्त्री को देखकर बेटी या बहिन कहते हैं तो हमारी भावनाएँ निश्चित रूप से पवित्र हो जाती हैं किन्तु इन भावनाओं को डग-मगाने में कुछ गुंजायश का बना रहना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु जब स्त्री में माता के दर्शन कर उसे माँ शब्द से सम्बोधित करते हैं तो हमारा हृदय पवित्रतम् हो उठता है। जल के अन्दर जो पदार्थ हम डालेंगे उसमें स्वाद तो उसी का आयेगा और तभी हमारे ऋषियों ने कहा था, "परदारेषु मातृवत् पश्य"।

बंगाल में अपनी पुत्रियों को भी माँ कहकर पुकारते हैं। बंगाल दुर्गा का पुजारी है और इसकी दृष्टि में स्त्री माता है। इनका सांस्कृतिक स्तर बहुत ऊँचा था और इसी स्तर के प्रताप से यहाँ रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेका-नन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, आशुतोष मुखर्जी, रविन्द्र नाथ टैगोर प्रभृति महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। भले ही आज बंगाल नारी की अवहेलना कर दे, इनके ऊपर अत्याचार होते हुए भी बंगाल का पुत्र इस अत्याचार को नजर अन्दाज कर दे।

लेखक सन् १९५१ में अपनी स्त्री को इलाज के लिए कलकत्ता ले गया था। एक प्रसिद्ध, अनुभवी और वयोवृद्ध डाक्टर को बुलाया। वे आए और मेरी स्त्री को सम्बोधित करके बोले, "माँ, तुम्हारी क्या व्यथा है?" वे मेरी स्त्री का रोग परीक्षण कर रहे थे और मैं उनमें परम पवित्र आर्य संस्कृति का दर्शन कर रहा था जबकि उम्र में मेरी स्त्री उनकी लडकी के समान ही रही होगी। उस समय मैंने यह भी सीखा कि प्रत्येक डाक्टर, वैद्य को नारी की चिकित्सा करने के पूर्व उन्हें नारी में मातृत्व के दर्शन करना परमावश्यक है क्योंकि डाक्टर, वैद्य अपनी रोगिणी के अंग प्रत्यंग सभी का तो परीक्षण करते हैं और नारी के सभी अंग आकर्षक होते हैं। मातृत्व दर्शन न करने वाले डाक्टर-वैद्यों को डगमगाते देर नहीं लगती है। एक समय था जबकि हमने बंगाल में मस्तक पर सिन्दूर धारण किए सधवा नारी में दुर्गा के दर्शन किए थे किन्तु दुःख की बात है, पाश्चात्य सभ्यता ने नारी के उस परम पवित्र भाव को अपने पैरों तले रौंद डाला है।

नारी का शरीर कोई साधारण शरीर नहीं है, वह तो पवित्र मन्दिर है जिसमें दुर्गा स्वयं मातृत्व के रूप में विराजमान रहती है। इस वेदी तक पहु-चने का अधिकार केवल उसके पुजारी को है, दर्शक केवल एक मर्यादित दूरी

से उसके दर्शन करने के अधिकारी है। जब कभी मन्दिर अपवित्र कर दिया जाता है तो फिर उसमे देवता नही रहते, वह मन्दिर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। इसी आधार पर भीष्म पितामह ने कहा था कि जिस कुल मे स्त्री की पूजा नही होती है तथा इनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, उस कुल मे देवताओ का वास नही रहता और उस कुल को नष्ट-भ्रष्ट होने मे देर नही लगती है। नारी को गिराने वाला पुरुष है और जब नारी गिर जाती है तो वह देश व समाज को रसातल मे पहुचाये बिना नही रहती। बडे-बडे पहाड, नदिया एव समुद्र का गाभीर्य ही उनकी प्रतिष्ठा है, किन्तु मनुष्य जब उनको पददलित कर उनके ऊपर चढ जाता है तो ये अपनी प्रतिष्ठा तो खो बैठते हैं किन्तु अपना दाव पाते ही वे उसे निगले बिना नही रहते। यही अवस्था है नारी और पुरुष के बीच की। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नारी की प्रतिष्ठा प्राण-प्रण से बनाए रखे।

माता को भी चाहिए कि वह अपनी सतान को अपने स्त्रीत्व का दर्शन न कराये। गर्भाधान के पश्चात् से लेकर जब तक वह अपने बच्चे को दूध पिलाती रहे, अपने पुरुष के सहवास मे न आवे। जब माता के द्वारा बच्चे को दूध पिलाना बन्द हो जाए तभी वह अपने पुरुष की सेवा करने की अधिकारिणी बन सकती है। देखा जाता है कि बचपन मे ही बच्चो मे अपरोक्ष रूप मे दुराचार की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण है माता-पिता मे सहवास के समय सर्तकता की उपेक्षा। वे मूर्ख यह समझते हैं कि बच्चा सो रहा है किन्तु वे सोच नही पाते कि उसका 'सब कोशिस माइण्ड' (Sub conscious Mind) सदा जागृत रहता है। कई दफा तो ऐसा होता है कि बच्चे जग जाते है और चुपचाप अपने माता-पिता के क्रिया-कलाप कुतूहलवश देखते रहते हैं। बडे होने पर वे आपस मे खेल के रूप मे उनकी नकल करते है। बुद्धि का विकास होने पर वे सारे दृश्य उनके सामने आने लगते है और उन्हे खड्डे मे गिरने मे देर नही लगती है।

हमारे यहाँ ऋषियो ने चार युगो की कल्पना की है—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इस नाते पचभूत त्रिगुणात्मक है। जब तक इनमे समन्वय, सामजस्य बना रहता है, वह काल सतयुग है। इस सामजस्य मे कमी-बेशी आ जाने पर वह काल त्रेता और द्वापर का रूप धारण कर लेता है और जब इन पाचो मे सामजस्य का अभाव आ जाता है तो कलियुग का प्रादुर्भाव होता है। कलियुग मे पाचो तत्त्व बिगड जाते हैं। जब मनुष्य

कुशब्द (अश्लील शब्द) का विषयी बन जाता है, जब उसे अश्लील भाषा सुहावनी लगती है तो उसका आकाश तत्व बिगडा हुआ जानो। जब मनुष्य का स्पर्श दूषित हो उठता है, स्पर्श का विषयी बन जाता है तो उसका वायु तत्त्व बिगडा हुआ मानना चाहिए। जब मनुष्य की दृष्टि दूषित हो जाती है तब उसका अग्नि तत्व दूषित हुआ मानना चाहिए। जब रस बिगड जाते है, रसो का जब जलतत्व बिगड जाता है तो मनुष्य अखाद्य पदार्थ मे ही रस लेने लगता है। जापानी सर्प तक को खा जाते है। बर्मा, चीन, इत्यादि देशो मे लोग तीव्र दुर्गन्ध युक्त पदार्थो का सेवन बडी चाहना से करते है, दुर्गन्धित पदार्थों मे रुचि लेना उनकी प्राथमिक अवस्था की विकृति की द्योतक है। यह विकृति बडी तामसी होती है, दुर्गन्धित पदार्थों के सेवक, अवश्यमेव तामसी बने रहेंगे। जितने भी मासाहारी देश हैं उनका जलतत्व बिगडा हुआ समझना चाहिए। और पृथ्वी तत्व जब बिगड जाता है तब मनुष्य को दुर्गन्धित पदार्थ अच्छे लगने लगते है। जो शराबी या ताडी पीने वाले है और दुर्गन्धित पदार्थों का सेवन करते है, उनका पृथ्वी तत्व बिगडा हुआ जानना चाहिए। मनुष्य की ये पाचो इन्द्रियाँ कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसेन्द्रिय, और घ्राणेन्द्रिय, जिनके विषय है क्रमश शब्द स्पर्श, रूप, रस और गध,—जब दूषित हो उठती हैं तो वह अपने केन्द्र से विचलित हो बहुत दूर जा भटकता है और तभी समाज मे अनाचार, भ्रष्टाचार, दुराचार आदि अनेकानेक बुराइयो की सृष्टि होने लगती है। आज यही शोचनीय दुरावस्था दृष्टिगोचर हो रही है।

इन पाचो तत्वो को शुद्ध करने वाला यदि कोई सशक्त शब्द है तो वह है माँ। जब माँ शब्द गूज उठता है तो आकाश तत्व शुद्ध हो जाता है। आकाश तत्व के शुद्ध होने पर वायु तत्व शुद्ध हो जाता है और वायु तत्व शुद्ध होने पर अग्नि तत्व शुद्ध हो जाता है, फिर हमारे दर्शन शुद्ध हो जाते हैं। अग्नि तत्व के शुद्ध होने पर जल तत्व शुद्ध हो जाता है और जल तत्व के परिष्कृत होने पर पृथ्वी तत्व परिष्कृत हो उठते है, फिर सत्य के दर्शन होने मे देर नही लगती है। प्रत्येक युग मे चारो युग इस प्रकार वर्तते रहते है जैसे प्रत्येक ऋतु के अन्दर शेष तीनो ऋतुएँ। ग्रीष्म ऋतु के अन्दर वर्षा होती है तो शीत होता है। शीत ऋतु के अन्दर ग्रीष्म ऋतु, वर्षा, ऋतु का प्रादुभाव होता रहता है। जब कभी कलियुग मे सत-महात्माओ की बाढ आ जाती है तो वह सतयुग हो जाता है, किन्तु स्थाई नही रहता। प्रत्येक युग अपने युग की तरफ झुका रहता है।

देखिए, प्रकृति का भी कैसा पवित्र नियम है कि सन्तान अपनी माता के अन्दर उसके स्त्रीत्व रूप का दर्शन करना नही चाहती। उस मातृत्व दर्शन मे तनिक-सी खामी जरा-सी भी दरार सहने को वह असमर्थ बनी रहती है। जब कभी कारणवश माता-पिता मे मन-मुटाव हो जाता है और पिता पति के रूप मे, और सतान की माता को अपनी स्त्री के रूप मे, यदि जरा-सी भी ताडना दे दे तो यह पिता की ताडना माता के प्रति सन्तान को असह्य हो उठती है। इसका विरोध करने मे सन्तान तनिक भी नही हिचकिचाती। उसकी समझ मे आ ही नही सकता कि उसकी परम पवित्र माता ताडना की अधिकारिणी बन ही कैसे सकती है ? तो फिर बताओ, इस मातृत्व के अखण्ड साम्राज्य मे पर-पुरुष का प्रवेश सन्तान के लिए कल्पनातीत ही तो बना रहेगा।

माताएँ इतनी सुशिक्षित होनी चाहिए ताकि वे अपनी सन्तान मे उनके शैशवकाल के अन्दर ही सद्भावनाओ के बीज रोपण कर सकें। इन्हे शिशु मनोविज्ञान का भली-भाँति ज्ञान होना चाहिए तदनुसार ही माता अपने बच्चो के प्रति व्यवहार करे, और बच्चो की साधारण बीमारियो व घरेलू दवाइयो का भी। माताएँ पाक-शास्त्र मे प्रवीण हो। माताओं के हाथ का बना भोजन बच्चो के शरीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर को उन्नत, बनाने मे समर्थ बना रहता है। दास, दासियो का सान्निध्य शिशुपालन में सहायक नही मानना चाहिए। उनका घनिष्ट सम्पर्क बच्चो की मानसिक भावनाओ को प्रभावित किए बिना नही रहता क्योकि सम्पर्क मे आने पर जल के सदृश्य उनकी भावनाएँ बच्चो मे प्रवाहित हुए बिना नही रहती। माताएँ निर्माण कर्तृ है। ससार के जितने भी मूर्धन्य व्यक्ति हुए, उन्होने अपने विकास का श्रेय अपनी माताओ को ही दिया। माता का अपने शिशु पर कितना प्रभाव बना रहता है इसका दर्शन तो तब होता है जब माता कभी क्रुद्ध होकर अपने शिशु को ताडना देने लगती है—शाब्दिक अथवा शरीरिक, तो बच्चा उसी से लिपट जाता है और जब तक कि माँ उसको पुचकार न ले तब तक उसका सिसक-सिसक कर रोना बन्द नही होता। पिता की लाल आँखो से तो बच्चा दूर भाग जाता है।

स्त्री जब तक मातृत्व की रक्षा करने मे समर्थ बनी रहेगी ससार की कोई भी शक्ति उसका बाल बाका नही कर सकती और उसका देश व समाज सदा उन्नत बना रहेगा तथा सतोगुण की अविचल धारा बहती रहेगी। मातृत्व के इस 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' रूप को हमारा शत-शत प्रणाम है।

ईश की सत्ता

ईश्वर है—यह सत्य एव असदिग्ध बात हे। हमारे चर्म-चक्षु उसे लक्षित नही कर पाते। स्थूल सूक्ष्म का बोध नही कर सकता। चिमटे से बाल नही नोचे जा सकते। बाल को नोचने या उखाडने के लिए बडी नुकीली चिमटी की जरूरत होती हे। हमारे उसके बीच मे अहकार की भित्ति खडी हुई है जो अपारदर्शक हे, इसलिए हम उसका प्रत्यक्षीकरण नही प्राप्त कर पाते। जीवन मे साधारणतया अपने अहकार के माध्यम से किसी वस्तु का असली रूप प्रत्यक्ष नही हो पाता। प्रभु की सत्ता की महिमा का प्रत्यक्षीकरण तो तब होता है जबकि नितान्त असहाय अवस्था के अन्दर हमारा अहकार लोप हो जाता है। अप्रत्याशित न जाने कहाँ से सहायता मिल जाती है। हजारो का अनुभव है कि निविड जगल मे भटक जाने पर, जहाँ कि किसी प्रकार की सहायता की आशा नही, पथ-प्रदर्शक मिलते पाये गए ह और उस पथ-प्रदर्शक का कार्य-समाप्ति पर लोप होते हुए भी देर नही लगती। ऐसी असहाय अवस्था मे जीवन-रक्षा हो जाना किसी अज्ञात शक्ति का ही कार्य है, इसमे

सन्देह को स्थान कहा ? ऋत कभी सोता नही, उसका चक्र अविरल गति से गतिमान बना रहता है।

ईश्वर प्रत्यक्ष देखने मे आये कैसे ? कारण कार्य-रूप मे आते ही लुप्त हो जाता है। हम कुम्हार को मिट्टी से घडा बनाते देखते है और उस घडे के पक जाने पर मिट्टी का रूप इस प्रकार गायब हो जाता है कि हम लाख प्रयत्न करें किन्तु मिट्टी के असली रूप का उस घडे मे दर्शन नही कर पाते। कार्य मे उसका कारण छिप जाता है किन्तु विनाश को प्राप्त नही होता। विनाश जब होगा तो कार्य का ही और कार्य के विनाश होने पर वह कारण को प्राप्त हो जाता है। वर्षा का कारण पानी है यह हम भली-भाँति जानते है, किन्तु यदि हमने जल से बर्फ बनते नही देखा या उस जल को बर्फ की अवस्था मे देखा है, तो यह जल से ही बना है इसकी प्रतीति हमे नही हो पाती, किन्तु बर्फ के गलने पर जल ही नजर आता है। कार्य-रूपी बर्फ कारण-रूपी जल को फिर प्राप्त हो गया। विनाश हुआ बर्फ का, जल का नही। इस विश्व को यदि हमने बनते हुए देखा होता तो मुमकिन है कि कार्य-कारण की प्रतीति बनी रहती। लेकिन कार्य, कारण को कैसे देख सकता है जैसे, हमे विश्वास ही नही हो पाता कि हमारे माता-पिता हमारे कारण बने होगे। किसी को भान तक नही हो सकताकि वह कभी गर्भाशय मे रहा होगा। मनुष्य अनेकानेक विभिन्न प्रकार के स्वप्न देखता रहता है, स्वप्न मे ऐसी-ऐसी चीजे और ऐसी-ऐसी भाषायें बोलता रहता है कि वह बोलता तो है किन्तु अर्थ समझ नही पाता और जगने पर उस भाषा का एक शब्द याद नही रहता। व्यक्ति इस प्रकार के आश्चर्य-जनक स्वप्न देख लेता है किन्तु आज तक यह सुनने मे नही आया कि किसी ने स्वप्न के अन्दर भी अपनी गर्भ-स्थिति देखी हो। यानि कार्य कारण को देख नही सकता। ज्ञान-विज्ञान के द्वारा उसकी प्रतीति कर सकता है। कार्य मे कारण समाहित है। यही विशेष कारण है कि हम ईश्वर तत्व की स्थिति की प्रतीति नही कर पाते, किन्तु वह दयालु सृष्टिकर्ता माता-पिता स्वरूप झाकता रहता है। यह सूर्य-चन्द्र उसके ईक्षण (आख) है। जिनके द्वारा वह अपने द्रष्टा को दर्शन देता रहता है किन्तु इसके दर्शन को देखने वाला चाहिए। यह ससार उस महान कारण मे उसी प्रकार तैर रहा है जिस प्रकार समुद्र मे तैरते हुए महाकाय बर्फ के टापू, जिस पर लोग बसे हुए है और जिसके नीचे जल की अनन्त जल-राशिगति-मान है। उस राशि को तो मालूम ही रहता है कि यह बर्फ मेरा ही अश हे तथा मेरा ही वक्षस्थल इसका आधार है। किन्तु वह बर्फ

कहाँ अपने कारण को देख पाता है ? उसको प्रतीति भी कैसे हो कि मेरे तरो जल की एक अनन्तराशि है जिस पर मैं तैर रहा हूँ। ईश्वर है और उससे हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि हमारे हृदयकाश मे अपनी झाँकी की प्रतीति करा दे। कारण का कारण नही होता, इसलिए प्रभु स्वयभू ह।

इसी तरह वह ईश, जो सारे जगत का सृष्टा है, इस सृष्टि को रचकर इसमे व्याप्त हो रहा है। जैसे घडे मे मिट्टी के नैसर्गिक रूप के दर्शन नही होते उसी तरह इस सृष्टिकर्ता ब्रह्म के इस सृष्टि मे पत्यक्ष दर्शन नही हो पाते, किन्तु वह इस विश्व मे निरलिप्त व्याप्त है, वह प्राणी-मात्र की हृदय गुहा मे समाया हुआ है। इस विषय मे गीता, अ०, १८ श्लो ६१ द्रष्टव्य है —

ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानी मायया ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! सब का शासन करने वाला ईश्वर समस्त प्राणियो के हृदय-देश मे, बुद्धि गुहा मे स्थिति अपनी माया से सब भूतो का यन्त्र पर आरुढ (शरीर मे स्थित) कठपुतलियो की भाँति भ्रमण कराता रहता है। वह विचारा मनुष्य करे भी क्या ? उसकी बुद्धि, उसकी सारी इद्रिया बहिमुखी हो रही हैं। बहिर्मुखी होने के कारण अन्दर बैठे हुये उस परम् तत्व को देख नही पाती। उसके दर्शन तो तभी हो पाते हैं जब हम अन्तर्मुखी बन जाते है। इस साधना के लिये योग के नाना प्रकार के विधान हैं। जब तक कि हम अपनी बुद्धि को अन्तर्मुखी नही कर लेते उसके दर्शन अप्राप्त बने रहते ह। वह इस जगत मे इस प्रकार व्याप्त है जैसे नमक या शक्कर जल मे, उनके जल मे रहते हुये भी उनके दर्शन नही होते, उस जल को पान करने पर ही उन पदार्थों की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। तत्पश्चात् जल मे उन पदार्थों की उपस्थिति प्रत्यक्ष अनुभूत होने लगती है और हमारा सारा भ्रम निवृत्त हो जाता है। इस विषय मे शास्त्र एव आप्त ऋषियो के वचन प्रमाण है। या अपने स्वय का अनुभव।

इस बाह्य जगत मे (स्थूल जगत मे) ऐसा अनुक्रम परिलक्षित होता रहता है। जब कार्य अपने कारण का प्रत्यक्षीकरण करने मे असमर्थ हो जाता है तो वह अपने कारण को प्रतीति कर नही पाता। यही कारण है कि पुत्र सयाना होने पर अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धा एव कृतज्ञता को खो बैठता है। किन्तु अपने पुत्र के प्रति माता-पिता का स्नेह निरन्तर प्रवाहित बना रहता है।

कारण अपने कार्य को नही भूलता लेकिन कार्य मे कारण की अनुभूति न बने रहने के कारण वह अपने कारण को भूल जाता है। यदि कार्य को इतना स्मरण बना रहे कि अपनी जिस सुन्दरता पर वह इतना इठलाता रहता है उसका उपादान कारण अवश्य ही बना रहा होगा। तो फिर माता-पिता और पुत्र के बीच मे किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो पायेगा। यही कारण है कि उपकृत अपने उपकारक को भूल जाता हे। रोगी रोग के शमन होने पर अपने वैद्य को भूल जाता है विद्यार्थी अपने गुरु को, पुत्र माता-पिता को इत्यादि भूल जाया करते है। कारण की अनुभूति जीवन को दिव्य बना देती है। जीवन की भूल-भुलैय्या का आधारभूत है केवल कारण का विस्मरण, अत मनुष्य को ब्रह्म रूपी कारण का प्रत्याक्षीकरण उसके आनन्द का उत्स है। जब यह उत्स सूख जाता है तो जीवन शुष्क हो जाता है और व्यक्ति को अनेक आपदाओ का शिकार बनते देर नही लगती।

सत्संग

सग या सगत के दो रूप होते है। इनमे से एक रूप ऋणात्मक धर्मा है जिसे कुसग कहते है। दूसरा रूप घनात्मक-धर्मा है जोकि सत्सग के नाम से अभिहित होता है। ये दोनो ही रूप अपने-आप मे बडे सक्रिय और सशक्त है। कुसग की शक्ति प्रखण्ड अग्नि के सदृश्य हे जिसमे से कुभावनाओ के स्फुलिग छूटते रहते है और अपनी चपेट मे आये हुये मनुष्य को प्रभावित किये विना नही रहते। दुर्वल मन वाले को कुसगति ज्यादा प्रभावित करती है, और सवल हृदय वाले को कम, किन्तु यह दोनो ही अपने मानसिक वल के अनुपात मे अभिभूत हुये विना नही रहते।

कुछ लोग यह कहते देखे जाते है, कि कुसग हमारा क्या विगाड सकता है? शाम को जरा दिल-वहलाव के लिये इकट्ठे हो जाते है। किन्तु वे इस वात से अनभिज्ञ है कि सुगध व दुर्गंध के परमाणु अपना आघात किये विना नही रहते और धीरे-धीरे जव वे परमाणु किसी स्थान मे सघन होने लगते है तो उनका व्यापक रूप दिखाई दिये विना रहता नही। सान्निध्य की प्रगाढता

अपना रूप लाये बिना नही रहती । अच्छे का अच्छा और अशुभ का अशुभ फल मिले बिना नही रहता है ।

सत्सग की शक्ति चन्द्रमा की चादनी की भाँति शीतल, मृदुल, मधुर, होती है और सत्सगी को सद्गुणो से आप्यायित करती रहती है । कुसग की शक्ति सक्रामक रोग के सदृश्य होती है जिसे फैलते हुये देर नही लगती, और न जनसमुदाय को अपनी चपेट मे लाने मे । उसकी चपेट मे आने पर जनसमुदाय तडपने लगता है । प्लेग, हैजा, माता आदि के प्रकोप की झपट हजारो के प्राण हरण कर लेती है और हजारो को तडपाये बिना नही रहती । अन्तर इतना ही है कि सक्रामक रोग रोगी के शरीर तक ही सीमित बना रहता है जिससे विमुक्त होने के लिये रोगी उग्रतापूर्वक प्रयत्नशील बना रहता है, किन्तु कुसग का सम्पर्क, स्पर्श, अप्रत्यक्ष एव बडा साम्मोहक होता होता है, इसकी प्रतिक्रिया शरीर मे न होकर मन और बुद्धि पर होती है जोकि इन दोनो को कुठित बनाकर अपना रग जमा लेती है । फिर तो कुसगति से प्रभावित मनुष्य लगाम से विमुक्त स्वच्छद घोडे के सदृश्य दौड लगाने लगता है उसके झपट्टे मे आकर कोई भी धराशायी हो जाये वह उसकी परवाह नही करता । फलस्वरूप उसके घर, समाज एव देश को उजडते देर नही लगती । उसके मुख पर कुसग की कालिमा का ऐसा सचार होता है कि उस कालिमा का उसे निज मे तो भान नही होता किन्तु दूसरो की दृष्टि मे वह छिपी नही रहती और अन्त मे वह मृत्यु के कराल गाल का ग्रास बने बिना नही रहता ।

सत्सग तो पुष्प के उस सौरभ के समान है जिसका पान करने के लिये भवरे रूपी जिज्ञासु कतार बाधे चले आते है । इस सौरभ रूपी सत्सग के सम्पर्क मे जो आया वह तत्क्षण सुरभित हुए बिना नही रहता । इस सुरभि के परमाणु भी बडे सक्रिय होते हैं और ये जिज्ञासु के शरीर, मन एव बुद्धि मे प्रवेश कर उसे शीतल तथा सतोगुणी बना देते हैं । सत्सग का स्पर्श उस पारसमणि के सदृश्य है जो लोहे से धन, कठोर, काले रग वाली धातु को क्षणमात्र मे स्वर्णमय बना देती है । मनुष्य का तो कहना ही क्या !

सत्सग सतो का समागम है । पारसमणि मे और सन्तो मे बडा अन्तर है । किसी ने ठीक ही कहा है

पारस मे अरु सत मे बडो अन्तरो जान ।
वह लोहा कचन करे यह पुनि आप समान ॥

अर्थात् पारसमणि लोहे को कचन वना देती है किन्तु अपने सदृश्य उसे पारसमणि नही वना सकती। किन्तु साधु तो जो भी उनके सम्पर्क मे आये उनको अपने समान वना देते है। सत्सग का वडा महत्व है। इसी प्रसग मे महात्मा तुलसीदास का निम्न दोहा वडा मार्मिक और विख्यात है

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्सग॥

अर्थात् हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सब सुखो को तराजू के एक पलडे मे रक्खा जाय, तो भी वे सव मिलाकर (दूसरे पलडे पर रक्खे हुये) उस सुख के वरावर नही हो सकते जो लव (क्षण) मात्र के सतसग से प्राप्त होता है।

सत्सग की विशेषता यह है कि इसमे न पात्र अपात्र की अपेक्षा रहती है और न समय का प्रश्न। (सत्सग मे आने पर सभी पात्रो के मन की शुद्धि हो जाती है। सत पात्र-अपात्र देखता नही, वह तो उसको अपना रूप देने के लिये उतावला वना रहता है। सौरभ कहाँ मैले-कुचैले अथवा साफ-सुथरे कपडो का विवेचन करता है, उसके परमाणु सभी प्रकार के वस्त्रो मे एक समान आघात करते है जैसे सूर्य की किरणे साफ और गदले पानी पर समान रूप से गिरती है। पात्रता का वही फल है कि जैसे शुद्ध कपडे मे सौरभ के परमाणु विशेष रूप से व्यक्त हो पाते है और गदे कपडे मे कम मात्रा मे।

भगवान का नाम, भजन, कीर्तन भी सत्सग के अग है और अपार शक्ति के भण्डार है। हम अपने विषय को अधिक स्पष्ट करने हेतु नीचे कुछ उदाहरण देते है

(१) एक वार की वात है। एक व्यक्ति कुष्ट रोगी ने सुना कि सत कवीर कुष्ट झाडते है। अधे को क्या चाहिये, दो आँखे। वह सुनते ही उनके घर की तरफ चल दिया। वहा पहुचने पर मालूम हुआ कि महात्मा कवीर घर मे नही है। कवीर की लडकी जमाली ने उस व्यक्ति से आने का प्रयोजन पूछा। उसने अपने आने का उद्देश्य वता दिया वह कहने लगी, इसमे कवीर क्या करेंगे ? यह कौन-सा वडा भारी कार्य है ! अभी तुम तीन वार राम नाम का उच्चारण करो, तुम्हारा कुष्ट तुरन्त झड जायेगा। कुष्टी के तीन वार राम-नाम लेने से, वह पूर्णत स्वस्थ हो गया। वह कृतज्ञ प्रसन्नचित वडवडाता चल रहा जा रहा था कि जिसकी लडकी मे इतनीशक्ति है यह भक्त कवीर न जाने कितना शक्तिवान होगा। उधर से कवीर आ रहे थे। उसके शब्द उन्हे

कर्ण गोचर हुये। पूछने पर कबीर उसके आनन्द के रहस्य से अवगत हुए। वह राही तो अपनी राह चला गया। कबीर घर आकर अपनी पुत्री से कहने लगे, बेटी, तूने मेरे राम नाम की महत्ता को थोडा हल्का कर दिया। क्या तीन दफे नामोच्चारण न करके, एक दफे के उच्चारण से उस कुष्टी का कुष्ट न झड जाता ? लोहे को पारसमणि के स्पर्श मे आने मात्र की देरी हे, फिर तो उसे सोना बनने मे देर नही लगती। देखो, राम नाम रूपी पारसमणि से कुष्टी का कुष्ट झड गया और वह अपने मौलिक रूप को प्राप्त हो गया। जब कि आज रसायन के इतने जागृत युग मे अभी तक इस बीमारी के निवरणार्थ हेतु औषधि का निर्माण नही हो सका है। यह नाम व सत्सग की महिमा हे।

(२) राम के अनेक नाम हें। उसका एक और नाम है, बडा ही रहस्यमय, वह है 'तेरा'। इसी नाम से नानकदेव स्वय दीक्षित हुये, ऐसा सुना जाता है। वह क्षत्रिय वशज थे। पढने-लिखने मे ध्यान न लगने पर उनके पिता ने किसी मोदी खाने की दुकान पर उनकी नियुक्ति करा दी। बडी मात्रा मे अनाज 'धडियो' से तौला जाता था। एक बार जब वे अनाज को 'धडियो' से तौल रहे थे, तो बारहवी धडी के बाद तेरहवी धडी को हे 'तेरह' · है 'तेरह' कहते कहते (तौलने वाले तौलते समय एक सख्या को कई बार कहते है जब तक कि दूसरी सख्या न आ जाय) 'तेरा हे तेरा है,' कहते कहते उन्होने (नानक जी) ने समस्त अनाज तौल दिया। चौदह की बारी ही नही आई, क्योकि 'तेरा' है मे ही बालक समाधिस्थ हो गया यानी बालक को सब कुछ 'तेरा' (भगवान) का नजर आने लगा। जो कुछ भी दृष्यमान है वह सब 'तेरा' है। यह भी तेरा है, तो मैं भी तेरा हूँ। तेरी हस्ती को छोडकर दूसरी कोई हस्ती है ही नही, सिर्फ तू ही तू है। फिर तो अन्त चक्षु खुल गये। सत्सग की महिमा अपार हे।

(३) लाहौर मे धन्ना सेठ एक प्रसिद्ध सेठ हो चुके है, आगे चलकर ये धन्ना भगत के नाम से प्रसिद्ध हुये। एक दिन वह प्रात काल उठकर अपनी दुकान की ओर जा रहे थे। कहा जाता है, उस समय एक मेहतरानी सडक पर झाडू लगा रही थी। इस भय से कि सेठ मुझसे छू न जाये, वह कह बैठी, 'सेठ, एक तरफ हो जा'। साधारण-सी बात थी, वह भी मेहतरानी के मुह से निकली हुई! धन्ना सेठ 'एक तरफ होजा' से दीक्षित हो गये। दृढ निश्चित हो गये कि अब मुझको एक तरफ हो जाना चाहिये। अब दो घोडे की सवारी

से काम न चलेगा। बस क्या था, प्रभु के हो गये। यह शब्द-सगति का चमत्कार पूर्ण सत्सग है जो कि इतिहास के पन्नो मे स्वर्णिम अक्षरो मे अकित है।

सत्सग की महिमा अपार है। मनुष्य की साधारण बुद्धि उसकी तह तक कहाँ पहुँच पाती है ? मनुष्य अपनी तुच्छ वाणी से उसकी विवेचना कैसे कर सकता है ? हम प्राय देखते भी है कि जिस मैले-कुचैले गदले पानी से मनुष्य घृणा करता है तथा छूना तक नही चाहता, वही पानी गगा जैसी पवित्र नदी के जल मे समाहित होने से गगाजल के नाम से अभिहित होता है। कितनी पवित्रता है इस गगा जल मे जिसका पान करने हेतु प्राणी मात्र इच्छुक रहता है तो यह चमत्कार है इस के सत्सग का।

लोटा

लोटा, घन्टी, लोटिया, बटलोई इत्यादि सकरे मुह के पात्रो को बाहर से साफ करने मे सुविधा रहती है; किन्तु ये अन्दर पूरे साफ नही हो पाते, कारण वहा तक हमारा हाथ पहुचता नही। फलत इनके अन्दर का भाग अस्वच्छ बनता चला जाता है। उनमे डाले हुए पदार्थ उनकी अस्वच्छता से विकृत हुए बिना नही रहते जैसे कि गन्दे लोटे या हाडी मे दूध गरम करने से फट जाता है।

साधारणतया मनुष्य उन पात्रो की बाह्य चमक-दमक से विभ्रमित हो उनकी आन्तरिक अस्वच्छता का ध्यान खो बैठता है। इस प्रकार की मनुष्य की विभ्रमजन्य असावधानी जगह-जगह परिलक्षित होती रहती है, जैसे मनुष्य का यज्ञोपवीत, उसकी बनियाईन गन्दी पाई जाती है किन्तु उसके ऊपर के परिधान बडे साफ-स्वच्छ होते है। तकिये की खोल चीकट दुर्गन्धयुक्त लेकिन उसके ऊपर की खोली बहुत साफ, बहुत स्वच्छ। इसी प्रकार आज के नर-नारियो का भी हाल है। उनका परिधाम बडा आकर्षक व मोहक, तथा वाणी

बडी सरल-मीठी व सुसस्कृत होती है, किन्तु उनका हृदय आचरण रूपी कसौटी पर कसे जाने पर अवाछनीय व विकृत परिलक्षित हुए बिना नही रहता। वाह्य आडम्बर हृदय की अभ्यातरिक अवस्था का द्योतक नही होता। ये चिकने-चुपडे रोआबदार वकील-बैरिस्टर देखने मे वडे ही प्रभावशाली होते है किन्तु वास्तव मे है प्रवचना के जनक। इनके अभ्यन्तर की सही दशा का ज्ञान इनके कार्य-क्षेत्र मे ही हो पाता है। यही कारण है कि आज समाज मे अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार का हाहाकार मचा हुआ है। विश्वास ही नही हो पाता कि इस प्रकार के घृणित कार्य इन तथाकथित सज्जनो द्वारा भी किए जा सकते है। वस्तुत सही व्यक्तित्व हृदय की कोमलता, स्वच्छता तथा स्वच्छ प्रेम के द्वारा ही वनता है। ये ऊपरी तडक-भडक वाले परिधान मनुष्य के रोगग्रस्त शरीर को छिपाने मे भले ही समर्थ हो जाए, किन्तु हृदय की अभ्यन्तर दशा को छिपाने मे ये नितान्त पगु एव नपुसक होते है। जीवन को सौन्दर्य, सौरभ, गौरव व आनन्द से भर देने मे सरल स्वच्छ हृदय ही प्रधान भित्ति वन सकती है। अस्वच्छ अवाछनीय पदार्थ को कैसे भी स्वच्छ कपडो से ढकने पर उसमे कोई परिवर्तन आ नही सकता वरन् कपडा भी अस्वच्छ हुए विना नही रह सकता। सगति का असर तो होगा ही। इसका एकमात्र उपाय इसका निराकरण ही है। जिस हृदय को क्रूरता, प्रवचना, प्रतिशोध ईर्ष्या, राग-द्वेप, मिथ्यावाद ने अभिभूत कर रखा हो, उसका धनी अपने जीवन मे सुख, शान्ति एव आनन्द पाने का स्वप्न देखने का प्रयास करे, तो क्या उसका प्रयास आकाश के फूलो के चयन के सदृश्य निरर्थक सिद्ध न होगा ? दुर्गन्ध, कपडे मे दुर्गन्ध लाये विना न रहेगी और सुगन्ध सुगन्धि। हृदय की सकीर्णता मृत्यु है, उसकी विशालता जीवन।

लोभ

लोभ मन की एक वृत्ति हे, जो बडी ढीठ एव आग्रही है । इसका वृत्त बडा विस्तृत एव व्यापक है । यह उस भयकर, क्रूर, सर्वभक्षी जानवर के तुल्य हे जिसका पेट प्राणीमात्र के लिए कब्र बना रहता है । सत-समागम अथवा सत्सग के वृत्त के सामने इस लोभ का वृत्त सकुचित हुआ सा प्रतीत तो होता है किन्तु इसमे कितना परिवर्तन हो पाता है यह कहना कठिन है । सत्सग के प्रभाव से आमिष-भोजी निरामिप-भोजी बन जाये, शराबी शराब पीना छोड दे, धूम्रपान करने वाला अपनी आदत छोड दे ऐसा तो बहुत देखने मे आता हे, किन्तु स्वभाव जन्य लोभी अपनी लोभ-वृत्ति का त्याग कहा तक कर सकता है इसका कुछ पता नही चल पाता । काम, क्रोध, लोभ की इस त्रिपुटी मे से काम, क्रोध का त्याग हमारी दृष्टि मे इतना कठिन नही है जितना की लोभवृत्ति का त्याग । वास्तव मे देखा जाये तो काम और क्रोध, लोभवृत्ति के ही अशमात्र है । किसी अवाछनीय चीज की प्राप्ति का विचार इन्द्रियो की लोलुपता ही तो है । यह लोलुपता इन्द्रिय-जन्य विपयो की प्राप्ति का लोभ मात्र ही तो है ।

इन विषयो की प्राप्ति मे बाधाओ का आ जाना क्रोध का कारण बनता है। सारे ससार मे अशांति का कारण यदि कही छिपा हुआ देखना है तो वह मिलेगा लोभ वृत्ति मे।

योगीराज भर्तृहरि वैराग्य वृत्ति से आप्लावित हुये एक समय उजली रात्रि मे कही जा रहे थे। उन्हे पथ मे पान का ताजा पीक पडा दृष्टिगोचर हुआ। चन्द्र-किरणो से चमकती हुई उस पान की पीक को उन्होने लाल समझकर धूल मे खो जाने के भय से, उसे उठाने का उपक्रम किया। हाथ जो डाला, पीक मे सन गया। त्यागी की दृष्टि मे सोना व रत्न काष्ठवत है, उसको क्या पडी कि सोना ऊपर रहे या मिट्टी मे छिपा पडा रहे। उसे तो इससे कुछ मतलव नही। किन्तु उस लाल को उठा लेने का लोभ इस बात का ही तो द्योतक है कि धन व राजपाट का तो त्याग कर दिया किन्तु उनकी रक्षा बनी रहे, चाहे किसी भी माध्यम से, इतना-सा ही विचार उस त्यागी की कमजोरी थी, जिसका दण्ड मिला पीक मे हाथ के सन जाने से। जब ऐसे त्यागियो को ऐसी-ऐसी परिस्थितियो का सामना करना पडता है तो बोलिये, जो लोभ के जाल मे बुरी तरह जकडे हुये है उनके पतन की सीमा क्या होगी। इसका अन्दाज लगाना मनुष्य की बुद्धि के परे की बात है।

जिस तरह सूर्य के बिम्ब मे से करोडो रश्मिया छिटक-छिटक कर फैलती रहती हैं जिसका अन्दाज नही लग सकता। इसी प्रकार इस लोभ वृत्ति मे से प्रज्ज्वलित अग्नि के स्फुलिंगो की भाति अगणित कुवृत्तियो का प्रस्फुटन होता रहता है और इतनी सूक्ष्मता से उनका कार्य-कलाप होने लगता है जो दृष्टि का विषय नही बन सकता। लोभ तो कोई स्थूल वस्तु है नही जो देखने मे आ जाये, यह तो मन की एक वृत्ति है। जब मन का ही पता नही कि यह क्या वस्तु है, तो उसकी वृत्ति का क्या पता चले, किन्तु यह तो अवश्य दृष्टिगत होता है कि इस लोभवृत्ति के कारण जीवन मे अनेकानेक घटनाए घटित होती रहती है जो बडी निन्दनीय हैं और अनेकानेक दु खो के मूल मे समाहित बनी रहती है। आपस की कलह, लडाई, फसाद—यह चाहे बाप-बेटे मे हो, भाई-भाई मे, अडोसी-पडोसी मे अथवा देश-विदेश मे—बडे-बडे जग लोभ वृत्ति की अभिव्यक्ति मात्र ही तो है।

यदि लोभ का निराकरण कर दिया जाये तो शान्ति का साम्राज्य उतना ही व्यापक हो जायेगा जितना की सर्वत्र बहने वाली वायु का होता है। इस

बात मे तनिक सन्देह नही। जितने पाप, जुर्म, जुल्म चाहे वे किसी भी प्रकार के हो और चाहे किसी भी माध्यम से हो, इन सब के लिये लोभ ही उत्तरदायी है। यहा तक कि पति-पत्नी का एक-दूसरे के कत्ल का कारण देखने मे तो क्रोध परिलक्षित होता है किन्तु मूल कारण होता है इन्द्रिय लोलुपता का सवरण करने की असमर्थता, यानी इन्द्रिय लोलुपता का लोभ। ससार भर मे ऐसा कोई कुकृत्य नही जिसके मूल मे लोभ न हो। मन की चचलता का कारण भी तो लोभ की वृत्ति ही है। हम तो यहाँ तक कहेगे कि बदला लेने की जो भावना है वह भी लोभ से वचित नही। किसी को नीचा दिखाने का कार्य भी लोभ ही है। किसी को नीचा दिखाकर सतोप प्राप्त करने की जो इच्छा है वह भी लोभ से रहित नही। यदि हम यह कह दे तो अनुचित नही होगा कि सभी प्रकार की प्राप्ति की इच्छा लोभ से अनुप्राणित बनी रहती है। लोभ की वृत्ति से बढकर हमारा कोई कुसस्कार है ही नही, जिससे हम केवल सत्य एव अहिंसा के द्वारा ही छुटकारा पा सकते है।

सत्सग का प्रभाव दुष्टो पर नही पडता ऐसी बात तो नही है। नमक मिश्रित पदार्थ मे चीनी का मिश्रण मिठास लाये बिना नही रहता, किन्तु इस मिठास मे नमक का स्वाद बना रहता है। नमक का स्वाद तो तभी जायेगा, जब हम उस पदार्थ से नमक का निराकरण कर दे किन्तु सत्सग से जीवन मे जितना भी मिठास आ जाये श्रेयस्कर है। कडुवापन तो कोई चाहता नही, किन्तु देखने मे तो यही आता है कि मनुष्य कडुवेपन को अपनाते हुए मिठास का अनुभव करना चाहता है और बदले मे दूसरो से मीठे बर्ताव की अपेक्षा रखता है। किन्तु वह भूल जाता है इस उक्ति को कि 'बोये पेड बबूल के तो आम कहा से होय?' स्वभाव जन्य कुसस्कारो को मिटा देने का कार्य बिरले ही वीर कर पाते है। अपने विषय को अधिक स्पष्ट करने हेतु हम यहा एक सुपुष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते है—

कोयल बहुत चालाक होती है। यह अपने अण्डो को काग के घोसले मे रख देती है। काग की मादा इन्हे अपने अण्डे समझकर सेती है, और जब अण्डो से बच्चे निकल आते है तो उनका पालन भी करती है किन्तु काग की मादा उनके मधुर कण्ठ मे काव-काव का स्वर पैदा करने मे असमर्थ ही रहती है और जब वे बच्चे समर्थ हो जाते है तो वे उसके घोसले को त्याग कर अपने मधुर कण्ठ से मधुर गान करते हुये फुर्र हो जाते है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हम इस सिद्धान्त की अवहेलना भले ही कर दे किन्तु यह ऋत है। तो फिर

दृष्टिगत करने लगे जिस तरह से अपने मकान मे अथवा अपने निज के कमरे मे अथवा तिजोरी मे रखे हुये पदार्थों का करता है, किन्तु जो लोग अपने भावो की अपेक्षा दूसरो के भावो का ही निरीक्षण करते रहते हैं और उनकी आलोचना करते रहते है ऐसे पुरुषो से सत्य की समालोचना तो होता रहेगी किन्तु सत्य उनके स्वभाव का अग नही वन मकता। 'पर उपदेश कुशल वहुतेरे' सिद्धान्त को माननेवाले मनुष्यो से समार भला नही होता। ये लोग तो कथनी के शूर होते है, करणी के शूर नही। झूठे आदर्श स्थापित करने मे क्या रखा है। स्वस्थ वैद्य ही रोगी का इलाज करने का अधिकारी है। जो डाक्टर खुद रोगी है वह एक रोगी को निरोगी वनाने का कैसे विश्वास दिला सकता है, पहला प्रभाव तो रोगी को यही खटकेगा कि यह डाक्टर क्या इलाज करेगा जो स्वय रोगी है तथा अपना इलाज करने मे असमर्थ है। जैसे कि ऐसे मनुष्य देखने मे आते हैं जो कि सच्चे मन से ईश्वरोपासना मे लगे रहते हैं किन्तु उनकी भी उपासना उतनी फलीभूत नही हो पाती जितनी किसी निर्लोभी सत्य प्रतिज्ञ की। उपासना का आधार ही तो सत्यनिष्ठ होना है। हम कितनी भी उपासना करें किन्तु अगर सत्य से दूर भागते रहे, तो हम यह तो नही कहेगे कि यह भगवान की उपासना निरर्थक है, क्योकि कार्य की प्रतिक्रिया अवश्य होती है, किन्तु सत्य के विना उपासना करना फलहीन मरुभूमि मे बीज वोने के समान है, चाहे उसमे कितना भी पानी से सीचे, फलदायक नही हुआ करता जव तक कि हम सत्य रूपी खाद का व्यवहार न करे।

लोभ का सग सत्सग के महत्व को मिटा देता है। सत्सग तभी फलीभूत होता है जवकि लोभ हमसे विदाई ले ले। लोभ एव सत्य एक साथ नहीं रह सकते। जहा लोभ है वहा सत्य नही और जहा सत्य है वहाँ लोभ नही। लोभ कितना भी सत्य का ढिढोरा पीटे, वह अविश्वसनीय वना रहेगा। किन्तु सत्य के लिये ढिढोरा पीटने की आवश्यकता नही होती, जिस तरह कि प्रकाश को जानने की आवश्यकता नही होती। अन्धकार का कम होना ही प्रकाश का द्योतक है। अन्धकार का मिट जाना ही प्रकाश का साम्राज्य है।

तथाकथित वडे-वडे साधु-सन्यासी और मठाधीश विशाल मस्तक पर वडे-वडे त्रिपुण्ड लगाये, सुन्दर-सुन्दर कोमल रेशमी वस्त्रो से परिवेष्ठित, विद्वत्तापूर्ण ओजस्वी भाषा मे भाषण देने मे समर्थ होने पर भी जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव नही जमा पाते। इसके अन्दर कोई विशेष कारण अवश्य निहित है, बिना कारण के तो कोई कार्य होता नही। वह कारण है

लोभ। तो ऐसे महात्माओ के प्रति लोभ को लाच्छना लगाना क्या घृणित लाछित कार्य नही है ? है तो अवश्य, किन्तु सत्य किसी का लिहाज नही करता। चाहे इन महात्माओ मे वित्तेपणा, पुत्रेपणा न रही हो किन्तु इनके अन्दर लोकेपणा का लोभ बना रहता है जो उनके जीवन मे दूध मे काजी के समान कार्य करता है। देखने मे आता है कि गीता, रामायण आदि के विद्वत्तापूर्ण प्रवचनकर्त्ता जब तक प्रवचन करते रहते है तब तक तो अपनी मधुर सुकोमल वाणी से श्रोताओ के हृदय को अपनी तरफ आकर्षित करने मे भले ही सफल हो जाये और वे वाह-वाह के नारे लगाकर उनका सम्मान करते रहे, किन्तु व्यास-गद्दी से हट जाने के बाद प्रवचनकर्त्ता का वह दबदबा नही रहता। उसका विशेष कारण एक ही है, उसकी लोभवृत्ति। उनके इतने सुन्दर प्रवचनो का मूल्याकन जब ये खुद ही कर लेते है तो फिर उनका आदर उसी सीमा तक बना रहे इसमे दोष है किसका ? हमने ऐसे-ऐसे प्रवचन-कर्ताओ को देखा है जो प्रवचन करते समय नाना प्रकार के भावो की नदी प्रवाहित कर देते हैं किन्तु जैसे ही उनकी वाणी बन्द हुई उसके साथ-साथ प्रभाव भी खत्म। इन सब का एकमात्र कारण है लोभ। इसके विपरीत हम एक दूसरा उदाहरण उपस्थित करते है। वह ऐसे पुरुष का है जो कि दुबला-पतला था, जिसकी धोती घुटनो तक बनी रहती थी, अग पर केवल एक जाकेट, वह भी केवल सर्दी-गर्मी के मौसम के रक्षार्थ हेतु या कम-से-कम अपनी प्रिय वस्तु घडी को रखने का स्थान प्राप्त करने के लिये, क्योकि उसको जीवन मे एक मिनट का अपव्यय अखरे बिना नही रहता था। मस्तक पर न त्रिपुण्ड न चन्दन का चिह्न, न चेहरा प्रभावशाली। विद्वान होते हुए भी विद्वता का प्रदर्शन नहीं। जो कि बडा सामर्थ्यवान माना गया, नही, नही, केवल माना ही नही गया, साबित भी हुआ। जिसने दो सौ साल के स्थायी ब्रिटिश साम्राज्य को इस तरह से उखाड कर फेंक दिया जैसे माली फूलो की क्यारियो से घास को उखाड कर फेक देता है। उक्त अन्य महात्माओ ने सत्सग किया था अवश्य, वेदो का, शास्त्रो का। भगवान की उपासना भी की थी---तन से, मन से। न वह दिखावा था, न वह ढोग था, किन्तु लोकेपणा की लोभ वृत्ति सारे किये-कराये पर पानी फेर रही थी। इस दुबले-पतले मनुष्य ने भी सत्सग किया था, वह सत्सग था सत्य और अहिसा का, और सत्सग के साथ-साथ उसने सत्य को अपने मे इतना रमाया कि वह सत्य रूप हो उठा। वहा किसी प्रकार की लोभ की गध मात्र भी न रह पाई थी। वह था महात्मा

गावी। सत्सग की है यह महिमा अर्थात लोभ का नितान्त निराकरण।

सत्सग के अभाव के कारण या यो कहे कि उसमे अरुचि होने के कारण आज का पुरुष स्वेच्छाचारी, अनैतिक, लोभी, दुराग्रही, भ्रष्ट और अनेक दोषो का सम्पुट बन चला है। नितान्त भौतिकवाद का अनुचर सत्सग की सुगन्धि तक सहने मे असमर्थ, अध्यात्म-विरोधी, आध्यात्मवाद का उपहासकर्ता बन चला है, तो फिर इन फिरे-विभाग के पुरुषो से देश के कल्याण की आशा रखना दुराशा नही तो क्या है। ऐसे पुरुष चाहे तथाकथित शिक्षित ही हो, विदेशो मे प्रचलित नाना प्रकार के वादो के शिकार हो जाने मे तनिक भी देर नही लगाते, जैसे समाजवाद, साम्यवाद, उग्रपथी आदि। विशेष हास्यास्पद बात तो यह हे कि ये फिरे-दिमाग देश को फिर विदेशियो के दासत्व की जजीर मे जकड देने के लिये भरपूर प्रयत्नशील दिखाई देते है। जब विदेशी दुबारा इस देश मे आ धमकेगे तो वे इस देश के वासियो को अपने स्तर पर न लाकर उनसे अपने देश-कल्याण के लिए ऐसी सेवा लेंगे, जिससे इस देश का वह ह्रास होगा कि पुनरुत्थान के लिये तो साहस की तो बात ही दूर रही, विचार करने की शक्ति भी बाकी नही रहेगी। इस जाति का अस्तित्व, इसकी सस्कृति, इसका धर्म, इसका स्वाभिमान सदा के लिये लुप्त हो जायेगा। कुसग मे सर्वनाश निहित रहता है।

कैकेयी जैसी धर्मनिष्ठ, पक्षपात-रहित, पतिव्रता नारी दासी मथरा की कुमत्रणा पर ध्यान दे गई और उसने अपना सर्वनाश कर लिया। पति को हाथ मे खो बैठी। अपने प्यारे इकलौते पुत्र की अवहेलना सही। अयोध्यापुरी पर उदासी की घनघोर घटा छा गई। राम वन चले गये। लक्ष्मण एव सीता उनके साथ मे गईं। सुमित्रा एव कौशल्या को १४ साल तक पुत्रो का वियोग सहना पडा। इतना भयकर फल होता है कुसग का, कुमति को अपनाने का। कैकेयी को इस घृणित कुकृत्य मे प्रवृत्त करने मे लोभ की अदम्य प्रेरणा ही तो काम कर रही थी। इसी प्रकार आज के गुमराह देश-द्रोही साम्यवादी युवक और युवतियाँ एव इसी लोभ के चगुल मे फसे हुये विदेशी राष्ट्रो से धनराशि प्राप्त कर अपने देश के अन्दर उन देशो के हितार्थ एक बडी विनाशकारी क्रान्ति मचाए हुए है, जिसके कारण आज हमारे देश का बच्चा-बच्चा उनकी क्रान्ति के कारण क्लान्त होता चला जा रहा है। फलस्वरूप इतना नैतिक व सास्कृतिक पतन होता चला जा रहा है जिसका दुष्परिणाम भविष्य ही बता सकेगा। ये ऐसे निन्दनीय, देश-द्रोही लोभ मे आवृत्त है जिनकी तुलना मे

कैकेयी का लोभ कुछ भी न था।

हमारे आज के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र मे दूसरे वहुत सारे मतावलम्बी पनपते चले जा रहे है—सभी अर्थो मे—सख्या मे, विद्या मे, अर्थव्यवस्था मे। किन्तु इस धर्म निरपेक्षता के हिमायती हिन्दुस्तान मे हिन्दुओ का तेजी से ह्रास होता चला जा रहा है—वल मे, वुद्धि मे, धर्म की आस्था मे। अगर यह मान लिया जाय कि कोई विदेशी नही भी आया, तो मौजूदा अवस्था मे पर धर्मावलम्बी हमारे शासक वन जायेंगे और हम उनके गुलाम। फिर हम दयनीय एव घृणित दशा को प्राप्त हो जायेंगे और फिर वे हमे इस प्रकार पैरो तले रोदेंगे कि सारी अक्ल ठिकाने आ जायेगी और तव उसके ठिकाने आने पर फल कुछ नही होगा जव 'चिडिया चुग गई खेत'। जैसा कि आज-कल दृष्टिगोचर हो रहा है, चाहे वह साम्यवादी हो या वामपथी हो या दक्षिण पन्थी हो, या मार्क्सवादी हो—वढते चले जा रहे हैं। इस देश के साम्यवादियो को लाखो—कडोडो रुपया विदेशो से प्राप्त हो रहा है। रूस, जिसे हम मित्र-राष्ट्र के नाम से पुकारते हैं, भारत मे कम्युनिज्म फैलाने के लिये लाखो-करोडो रुपये की नदी वहा रहा है, तथा देश-द्रोही युवक एव युवतियाँ इस धारा मे वहते चले जा रहे है। पर ये इस वात से अनभिज्ञ है कि शराव पिलाने वाला जिसे शराव पिलाता है उसे अपनी अगुलियो के इशारे पर नचाने के लिए ही तो। आज भारत के कम्युनिष्ट सिद्धान्त कम्युनिष्ट नही है, वे तो लोभवश रूस व चीन के पालतू गुलाम बने हुये है, जैसे वे इन्हे नचाना चाहते है वैसे ही ये नाचते है। ऐसे देश-द्रोही देश का क्या उपकार कर सकते है? सुना जाता है कि हिन्दू लडकियाँ और औरतें लोभवश मुसलमानो के हाथो मे पड जाती है। ये गुमराह लडकिया उनके द्वारा दी हुई भेंटो को नि स्वार्थ समझकर स्वीकार कर लेती हैं और उनके साथ भाग जाती है। लेकिन जो किसी को कुछ देगा उसका प्रतिफल वह लेगा ही।

आये दिन सुनने मे आता रहता है कि सेक्रेटेरियेट के फला वावू ने पाकिस्तान से धनराशि प्राप्त करने के वदले मे कुछ वडे महत्वपूर्ण कागजात (Documents) पाकिस्तानी एजेन्टो के हाथ पहुचा दिये। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) (C P I M) ने कोचीन मे २३ दिसम्बर १९६८ से २९ दिसम्बर १९६८ तक अपनी कान्फ्रेंस मे करीव ७ लाख रुपया खर्च किया। इतना रुपया यदि मात्र एक कान्फ्रेंस मे खर्च हो जाये तो यह रुपया आया कहाँ से? यह विदेशो का रुपया है जोकि हमारे युवक और युवतियो को गुमराह करने मे खर्च होता है।

लोभ के भी दो रूप होते है। एक ऋणात्मक-धर्मा, दूसरा धनात्मक। इसका ऋणात्मक रूप, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है बडा ही घृणित एव हेय है। यहाँ तक कि इन्द्रिय लोलुपता के कारण आज माता को कुमाता बनने मे हिचक नही होती। इसका विपद विवरण लेखनी को अपवित्र करना है। इसका धनात्मक रूप बडा सुन्दर और श्रेयस्कर है जैसे कि अध्यात्म-जीवन मे प्रगति, आत्म-साक्षात्कार, परोपकारी कृत्य, अच्छी-अच्छी पुस्तको का अध्ययन अथवा उनका लेखन। यह सब लोभ धनात्मक परिधि मे आते है। लोभ एक एषणा (कामना) ही तो है। ब्रह्म ने कामना की—'मै बहु हो जाऊ' और विश्व की रचना की। बिना कामना के एक परमाणु भी गतिशील नही हो सकता। इस प्रकार के लोभ कि वृत्ति सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की अभिव्यक्ति मात्र ही तो है जोकि मनुष्य के जीवन को दिव्य बनाने मे सक्षम रहती है।

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी

श्री रामचरित मानस के सुन्दरकाण्ड के ५८ वे दोहे के अन्तर्गत चौपाई की यह छठी पक्ति है। भयभीत समुद्र प्रभु के चरण-कमलो को पकड प्रार्थना कर रहा है कि जो जडमति है वे ताडना के अधिकारी ह, मै भी जडमति हू। मैं आपकी ताडना को सहर्ष शिरोधार्य करता हू। साथ ही वह अपनी गणना मे ढोल, गवार, शूद्र, पशु एव नारी को भी शामिल कर रहा हे यानी जो सहज जड हे या जिनकी बुद्धि जड एव असयत हो चली है, जो प्रमाद के शिकार हे, उनका नियत्रण अनिवार्य है।

इस नियत्रण के अनेक रूप हुआ करते है जैसे ताडना, भयभीत करना, अकुश मे रखना, मर्यादा मे रखना इत्यादि। दुर्बुद्धि प्रमादी जीव, असयत, अनियन्त्रित एव प्रमादी बने रहने मे ही अपना गौरव समझता है, किन्तु ऐसे व्यक्ति समाज की व्यवस्था के लिए बडे घातक होते है। जो असयत एव अनियन्त्रित है केवल वे ही ताडना के अधिकारी होते है। फिर वह चाहे कोई भी क्यो न हो। नियत्रण तो उसी पशु का किया जाता है जो अनियन्त्रित

होकर इधर-उधर भटकने की चेष्टा करता है। भला नियन्त्रित पशुओ की टोली को उसका रक्षक क्यो ताडना देगा ?

यही बात लागू होती हे स्त्री-पुरुष पर। यहा तुलसी का यह सकेत कदापि नही है कि सारी नारी जाति ही ताडना की अधिकारिणी है। सीता का उपासक एव अनुसूया के चरणो का पुजारी, तुलसी भला कैसे सारी नारी जाति को ताडना की अधिकारिणी बता सकता है ? सूर्पणखा अत्याचारी नारी होने के कारण यथोचित दण्ड पाने की अधिकारिणी थी एव उसे वह दण्ड प्राप्त भी हुआ। पूरी रामायण मे कही भी ऐसा दृष्टिगोचर नही होता कि भली-बुरी सभी नारियो को एक ही सूत्र मे बाध कर उनके साथ एक समान व्यवहार किया गया हो। किन्तु आज की नारी इस पक्ति को पढकर तिलमिलाये, तमके बिना नही रहती, तथा तुलसी पर मनचाही धूल झोकने मे तनिक भी हिचकिचाती नही, और ऐसा करने मे वे सन्तुलन तक खो बैठती है। इसका प्रधान कारण है रामायण के ज्ञान से शून्य बना रहना। इस तथ्य को कदापि न भूले कि दोषी ही चिढते है, निर्दोषी नही। जो धीर बुद्धि, मेधावी नारिया हैं वे ऐसा कदापि नही करती, अपितु अनन्य भक्ति द्वारा वे इस अमूल्य ग्रन्था का अध्ययन एव मनन करती रहती है। इसके आलोक द्वारा उनका जीवन-पथ-सदा सर्वदा आलोकित बना रहता है।

कवि एव लेखक की कृतियो मे तत्कालीन समाज एव देश की अवस्था की झाकी निहित रहती है जो सिर्फ गहराई मे जाने से ही दिखाई पडती है। तुलसी अकबर का समकालीन था इसलिए उस समय की भली व बुरी अवस्था की झलक उनकी कृतियो मे आना और अवाछनीय स्थिति के निवारण का प्रयास किया जाना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। हम इतिहास के सही परिप्रेक्ष्य के द्वारा उस समय की अवस्था का जरा निरीक्षण तो करे, तब आप हमसे सहमत होगे कि उपर्युक्त पक्ति नितान्त यथार्थ है। अकबर, उसका पिता हुमायू तथा हुमायू का पिता बाबर ये सभी निम्न कोटि के गर्हित अनाचारी थे और भली-भाति जानते थे कि विजेता विजित को अपने नियत्रण मे तभी रख सकता है जबकि वह विजित जाति के नारी-समाज की कमर की हड्डी तोड दे। जब तक स्त्री सयत सदाचारिणी तथा स्वधर्म की अनुगामिनी बनी रहेगी, तब तक कितना भी क्रूर से क्रूर अत्याचारी शासक एव विजेता क्यो न हो उस समाज का बाल भी बाका नही कर सकता। इसीलिए आर्य सस्कृति मे स्त्री के सतीत्व पर इतना बल दिया गया है। अपनी इस दुर्नीति को कार्या-

न्वित करने के लिए उसने क्षत्राणियो पर ही हाथ डाला। वह भली-भाति जानता था कि क्षत्राणिया ही हिन्दू समाज की रीढ की हड्डी हैं। इनका पतन होने पर हिन्दू समाज पर विजय पाना सहज सुलभ हो जायेगा। और क्षत्रिय वर्ग, जो कि भारतवर्ष का रक्षक व देश के गौरव एव सम्मान का पात्र था, फिर सर न उठा सकेगा। अत अकबर ने इस क्रूर नीति को कार्यान्वित करने हेतु येन-केन प्रकारेण जयपुर की जोधाबाई से शादी कर ली और उसको मुसलमान न बनाकर हिन्दू रमणी के रूपमे ही रखा ताकि वह पतिरात एक क्षत्राणी के साथ सहवास कर सके, और इस तरह क्षत्रियो का स्वाभिमान चूर होता चला जाय। सबल ही तो समाज के निर्देशक होते है, इनके पतन मे समाज का पतन निहित रहता है। उस समय उच्चपदस्थ मुसलमानो के घरो मे भी क्षत्राणी रमणियो का प्रवेश होने लग गया था।

अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए अकबर ने नौरोज का मेला लगाने की प्रथा चलाई जिसका प्रधान उद्देश्य क्षत्रियो के स्वाभिमान को चूर करना, उनमे भ्रष्टाचारी प्रवृत्तियो को सहन करने की आदत डालना और उन्हे चाटुकार, आलसी, प्रमादी एव इन्द्रियो का क्रीतदास बना देना था, ताकि वे फिर कभी अपना सर ऊँचा न उठा सकें जिसकी प्रतिक्रिया आज भी इनके जीवन मे परिलक्षित हो रही है। यह मेला क्या था एक नुमाईश थी। •नुमाईश मे भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रदर्शन होता है तथा दर्शक और ग्राहक भी होते है किन्तु इस नुमाईश मे प्रदर्शन की वस्तु थी सुन्दर-सुन्दर क्षत्राणिया एव दर्शक थे स्त्री वेश मे नकाब ओढे हुए सिर्फ अकबर। इसमे पुरुषो का प्रवेश निषिद्ध था, सिर्फ स्त्रिया ही प्रवेषाधिकारिणी थी। इस नौराज के मेले मे छद्मवेशी अकबर की दृष्टि मे जो सुन्दर क्षत्राणी चढ जाती वह जोधाबाई के महलो मे सम्मानित करने के बहाने पहुचा दी जाती थी क्योकि अकबर भलीभाति जानता था कि हाथी का शिकार हाथी से होता है। शृगार काव्यो मे जहा नायक-नायिका का प्रसग आता है, उसमे दूती का प्रसग भी निहित रहता है। इस वृत्ति का प्रदर्शन आज भी हमारे समाज मे परिलक्षित हुए बिना नही रहता। हम तो इस कमजोरी को समाज का कुष्ट ही कहेगे। जोधाबाई के रहते हुए उन क्षत्राणियो के हृदय मे किसी प्रकार की शका एव भय उत्पन्न ही कैसे हो सकते थे। चूकि वे भली-भाति जानती थी कि हिन्दूनारी एक हिन्दू नारी के पतन का कारण नही बन सकती, अत वे वहा असदिग्ध एव सहर्ष चली जाती थी। किन्तु जब अकबर उनके सामने अपने असली रूप मे

आता, तो वे वहा अपने को नितान्त असमर्थ एव असहाय पाती । तब वहा यह कहावत चरितार्थ होती कि—'दबी बिल्ली कान कटावे' । हिन्दू रमणी अपने पति की यौन-सम्बन्धी कमजोरी तक सहन करने मे असमर्थ बनी रहती है, फिर उसके घृणित कार्य मे सहायता पहुचाने की बात तो कल्पना से भी परे है । किन्तु मुसलमानो मे पति की करतूतो मे उनकी स्त्रिया सहायक होती है। जोधाबाई चाहे भले ही हिन्दू ही बनी रही, किन्तु एक मुसलमान के सहवास मे आकर उसकी मानसिक वृत्ति क्या बदल नही गई होगी ? जब किसी की नाक कट जाती है तो उसका प्रयत्न नकटो का समुदाय बनाने का होता है तथा इसमे वह सतत प्रयत्नशील भी रहता है । जोधाबाई अकबर को जहापनाह कहती थी । इसमे यह सकेत निहित है वह बिचारी अपने को अकबर की पत्नी के स्तर पर आसीन नही कर पाई, अपितु वह अपने को रखैल की कोटि मे ही गिनती थी । उसको तो अब क्षत्रियो से कुछ लेना-देना था नही, तथा क्षत्रिय जाति मे उसकी निन्दा न होने पाये, इसलिए इस प्रकार के कार्यों मे उसका प्रयत्नशील रहना कोई असम्भव बात नही । इसके अलावा, भला उसकी ताकत ही क्या थी कि वह अकबर की इस दुर्नीति और दुराचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करती । यह सिलसिला चालू बना रहा । अकबर के दरबारी चाटुकार राजा लोग इस अपमानजनक घृणित प्रथा का प्रतिवाद करने का साहस खो बैठे थे और इसमे स्वय को गौरवान्वित ही महसूस करते थे । ऐसे पुरुषो को ही तुलसीदास ने गवार की सज्ञा दी है क्योकि गवार को अच्छे-बुरे का ज्ञान नही रहता, इसी प्रकार ये क्षत्रिय राजा लोग अपने कर्तव्य से च्युत हो बैठे थे । इन्हे अपने स्वाभिमान की कोई चिन्ता नही रही तथा वे विवेकहीन एव बुद्धिहीन हो गये थे ।

किन्तु कोई भी अच्छी या बुरी बात अधिक समय तक छिपी नही रहती । इस नौरोज की पोल भी क्षत्राणियो मे आपस मे खुल गई । एक दिन बारी आई राजा पृथ्वीराज की पतिव्रता, सिहनीरूपा, सहधर्मिणी करणवती की । इस रमणी ने नौरोज के मेले में प्रवेश करने के पूर्व अपनी कमर मे कटार छिपा ली । इसके प्रवेश करते ही उस राक्षसराज की गिद्ध दृष्टि इसपर पडे बिना न रही । सदा की भाति यह भी अकबर के महलो मे पहुचाई गई । जब अकबर इसका सान्निध्य प्राप्त करने हेतु आगे बढा तो यह सिहनी उस पर बिजली के सदृश्य टूट पडी और कटार तानकर उसकी छाती पर सवार हो गई । अब तो अकबर अपने प्राणो की भिक्षा माग रहा था । जब अकबर ने

इस घृणित प्रथा को बन्द करने का वायदा किया, तब उसके प्राणो की भिक्षा दे वह मिहनी उस नारकीय भवन से बाहर निकल आई। यह बात चारो तरफ फैल तो गई, किन्तु तब भी कायरो के हृदय मे इसकी कोई प्रतिक्रिया न हो पाई। ऐसे घोर पतन के कीटाणु उस समय के समाज एव वातावरण मे समाये हुए थे। तुलसी के दोहे मे प्रयुक्त पशु शब्द का अर्थ अकबर या उस जैसे अन्य व्यक्तियो की अमानवीय पाशविक वृत्तियो से ही है।

इस प्रकार उस असुर ने न जाने कितनी सती-साध्वी स्त्रियो का व्रत तोडा था। हिन्दुत्व लडखडाने लगा था। ये सब बाते उस परम पूज्य महामना कवि के हृदय को विदीर्ण किये बिना नही रही होगी। कवि का खड्ग उसकी लेखनी ही तो है और तुलसी ने अपनी लेखनी द्वारा बडी सुन्दरता से इस नारकीय प्रथा का विरोध थोडे ही शब्दो मे कर डाला। यहा तुलसी का सकेत केवल नारी तक ही सीमित नही है अपितु पुरुष वर्ग भी इस सकेत की परिधी के बाहर नही रह पाया। बुद्धिहीन पुरुष जब अपनी सतोगुणी बुद्धि खो बैठता है और अपने आचरण मे अनियन्त्रित हो चलता है तब वह जड बुद्धि पशु के समान ही तो हो जाता है और अपनी ढोल के समान थोथी कीर्ति के गाल बजाता पाया जाता है। यहाँ कवि का सकेत भ्रष्टाचारी पुरुष एव स्त्री के प्रति ही है, किन्तु ऐसे महात्माओ के वचन किसी विशेष देश और काल की व्यवस्था तक ही सीमित नही होते। कवि की वाणी शाश्वत होती है। इसी कोटि के अनाचार हमे आज भी दृष्टिगत हो रहे है। क्योकि हमे पाश्चात्य सभ्यता ने धर दबोचा है। आज का नर-नारी पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौध मे विभ्रम हुआ बहका चला जा रहा है। आज का प्रत्येक पुरुष एव स्त्री अपनी छाती पर हाथ रखकर देखले कि वह अपनी धुरी से विचलित हो कितनी द्रुतगति से विनाश के कराल गाल मे समाये जा रहा है।

क्या आज भी हम अपनी मा, बहन एव पुत्रियो मे सीता, सावित्री, अनुसूया इत्यादि आदर्श स्त्रियो के दर्शन नही पाते? क्या महात्मा गान्धी, तिलक, नेहरू सुभाष, मालवीय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहस इत्यादि की माताये ताडना के योग्य मानी जा सकती है? ऐसी स्त्रिया तो समाज की पूज्या है, शिरोमणि है। समाज की शोभा तो इनसे ही है। सत्य प्रतिष्ठित नारी सत्य शिव सुन्दरम् की साक्षात् अभिव्यक्ति है। स्नानादि तो मेल को प्रच्छालन करने का उपक्रम ही तो है, भला निर्मल स्वच्छ कपडो को कोई क्यो धोयेगा अथवा धोबी को देगा? ऐसा करना उसकी निरी

मूर्खता ही तो समझी जायेगी। दुर्गन्ध को दबाने के लिए ही सुगन्धियों का प्रयोग किया जाता है, लेकिन सुगन्धित पदार्थ मे विशेष सुगन्धि पैदा करने के लिए दुर्गन्धयुक्त पदार्थ का इस्तेलाल नही किया जाता। नीतिशास्त्र के उपदेश सिर्फ अनीति के प्रतिकार के लिए ही है। नेत्रहीन को ही मार्ग-दर्शक की आवश्यकता होती है, नेत्रयुक्त को नही। दण्ड का विधान दोषी के लिए है, निर्दोषी के लिए नही। यदि दोषी यह कहे कि यह दण्ड विधान मेरा अपमान है, तो क्या यह हास्यास्पद बात नही ?

यह सर्वविदित है कि हमारा आज का समाज भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार से अभिभूत कितना विभ्रमित एव अनियन्त्रित हो चला है। आज पुन अकबरशाही प्रवृत्तिया हमारे समाज मे परिलक्षित होने लगी है। क्या आज हिन्दूत्व लडखडाने नही लगा ? सनातन धर्म क्या जर्जर नही होता चला जा रहा है ? हिन्दू राष्ट्र का नव-निर्माण करने के लिए, आर्य सस्कृति की पुनर्स्थापना के लिए राम, कृष्ण, युधिष्ठिर जैसे महापुरुषो की एव सीता, सावित्री, अनुसूया जैसी पूज्य नारियो की क्या अब आवश्यकता नही है ? क्या कारण है कि आज हमको महान पुरुषो के दर्शन नही हो पाते ? क्या एक दिन हम इनमे से किसी का समाज की नैया के सफल नाविक के रूप मे दर्शन न कर पायेगे ? जब तक चतुर एव सिद्धहस्त नाविक पतवार के ऊपर खडा हुआ हो, तब तक कैसे भी भयकर झझावात मे फसने पर भी नाव को किनारे लगा ही देता है। इस ससार मे निराशा को कही स्थान नही है। आशावादी (Optimistic) बना रहना ही मनुष्य का पुरुषार्थ है। आशावाद भाग्यवाद नही होता, अपितु आत्मवाद होता है। आशावाद मे ईश्वरीय शक्ति पर अवलम्बित परम पुरुषार्थ निहित रहता हे और भाग्यवाद मे निष्क्रियता। हमारे समाज के निर्माण की आधार-शिला हमारी आर्य सस्कृति है और यह सदैव अक्षुण्ण बनी रहेगी। आर्य सस्कृति शाश्वत है और शाश्वत का कभी विनाश नही हुआ करता। सत्य का हनन व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र को निगले बिना नही रहता। ऋत की धुरी अचल है, सत्य है। जब चक्का धुरी से अलग हो भाग निकलता है तो उस पर सवार व्यक्ति का चकनाचूर होना अनिवार्य है। यह शाश्वत नियम है। इसका उल्लघन मृत्यु है, जीवन नही।

स्त्री-शिक्षा

पुरुष के समान ही स्त्री को शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। विद्या व शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य है—मनुष्य की सुषुप्त भौतिक एव आध्यात्मिक शक्तियो का जागरण एव उनका विकास। विद्या सम्बन्धी विषय मे एक बात विशेष विचारणीय व ध्यान देने योग्य यह भी है कि भौतिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो के विकास का सामजस्य होना चाहिए। एक क्षेत्र को अभिभूत कर दूसरे क्षेत्र का विकास श्रेयस्कर नही होता है, इन दोनो क्षेत्रो का विकास साथ-साथ होना चाहिए। इन दोनो के विकास मे समन्वय सामजस्य बना रहना चाहिए। सामजस्य के अभाव मे जो क्षेत्र विशेष गतिशील होगा वह दूसरे क्षेत्र को निर्बल बनाये बिना नही रहेगा अर्थात् इन दोनो मे सन्तुलन बना रहना आवश्यक है। बलिष्ठ शरीर मस्तिष्क को बलिष्ठ बनाता है किन्तु जिस व्यक्ति का एक-मात्र रुझान शरीर को अधिक बलिष्ठ बनाने के लिए हो जाता है, उसी के अनुपात मे मस्तिष्क कुछ कुठित भी होता चला जाता है। दूसरी ओर मस्तिष्क मे विशेष कवायद कराने पर उन किताबी कीडो के शरीर निर्बल हो जाते है

क्योकि उनका ध्यान शारीरिक विकास की तरफ कम हो जाता है जैसे आहार शरीर को स्फूर्तिवान वनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है और वही आहार विशेप मात्रा मे शरीर मे आलस्य का सचार कर देता है। भोजन की मात्रा एव शरीर की आवश्यकताओ मे सामजस्य, सन्तुलन वाछनीय एव श्रेयस्कर है। इन्ही सब नियमो के आधार पर स्त्री-शिक्षा के प्रारूप की रूप-रेखा निर्धारित करनी चाहिए।

जिस तरह मकानो को वनाने मे मुख्यत तीन वातो की आवश्यकता होती है–अधिष्ठान यानी आधार, उसकी रूप-रेखा और साधन के रूप मे उपकरण। विना अधिष्ठान निश्चित किये हुए मकान की रूप-रेखा वन नही सकती। विना रूप-रेखा के उपयुक्त उपकरण जुटाये नही जा सकते। उसी तरह स्त्री-शिक्षा का आधार उसका क्षेत्र है। उस क्षेत्र की आवश्यकताओ का भली प्रकार ज्ञान ही उसकी रूप-रेखा है। इनकी पूर्ति करने का साधन शिक्षा है। क्षेत्र की आवश्यकता के विपरीत कोई चीज का आरोपण, या यो कहे, उसे उसके ऊपर थोप देना, उतना ही हानिकर होता है जितना कि विना भूख स्वादिष्ट भोजन, जिससे अजीर्ण हुए विना नही रहता। और अजीर्ण के कारण वह उस भोजन के पोष्टिक तत्वो से वचित ही नही वना रहता वरन् अपने शरीर को रोग-ग्रस्त वना लेता है।

क्षेत्र की आवश्यकताए क्षेत्र के रूप के अनुसार ही होगी जैसे मरुभूमि को उपजाऊ वनाने हेतु खाद और पानी की विशेप मात्रा मे आवश्यकता पडती है, बजाय उपजाऊ भूमि के। स्त्री के शरीर की वनावट के अनुसार ही उसके भाव होगे और उनकी आवश्यकता उन भावो के अनुसार। स्त्री के शरीर की बनावट पुरुप शरीर की वनावट से कई अशो मे भिन्न है और दोनो शरीरो के सामान्य धर्म भी है, आहार, निन्द्रा, मैथुन आदि समान है। बहुत-से रोग भी समान होते है और बहुत से रोग शरीर की विशेष वनावट के अनुसार। इसी प्रकार उनकी इच्छाओ का क्षेत्र भी कही-कही समान है, कही-कही भिन्न। वस्त्रो की आवश्यकता एक-दूसरे से भिन्न है। स्त्री के अग स्वभावत कोमल है, पुरुष के कठोर। इसी प्रकार हड्डियो की अवस्था है। स्त्री की हड्डिया मजवूत होने पर भी कोमल होती है और लचकदार, किन्तु ऐसी वात पुरुष की हड्डियो मे नही पाई जाती।

इसी न्याय के अनुसार स्त्री-पुरुप की शिक्षा के क्षेत्र भी एक समान नही हो

सकते । एक सीमा तक जैसे आहार व निन्द्रा, दोनो मे समान है, उसी तरह एक सीमा तक शिक्षा क्षेत्र समान बने रहेंगे । आगे चलकर ये दोनो क्षेत्र अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु फट जायेंगे और फटने चाहिए भी । जब हम यह कहते है कि दोनो के क्षेत्र समान नही हैं, असमान है, तो इस असमान शब्द ने दोनो क्षेत्रो के अन्दर द्वन्द्व मचा रखा है । इस असमान शब्द का यह अर्थ नही है कि एक दूसरे से न्यून है या अधिक । अपने क्षेत्र मे दोनो ही सबल हैं और एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र की परम आवश्यकता है, एव पूरक है एक दूसरे के बिना अधूरा है । एक दूसरे मे सयुक्त हो जाने पर ही अपने-अपने क्षेत्र की उपयोगिता का अनुभव करते हैं । इसी आधार पर हम स्त्री-शिक्षा का प्रारूप तैयार करेंगे ।

प्रत्येक स्त्री को साक्षर होना आवश्यक है वह अपनी भाषा का जितना भी ज्ञान प्राप्त कर ले, वाछनीय है । आवश्यकताओ के अनुसार अन्य भाषाओ का ज्ञान अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक है । अपने देश एव विदेशो का भौगोलिक एव ऐतिहासिक ज्ञान विशेष आवश्यक है । विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तो का ज्ञान अनिवार्य है । इसी प्रकार अपने देश की राजनैतिक-व्यवस्था का ज्ञान भी । शिक्षा का इस प्रकार का क्षेत्र भी स्त्री-पुरुष दोनो ही का समान होना चाहिए । इन विषयो के साथ-साथ गणित का ज्ञान भी होना चाहिए । अपने शरीर की बनावट सम्बन्धी ज्ञान स्त्री को अपना स्वरूप बनाये रखने हेतु परमावश्यक है । यह बात पुरुष क्षेत्र मे इतनी लागू नही पडती । कन्याओ को रजोदर्शन के पूर्व एव पश्चात् की अवस्थाओ का भली-भाति ज्ञान भी अनेकानेक शारीरिक कष्टो से बचने के लिए अत्यन्त आवश्यक है । आज की नारी रजोदर्शन की अवस्था को साधारण अवस्था मान कर इस अवस्था मे पालन किए जाने वाले नियमो का उल्लघन कर अनेक शारीरिक कष्टो मे जकड जाती है जिसका कारण है पुरुष क्षेत्र से होड लगाना । इन चार दिनो मे स्त्री के शरीर की अवस्था बडी नाजुक हो जाती है ।

स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति भी उसे व्यापक रूप से होनी चाहिए । तब पता चलेगा कि इसका विकृत रूप कितना घृणास्पद है । यौन सम्बन्धी कृतिया जीवन है, उनकी विकृति मृत्यु है । गुण्डाशाही एव नाना प्रकार के अन्यान्य यौन सम्बन्धी अनाचारो का जन्म-स्थान है यौन सम्बन्धी विकृतिया । इसके यथोचित ज्ञान के अभाव मे समाज की क्या दुर्दशा होती है उसका दिग्दर्शन कराना शिक्षा का एक अग बनना चाहिए जिसका कि आज अभाव

है। ये विकृतिया स्त्री-पुरुषो को खड्डे मे ढकेले बिना नही रहती, जिनका निराकरण अपेक्षित है। ये विकृतिया पैदा होती है समाज की अचेतना, झूठे व्यामोह से। एक बहुत छोटा-सा उदाहरण है जिससे भलि-भाति परिलक्षित होने लगेगी कि हमारी दैनिकचर्या मे निर्दोष प्रतीत होने वाली हमारी असावधानियो के अक मे कितनी विनाशकारी बुराइया भरी रहती है ।

मसलन धन-सम्पन्न गृहस्थी मे नौकरो की बहुलता रहती है। बच्चो की दैनिक क्रिया मे ये सहायक होते है और इनके बडे होने पर भी ये नौकर उनके सहायक बने रहते है। देखने मे आया है कि ८-९ वर्षों की लडकियो तक को नौकर साबुन लगाकर स्नान कराते रहते है। ये लडके-लडकिया आगे चलकर भी इनकी सहायता पर निर्भर बने रहते है। इनके जीवन मे इन नौकरो की सहायता एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। इन धनाढ्य घरो की स्त्रिया इतनी आलसी व निष्क्रिय हो जाती है कि उनके खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जगते नौकरो की सहायता अनिवार्य बनी रहती है। इनकी सहायता धीरे-धीरे ऐसी प्रतीत होने लगती है जैसे लगडे की सहायतार्थ बैशाखी। इनसे लज्जा का भाव धीरे-धीरे मिटता चला जाता है। ये नौकर भी घर के अन्दरूनी भाग बन जाते है जैसे १०-११ वर्ष की लडकी रात्रि के समय कही अन्य स्थान पर सो गई तो उसको शयनागार मे ले जाने वाला नौकर ही होता है जबकि उसे माता-पिता का लाना ही उचित है। देखने मे निर्दोष बात है लेकिन मनोविज्ञान इन बातो को निषिद्ध घोषित किए बिना नही रह सकता। नौकर-चाकर घर मे फिरते रहते है और स्त्रिया नि सकोच बच्चो को अपना दुग्धपान कराती रहती है। इन सबका कारण है यथोचित शिक्षा का अभाव। परिस्थितियो की उनके सही परिप्रेक्ष्य मे जाच-पडताल करने की शक्ति की शून्यता, जिसका कारण है अशिक्षा ।

माता का काम है शिशु का निर्माण। उस निर्माण के उपादान है—प्रेम, करुणा, दया और त्याग। आज की स्त्री अपने यौवन-रक्षार्थ अपने बच्चे को अपना दूध तक नही पिलाती। जिसे अपने यौवन की पडी है वह अपने शिशु की क्या परवाह करेगी ? उसमे नि स्वार्थ त्याग है ही कहा ? बच्चा चलता है दाई के स्तर पर और उसी के भाव तो शिशु के मानसिक स्तर पर अपना अधिकार जमायेंगे। उसमे उच्च भावना कौन फूकेगा ? पवित्रता, सच्चरित्रता, त्याग आदि की भावनाए कैसे पनप सकेगी ?

स्त्री जीवन की बलवती इच्छा होती है मा बनने की। इच्छायें तो और भी होती है लेकिन वे है गौण। यह प्रकृति का नियम है और यह बडी ही कठोर अग्नि परीक्षा है। किन्तु भली-भाति जानते हुए भी कि उसकी इस इच्छा मे निहित है अनेक यन्त्रणाये, क्लेश, दुःख, दर्द, तो भी वह इनको गौण समझती हुई मातृत्व की भावना को प्रश्रय देती रहती है। आज के युग की अनेको लडकिया इस इच्छा को वशीभूत किये अपने शिक्षा काल को अक्षुण्ण बनाये रखती है ताकि उच्च शिक्षा प्राप्त करने मे कोई बाधा न आ पाये। वैसे उच्च कोटि की शिक्षिताओ की भी नितान्त आवश्यकता है, लेकिन स्त्री के जीवन मे मातृत्व प्राप्त करने की अभिलाषा अदम्य है। यदि उनमे उस भावना का समावेश न होता तो सृष्टि का प्रसार होना असभव था।

नाभिमण्डल मे उद्भूत माँ शब्द से सम्बोधित होने के लिए नारी हृदय कितना लालायित व उत्सुक बना रहता है इसका अनुमान एक स्त्री ही लगा सकती है। यह स्त्री की वह प्यास है जिसे ससार के सुखद-से-सुखद पदार्थ शान्त करने मे सदैव असमर्थ बने रहते है और रहेगे। नारी की यह अशान्त कूक उसी समय शान्त हो पाती है जबकि उसी के उदर से उत्पन्न बच्चा उसे माँ कहकर सम्बोधित करता है। अन्य मुख से मुखरित माँ शब्द औपचारिक ही होता है। उसमे वह आह्लाद कहाँ जो स्वाति बून्द का काम करे। नारी के जीवन की अगर कोई परम साध है तो उसी मे उत्पन्न सन्तान की। अपनी सन्तान के अनुपात मे ससार के अमूल्य-से-अमूल्य सुखद पदार्थ सब फीके है। शब्द 'माँ' त्रैलोक्य के निखिल ऐश्वर्य का उद्गम स्थान है। इसमे कितना चमत्कार है, जादू है, वह वर्णनातीत है। रोग-ग्रस्त मा जब बच्चे से माँ शब्द सुन लेती है तो उसे तत्काल कितनी शान्ति मिलती है, यह तो सब ही का अनुभव है। रामकृष्ण परमहस ने तो माँ शब्द की रटन मे योग की परम कोटि प्राप्त की थी। स्त्री जब माँ बनती है, तब अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त होती है। वह सर्वसम्पन्न है, वह काली है, दुर्गा, चण्डी व महामाया है। अत वह पूज्या है। समाज, देश की वह माता है। इस नाते स्त्री-जीवन का कार्य-क्षेत्र पुरुष जीवन के कार्य-क्षेत्र से नितान्त भिन्न है। किन्तु अगम बुद्धि प्रभु की लीला का कौतुक तो देखो, कि इन दोनो के कार्य-क्षेत्र की परिधि बाहरी रूप से इतनी भिन्न होने पर भी दोनो का उद्देश्य एक है। ये एक-दूसरे से स्वतत्र नही। किन्तु नितान्त सन्नद्ध हैं, जैसे एक हाथ ने थाली मे आटा डाला, दूसरे ने पानी। कहाँ आटा, कहाँ पानी, लेकिन आटा गूँधने लगे दोनो हाथ एक

होकर। उद्देश्य रोटी बनाना, कार्य-क्षेत्रो की भिन्नता के बाद भी एक ही है।

दोनो के क्षेत्र स्पष्ट दिखाई देते है। एक का क्षेत्र है प्रजनन, दूसरे का पोषण-रक्षण। तो इनकी कला भी भिन्न ही होनी चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र विस्तृत है किन्तु ज्ञान से ओत-प्रोत भी। अधूरा ज्ञान दुख का कारण बने बिना नही रहेगा। दोनो के अपने-अपने क्षेत्र का उत्तरदायित्व प्रबल है। अशत देखा जाये तो इन दोनो का सम्मिलित उत्तरदायित्व देश के प्रति है। अपने इस उत्तरदायित्व मे असावधानी, विमुखता, असफलता, गिरावट आदि अपने देश के प्रति घात है। जिस देश ने तुम्हारे लालन-पालन मे अपना सर्वस्व दिया है तो तुम्हारा भी कार्य हो जाता है उसके ऋण को चुका देना। वह ऋण तभी चुकता है जबकि हम सुयोग्य सन्तान से इसे सुशोभित कर दे। इसका साराश यह निकला कि मनुष्य अपने लिए जीता हुआ भी दरअसल मे देश के लिए ही जीता है। देश की परिधि के बाहर तो कोई जा नही सकता, इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह जीवन यापन इस प्रकार करे, जिससे देश को किसी प्रकार की क्षति न पहुचे प्रत्युत् देश बलिष्ठ एव अग्रगतिशील बना रहे।

स्त्री-पुरुष को अपने-अपने क्षेत्र मे निपुण बनना चाहिए। इनके क्षेत्र अपने मे पूर्ण सबल है। इनमे न कोई छोटा है, न बडा। छोटे-बडे की भावना घोर अज्ञान का फल है। भला देखो तो, बिना पानी के कोई आटे से अपनी रोटी बना सकता है, और बिना आटे के पानी से? दोनो का होना अनिवार्य है। तब बडा-छोटा कौन हुआ? शरीर का कोई भी अग न है, मध्यम न विशेष। प्रत्येक अग अपनी-अपनी विशेषताओ से भरपूर है।

प्रथम रजोदर्शन के पश्चात् ही कन्या स्त्रीत्व मे पदार्पण कर जाती है। उसे अपने शरीर विशेष का ज्ञान होना प्रारम्भ हो जाता है। रजोदर्शन प्रकृति का नियम है। ऋतुकाल एक विशेष काल है, उस समय की चर्या भी एक विशेषता लिए होती है। उसे उस चर्या का ज्ञान करा देना आवश्यक है क्योकि वह लाभान्वित होगी। स्त्री को मातृत्व जीवन का ज्ञान प्राप्त होना अपने लिए एवं आगन्तुक शिशु के लिए बडा ही लाभदायक होता है। शिशु की देख-रेख, उसके साधारण रोगो की पहिचान, निदान, उनके इलाज की घरेलू औषधियो का ज्ञान, किन-किन लापरवाहियो के कारण शिशु रोगग्रस्त हो जाते हैं, उस स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए नितान्त आवश्यक

है। गर्भाशय मे भ्रूण अपने पूर्व-जन्म के सस्कार एव अपने माता-पिता के सस्कारो से प्रभावित होता चला जाता है। उसकी आगामी जीवन-निर्माण की बुनियाद यहीं से शुरू हो जाती हे तो फिर बताओ तो, माता-पिता को कितना सचेत रहना चाहिए।

इस न्याय से शिशु-निर्माण-कला अपने मे स्वय एक विज्ञान है जिसका ज्ञान प्रत्येक माता को प्राप्त करना अनिवार्य है। इसलिए स्त्री-शिक्षा कई भागो मे विभक्त कर देनी चाहिए।

आज हमारे देश की नारी पाश्चात्य शिक्षा एव सभ्यता से पोषित एव प्रभावित होकर, परवश जननी होने पर भी, मातृत्व की धुरी से दूर, बहुत दूर भागी चली जा रही है। इस द्रुतगति का पर्यावसान अधोगति के किस बिन्दु पर जाकर टिकेगा, कल्पना तक करना दुष्कर प्रतीत होता हे।

आज की नारी मे रजोगुण, तमोगुण की बीभत्स अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी है। यह रणचण्डी अपने ताण्डव के आवर्त्त मे कितनो को भस्मसात् कर बैठेगी, लिखना कठिन ही नही वरन् असभव है। हाँ, एक आशा की रेखा आर्य-जगत के आकाश मे जरूर झलक रही है, कि आज भी बहुत-सी विदूषि नारियाँ आर्य ललना कहलाने मे गौरव, मान, प्रतिष्ठा महसूस करती हैं। हमारी आर्य सस्कृति का ताना बरकरार है, टूटा नही। सिर्फ फर्क आया है बाने मे। ताना बाने को अपनी मौलिकता याद दिलाने मे यथेष्ट जागरूक बना हुआ है।

इतना होने पर भी आज की नारी, शोभा, मान, प्रतिष्ठा, गौरव की पीठिका पर प्रतिष्ठित होने मे प्रयत्नशील दिखाई पडती हे, किन्तु इस पीठिका की अधिकारिणी सिर्फ आर्य ललना ही हो सकती है, अन्य पन्थगामिनि कदाचित् नही।

इन सब विपरीत परिस्थितियो को दृष्टिगत रखते हुए, हमे नारी शिक्षा की एक रूप-रेखा खीच लेनी होगी जो कि हमारी आर्य सस्कृति की रक्षा मे सक्षम हो और आज के आधुनिक मोड को भी अपनी तरफ मोडने मे समर्थ बनी रहे। इसमे भी आशा की परिपुष्ट रेखा हमारी आँखो से ओझल नही है।

हमारी नारिया जब पाश्चात्य देशो की जूठन खाने को दौडी चली जा

रही है तो वहा की नारिया भी हमारी सस्कृति की तरफ झुकी हुई नजर आ रही है। जब यूरोप की नारी हमारे यहा की सुन्दर साडी पहिन कर और अपने भाल पर एक सिन्दूर का टीका लगाकर तथा सिर को साडी से ढककर अपने मुख-मण्डल को दर्पण मे देखती है तो अपने-आप पर मुग्ध हुए बिना रह नही पाती। वह उस साडी, उस सिन्दूर की आभा, शोभा, प्रतिष्ठा को देखते-देखते विचारमग्न हो जाती है और सोचती है कि जिस पोशाक, लिबास मे इतना प्रसादगुण है तो उसे धारण करने वाली ललना के हृदय पर कितना शुद्ध, पवित्र प्रभाव पडता होगा। उसके खिलाफ हमारी आज की नारी इसे लात मारकर स्कर्ट को पहिन अपने अग-प्रत्यग को दिखाने मे अपने को गौरवशालिनी समझ बैठी है। आज की शिक्षिता सुन्दर नारी अपने घर के गौरवपूर्ण वातावरण से दूर भागकर सिनेमा मे एक्ट्रेस बन अपने अगो की आभा, भाव-भगिमा का प्रदर्शन करने मे अपनी कला की पराकाष्ठा समझती है। इतना ही नही, न जाने उसको कितने पुरुषो के बदबूदार स्वास-प्रश्वास से अपनी सास मिलाने को बाध्य होना पडता है।

पाश्चात्य कोसमैटिक्स से रगे ओठ और हाथ-पैर के नाखूनो पर से जब उनकी लाली धुल जाती या मध्यम पड जाती है, उस समय उनकी कैसी विचित्र तस्वीर बनती है, सभी जानते हैं। हमारे यहा ललनाए पान खाकर होठो को रचाती थी। होठ लाल भी हो जाए और मुख से एक सुवास भी आती रहे। मेहदी से रचे हाथ ज्यो-ज्यो धुलते चले जाते है, उतने ही मोहक प्रतीत होते हैं, किन्तु अपना सब कुछ त्यागकर दूसरे के सामने याचना करना कहा की सभ्यता है ?

हमारी हिन्दू सस्कृति के अनुसार नारी के विभिन्न रूप कितने पवित्र एव आदरणीय है ? पिता के घर मे कन्या शब्द से सम्बोधित होती है, पाणिग्रहण-सस्कार के बाद वधु की सज्ञा उसे प्राप्त होती है और पति के गृह मे लक्ष्मी पद से सुशोभित होती है। सन्तान होने के पश्चात् वह मा के नाम से सम्बोधित होती है और आजन्म इस पद पर आरूढ रहकर इहलीला की समाप्ति के बाद स्वर्गारोहण करती है। इतना आदर्शपूर्ण पद स्त्री को हमारी ही सस्कृति मे प्राप्त हैं, अन्य सस्कृति मे नही। जो समाज की जननी हो, माता हो, निर्माता हो, उस पुनीत आत्मा की शिक्षा-दीक्षा की रूप-रेखा भी तो इतनी ही पवित्र होनी चाहिए ताकि उसके नैसर्गिक रूप को निखारने मे सहायक बनी रहे। प्रत्येक मनुष्य अपने स्रोत का बडा अभिमानी होता है।

चाण्डाल से चाण्डाल स्वभाववाले मनुष्य को भी अपनी माता की पवित्रता बडी अभिप्रेत बनी रहती हे। माता मे पवित्रता तभी बनी रह सकती है जबकि हमे हमारी नारी की पवित्रता अभिप्रेत हो। वह नारी आगे चलकर किसी की माता तो बनेगी ही। जब ऐसी बात है तो बताओ तो सही कि उनके सदचरित्र की रक्षा समाज को यानी प्रत्येक मनुष्य को कितनी अभिप्रेत बनी रहनी चाहिए। यह कैसे हो सकता हे कि हम तो अपनी कामुक वृत्ति को तृप्त करने हेतु निर्बाधगति से काली करतूते करते चले जाए और माता की पवित्रतम भावना की रक्षा भी करना चाहे। यह तो तभी सभव हो सकता हे कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सयम की शृ खला मे आबद्ध रहे और नारी जाति-मात्र की पवित्रता की रक्षा वह अपना कर्तव्य समझता रहे। इससे अन्य तो कोई स्थिति हो नही सकती।

पुरुष नारी को अपने भोग की सामग्री समझ बैठा है और उसे अपने कुचक्र मे फसाने के लिए क्या-क्या नए-नए षड्यत्र नही रचता रहता हे। ऐसी परिस्थिति मे नारी पवित्र कैसे बनी रह सकती है? जिस समाज की नारी अपवित्र हो, वह समाज रसातल मे न जाये तो अचम्भे की ही बात समझनी चाहिए। उस समाज का भला कैसे हो सकेगा, विचारातीत विषय है। कभी-कभी ऐसी बाते सुनने को मिलती हैं जिन्हे सुनकर कानो के कीडे झड जाते है। एक होटल मे किसी जेन्टलमैन (आधुनिक अर्थों मे) ने स्त्री की माग की। जाने-अनजाने उस अधेरे कमरे मे एक स्त्री ने प्रवेश किया। करम फूटने पर पता चला कि वह तो उसकी सगी भागिनी ही थी तो दोनो के पाश्चाताप का ठिकाना न रहा। कभी-कभी ऐसी नारी आत्म-हत्या भी कर बैठती है। आज कामुकता का ताण्डव नग्नता के साथ हो रहा है। उस अग्नि-कुण्ड से हम कैसे उबरेगे, भगवान ही जाने। आज धनाढ्य एव उच्च-पदस्थ पुरुष के जीवन का ध्येय-सा बन गया हे, धन द्वारा व धरा की प्राप्ति। आज के युग मे साधनो की निकृष्ठता का विचार नही किया जाता। आज की कहावत है "There is nothing fair and foul in love and war"—जग और प्रेम मे साधन की पवित्रता, अपवित्रता कोई अर्थ नही रखती।

एक दिन हम एक मेडिकल कालेज मे जा निकले। कालेज खुलने का समय हो गया था। उसमे हमारे जान-पहिचान के विद्यार्थी पढते थे, उनसे मिलना था। वहा जाकर क्या देखते हैं कि पोर्टिको मे सूट-बूट से लैस

विद्यार्थी खडे-खडे गप्पे मार रहे थे । इतने मे छात्राओ ने भी प्रवेश किया । किसी ने उन पर आवाज कसी । किसी ने आखे चलाई, किसी निडर ने उनकी चुन्नी छेडी, किसी ने उनकी चुटिया खेची । उनमे से कोई गुर्रायी । किसी ने हल्की मुस्कान से उत्तर दिया किन्तु दवे पैर ऊपर चली गई । इन कालेजो मे सह-शिक्षा का जो स्वरूप ठहरा । इतने मे हमारे जान-पहिचान के छात्रो से भेट हो गई । शायद हमे देखकर वे सयत हो गये हो, दूर ही खडे नजर आए । उनसे बात-चीत हुई । हमने जो देखा, उसके बारे मे भी बात-चीत की ।

उनका उत्तर इस प्रकार था—ये सब प्रथम कक्षा की क्षात्राए हैं । और छात्र है । ऊची कक्षा के लडको से मुकाबला करने का एहसास लडकिया कर नही सकती और यदि करे भी तो आफत मोल लेना हे क्योकि लडके उन पर अधिक प्रहार करेंगे । लडकिया यदि प्रोफेसरो व प्रिंसिपल साहब को शिकायत भी करती है तो वे हसकर टाल देते है । वे भी तो एक दिन इसी मर्ज के शिकार हो चुके है, फिर ये भी उन्ही लडकियो मे से अपना शिकार ढूढते रहते हैं । इनके सिर भी छात्रो के समान ही झुके से रहते हैं । वे बोले भी तो क्या बोले ? जो प्राध्यापक कुवारे है वे भी उन्ही छात्राओ मे से अपने जोडे को चुनने की फिराक मे मुत्तसिल हैं, लगे हुए हैं । जिन पर उनकी आखे होती हे, उनको बडे प्रेम से एव ध्यान से समझाते रहते हैं और नम्बर भी बडे अच्छे देते है । धीरे-धीरे ये लडकिया स्वाभाविक ही उनकी तरफ आकृष्ट हो जाती है । धीरे-धीरे सानिध्य घनिष्ठ होता चला जाता है । हम लोग ये बातें जाने बिना तो नही रहते किन्तु आखो मे ही बाते भले ही करले, बोल नही सकते ।

आज नीति, धर्म और सदाचार का दिवाला पिट चुका है । सभी कालेजो मे एक ही समान बात लागू होती है कि उनमे भी राष्ट्र के भावी कर्णधार भ्रष्टता की ओट मे पनप रहे है । आज हिन्दूओ के सदाचार का केन्द्रस्थल रहा ही नही । बचपन से ही इस तरह के स्कूलो व किताबो मे लगे रहने वाले विद्यार्थीगण सदाचार को जान ही कैसे सकते है । घरो मे भी तो आज-कल सदाचार की बाते नही हुआ करती है । दिवाला तो सभी तरफ से पिट चुका है । बचपन से मुसलमानो एव क्रिश्चियन्स के बच्चो को उनके धर्म-ग्रन्थो का बोध करा दिया जाता है । ईसाइयो के बच्चो को सरमन तो याद करा ही दिया जाता है । उनका सम्मान अपने धर्म के प्रति

हमेशा वना रहता है लेकिन हमारे यहा तो हमारे लडको को अपने धर्म-ग्रन्थो की अवहेलना करने मे गौरव प्रतीत होता है। इसलिए उनका जीवन-स्तर किसी विशेष स्थान पर टिका नही रहता। विना पतवार की किश्ती वायु के वेग को सभाल नही सकती। यह चक्कर खाये विना रह नही सकती। न डूवे तो उसकी तकदीर लेकिन वैसे उसका डूवना अवश्यम्भावी होता है। हम मर्यादा के अकुश की छूट से कहा-से-कहा वहे चले जा रहे है? जव हमारी शिक्षा प्रणाली की ऐसी दुर्दशा हो रही हो और हम चिल्लाये कि छात्रो मे अनुशासनहीनता वढती जा रही है तो हम चाहे जितना चिल्लाया करे, कुछ आनी-जानी नही। जव जड मे दीमक लग जायेगी तव वृक्ष पनपेगा क्या खाक?

पाश्चात्य देशो के महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयो आदि के प्राध्यापक अपने-अपने विषय मे निपुण, विद्वान, मनीषि होते हैं, छिछले नही। अपने विषय पर उनका पूर्ण अधिकार होता है। वे वडे अध्ययनशील और विचारक होते हैं। उनके मस्तिष्क को खुरापात छू तकनही पाता। उन्हे इधर-उधर की वातें सोचने का समय ही कहा। इसलिए हमारे देश के विद्यार्थी उनसे सीखने जाते है। वहा नाना प्रकार के विषयो का गूढ अध्ययन शोध की दृष्टि से किया जाता हैं। यहा का अध्ययन है जीवनयापन का साधन। जिस दिमाग मे यह फितूर भरा हो, वह भला क्यो कर गूढ अध्ययन करेगा। हमारे अन्त करण मे नीति, धर्म व सदाचार की धार भौथरी पड गई है। वह इतनी कुण्ठित हो चुकी है कि अच्छे-वुरे का ज्ञान भी समाप्त हो चुका है। जव अन्त करण की भान करने की शक्ति (Sensitivity of Conscience) मर चुकती है तो उसे पशु-स्तर पर आ खडे होने मे देर ही क्या लगेगी?

पाश्चात्य देशो की मचलती स्त्रिया अगर नग्न रहना पसन्द करने लगी हैं तो वहा की सभ्य महिलायें उस घातक रिवाज के खिलाफ अपनी आवाज वुलन्द करने मे तनिक भी हिचकती नही। वे तो भारतीय वेशभूषा को इतना पसन्द करने लगी है कि यहा से करोडो रुपयो की साडिया साल-की-साल वहा चली जाती हैं और हमारी स्त्रिया वहा के गलत मार्ग पर चलनेवाली नारी की नकल करने मे सलग्न है। नही, नही, ये तो उन्हे मात देने मे उतारू है। वहा के पण्डितगण हमारे शास्त्रो का सस्कृत मे अध्ययन करे और हमे वताए कि देखो, तुम्हारे शास्त्रो मे क्या-क्या जौहर भरे पडे है, और हम उन्ही शास्त्रो का इतनी अवहेलना करे कि इन शास्त्रो ने ही हमको इतना

निकम्मा बना दिया है कि दूसरो के सामने सर तक भी नही उठा सकते हैं। देखो तो, यह भी कैसी विडम्बना है। वहा के मानसिक स्तर का हम यहा एक उदाहरण देते हैं।

वहा का एक कुशल शिल्पी स्त्री की प्रतिमा गढने हेतु किसी सुन्दर स्त्री को नग्न कर सामने बैठा लेता है। उसके शरीर की गठन को वह गहरी दृष्टि से देखता जाता है और मूर्ति का निर्माण करता रहता है। यदि तनिक भी उसकी दृष्टि कामुक हो चले तो जानते हो क्या होगा, उसका शिल्प बिगडे बिना नही रहेगा। फिर उसकी बनाई हुई मूर्त्ति की कद्र कहा? उसकी दृष्टि मे वह माडल जडवत है। दूसरी ओर उस माडल के दिल मे भी हलचल मच जाये तो उसकी भाव-भगिमा बिगडे बिना न रहेगी। तब दोनो असफल उतरेंगे। वहा की पेंटिंग, मूर्तिया हजारो-लाखो की कीमतवाली बनती हे क्योकि मनोयोग का फल जो ठहरा। हम यहा इतना मनोयोग कर ही नही पाते, हमारी भूमि तो रोगियो की भूमि कहलाती है!

हमारे यहा हर साल हजारो की तादाद मे युवक डाक्टरी परीक्षा पास करके निकलते है लेकिन उनमे से कोई एक सिद्धहस्त होता हे और उसे भी विदेश की छाप लेनी पडती हे तब कही उसकी कद्र हो पाती है। यदि वे दूसरे देश इतने उन्नतिशील है तो हम इतने उन्नत क्यो नही हो पाते? इसका उत्तर एक ही है—शिक्षण काल मे मनोयोग का अभाव।

इन सब बातो को दृष्टि मे रखते हुए अब हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि आज के युग मे स्त्री-शिक्षा एक अनिवार्य विषय है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती। अत एक बार फिर इस पुण्यभूमि पर सीता-सावित्री जैसी विदुषियो व शिक्षिताओ का अवतरण हो सके ऐसी स्त्री शिक्षा की रूपरेखा खीचनी होगी।

धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र एवं भौतिकवाद

प्रागैतिहासिक काल से ही हमारा देश धर्म परायण रहा हे। ससार के अन्य सभी देश भी धर्म परायण है। सोवियत रूस ने अपने जन्म-काल के प्रथम चरण मे धर्म की अवहेलना की थी और की भी बडी कठोरता व क्रूरता से, किन्तु सुनते है आज फिर वहाँ मस्जिदो मे अज़ान व गिरजा घरो मे घण्टे सुनाई पडने लगे है। धर्म प्राण है और प्राण के बिना जीवन ही कैसा ?

हमारे यहाँ धर्म का अर्थ है जो धारण करे। यह विश्व एक ऐसी शक्ति पर अवलम्बित है जिसका नाम है घृत। यही इस विश्व का धर्म है जो उसको धारण किए हुए है। इसी प्रकार हमारा शरीर धारण किए हुए है प्राण। यह प्राण शरीर का धर्म है। प्राण हीन शरीर निस्तेज, निर्जीव एव जड है। प्राण रहित शरीर अपना अस्तित्व बनाये रखने मे नितान्त असमर्थ है।

अग्रेज आए, उन्होने हमारे देश मे इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली कायम की जिसकी छाया मे आकर हम अपने पुरातन, सनातन धर्म के नाम से लज्जा अनुभव करने लगे व झेपने लगे तथा उसकी अवहेलना करने लगे। इस प्रकार

धारणा ही हमारे पतन का कारण वनी न कि हमारा धर्म हमारे पतन का कारण वना ।

हम भूल गए कि मुगल शासन काल के कठोर, क्रूर अत्याचारो की चपेटो से हमे वचाने वाला हमारा धर्म ही था जिसके वल पर इतनी कठोर यातनाओ मे से गुजरने के वावजूद भी हम जीवित रहे और अपने अस्तित्व को कायम रखने मे सफल रहे । लॉर्ड मैकाले ने इगलैड को भेजी हुई अपनी रिपोर्ट मे लिखा था कि हम इस देश मे ऐसी शिक्षा प्रणाली को कायम करेगे जिससे देशवासियो का शरीर तो ज्यो-का-त्यो वना रहे किन्तु उनकी आत्मा हमारे दासत्व को सहर्ष स्वीकार करले और उस स्वीकृति मे ही अपना गौरव अनुभव कर सके । इन अग्रेजो ने अपने मिशनरियो द्वारा हमारे धर्म पर कुठारा घात किया । उनका राष्ट्र ईसाई धर्म-परायण है और उस राष्ट्र का वादशाह धर्म-रक्षक की सज्ञा से सम्वोधित किया जाता है जवकि उस देश के वडे-वडे दार्श-निक व विद्वत्जन हमारे शास्त्रो की भूरि-भूरि प्रशसा करने से अघाते नही । हम उस चाल के चक्र मे आकर, विकेन्द्रित हो गए और जव हमे स्वतत्रता मिली तो हमने वडे गर्व के साथ अपने राष्ट्र को धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित करते हुए वडे गौरव का अनुभव किया । दुर्भाग्यवश भौतिकवाद के अनन्य भक्त हमारे नेता हमारे पथ-प्रदर्शक वने । हम उनकी चिकनी चुपडी वातो मे वह गए ।

देखो तो यह भी कैसी विडम्वना है कि यदि कोई हिन्दू अपने धर्म की रक्षार्थ जरा भी मुह खोले तो उसे साम्प्रदायिकतावाद के खडग से आहत किए बिना नही रहते जवकि अन्य धर्मावलम्वी करोडो की सख्या मे अपने धर्म का पालन करते हुए हमारे ही राष्ट्र मे हमारे ही धर्म को पददलित करे और हम यदि जरा भी उफ् कर दे तो फिर देखो, हमारा राष्ट्र हमारे ऊपर अत्या-चार के पहाड को ढाहने मे कसर नही रखता ।

हमारा राष्ट्र अन्य धर्मावलम्वियो के पूजा-गृहो की मरम्मत व स्थापन-कार्य करने मे हिचकिचाता नही लेकिन जब कभी हम अपने पूजा-गृह की रक्षार्थ उनके नजदीक अपनी छोटी-सी भी अपील ले जाये तो इन्हे ऐसा लगता है जैसे किसी भयकर विषैले सर्प ने इनको छू लिया हो । हमारे नेता हिन्दू कोड के अन्दर तवदीले करने मे न हिचकिचाये, उनकी सास्कृतिक व्यवस्था को मिट्टी मे मिलाने के लिए तनिक भी न डरे लेकिन इन्ही महापुरुपो की कहाँ ताकत कि अन्य धर्म सम्बन्धी व्यवस्था मे राष्ट्रीय नियम के अनुसार कोई छोटी-

सी तवदीली तो कर दे। यह तो ऐसी बात हुई जैसे कोई हमारे घर मे आकर घुस जाय और हम अतिथि मान कर उसका सत्कार करने लगें। और वह हमारे घर का सफाया करता चला जाय और उसके कुकृत्यो के प्रतिवाद स्वरूप निकली हुई हमारी आवाज को वह अपने स्वाभिमान का घातक मान ले। एक तो हमारे अस्तित्व को ही मिटाने पर उतारू हैं, फिर हम वदले मे उसकी पूजा करने मे नही अघाते। आखिर हम तो हिन्दू है न, क्षमा शीलता तो हमारा धर्म जो ठहरा।

हमारा हमारे धर्मानुयायियो के प्रति किस प्रकार का रुख है इसका जरा दिग्दर्शन तो करे। गोरक्षा आन्दोलन के समय जव हमारे धर्म के महान प्रतिष्ठित आचार्य दिल्ली गए (गो हत्या के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करने) तो हमारे उन धर्म-अधिष्ठाताओ का स्वागत किस प्रकार हुआ यह किसी से छिपा नही है। दूसरी तरफ जव कैथोलिक धर्म के प्रधान आचार्य का भारतवर्ष मे पदार्पण हुआ तो राष्ट्र ने उनके स्वागत मे कोई कोर-कसर न रख छोडी। वदले मे उसने दो-चार लल्लो-चप्पो की वाते कर दी और हम आज उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करने मे अघाते नही। वह कौन-सा सपूत था जिसकी चरण-धूलि को अपने मस्तक पर अकित करने मे अपने को गौरवान्वित न समझा हो। उसके ईसाई मत का प्रधान ग्रन्थ वाइविल है तो क्या वाइविल के मुकावले मे हमारा कोई भी धर्म-ग्रन्थ समर्थ नही ?

एक दफा मैं रेलगाडी मे सफर कर रहा था और उसी डिव्वे मे इगलैंड से आए हुए एक मिशनरी से वातचीत के दौरान मे वह मुझसे पूछ वैठा कि जरा वताइये तो सही कि आपकी गीता का प्रणेता कौन था, कृष्ण या द्वैपायन ? मैंने उत्तर दिया कि प्रणेता तो कृष्ण ही थे किन्तु आज का कोई भी भौतिक वादी उसका प्रणेता वनने का गौरव लूटना चाहे तो हमको कोई आपत्ति नही। उसकी मान्यता उसके प्रणेता के नाम के भरोसे नही है। प्रणेता गीता को महत्व प्रदान नही करता। गीता ही अपने प्रणेता को महत्व प्रदान करती है। अन्य देशो के दार्शनिक जव इस महान पुस्तक मे गोता लगाते हैं तो आश्चर्य से भर उठते है कि इसका प्रणेता कौन रहा होगा, किस कोटि का रहा होगा और ऐसे प्रणेता का यह ससार दोवारा दर्शन नही कर पाएगा क्या ? उनकी आखो मे चका-चौध भरने वाला तो गीता दर्शन है न कि उसके प्रणेता की अलौकिक विभूतियाँ। अनेक वातो के दौरान एक-प्रश्न करने की मैं उनसे धृष्टता कर ही तो वैठा कि कृपया जरा वताइये तो, यदि आपकी वाइविल से उसके प्रणेता

का नाम हटा दिया जाय तो वह किस अवस्था को प्राप्त होगी, कहाँ जाकर टिकेगी ? वे सज्जन खामोश थे। बातो का सिलसिला टूटता गया। कैथोलिक सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य, जिसके अनुयायी आज ससार मे अरबो की सख्या मे हैं, के खिलाफ कोई एक शब्द भी निकाल दे क्या मजाल, उस मत का अनुयायी उसके खिलाफ उफ् तो कर दे। उसकी वाणी ईश्वर की वाणी मानी जाती है। ठीक ही है, जो अपने आचार्य, गुरु, माता, पिता, जन्म भूमि, व राष्ट्र का स्वाभिमानी होता हे, स्वागत करता हे, ससार का सम्मान-प्राप्त व्यक्ति वही होता है।

आज का भौतिकवादी व्यक्ति रोटी और मन की आजादी के फिराक मे ही है। रोटी पाने के साधन उसके हाथ मे हैं किन्तु शाति व आनन्द प्राप्त करने के साधनो के लिए हाथ पटकता तो वह नजर आता है लेकिन बदले मे वह निराश ही होता है। उसके प्रयास उस व्यक्ति के समान हैं जो नदी या तालाव मे खडा है और अपने प्रतिविम्व को पकडना चाहता है।

एक समय की बात हे कि मैंने अपने पौत्र को दर्पण मे उसका मुख दिखलाया और यह देख बच्चे दे कहा, दादाजी मुझे दर्पण मे पकडिये। उसको हँसाने के लिए मैं दर्पण की तरफ हाथ करके उसके प्रतिविम्व को पकडने की चेष्टा करता और मेरी विफलता पर वह हँसता जाता। उसने मेरे द्वारा अपने प्रतिविम्व पकडने की रट लगा दी। झट से मैंने उसका कान पकड लिया तो उसको ताज्जुब हुआ और कहने लगा कि आपने तो मेरा कान पकड लिया। मैंने कहा, तेरा कान पकडने पर ही तो तेरे प्रतिविम्व का कान पकडा जाएगा। यह प्रतिविम्व है भौतिक विकास, जोकि हमारी आत्मा का प्रतिरूप है। भौतिकता मे भी अगर सुख, शाति, आनन्द प्राप्त करना कोई चाहे तो उसे आत्मा की खोज व पहचान करनी होगी किन्तु लोग ऐसा करने से तो घबराते ही हे। अव बतलाइये कि विना जल-स्रोत के पास गए प्यास किस प्रकार बुझ सकती है। आदमी आनन्द प्राप्ति के लिए भटकता है लेकिन उसका आनन्द उसी मे समाया हुआ हैं और वह हे उसकी आत्मा। अगर आत्मा को प्रज्ज्वलित किया जाए तो सुख की चिनगारियाँ निकलेगी और वही परमानन्द कहलाता है। इस आत्मा का ज्ञान ही आध्यात्मवाद कहलाता है। जीवन रूपी गाडी के दो पहिये—भौतिकवाद व अध्यात्मवाद—है। एक की इनमे से अवहेलना करने पर दूसरा पगु हो जाता हे और इनका समन्वय ही सफल जीवन की कुजी है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध

अध्यापक अध्येता का पारस्परिक सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान माना गया है। पिता ही जनक है, जन्म देने वाला है। शरीर एक प्रकार का वाहन है जिस पर आरूढ होकर जीवात्मा विकास की तरफ अग्रसर होता है। विकास क्या है ? विकास एक प्रकाश है जो हमारे जीवन मे उन्नति के द्वार खोल सके। प्रकाश दे सके। विद्या रूपी प्रकाश प्रदान करने वाला गुरु होता है। अत वह अध्येता का पिता है। जन्मदाता पिता अपने बच्चो का पोपक है, रक्षक है, उसका एकही ध्येय रहता है कि मेरा बच्चा परिपुष्ट होता जाए। वह स्वय कष्ट पाने पर भी अपने बच्चो को कष्ट देना नही चाहता और भरसक प्रयत्नशील बना रहता हे कि मेरे बच्चो को कष्ट की आँच लगने न पावे।

इसी प्रकार की शुद्ध भावना से प्रेरित होकर अध्यापक अध्येता को अध्यापन कराते है। अध्यापक की यह शुद्ध भावना शिष्य को प्रभावित किए बिना नही रहती। गुरु, शिष्य को ज्ञान-चक्षु देने वाला है जिसके द्वारा जीवन के नए-नए परत खुलते नजर आते है और शिष्य का भी धर्म है कि ऐसे प्रकाश दाता का आजन्म कृतज्ञ बना रहे। रोगी वैद्य का तभी कृतज्ञ होगा जब वह

उसका रोग निवारण कर दे। जव उसी रोगी से वैद्य फीस ले ले, दवाई के पैसे ले ले और वह अच्छा भी न हो तो वैद्य के प्रति रोगी के हृदय मे प्रेम और कृतज्ञता का भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और यह प्रकृति का नियम है। यह भव है, भव मे अपवाद होते हैं। पहले क्रिया होगी और वाद मे प्रतिक्रिया किन्तु आज देखने मे आता है कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध वडा ही विकृत हो चला है। विद्यार्थीगण इतने अनुशासनहीन हो चले हैं कि वे अपने प्रोफेसरो व टीचर्स् को अपमानित तो कर ही देते हैं वल्कि प्रहार भी कर वैठते हैं और इस प्रहार मे अपनी विजय देखते है। क्या इस अनुशासन—हीनता का उत्तरदायी विद्यार्थी वर्ग ही है ? विद्यार्थियो के शिकार वे ही अध्यापक होते है जो कक्षा मे आए, कुछ पढाया, कुछ-इधर-उधर की वाते की और घण्टा वजते ही कक्षा छोडकर चल दिए। वे इतना भी ध्यान नही देते कि किस विद्यार्थी ने कितना काम किया है। जो कमजोर विद्यार्थी है वे अग्रसर हो रहे है कि नही। उनकी कमजोरियाँ किस कारण से हैं, वे कहा अटके हुए हैं जिसके कारण वे गतिशील नही हो पा रहे है। आज के अध्यापक को इसकी चिन्ता नही है कि पढाते समय कौन विद्यार्थी ध्यान से पढता है और कौन नही। न उनकी वाणी मे मिठास, न प्रेम, लाल आँखें दिखाने और फटकारने मे तनिक भी हिचकिचाते नही। यदि ये सहानुभूति से विद्यार्थियो को पढायें तो कोई भी विद्यार्थी उनके खिलाफ नही जा सकता।

शिक्षको की आम शिकायत है कि उनको उपयुक्त वेतन नही मिलता तो वे ज्यादा पढायें क्यो ? दुकानदार गाहक को उसके पैसो के अनुपात मे ही तो माल देगा, किन्तु उनकी यह धारणा गलत है। विद्यार्थीगण तो अपना नियत शुल्क दे देते हे। प्रत्येक टीचर अपने आवेदन-पत्र मे यही तो लिख कर आशा दिलाता है कि मैं अपने कर्तव्य का पूरी तरह निर्वाह करूगा किन्तु कार्य होने पर वे ऐसा नही करते हैं। जब वे ही कर्तव्यहीन हो चलते है तो उनके शिष्यो से कर्तव्यपरायणता की कैसे आशा रख सकते है ? अनुशासन की भी तो कोई आधारशिला है। यह आधार-शिला है उनके सिद्धान्त और उन सिद्धान्तो का ईमानदारी से निर्वाह। अनुशासक अपने सिद्धान्तो मे डटा हुआ है और तब अनुशाषित अनुशासन की लगाम तोड कर भागने लगे तो अवश्य ही वह अनुशासनहीनता है। बच्चे उद्दण्ड क्यो बन जाते है ? इसका कारण है माता-पिता का लापरवाही। उनका अतशिय लाडचाव वच्चो के प्रति

अतिशय प्रेम-प्रदर्शन, निग्रह करने का अभाव, समाज मे फैली हुई बुराइया— ये सब मिलकर बच्चो को उद्दण्ड बना देते हे। ऐसे उद्दण्ड बच्चे आगे चलकर दण्ड द्वारा भी काबू मे नही आ पाते। शारीरिक दण्ड उनकी उद्दण्डता को और भडका देता है। वे मानसिक दण्ड पाकर बहुत कुछ सुधर भी जाते है लेकिन सारे बच्चे उद्दण्ड नही होते और सीधे बच्चे तो उद्दण्ड हो ही नही पाते। हालाकि उद्दण्ड बच्चे उन्हे भी उद्दण्ड बनाने मे प्रयत्नशील रहते है किन्तु वे ज्यादा सफल नही हो पाते। जरा-सी भी उद्दण्ड प्रकृति वाले बच्चे उद्दण्ड बच्चो के चगुल मे फँस जाते है किन्तु ऐसे भ्रमित बच्चो को सही मार्ग पर ले आना सुगम बना रहता हे। यहा अध्यापक का कर्तव्य है कि उद्दण्ड बच्चो से बिना भडके उनको पढाई-लिखाई पर ज्यादा ध्यान दे। अध्यापक का व्यवहार ही उनको अपने नियन्त्रण मे लाने मे सक्षम बन सकता है।

व्यवहार एक बहुत बडा साधन है जिसके द्वारा हम दूसरो के हृदय पर विजय प्राप्त कर सकते है, हृदय हृदय से जीता जा सकता है। घृणा घृणा को नही जीत सकती। घृणा घृणा को घनीभूत बनाती है। घृणा के ऊपर विजय होती है प्रेम की, सहानुभूति की और मनोविज्ञान की। अगर इस मनोवैज्ञानिक आधार का सहारा लेकर अध्यापक चले तो बहुत अशो मे विद्यार्थी के हृदय पर काबू जमा सकते है किन्तु आज का अध्यापक इतना करने को तैयार नही है, शायद वह इन बातो को समझता भी न हो। उसका यह अहकार कि मैं अध्यापक हूँ और विद्यार्थियो को मेरा हुक्म मानना ही होगा उसी तरह जिस तरह कि एक सिपाही को अपने हाकिम का हुक्म मानना होता है, तो आज के परिप्रेक्ष्य मे उसकी ये धारणाये गलत है और विनाशकारी भी जिसके कारण सस्थाये विद्रोह के भवर जाल मे फँसी हुई है। आज का अध्यापक अपनी कक्षाओ मे विद्यार्थियो को भली-भाति इसलिए नही पढाता कि यदि कमजोर विद्यार्थियो की कमी पूरी हो गई तो उसे ट्यूशन न मिल सकेगी और वह ट्यूशन करता-करता स्कूल मे खाली दिमाग ही आता है जिसके कारण वह एकाग्रता से पढा भी नही सकता। स्कूल जाने के पहले वे इतना भी ध्यान नही रखते कि आज क्या पढाना है और किस तरीके से पढाना है ताकि कमजोर-से कमजोर विद्यार्थी भी लाभान्वित हो सके।

दूसरी ओर, आज का विद्यार्थी भी विशेष परिश्रम नही करना चाहता। बहुत से पुरुषार्थहीन व्यक्ति परिश्रम से कमाने के बजाय दूसरो के टुकडे तोडने मे अपनी बुद्धिमानी व होशियारी समझते है। वे समझ नही पाते कि ऐसा

करने से उनका मानसिक एव बौद्धिक स्तर कितना हीन हो चलता है और आगे चलकर उनको अनेक यातनाओ का शिकार बन जाना पडता है । आज का विद्यार्थी अपनी पाठ्य-पुस्तको का भली-भाति अध्ययन न कर सुगमता से अपनी परीक्षाओ मे सफल हो जाने का रास्ता ढूढता रहता है । बहुत-से लडके अध्यापको द्वारा लिखे नोट्स की शरण लेकर परीक्षा मे सफल हो जाते हैं । बहुत-से विद्यार्थी परीक्षा भवन मे नकल करते हैं और पास हो जाते हैं । इन तरीको से वे परीक्षा मे सफल अवश्य हो जाते है किन्तु जिस दर्जे की योग्यता उनमे होनी चाहिए वह नही आ पाती । बहुत-से विद्यार्थी नकल करते समय पकडे जाते हैं और उन्हे निष्कापित कर दिया जाता है । इस तरह असफल होने पर विद्यार्थियो मे अपने अध्यापको के प्रति रोष भडक उठता है और उन्हे ही वे अपनी असफलता का कारण घोषित करते हैं । वे अपने अध्यापको पर दोषारोपण करते हैं कि अगर उन्होने ठीक तरह पढाया होता तो वे असफल नही होते । उन्हे इस समय अपने दोष नजर नही आते हैं और उनकी लापरवाही उस समय उनको काटती है, आत्मा कोसती है और यहा तक कि बहुत-से विद्यार्थी तो आत्मघात तक कर लेते है । इन सब की प्रतिक्रियाए विद्यार्थी समाज पर सामूहिक रूप से आघात किये बिना नही रहती ।

छोटी अवस्था मे मस्तिष्क विकसित नही होता है और विचार शक्ति भी विशेष उन्नत नही होती । विद्यार्थियो के माता-पिता भी अपने बच्चो को दोषी न ठहराकर स्कूल व कालिजो के मैनेजमेट, अध्यापक व प्रोफेसरो पर सारा दोष मढ देते हैं और इन्हे ही बच्चो की असफलता का उत्तरदायी ठहराते हैं । ऐसा करने से बच्चे अनुशासनहीनता के लिए उत्साहित हो उठते है, फिर क्रिया-प्रतिक्रिया का ताण्डव-नृत्य होने लगता है और जो विद्यार्थी अपने अध्यापको को अपमानित कर देते है उन्हे अन्य सहपाठी अपना हीरो बना लेते हैं । इस प्रकार बना हुआ हीरो अन्य विद्यार्थियो को भी हीरो बनने के लिए उकसाता है, इन्ही सब का परिणाम तो आज के स्कूलो, कालेजो मे व्याप्त अव्यवस्था है । स्कूल-कालेजो मे यूनियन बाजी, विद्यार्थियो की उद्दण्डता हडताल, स्कूलो के अन्दर तोड-फोड व पब्लिक प्रापर्टी को नष्ट करना, रेलगाडियो को रोकना, रेलवे स्टेशनो को लूटना, उनमे आग लगाना, चलते-फिरते किसी को बेइज्जत करना, मारपीट करना, रेलगाडियो मे, बसो मे चित्रगृहो मे बिना टिकिट ही घुसने का प्रयत्न करना आदि इस अव्यवस्था के विविध रूप हैं । वे बाधा का मुकाबला मारपीट और तोडफोड से करते हैं ।

इन सब रोगो की जड है विद्यार्थियो का छिछलापन और यह छिछलापन आता हे विद्या की गहराई से विमुख होने के कारण, परिणामस्वरूप इनके जीवन मे असफलता घर कर लेती है जिसका फल होता है निराशा। असफलता का पूरक (Compensatory Factor) है उद्दण्डता। ऐसे ही पुरुषत्वहीन मनुष्य या तो स्त्रैण वन जाते है या स्त्री पर जोर-जुल्म करके उसे दवाये रखने की कोशिश करते है।

पहले पाठ्य-पुस्तको की टिप्पणिया इस तरह लिखी जाती थी जिनसे विद्यार्थियो को पाठ्य-पुस्तकें समझने मे सहायता मिलती थी। लेकिन अब कुञ्जिया इस प्रकार लिखी जाती हे जिनके अध्ययन करने से लडके परीक्षा मे सफल हो जाते है और पाठ्य-पुस्तके पढने तक की आवश्यकता नही रहती। और उन विषयो (Subjcet) का ज्ञान उन नोट्स तक ही सीमित वना रहता है। विद्यार्थियो को अपने विषय का गहराई से अध्ययन करने की आवश्यकता ही नही रहती। इस प्रकार विद्यार्थी अपने विषय पर अधिकार नही जमा पाता और वह कार्य-क्षेत्र (Practical-field) मे भी असफल वन रहता है और निराशा के चगुल मे फस जाता हे। इसलिए शिक्षा की प्रचलित विधि मे जव तक ऐसा परिवर्तन नही किया जायेगा कि उसके द्वारा विद्यार्थी ठोस वन सके, तव तक उसमे गभीरता आने की नही और उसका छिछला वना रहना ही सारे उपद्रवो की जड वनी रहेगी।

आज की शिक्षा-पद्धति वडी दूषित हे। छोटे-छोटे वच्चो के ऊपर छोटी-छोटी कक्षाओ मे ही इतने प्रकार के विषय-लाद दिए जाते है कि वह किसी भी विषय के ऊपर पूरी तरह से अपना ध्यान केन्द्रित नही कर पाता। हम तो यह कहेगे कि चौथी पाचवी कक्षा तक अपनी मातृ-भाषा का भली-भाँति ज्ञान करा देना चाहिए और सहायक भाषा का साधारण। सुलेख के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और प्रारम्भिक अकगणित का ज्ञान विशेष तौर पर कराना चाहिए। प्रत्येक कक्षा की केवल वार्षिक परीक्षा न होकर त्रैमासिक या चतुर्मासिक परीक्षा होनी चाहिए ताकि इस अरसे मे वच्चा एक पुस्तक अच्छी तरह पढ और समझ सके। पास होने पर एक के वाद एक पुस्तक पढे और समझे और इस तरह से अपनी मातृभाषा की दस-वारह पुस्तकें पढले-तो फिर उस भाषा मे किसी भी विषय को पढने मे उसे कठिनाई का बोध नही होगा और उस विषय को ग्रहण करने की शक्ति भी आ जाएगी। छोटी उम्र मे वच्चो के मस्तिष्क के ऊपर वजन भी नही आएगा, उसका विकास भी होगा

और जिस विषय को वह पढ चुका है उसे आगे चलकर उच्च कक्षाओ मे और भी अच्छी तरह ग्रहण कर सकेगा। आज-कल का बी ए पास युवक—विशेषकर राजस्थान व यू पी का—हिन्दी तक नही जानता है, अंग्रेजी की तो बात ही क्या। बचपन से यदि विद्यार्थी को पढने का चस्का लग जाय और वह अपनी पढाई मे केन्द्रीभूत बना रहे तो आज की बहुत-सी बुराइयाँ काफूर हो जाएगी। रोग का इलाज निदान पर निर्भर करता है न कि केवल दवाइयो पर। दवाइयों का चुनाव निदान से ही हो पाता है। रोग किस किस्म का है, उसका कारण क्या है, जब तक यह न जान ले तब तक हम दवा की क्या व्यवस्था करेंगे। इस लिए शीघ्रातिशीघ्र वर्तमान शिक्षा पद्धति मे तबदीली ले आनी चाहिए।

दूसरी तरफ शिक्षको का इतना वेतन होना चाहिए कि वे अपना जीवन-निर्वाह सम्मान-पूर्वक कर सके। आज यदि हम शिक्षको को ऋषि-जीवन अपनाने केलिए कहे, पुराने जमाने के ढर्रे पर, तो यह कितना अनुचित होगा। आज के समाज मे मनुष्य नग-धडग नही रह सकता, दूसरे वे ऋषि लोग समाज मे तो रहते नही थे, उनके आश्रम जगलो मे होते थे और वही विद्यार्थीगण पढने जाते थे तथा वही उनके खाने-पीने की व्यवस्था हो जाती थी। आज के सदृश उस समय खाने-पीने की भी इतनी भीषण समस्या नही थी। सारी व्यवस्थाए देश काल के अनुसार बदल जाया करती है। अतीत और वर्तमान की व्यवस्थाओ का सामजस्य ही भविष्य की व्यवस्था बनाती है। ये विद्यार्थीगण इसी देश के तो बच्चे है। यही देश के भावी स्तम्भ हैं, राष्ट्र का कार्यभार तो इन्ही के कन्धो पर आएगा। इसलिए इनके कन्धो को बलिष्ठ बनाना बडा ही आवश्यक है।

आज के विद्यार्थी-वर्ग की उद्दण्डता का एक गहन कारण और भी है और वह है धार्मिक शिक्षा का अभाव। धर्म जीवन का केन्द्र है। धर्म अपने सत्य परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य की मनुष्यता, सौजन्य, इसानियत को निखारता है, उसे सवेदनशील बनाता है, उसमे देवत्व भर देता हैं, वह उसे कूपमडूक बनने से बचाता है। धर्म मनुष्य की सकीर्णता को हर लेता है। धर्म मनुष्य को जीवन के सब रूपो का दर्शन कराता है और जब तक मनुष्य को अपने रूप का ज्ञान नही होगा तब तक उसमे स्थिरता नही आ सकती। धर्महीन को जो भी जिस तरह घुमायेगा, वह घूम जाएगा। किसी के मुख को काच में दिखाये विना उसे अपने स्वरूप का विश्वास नही हो पाएगा। लेकिन जब किसी ने

अपना मुख कांच मे देख लिया हो, तब उसके मुख मे यदि ऐब निकाले जाए तो वह उन पर सहज ही विश्वास कर लेगा। जैसे—एक आदमी कही रहता चला आ रहा है, उसे अपने घरवालो, व रिश्तेदारो का कुछ पता नही है, तो किसी को भी उसके चाचा-ताऊ बनने मे क्या जोर लगेगा क्योकि उसे तो अपने घर वालो का ज्ञान ही नही है। इसी तरह जब मनुष्य धर्म रूपी केन्द्र से विकेन्द्रित हो चलता है तो उसकी अवस्था वही हो जाती है जो खूटे से खुल जाने पर गाय, भैस की। वे भटक जाती है। बिना पतवार के नाव पानी मे, खासकर वायु के झकोरो मे, दिशाहीन हो जाती है। उसी तरह आज का विद्यार्थी विकेन्द्रित हो चला है। उसे अपने माता-पिता का सच्चा स्वरूप ही नही मालूम तो वह क्या उनका मान-सम्मान करेगा? इसलिए अपने स्वरूप को पहचानना बहुत जरूरी है—अपने उत्थान के लिए, अपने विकास के लिए।

धर्म निरपेक्ष शासन मे भले ही हम विद्यालयो, महाविद्यालयो मे किसी विशेष धर्म की शिक्षा न दे पाए, किन्तु सभी मत-मतान्तरो का जो सामान्य अभिप्राय और लक्ष्य है उसकी शिक्षा देने की व्यवस्था तो निर्बाध रूप से होनी ही चाहिए। जैसे सत्य, अहिंसा, प्रेम, धैर्य, निर्लोभ, राग द्वेष का अभाव, कृतज्ञता, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, घृति, क्षमा, इन्द्रियो का निग्रह, पर-स्त्री को मातृवत समझना, चुगलखोरी नही करना, दम्भ नही करना, कठोर शब्द नही बोलना, सहिष्णुता इत्यादि हर धर्म के सामान्य लक्षण है जिनकी शिक्षा देने मे किसी भी धर्म को आपत्ति नही हो सकती। इन गुणो का अभाव सबको खटक रहा है और यह देश का सिर-दर्द बन गया है। यह दवा सहज ही मीठी है, सरल है, और आज के सारे रोगो का इलाज कर सकती है।

अपनी बात को समाप्त करने से पहले मै फिर दोहराना चाहता हू कि विद्यार्थियो मे जो अनुशासनहीनता आज भडकती चली जा रही है, इसके लिए केवल उन्ही को दोष देना गलत है। क्यो नही इसका कारण माता-पिता मे, पास-पडौस के वातावरण मे, अध्यापको मे और शासन की विकृतियो मे देखा जाय। क्या कोई माता-पिता अपने बच्चे की प्रगति के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्कूल या कालेज मे कभी जाता है? क्या अध्यापक को यह चिंता है कि उसके विद्यार्थियो की क्या-क्या कठिनाइया है। क्या शासन ने कभी यह चिन्ता की है कि किस प्रकार के सास्कृतिक आयोजन विद्यार्थियो के लिये हितकर हो सकते है या किस प्रकार के अहितकर? क्या राजनीतिक दलो ने

यह जानने की चेष्टा की है कि विद्यार्थियो को अपने हाथ का खिलौना बनाने से विद्यार्थी जीवन का कितना अहित और समाज का कितना नुकसान होता है। इन्ही कारणो से तो विद्यार्थियो मे अनुशासन हीनता फैलती जा रही है और इस तथ्य को देख 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली बात भुलाई नही जा सकती।

आपस का भय

आपस का भय—व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मे, जाति-जाति के बीच मे, विभिन्न धर्मावलम्बियो के बीच मे, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच मे—विशेष कारणवश ही हुआ करता है। भय लगने का मुख्य कारण उस व्यक्ति की कमजोरी है जो उसे भयभीत बनाये रहती है। बलवान् को भय नही लगता। लोभ से भय उत्पन्न होता है और लोभी डरता रहता है कि न जाने कब भय का आक्रमण हो जाए। लोभ से प्रेरित होकर ही मनुष्य चोर-डाकू बनते हैं और दूसरो पर अत्याचार करने को उद्यत बने रहते है।

आज भारतवर्ष मे अशान्ति का मूल कारण है साम्प्रदायिक दगे जो एक-दूसरे की कमजोरी के द्योतक है अथवा उनकी लोभ-वृत्ति के। हिन्दू मुसलमानो से भयभीत बने रहते है, इसका कारण केवल उनकी कमजोरी है। उनकी कमजोरी का विशेष कारण है आपस मे एकता का अभाव एव एक-दूसरे के प्रति उदासीन बने रहने का भाव। इसका व्यापक रूप है, आपस मे ईर्ष्या द्वेष, असहिष्णुता एव सहानुभूति का अभाव जिस कारण से आपत्तिकाल मे अपना

बोझ अपने को ही ढोना पडता है, दूसरा हाथ बटाने को तैयार नही होता। यह दुर्गुण व्यक्ति व जाति को वडा कमजोर वना देता है। हिन्दू शारीरिक रूप से कमजोर दिखाई देता है जिसका कारण है उसकी अतिशय शान्ति प्रियता। उसका धर्म भी शान्ति एव सहिष्णुता का ही पाठ पढाता है जो कि मानवता का रूप है, किन्तु यह वात नही है कि हिन्दू उग्र होता ही नही। वह परिस्थिति-वश उग्र भी हो उठता है, मनुष्य स्वभाव जो ठहरा। मार न खाना, अपनी रक्षा दुश्मन से करना, इसे उग्रता नही कहते है किन्तु विना उग्र हुए वल का सचार नही होता है। दुश्मन को भयभीत करने के लिए उग्र रूप नितान्त आवश्यक है। कोई हमारे घर मे अनाधिकार प्रवेश करे तो उसे वाहर निकाल देने के लिए वल का प्रयोग करना पडेगा—वाणी के द्वारा अथवा शरीर के द्वारा अथवा दोनो के द्वारा। अपनी रक्षा करना मनुष्य का धर्म है और देश के प्रचलित कानून द्वारा भी उसे इतनी छूट है किन्तु यह विचार या धारणा कि दूसरे को कमजोर बना कर हम सबल वने रहेगे नितान्त भ्रम मूलक है। दूसरे को कमजोर बना कर हम सवल हो जाएगे, यह विचार अशोभनीय है, गलत है।

आख्यायिका है कि एक दफा अकवर ने अपनी सभा मे एक छडी रख दी और सभासदो को कहा कि जो विना तोडे इसको छोटी वना देगा वह इनाम का हकदार होगा। वे सभी मन-ही-मन अकवर की समझदारी का उपहास उडाने लगे। वे समझ ही नही पा रहे थे कि विना तोडे छडी छोटी हो भी सकती है। जव उनकी तरफ से कोई प्रतिक्रिया न हुई तब अकवर ने वीरवल की तरफ मुखातिव होकर कहा—क्या तुम भी इसको छोटी नही वना सकते ? वीरवल झट से उठा और छड़ी के बगल मे एक उससे लम्बी छडी रख दी। लम्बी छडी के मुकावले मे वह छडी छोटी पड गई। इसी प्रकार हमे किसी के प्रति दुर्भाव को अपने हृदय मे स्थान ही नही देना चाहिए। ससार मे जितने प्राणी हैं वे सब एक प्रेम की कृति मात्र ही तो है। इस नाते सव भाई है। एक-दूसरे को दुश्मन समझना भ्रम मूलक है, अज्ञानता का प्रतीक है और मनुष्य की निज की कमजोरी है।

एक दफा मैने अपने वडे भाई से प्रश्न किया था कि महर्षिदयानन्द सरस्वती केवल भारतीय धर्म और सस्कृति का ही ज्ञान रखते थे, अत अन्य धर्मों का ज्ञान उन्हे कैसे हो गया ? उन्होने उत्तर दिया कि जो आदमी अपने धर्म को भली-भाति जान लेता है वह अपने धर्म पर आक्षेप करने वाले से डरता नही

है और उनकी दलीलो को काट कर फेंक देता है। देखने मे चाहे ऐसा प्रतीत भले ही हो कि वह हमारे धर्म की आलोचना करता है अपने पक्ष के रक्षार्थ। दूसरे का पक्ष टिके या न टिके इस बात की वह परवाह नही करता। आक्रामक को बचाते हुए आक्रामित उसके प्रहारो से अपनी रक्षा करना चाहे तो प्राय ऐसा हुआ नही करता। प्रहारो से बचने के लिए उसका निराकरण अनिवार्य है। ऐसे द्वन्द्व मे आक्रामक एव आक्रामित एक-दूसरे से कितने बचे रह सकते है यह केवल परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। आक्रामित अपने बचाव के किस साधन का प्रयोग करता है यह कहना भी सभव नही हो सकता। जो उसके हाथ मे आ जाय वही उसका शस्त्र बन जाता है और इस द्वन्द्व मे तो दोनो एक-दूसरे से घायल होकर रहेगे ही। द्वन्द्व मे दोनो द्वन्द्वी चोट खाये बिना रह नही सकते। कम या ज्यादा, यह दूसरी बात है। द्वन्द्व मे द्वन्द्वी प्रति द्वन्द्वी—दोनो का पतन होता है। हानि दोनो को ही उठानी पडती है, किसी को कम तो किसी को विशेष किन्तु वे गिरावट से बच नही सकते। कुश्ती मे दोनो ही पहलवान गिरते है, अन्तर केवल इतना ही रहता है कि विजित विजेता के तले रहता है तथा विजेता उसके ऊपर, लेकिन गिरते है दोनो ही। बिना स्वय गिरे दूसरे को गिराया नही जा सकता। अत पतन दोनो का अनिवार्य है। भय तो वही खाता है और खिसियाता भी वही है जो कमजोर होता है। हमारी धार्मिक पुस्तको पर कोई भी आक्षेप करे, टीका-टिप्पणी करे, हम चिढते नही। चिढना तो कमजोरी का चिह्न है। जिस किसी भी पुस्तक मे उस ईश्वर का ज्ञान है, या यो कहे कि ईश्वर भक्ति की प्रेरणा है, वह धर्म, धर्म-शासन शिरोधार्य है। यह सारा विश्व उस परम् पिता का ही तो है।

यदि एक धर्मावलम्वी दूसरे धर्म के प्रति इस प्रकार की सद्भावना से आदर करना सीख ले तो आत्मीयता की नदी बहने मे कितनी देर लगेगी। उदाहरण के लिए हमे कलकत्ता जाना है, और यहा से कलकत्ता दो सौ मील दूर है और यदि कोई राहगीर हमे उस रास्ते का पचास मील दूरी तक का मार्ग-दर्शन कर दे तो हम उसके जरूर आभारी होगे। यदि कोई अन्य एक सौ मील का सकेत करदे, कोई डेढ सौ मील का करदे और कोई पौने दो सौ मील का करदे, तो अनुपस्त हम तो सभी के आभारी रहेगे। सभी मार्ग निर्देशक सही निर्देशन ही तो कर रहे थे। सभी तो कलकत्ते के अभिमुख थे। निर्देशन मात्र से ही तो हम निर्दिष्ट स्थान पर पहुच सकते है।

हम प्रगतिशील बने रहेगे तभी लक्ष्य तक पहुच सकते है। हिन्दुओ को

मुसलमानो से डरने का कोई कारण तो नजर आता नही, वे भी हमारे भाई है, इसी देश मे जन्मे है, यही पले है और यही पनपे हैं या पनपते आ रहे हैं। अत हम सद्भावना से काम क्यो न लें और यदि हिन्दू यह ख्याल करें कि मुसलमान हमे एक दिन खा जाएगे तो फिर उनका दोष ही क्या है ? हिन्दुओ का यह विचार कि मुसलमान उनसे सबल हैं तो यह उनकी कोरी कल्पना होगी, भ्रम होगा। मुसलमान हिन्दुओ से कदापि सबल नही हैं क्योकि उन्हे सबल बनाने का उनके पास कोई साधन ही नही है। हिन्दू अगर यह विचार करें कि मुसलमानो मे एकता है तो वह भी उनका भ्रामक दृष्टि दोष ही कहा जाएगा। उनमे एकता नाम की कोई चीज ही नही है। आक्रमण कारी सबल होता है यह तथ्य भी सही नही है, क्योकि आक्रमण लोभ के वशीभूत होकर किया जाता है। लोभ मनुष्य का बहुत बडा शत्रु होता है और लोभवश मनुष्य अच्छे बुरे का ज्ञान बिल्कुल खो बैठता है। अगर हम इस बात को कुछ अशो मे सही मानें कि मुसलमानो मे एकता है तो वह एक दम निराधार कही जाएगी क्योकि अगर उनमे एकता होती, एकता का मतलब भाईचारा ही है तो अगर भाईचारे की भावना ही होती, तो हाल मे ही पूर्व और पश्चिम पाकिस्तान आपस मे इतना क्यो जूझते ? क्यो वे आज भाई-भाई की गर्दन उडाने के चक्कर मे है और एक भाई द्वारा दूसरे भाई पर यह प्रहार क्यो हो रहा है ? दूसरा उदाहरण इजराइल का ले लीजिए—उससे भी तो यही स्पष्ट होता है कि अगर मुसलमानो मे एकता की भावना होती तो इजरायली समस्त मुसलमानो के मुकाबले को कैसे सहन कर पाते ? अत लोगो मे केवल भ्रम है जो अक्सर कह दिया करते है कि अमुक जाति मे तो एकता है लेकिन दरअसल भारतवर्ष मे अब भी जितनी एकता है उतनी अन्यत्र कही नही। यहा के ऋषियो का फूका हुआ मत्र विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेरित था। विश्वबन्धुत्व की भावना एक भारतीय मे जितनी कूट-कूट कर भरी हुई है उतनी शायद ही अन्यत्र कही हो।

हमारी सस्कृति सब सस्कृतियो से पुरानी है, इसने किसी से कुछ सीखा नही है, बल्कि सिखलाया है। भारतीय सस्कृति मे जो सिद्धान्त और आदर्श है उन्हे यहाँ का समाज, व व्यक्ति अपने जीवन के हर पहलू मे ढाल चुका है। इस सस्कृति मे सबका सम्मान है, यहाँ भेद-भाव नाम की कोई वस्तु ही नही है। जो व्यक्ति व समाज स्त्रियो का सम्मान करना नही जानता, उनको केवल भोग्या ही समझता है तो उस व्यक्ति व समाज को धिक्कार है,

वह कलक है। आर्यों ने शुरू से ही स्त्री मे माता के दर्शन किए है और माता सदैव से ही पूज्या रही है और इसी सात्विक भावना से ओत-प्रोत हो हम भारतीय आज इतने सबल हुए है और फले-फूले है। यहा के दार्शनिको, महर्षियो ने स्त्री को हमेशा से ही पूज्या माना है तथा उनकी दृष्टि मे स्त्री देवी स्वरूपा रही है, फलत भारतियो का चरित्र निखरा, चरित्र की महानता का यश चारो दिशाओ मे चमका। भारतीय अपने चरित्र पर विशेष ध्यान देता है क्योकि उसकी नजर मे चरित्र नही है तो जीवन मे कुछ भी नही है। चरित्र की महत्ता अगर दुनिया के अन्य किसी देश मे कोई देखना चाहेगा तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी।

ऋत की सदा विजय होती है—दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति अजेय है अत विजय प्रकृति की ही हमेशा होती है। भारतियो ने स्त्री मे प्रकृति के दर्शन किए हैं। महाभारत व रामायण काल की स्त्रियो पर दृष्टिपात करने के बाद यही मालूम होगा कि उस समय की वह साध्वी, पतिव्रता कितनी बलशीला थी, कितनी अभय और कितनी चरित्रवान थी ? वे गृह-लक्ष्मिया पुरुपो से किसी रूप मे कम नही थी, क्योकि वडे-बडे युद्ध स्त्रियो ने लडे है। ये युद्ध-काल मे पति का पूरा हाथ बटाती रही है। इसके अलावा उनकी कर्तव्यपरायणता भी देखने योग्य है जबकि पति को युद्धस्थल के लिए वे कितनी प्रसन्नचित्त हो विदा करती है।

अन्त मे यही कहा जा सकता है कि आपस का भय मनुष्य-मात्र की एक धारणा है जो कितनी भी कोशिश के बावजूद मिटाई नही जा सकती, दबाई नही जा सकती। भय मनुष्य की एक बहुत ही विशाल कमजोरी है, इसका निराकरण भी अति दुस्कर है। और इस पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भरसक प्रयत्न करना अपेक्षित है।

शोषण

शोषण वह प्राण प्रदत्त शक्ति है जिससे प्रभु ने मनुष्य जाति को विभूषित किया है। और यह शक्ति मनुष्य मे है भी जन्म जात। स्वार्थी व्यक्तियो ने इस शब्द को शोणित से रग दिया है और घृणास्पद बना दिया है। इसके नारे लगा-लगा कर इस विश्व के अन्दर इन सिर फिरे लोगो ने एक ऐसी क्रान्ति मचा रक्खी है जिसके द्वारा मानव समाज आज प्रज्ज्वलित होता चला जा रहा है।

शोषण का वास्तविक रूप क्या है, इसका दिग्दर्शन करें,—नवजात बच्चो का दुग्धपान माता के स्तनो का शोषण है। इतना ही नही प्रकृति माता ने बालक को गर्भावस्था मे ही शोषण क्रिया सिखला दी। वहाँ वह अपने हाथ का अगुष्ठ चूसता रहता है और उसी अवस्था मे इसका जन्म होता है। सास का लेना वायु का शोषण है, कुएँ से पानी निकालना पृथ्वी के अन्दर के पानी का शोषण है। अनाज का उत्पादन, भूमि के पदार्थो का शोषण है। खनिज पदार्थों की प्राप्ति शोषण द्वारा ही सिद्ध होती है। यदि इन पदार्थों का शोषण न किया जाय तो नाना प्रकार के कल-कारखानो का निर्माण असभव है।

दैनिक जीवन की आवश्यक वस्तुओ की प्राप्ति शोषण द्वारा ही प्राप्य है। जीवनोपयोगी कोई भी पदार्थ विना शोषण के प्राप्त हो ही नही सकता। वर्षा सूर्य की किरणो के शोषण का ही फल है। गाय, भैस का दूध निकालना उनका शोषण है, जगली जानवर शोषण पर ही निर्भर है। सारे के सारे धातु, काष्ठ पृथ्वी का शोषण है। विना शोषण के हम एक कदम आगे नही जा सकते। ससार भर मे जितने भी कार्य-कलाप हैं, वे शोषण शक्ति के हा फलस्वरूप है। ऐसी दिव्य-शक्ति को जो प्राणदा है, उसे रक्त रजित कर दे और उसेघृणास्पद वना दे तो ऐसा करना गुमराहपन नही तो क्या है ? इसलिये शोषण का नारा लगाना वडे से वडा जुर्म और महापाप है।

जो पदार्थ हम खाते है उनका रस हमे हमारी शोषण शक्ति के अनुपात मे ही तो प्राप्त होता है। मनोहर, स्निग्ध पदार्थ मजदूरो को अगर प्राप्त नही होते तो उन्हे उनकी तमन्ना भी नही रहती कि स्निग्ध भोज्य मिले। उनकी शोषण-शक्ति इतनी तीव्र होने के कारण वे रुक्ष भोजन से ही इतना रस प्राप्त कर लेते हैं जितना कि हम रस फल स्निग्ध पदार्थों से प्राप्त नही कर पाते, क्योकि हमारी शोषण-शक्ति उनकी शोषण-शक्ति के अनुपात मे मन्द है। यदि सूर्य की किरणो मे शोषण-शक्ति नही होती तो मानव का भूतल पर रहना असभव हो जाता, इतनी गन्दगी फैल जाती कि जिसका निराकरण मनुष्य की शक्ति के वाहर की वात थी। मनुष्य के जीवन के साधन तो प्रकृति ही जुटाती है। प्रकृति तो उन साधनो की भण्डार है और वे भण्डार माता के स्तनो के सदृश है जो कि हमे प्राप्त होते है मनुष्य की सहज शोषण-शक्ति के द्वारा। इसी शक्ति को हम निमित्त कहते है, इसी लिये धर्म शास्त्रो मे कहा गया है कि प्रकृति ही समस्त कार्य करती है, मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है।

आधुनिक तथाकथित श्रमिक नेतागणो ने, मार्क्सवादियो एव नक्सल-वादियो ने, स्वार्थ-लोलुपता से अभिभूत शोषण शब्द को घृणा के स्फुलिगो से लाद कर अपना एक ऐसा अमोघ आयुध वना लिया है जिसके नारो की आड मे कितने ही रक्तरजित घोर पैशाचिक दुष्यकृत्य कर बैठते है और करते चले जा रहे है, जिनकी कही सुनवाई नही। वे इस आयुध के वल पर अपने कदम वढाते चले जा रहे है। नक्सलपथियो का तो रवैया हो गया है कि वे कृषि योग्य भूमि पर अपना दखल जमा लेते है। पक्की फसल को काट कर ले जाते है। दूसरो के मकानो पर कब्जा कर लेते है और अपने रास्ते मे आये अवरोधी

को कत्ल तक कर देने मे हिचकते नही। इन दुष्कृत्यो द्वारा वे साम्यवादी क्राति को सफल बनाने का प्रयत्न करते है। यह किस प्रकार की क्राति है समझ मे नही आता।

एक आदमी ने वडे परिश्रम से अपनी भूमि की जुताई की, उसमे वीज बोया, पानी दिया, और अनेक विपत्तियो से उसकी रक्षा करने के पश्चात् फसल पैदा हुई और पकी। ऐसी पकी फसल को काटकर ले जाना, डकैती, चोरी नही तो और क्या है ? यदि ये लोग अपने परिश्रम के फल को खाने के हकदार नही हैं तो समझ मे नही आता कि ये नक्सलपथी इस डकैती के माल को खाने का क्या हक रखते है। यह तो साम्यवाद नही हुआ, यह तो जोर वाद हुआ, लाठीवाद, गुण्डावाद या डकैतीवाद हुआ या यो कहे जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हुई। ये तो किसी भी राष्ट्र के सिद्धान्त नही हो सकते। कोई भी-राष्ट्र इन सिद्धान्तो पर पनप नही सकता।

रूस मे साम्यवाद आया। उनकी मान्यता थी कि हमारे राष्ट्र मे सभी समान रूप से सुख-सम्पन्नता से जीवन यापन कर सके और इसके लिए तात्कालिक शासन-सत्ता, सामाजिक, धार्मिक नियम, वन्धन सवको तोड-मरोड कर फेंक दिये गये। आगे चल कर वहाँ भी दो वर्ग बन गए। जो दिमागी आदमी थे वे अविकसित जातियो को शासित करने लगे, उन्हे शोपित करने लगे। और साम्यवादी सिद्धान्तो की आड मे सम्पन्न हो उठे और दलित वर्ग भयभीत अर्थात् कराहने लगा। यह वर्ग था किसानो का जिनके द्वारा खेती जोर-जुल्म से कराई जाने लगी। फल यह हुआ कि अनाज की पैदावार घट गई, खाद्यो के भाव वढ गए, मजवूरन कृषको को अपनी-अपनी भूमि जोतने के लिए और उससे लाभ उठाने के लिए छूट दे दी गई। विवाह-शादी के रिवाज, जो कि उठा दिए गए थे, पुन स्थापित हो गए। जन्म लेते ही वच्चे प्रसूतिगृह (Maternity Homes) मे पालन-पोपणार्थ भेज दिए जाते थे और माताएँ अन्दर-ही अन्दर तडप कर रह जाती थी। आज पुन उन माताओ को अपने शिशुओ को अपनी गोद मे खिलाने, अपने स्तन-दुग्ध को पान कराने की स्वतत्रता दे दी गई है। अब तो सुना जाता है कि गिरजाघरो मे घण्टे भी बजने लगे है और अपने धर्म पालन की छूट भी दे दी गई है। मनुष्य चाहे कितना भी प्राकृतिक नियमो के विपरीत चला जाए किन्तु एक-न-एक दिन उसे अपने-आपको प्रकृति को समर्पण करना ही पडता है।

मार्क्स के सिद्धान्तो का प्रयोग करने के लिए रूस ही प्रथम बार प्रयोग

शील बना। जिन प्रयोगो के फल मीठे होते हैं, वे शाश्वत नियम-सिद्धान्त बन जाते है। जो प्रयोग समय की कसौटी पर खरे नही उतरते उन्हे त्याग दिया जाता है। औद्योगिक प्रतिष्ठानो से सम्बन्धित होने के कारण हम इन तथा कथित नेताओ की मानसिक वृत्तियो से भली प्रकार परिचित हैं। ये नियोजको के खिलाफ शोषण के नारे लगा कर नियोजको एव नियोजितो के बीच मे एक तकरार की दीवार खडी कर देते है ताकि एक छोर दूसरे छोर से मिल न सके और नियोजित अपना विश्वास नियोजक मे खो बैठे। तब दोनो को इनकी शरण लेनी पडती है, फिर ये दोनो वर्गों का शोषण करने लगते है। मजदूरो द्वारा साप्ताहिक वेतन मे से एक दिन का चन्दा ले लेते है और दोनो के बीच मे समझौता कराने के लिए धन राशि प्राप्त करने मे नियोजको से भी हिचकते नही। इसी धन राशि के अनुपात मे इतनी कच्ची सन्धि करा देते है, जिसे ये जब चाहे तब पतग की डोरी के सदृश काट सकें। ये अनपढ नेता गाडियो मे दौडते रहते है और होटलो मे जाकर गुलछर्रे उडाते है। इनके सम्मुख शासन-सत्ता भी मजबूर, नियोजक तथा अशिक्षित श्रमिक वर्ग भी मजबूर है। ये कर-तूते हैं समस्त यूनियन्स की जिनके द्वारा नैतिक स्तर पतनोन्मुख होता चला जा रहा है। वह नेतृत्व, जिसके द्वारा पतन हो, सर्वनाश का नेतृत्व ही कहा जा सकता है। ये कथित नेतागण किसी ऐसे शिक्षित को ढूढ लेते है जिसे सालाना अच्छी रकम समर्पण करते रहते है और अपने सस्थान का प्रमुख बना कर पार्लियामेन्ट मे भेजते रहते है जो कि उनकी वकालत करता रहता है तथा ऐसे-ऐसे अवाच्छनीय कानूनो की सृष्टि होती रहती है जिनके द्वारा औद्योगिक प्रतिष्ठानो मे अशान्ति बनी रहती है और जिसके दमन हेतु प्रशासन को अपनी एक मैशिनरी बैठानी पडती है जिसका उद्देश्य है तथाकथित कानूनो के द्वारा शान्ति की पुनर्स्थापना करना। यह है फल शोषण शब्द को तोड-मरोड कर उसे बदशकल कर देने का।

आज जिन देशो मे साम्यवाद फैला हुआ है उनके सिद्धान्त एक-दूसरे से मेल नही खाते। रूस ही को ले लीजिए। मार्क्सवाद के सिद्धान्त पर लेनिन वाद खडा हुआ लेनिनवाद के पश्चात् स्टालिनवाद खडा हुआ जो कि बडा ही भयकर, दुर्दान्त, लोमहर्षक था। खुश्चेव के आने पर उसने इसे घृणास्पद बता कर उखाड फेका लेकिन उसके भी पैर न टिक पाये। माओ के सिद्धान्त रूस के सिद्धान्त से मेल नही खाते। युगोस्लाविया के सिद्धान्त रूस से मेल नही खाते। चैकोस्लोवाकिया अपने नये सिद्धान्तो पर चलना चाहता था लेकिन रूस

ने उसे दबोच डाला किन्तु अभी तक धराशायी नही कर पाया है। पोलैण्ड डर के मारे अपनी तान रूस की तान से मिलाये हुए है। भारत मे जितने साम्यवादी है, उनमे भी फिरके बन चुके है। भीतर-ही-भीतर चाहे वे एक ही मकसद के पुजारी क्यो न हो किन्तु इन सबकी तूती अलग-अलग बजती है। जो सिद्धान्त सत्य के ऊपर स्थित नही हुआ करते वे टिकाऊ नही होते।

साम्यवाद हम भारतवासियो के लिए कोई नई बात नही है। हजारो साल पहले ही हमारे ऋषियो ने इस भावना को प्रतिपादित कर दिया था। इसका वर्णन हमे इशोपनिषद मे मिलता है जिसका सक्षिप्त तात्पर्य यह है—यह सारा विश्व ईस से ओत-प्रोत है। जो कुछ भी यहाँ दृष्टिगोचर होता है, उसी का दिया हुआ है। हम इसकी प्रजा है, उसके दिए हुए को बाट कर खाओ, किसी का हिस्सा हडप न करो। यह धन किसी एक का नही है। देश, राष्ट्र शरीर के समान है। शरीर का कोई भी अवयव एक-दूसरे से स्वतत्र नही रह सकता। एक को दूसरे की आवश्यकता अनिवार्य है। पैर व हाथ को आँख की, आँखो को हाथ की। हाथ आँखो को धोता अवश्य है किन्तु ऐसा करने मे उसका स्वार्थ निहित है। हाथ मुख को भोजन कराता है लेकिन वह भोजन पेट मे जाकर उसका रस बनने पर वही रस हाथ को जीवन दान देता है। मस्तिष्क का कार्य अपरोक्ष है किन्तु सब अगो से उसका कार्य-कलाप मूर्धन्य है। शरीर के अवयवो को ऐसा अभिमान तो बना रहता है कि हम इसे वहन करते है, इसके भार को सहते है, किंतु उन अवयवो का शक्ति-स्त्रोत मस्तिष्क ही है इसका इनको पता नहीं, क्योकि प्रत्येक अवयव का केन्द्र मस्तिष्क रूपी 'कट्रोल हाऊस' मे स्थित है। इसी की आज्ञा से सारे केन्द्र गतिशील बने रहते है।

इसी प्रकार समाज मे छोटे-बडो का स्थान है जिनका सामजस्य ही जीवन है। जो अपने देश को विदेशियो के हाथ मे सौप देना चाहता है, उसी को देश द्रोही कहते है। इस देश-द्रोह के कारण हमारा भारतवर्ष विदेशियो की जजीरो मे हजारो वर्ष तक जकडा रहा। अब स्वतत्रता मिली तो देश द्रोह रूपी सर्प ने फिर फन उठा लिया है जिसका विनाश अनिवार्य है। स्टालिन के शासन मे जिस किसी ने भी दुराग्रह की आवाज उठाई वह उसकी गोली का शिकार हुए बिना न रह पाया। हम स्टालिन जैसी प्रकृति के तो हिमायती नही है क्योकि यह अमानुषिक है। हम मनुष्यत्व के स्तर से कदापि गिरना नही चाहते किन्तु अपने शरीर मे किसी भी गलित अग को सर्जन के चाकू से

निकलवा देना श्रेयस्कर समझते हैं । एक गलित अग के कारण समस्त अग पीडित बने रहे, इसमे न बुद्धिमत्ता है और न ही उच्च भावना । विदेशियो के स्वार्थ से परिपूर्ण भारत मे फैलते हुए साम्यवाद ने हमारे नवयुवक विद्यार्थियों के मस्तिष्क को भी विपाक्त कर दिया है और उन्हे गुमराह बना दिया है ।

इस साम्यवाद ने हमारे राष्ट्र के स्तभो को खोखला बना दिया है जिसके फलस्वरूप राष्ट्र की इमारत भी गिरने-गिरने को हो चली है । इसलिए जितनी जल्दी इस विपाक्त साम्यवाद का अन्त हो उतना ही भारत के लिए श्रेयस्कर होगा ।

यहा तक तो हम शोपण के साधु रूप के दर्शन कर पाये है, इसका असाधु रूप भी होता है जो बडा ही गर्हित, जघन्य, घृणास्पद, भयकर और वीभत्स है, ससार मे जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वे सब द्वयधर्मा हैं—एक धनात्मक और दूसरा है ऋणात्मक । अभी तक तो शोपण के धनात्मक रूप का ही विवेचन हो पाया है, अब इसके ऋणात्मक रूप का किंचित दर्शन करे ।

कमजोर, अविकसित, नि सहाय व्यक्ति, समाज, जाति व देश को पाशविक बल द्वारा वशीभूत कर अपने दानवीय फौलादी चगुलो मे जकड कर जब उनका अनैतिक, अविहित कठोर स्तर पर दुरुपयोग होता है अथवा उनका निर्दयता-पूर्वक शोपण किया है तब वह शोपण का ऋणात्मक रूप कहलाता है । इस स्थिति मे शोपित एव शोपक एक-दूसरे से भयभीत एव अशान्त बने रहते हैं । जितने भी पूजीवादी व प्रजातत्रवादी तथा साम्यवादी देश है एक-दूसरे से स्वतत्र बने रहने पर भी आपस मे भयभीत बने हुए है कि न जाने कौन किसको किस समय निगल जाए ?

साम्यवादी देशो मे बाह्य शान्ति तो नजर आती है किन्तु आन्तरिक शान्ति नदारत बनी हुई है । वहा व्यक्ति आपस मे एक-दूसरे से सशकित व भयभीत बना हुआ है ।

शोषण की प्रकृति—चाहे धनात्मक हो अथवा ऋणात्मक—मनुष्य मे जन्म-जात है । मनुष्य दैवी और आसुरी सम्पत्तियो का पुञ्ज है । क्योकि मनुष्य का स्वभाव त्रिगुणात्मक है ।

साम्यवादी रूस मे भी दो वर्ग है । एक वर्ग है गद्दी-नसीन सब तरह के सुख-साधनो से सम्पन्न व्यक्तियो का जो कि शासक के रूप मे शासन करते है । दूसरा वर्ग है जो कि कारखानो एव खेतो मे काम करते है । देखने मे ये

मुखी नज़र आते है, किन्तु इनकी आत्मा अन्दर-ही-अन्दर कुढती रहती है। उनकी कराह की 'उफ' बाहर निकल नही सकती क्योकि वे भलीभाति जानते हैं कि कही मु ह खोला नही कि गोली के शिकार हुए नही।

जो व्यक्ति दूसरो के सुख-दु ख को नज़रअन्दाज करते हुए उनको चूसता रहे, और अपने सुख-ऐश्वर्य के साधन जुटाने मे सलग्न बना रहे, तो यह उसकी पाशविक वृत्ति है—यह है ऋणात्मक शोषण! ऐसा व्यक्ति उस मासाहारी पशु के समान है जो कि अपने शिकार की छटपटाहट एव तडपन की परवाह न करता हुआ उसका मास खाने एव उसका खून चूसने मे लगा हुआ है। ऐसे नारकीय मनुष्य को सौ-सौ बार धिक्कार!

भारत पुण्य भूमि क्यों है ?

भारतवर्ष के कई नाम है, जैसे भारतवर्ष, भारतखण्ड, भरतखण्ड, आर्यावर्त, हिन्द और हिन्दुस्तान आदि। राजा भरत ने इस पृथ्वी के नौ खण्ड किये थे, उनमे से एक खण्ड भारतखण्ड के नाम से विख्यात है। वर्ष का एक अर्थ खण्ड भी होता है। अत भारतखण्ड भारतवर्ष कहलाने लगा। भारतवर्ष कहने और सुनने मे मधुर है और इसीलिए भारतखण्ड न कहकर इसे भारतवर्ष ही सम्बोधित किया जाने लगा।

ऋषि काल (आदि काल) से ही भारत भूमि पुण्य भूमि कहलाती चली आ रही है। ऋषियो ने अपनी जन्म-भूमि होने के नाते या भाव-प्रणवता वश इसे पुण्य भूमि कहा अथवा सचमुच मे ही यह भूमि पुण्य भूमि है यह एक बहुत ही जटिल और विवादास्पद प्रश्न है।

अपनी जन्म-भूमि होने के नाते मनुष्य इसे किसी भी नाम से पुकारने मे स्वतत्र है, किन्तु पुण्य भूमि सम्बोधन करने मे उसे सार्वभौमिकता नही प्राप्त हो सकती। पुत्र अपने पिता को किसी भी नाम से पुकारने मे स्वतत्र है किन्तु

उसका पिता सबका पिता नही हो सकता। महाभारत काल मे भीष्म पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुए किन्तु वे पितामह थे केवल कौरव व पाण्डवो के न कि आचार्यों के और वेदव्यास आदि के। सार्वभौमिकता तो उन्हे भी प्राप्त नही हो सकी जबकि वे अपने काल के ब्रह्मनिष्ठ सच्चरित्र पुरुष थे।

भारतवर्ष पुण्य भूमि इसलिए कहलाया कि इसमे पुण्यतोया गगा बहती है। इसके समान पवित्र मानी जाने वाली नदिया प्राय सभी देशो मे पाई जाती हैं। जिस नदी से मनुष्य को ज्यादा लाभ प्राप्त होता है वह उसके लिए आदर-सम्मान की वस्तु बने बिना नही रह सकती। इस न्याय के आधार पर भी इसे पुण्य भूमि कहलाने की सार्वभौमिकता प्राप्त नही हो सकती।

इसलिए प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह ऐसा कौनसा तथ्य है जिसके बल पर ऋषियो ने भारत भूमि को पुण्य भूमि कहा और इसे सार्वभौमिकता प्रदान की गई ? सार्वभौम, पुण्य भूमि तो हम उसी को कहेगे जो ससार के अन्य भूखण्डो से विशेष पवित्र हो, और वह अपनी पवित्रता का दान दूसरे खण्डो को भी प्रदान करती हो। गगा मे स्नान करने वाला चाहे किसी भी जाति का क्यो न हो, स्नान करने के पश्चात् उसे विशेप शान्ति व सन्तोष की अनुभूति होती है। गगा व्यक्ति विशेप की धरोहर नही हे, वह तो सार्वभौम माता है। इसके दुग्धपान के सभी अधिकारी हैं और यह जाति अथवा विशेष व्यक्ति निर्पेक्ष है। इसीलिए यह भारत व भारतवासियो के ऊपर अपना सार्वभौम साम्राज्य बनाये हुए है। इसी कसौटी पर हमे देखना है कि ससार इससे (भारतवर्ष) कितना उपकृत होता है। इसकी दृष्टि सबके प्रति समान है अथवा कुछ पक्षपात भी लिए हुए है। सूर्य जिस समय गगन मण्डल मे उदय होता है, उसका प्रकाश चारो तरफ फैल जाता है और उस प्रकाश मे सारे ही खण्ड आलोकित हो उठते है। सूर्य के प्रकाश मे किसी के लिए भी पक्षपात नही है। उसका प्रकाश सार्वभौमिक है। पृथक्-पृथक् स्थान व प्रदेशो के लिए पृथक्-पृथक् सूर्य नही होते बल्कि सूर्य कि स्थिति इतनी ऊचाई पर है कि प्रत्येक प्रादेशिक व्यक्ति यह आभास कर लेता है कि सूर्य उसी के प्रदेश मे उदय हुआ है। किन्तु सूर्य किसी स्थान विशेष के लिए उदय नही होता है और न जाने पृथ्वी जैसे कितने ही मण्डल उसके प्रकाश से आलोकित होते हैं। ऐसी ही कुछ बातें यदि हम इस पुण्य भूमि के लिए बता सके तो उसकी सार्वभौमिकता सिद्ध करने मे कोई कठिनाई न आएगी। शरीर मे जीवात्मा की स्थिति भी एक विशेष स्थान पर ही है किन्तु उसके प्रकाश से सारे अवयव गतिमान हो रहे हैं। जीव

शरीर मे सर्वव्यापी है। सूर्य के सदृश्य जीवात्मा भी शरीर मे स्थानीय है, उसका स्थान हृदयाकाश है। प्रकाश का केन्द्र तो एक ही स्थान पर होता है किन्तु उससे विकीर्ण होने वाली किरणें उसके अधिकृत मण्डलो को भिन्न भिन्न स्थानो पर आलोकित करती रहती हैं।

शरीर भौतिक है। इसके पोषण के पदार्थ भी भौतिक हैं जिसकी उत्पत्ति सूर्य के प्रकाश से होती है। यदि शरीर को पोषक तत्त्व न मिले तो शरीर की स्थिति असभव बन जाएगी। इसी प्रकार जीव का पोषक तत्त्व अध्यात्म ज्ञान है। अध्यात्म ज्ञान के द्वारा ही तो आत्मा अपने स्वरूप को पहचान सकता है। यह प्रश्न मन मे स्वाभाविक ही उठा करता है कि मैं कौन हू, कहा से आया हू, क्यो आया हू, और अन्त मे मुझे कहा जाना है? ये प्रश्न मानो जीवात्मा की भूख है। इस भूख का निवारण अध्यात्म ज्ञान मे होता है। यही अध्यात्म ज्ञान अध्यात्म जगत का सूर्य है। इस अध्यात्म ज्ञान रूपी सूर्य का प्राकट्य प्रथम बार इस भूमि मे हुआ था। ये समस्त वेद, वेदाग, उपनिषद इसी अध्यात्मरूपी सूर्य के प्रतीक हैं। वेद अपौरुषेय एव शाश्वत हैं। शाश्वत का तात्पर्य है अक्षय, जिसका विनाश न हो। वेदो के प्राकट्य काल के बाद इनमे न कोई रद्दोबदल हुआ और न कोई कर ही सकता है। वेद, उपनिषदो का प्राचीनतम काल निर्विवाद है। इनकी रश्मिया विकीर्ण होकर सारे जगत को आलोकित करती रही हैं। ससार भर के अन्य जितने भी आध्यात्मिक शास्त्र है वे दो-तीन हजार साल से ज्यादा पुराने नही है और उनकी पहुच अध्यात्म जगत के निम्न स्तर तक ही है। शोपनहावर अपने काल का चोटी का दार्शनिक था। उसने लिखा है कि यदि मैं उपनिषदो का अनुशीलन न कर पाता तो मेरा दार्शनिक ज्ञान अधूरा बना रहता और उस शान्ति का आस्वादन मैं कभी भी न कर पाता जिसे प्राप्त कर परमानन्द प्राप्त होता है। पाश्चात्य देशो के सभी चोटी के दार्शनिक हमारे उपनिषदो का लोहा मानते आए हैं। प्रसिद्ध अमरीकी दार्शनिक थोरो ने लिखा है कि मैं प्रात काल उठकर गीता रूपी गगा मे प्रतिदिन स्नान करता हू। गीता काल पाच हजार साल पुराना माना गया है। गीता मे वेदो का जिक्र आया है अत ये सारी कृतिया गीता काल से अधिक प्राचीनतम काल की है। हमारे ऋषियो ने चार युगो की कल्पना की और प्रत्येक युग का काल निर्धारित किया। इस न्याय से भी ये श्रुतिया बहुत प्राचीन सिद्ध होती हैं। प्रत्येक वस्तु के प्राकट्य के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है और इन श्रुतियो के प्राकट्य के लिए ऋषि माध्यम

थे। इन्ही के द्वारा इनका प्राकट्य हुआ। वेद प्रागैतिहासिक काल की रचनायें हैं और इन समस्त शास्त्रो की सार्वभौमिकता प्रसिद्ध व सिद्ध है। अफगानिस्तान ने अपने स्कूलो तथा कालेजो मे गीता को अनिवार्य विषय के रूप मे घोषित किया है, इसका प्रमाण हमे २५ अप्रेल १९६९ के अमृत बाजार पत्रिका मे पृष्ठ ६, कालम ८ द्वारा मिलता है जिसका उद्धरण निम्न भाति है —

It is a Pleasure to learn that the university of Kabul, has adopted the Gita, the foremost Scripture of the World and the best Practical guide of man, as a text book for its Schools & Colleges. It is hoped that this will also be done by the Universities in India for the benefit of the Country.

(S C Basu)

उपर्युक्त प्रसग से हमारे धार्मिक ग्रन्थो की सार्वभौमिकता पूर्णत सिद्ध हो जाती है। एक दूसरे प्रसिद्ध अमरीकी लेखक लिखते है —

India was the motherland of our race, and Sanskrit the mother of Europe's languages, mother, through Arabs of much of our Mathematics, mother, through Village Community of Selfgorvernment and democracy Mother India is in many ways the mother of us all.

(Will Durant)

अत भारतवर्ष हमारी जाति की जन्मभूमि है इसके साथ-ही-साथ वह यूरोप की समस्त भाषाओ की जन्मदात्री भी है। हमारा गणितीय ज्ञान अरब देश की देन है किन्तु उस ज्ञान का प्रादुर्भाव भारतवर्ष से ही हुआ। ईसाई मत की जन्मदात्री भारतभूमि है जिसका माध्यम था बुद्ध। स्वराज्य एव गणतत्र की भावनाए भारतवर्ष से ही विकसित हुई इसलिए भारतभूमि या भारतमाता कई प्रकार से हम सबो की जन्मदात्री है।

इन उदाहरणो से हमारी पुण्यभूमि और हमारे आध्यात्मिक शास्त्रो के प्रति पाश्चात्य एव इस्लाम देशो के हार्दिक भाव साफ दृष्टिगत होते है। मान उसी वृक्ष का होता है जो ग्रीष्म-क्लात बटोही को अपनी ठण्डी छाया व विश्रान्ति प्रदान करे। अमेरीका मे जगह-जगह वेदान्त सस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं और वहा के निवासी उन सस्थानो मे बडी दिलचस्पी के साथ योग-वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करते हैं। ये शास्त्र केवल हमारे ही नही है अपितु सब के लिए हैं और

इनसे कोई भी देशवासी लाभान्वित हो सकता है । केवल अन्तर इतना ही है कि हम इन आर्य ग्रन्थो के अधिक निकट है और इसी नाते हम चाहे इन्हे अपनी धरोहर कह डाले । किन्तु ऐसा कहने से इनकी सार्वभौमिकता मे किन्चितमात्र भी कलुषितता नही आ सकती । यह दिव्य निधि समस्त देशो के लिए है और इनसे ससार का कोई भी देश समान भाव से लाभान्वित हो सकता है । त्रिगुणात्मक तिमिर से आच्छादित दूर-दूर देशो मे चाहे चिलकती हुई इनकी रश्मिया न पहुच सकी हो किन्तु उनका प्रकाश पहुचे बिना न रहा जो कि वहा के पैगम्बरो द्वारा रचित ग्रन्थो मे साफ-साफ झलकता है । सैक्सपीयर के सोनेट्स (Sonnets) मे आर्य सस्कृति की व्यापकता भली-भाति परिलक्षित है । सोनेट न० ५४ मे सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की टेक Truth, Fair and Kind के रूप मे मिलती है सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का उपदेश हमारे ऋषियो की ही देन है ।

बौद्धधर्म भी आखिरकार आर्य सस्कृति का ही तो शिशु है और जब इसका प्रादुर्भाव अन्यान्य एशियाई व पाश्चात्य देशो मे हुआ तो वहा के जन-जीवन की विचारधारा प्रभावित हुए बिना नही रह सकी । इसका प्रभाव वहा के ग्रन्थो व रचनाओ पर भी पड़े बिना नही रह सका।

इस प्रकार यदि हमारे ये आर्य ग्रन्थ सार्वभौमिक हैं तो फिर इनकी जन्म-भूमि को पुण्य भूमि कहने मे किसी को एतराज हो ही क्या सकता है । भगवान बुद्ध ने इसी तपोभूमि पर तपस्या कर अन्य देशवासियो को भी उपकृत किया था । हमारे इतिहास मे बौद्ध काल एव बौद्ध साहित्य का बहुत महत्व है । यही नही, बुद्ध के अनुयायियो ने भारत के बाहर भी इस मत की स्थापना की । चीन, बर्मा, जापान, कम्बोडिया, सीलोन इत्यादि देशो मे बौद्ध मतावलम्बी काफी मात्रा मे थे और आज भी यह धर्म वहा से लोप तो क्या होता, अभी भी पूरी तरह जागृत अवस्था मे है सारनाथ, गया आदि मे बौद्ध मतावलम्बियो ने अपने इष्ट देव तथा इष्ट धर्म के लिए मठ बनवाए ।

इसके अलावा हम देखते है कि मुसलमान लोग मक्का, मदीना आदि स्थानो पर जाते है । वे उन्हे तीर्थ-स्थान या पुण्य भूमि ही तो मान कर जाते हैं । पाश्चात्य देशो के बहुत से दार्शनिक व आत्मानुसधान के पथिक अपने पथ को प्रशस्त बनाने हेतु भारतवर्ष आते हैं और यहाँ के सिद्ध योगियो से शिक्षा ग्रहण करते है । यह रत्नगर्भा भूमि केवल हीरा, मोती ही नही उगलती वरन् यहाँ

सन्त, महात्माओ एव आचार्यों का भी समयानुसार प्रादुर्भाव होता चला आ रहा है । इसलिए हमारा पूर्ण विश्वास है कि आज के सकट-व्यापी ससार को यदि किसी प्रकार शान्ति मिल सकती है तो केवल इन आर्य ग्रन्थो के द्वारा ही । हमे आशा है कि शीघ्र ही ऐसा समय आने वाला है जबकि अध्यात्म जगत का सूर्य ससार के कोने-कोने को आलोकित किए बिना न रहेगा ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस सूर्य की जन्मभूमि यदि भारतवर्ष है तो तो फिर भारतवर्ष मे सुख व शान्ति की समृद्धि क्यो नही हो पाई ? यदि जन-समुदाय की सुख-शान्ति भौतिकता से आकी जाए तो कहना होगा कि यह भूमि भी तीनो गुणो का कार्य रूप ही तो है । गुण तो अपने प्रभाव दिखाये बिना न रह पायेगे किन्तु उस गुण का एक पक्ष बडा सबल है । जो देश बर्बर जातियो से पराजित होकर गुलामी की जजीर मे जकड लिए जाते हैं उनके निवासियों को विलुप्त होने मे देर नही लगती हे । विजेता विजित को अपने चगुल मे फसाये रखने के लिए बडे कडे नियम प्रसारित करता है । फलस्वरूप विजित बगावत करता है और अपनी बगावत मे असफल होने पर समूल नष्ट कर दिया जाता है । ये श्वेत प्रभु जहाँ-जहाँ गए, वहाँ के निवासियो को पश्त होने मे देर न लगी । सन् १८४८ मे न्यूजीलैण्ड की जनसख्या एक लाख चार हजार थी । १८५८ मे ५५ हजार चार सौ सडमठ रह गई और १८६४ मे करीब ४७ हजार ही । ताहिती प्रदेश की जनसख्या एक लाख पचास हजार से २ लाख तक थी जो कि १८६० से लेकर १८६६ मे केवल १५ हजार रह गई जबकि भारतवर्ष करीब दो ढाई हजार वर्षो से बर्बर जातियो द्वारा आक्रान्त होता चला आ रहा है और इसी समयावधि मे भारतवासियो ने अपने सार्वभौम राज्य स्थापित किए । भारत मुगलो से करीब एक हजार साल तक घिरा रहा तथा उनके साम्राज्य के बाद अग्रेजो ने करीब दो सौ साल तक यहाँ अपना आधिपत्य जमाये रखा और उनसे मुक्ति मिली तो आज भारत स्व-तत्र आकाश मे स्वास ले रहा है इस प्रकार लगातार आक्रमणो के बावजूद भी हमारी परम् पवित्र आर्य सस्कृति जीवित रही जिसका श्रेय केवल इन आर्य ग्रन्थो को ही है । इन्ही के पुण्य प्रताप से यह पनपती रही और किसी भी शक्ति के सामने धराशायी न हो पाई । मुसलमानो ने तलवार के बल पर हमे मुसलमान बनाना चाहा लेकिन इस नीति मे उन्हे विफलता ही हाथ लगी । ईसाइयो ने अपने जाल बिछाने मे कोई कोर-कसर न रख छोडी । किन्तु उन्हे भी विफलता ही मिली । यदि हमे इन आर्य ग्रन्थो का बल न मिलता तो

हमारा हिन्दू समाज कभी का ही विनष्ट हो जाता अथवा विजेताओ के दासत्व मे ही जीवित रह पाता । किन्तु हमे फलीभूत बनाने का श्रेय हमारे आर्य ग्रथो को ही है, हमारे अध्यात्मज्ञान रूपी सूर्य को ही है। इस अध्यात्मज्ञान रूपी सूर्य का जन्म स्थान है भारत भूमि और सूर्य के जन्म स्थान को कोई विनष्ट नही कर सकता क्योकि यह तो पूजा का स्थान है, जो भी इसे पूजेगा, सुख-सम्पन्नता से भरपूर बना रहेगा ।

जिस देश मे आत्मवाद एव भौतिकवाद मे समन्वय-सामजस्य बना रहता है वह देश सुख, शान्ति एव ऐश्वर्य से सम्पन्न बना रहता है। जब ये दोनो आपस मे विक्षुब्ध हो चलते हैं, इनमे से किसी एक की प्रबलता हो चलती है, तो सुख व शान्ति का साम्राज्य बना ही नही रह पाता। हमारे देश मे ऐसी अवस्थाएँ कई बार आई। अध्यात्म प्रधान देश होने के कारण अध्यात्मवाद तो बना रहा किन्तु भौतिकवाद मे शिथिलता आने के कारण हमारा भौतिक बल निर्बल हो गया जिसके फलस्वरूप हम बार-बार बर्बर जातियो के शिकार बने। कभी हमारा देश बहुत सम्पन्न था। मुहम्मद गजनवी ने केवल सोमनाथ के मन्दिर को तोडकर अतुल सम्पदा प्राप्त की थी। जब एक मन्दिर की इतनी सम्पदा थी तो मन्दिर मे दक्षिणा चढाने वालो की आर्थिक अवस्था क्या रही होगी, इसका सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है।

आज पाश्चात्य देशो मे अध्यात्मवाद की छाती पर मूग दलते हुए भौतिकवाद बडा अग्रसर है। फलत वहाँ अशान्ति और खूँरेजी का सदैव ही ताण्डव नृत्य होता रहता है। ये देश आपस मे एक-दूसरे से बडे ही भयभीत हैं और हम भी खतरे से खाली नही हैं। इस विषय का विश्लेषण ऋषियो ने बडी मार्मिकता से ईशोपनिषद मे किया है। इस उपनिषद मे केवल अठारह मन्त्र हैं लेकिन है इतने गूढ कि महात्मा गाधी ने भी गीता को इन श्लोको पर भाष्य मात्र माना है। ससार जब तक इस उपनिषद के सार-गर्भित उपदेशो को हृदयगम नही कर लेता तब तक सुख व शान्ति एव अभय स्वप्न मात्र ही बने रहेगे।

नारी का कार्य-क्षेत्र

प्राय लोगो को कहते सुनते है और हम भी यही कहते रहते हैं कि आहार लेना व करना, केवल शरीर के रक्षार्थ है। यदि बात इतनी ही होती तो शरीर को कोई आहार नही देता, क्योकि आहार की प्राप्ति मे चोटी से पैर तक पसीना बहाना पडता है। धन की प्राप्ति बडी कष्टकर है। केवल बात इतनी ही होती कि शरीर की रक्षा के लिए आहार की आवश्यकता है तो इस आहार की प्राप्ति की फिराक मे कोई न जाता। हमारे शरीर की रक्षार्थ हम क्या-क्या प्रपच करते हैं, हम सभी जानते है। शरीर की रक्षार्थ आहार लेना तो मानो ऐसी बात हुई जैसे कि हम उसके ऊपर यानी शरीर के ऊपर कोई एहसान करते हो। मनुष्य की बहादुरी तो तब हुई कि भूख लगी हो तब भी वह न खाये। भूख शरीर की प्राकृतिक अदम्य माग है जिसका शमन केवल आहार के द्वारा ही सम्भव है। यह माग प्राकृतिक है, मनुष्यकृत नही। भूख अदम्य, उग्र, प्रज्ज्वलित अग्नि के सदृश है जिससे बचने के लिए पानी की नितान्त आवश्यकता होती है। यही पानी रूपी आहार इस भूख के शमन के लिए नितान्त

आवश्यक है। इससे प्रेरित होकर ही आहार को जुटाने का प्रयत्न होता है। आहार का जुटाना दोष-रहित है। साधन का रूप ही उसे दोषी-निर्दोषी बनाये रखने मे सफल है। इस शरीर की भूख की निवृत्ति के लिए साधन आहार के रूप मे पृथ्वी से प्राप्त होते हैं। इस आहार की सज्ञा है अन्न। भूख की निवृत्ति हेतु मास तक की सज्ञा अन्न मे ही आती है और यह तो हमारी इच्छा पर निर्भर है कि उसे भोज्य बनाया जाए अथवा नही।

इसी प्रकार समस्त प्राणी मात्र मे यौन सम्बन्धी भूख भी उसकी स्वयकृत इच्छा नही है। यह सृजन, प्रजनन कार्य-शक्ति है जो कि प्राकृतिक है। इसके द्वारा सृष्टि का प्रसार होता है या यो कहे कि सृष्टि के प्रसारार्थ यही केवल मात्र साधन है। इस उद्दीप्त बुभुक्षा की उग्रता शारीरिक बुभुक्षा की उग्रता के समान ही है, कम नही। इनमे अन्तर अवश्य है और वह अन्तर है भी गभीर। शारीरिक बुभुक्षा का नितान्त निग्रह मृत्यु होता है। यौन सम्बन्धी बुभुक्षा का निग्रह अमृत है। यह साध्य है और वह है असाध्य। समाधिस्थ को आहार की आवश्यकता नही चाहे समाधि कितने दिन की भी क्यो न हो। किन्तु समाधि से बाहर आते ही भूख उसे सताने लगती है तथा आहार की आवश्यकता पडती है। जैन मतावलम्बी दो-दो तीन-तीन महीने तक आहार नही लेते। यदा-कदा जल लेकर निर्वाह कर जाते हैं। शरीर की रक्षार्थ आहार अनिवार्य है, किन्तु यौन सम्बन्धी बुभुक्षा बरसात के समान है। वर्षा होना प्रकृति का नियम है और प्राणी-मात्र की रक्षार्थ पानी की आवश्यकता है जो कि वर्षा द्वारा प्राप्त होता है। नदियो की बाढ विनाशकारी होती है और वरदान भी।

स्त्री-पुरुष स्वय अपने मे इकाइयाँ तो हैं किन्तु ये इकाइयाँ अपने आप मे अपूर्ण हैं और ये एक-दूसरे की पूरक है जो कि आपस मे सपूर्ण होने के लिए इच्छुक बनी रहती है तथा इनके सपूर्ण होने के फलस्वरूप ही शिशु उद्भूत होते है। ये शिशु भी स्त्री-पुरुष के रूप मे आते हैं। ये दोनो इकाइयाँ कैसी अधूरी है इसका निरूपण इस प्रकार है।

मानो इनमे से एक व्यक्ति ऐसा है जिसका दक्षिण अग सुरक्षित है, हाथ और पैर सहित, लेकिन वाम अग हीन है। दूसरा व्यक्ति ऐसा है जिसका वाम अग है, दक्षिणाग नही। ये दोनो सजीव होते हुए भी अधूरे है, किन्तु है एक-दूसरे के पूरक और जब इन्हे जोड दिया जाए तो एक पूर्ण इकाई के रूप मे

आ जाते हैं। यह मिलन एक ऐसी ग्रन्थि है जिसके द्वारा सृजन-प्रजनन का प्रसार होता है।

दो के अंक का हम यदि खण्ड करें तो उन खण्डो मे न एक का भाव रहता है और न दो ही का। दोनो ही खण्ड विकृत हो जाते है, निरर्थक एक-दूसरे मे आत्मसात् होने से पहले दोनो इकाईयो का रूप व अस्तित्व था किन्तु आत्मसात् होने के बाद उनका अस्तित्व ही न रहा। मर्यादा मे रह कर स्त्री जाति ने बडी उन्नति की हे जिसके उदाहरण सीता, सावित्री, अनुसूया, मैत्रेयी, गार्गी से लेकर आज तक की शिरोमणी स्त्रियाँ है और जो स्त्रियाँ अपनी ही इकाई मे रह कर अपनी यौन सम्बन्धी बुभुक्षा का यथोचित निग्रह करते हुए एक विशुद्ध जीवन यापन करती है ऐसी देवियाँ नि सन्देह समाज की विभूतियाँ हैं किन्तु इस मर्यादित ग्रन्थि का उल्लघन करते हुए जो एक स्वतत्र, स्वच्छन्द जीवन यापन करती हे वे अन्त मे जाकर दुख भोगे विना नही रहती और न ही वे समाज मे आदर की पात्री बन सकती हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये है कि यौन सम्बन्धी प्रेरणा एक भूख है और एक उद्देश्य लिए हुए है और वह उद्देश्य प्रकृति का है और इस उद्देश्य मे निहित है स्त्री का माता बनना। इस भूख का अर्थ ही माता बनने के हेतु है। अर्थात् स्त्री का मातृत्व ही उसका स्वरूप है।

स्त्री के कार्य-क्षेत्र की अपनी एक विशेपता है, उसकी एक उपयोगिता है। प्रकृति का कोई भी कार्य विना विशेष कारण के नही हुआ करता, उसमे निगूढ रहस्य छिपा रहता है। तत्सम्बन्धी भावनाएँ अपनी विशेपता लिए होती हैं। स्त्री की भावनायें अपने क्षेत्रानुसार पुरुष क्षेत्र की भावनाओ से भिन्न है। स्त्री की सहिष्णुता पुरुष की सहिष्णुता से भिन्न हैं। उसकी सहिष्णुता का पता लगाना या इसकी थाह पा लेना मनुष्य की शक्ति के परे ही बात है। इसी विशेप कारण से मातृत्व की इतनी सराहना एव पूजा है। यह अलौकिक, दिव्य स्वरूपा है। माता बनने की भावना रूपी भूख अदम्य है। इसकी शान्ति माता बनने पर ही हो सकती है। यह प्राकृतिक भूख इतनी अदम्य, इतनी सशक्त यदि न होती तो कोई भी स्त्री अपने शिशु के द्वारा अपने को माँ कहते-सुनने का लोभ वहन नही कर पाती। यह लोभ भी एक ऐसा अदम्य लोभ हे जिसके लिए मातृत्व के रूप मे आने से पहले जो अचिंत्यनीय कष्ट है, जिसको कि उसे सहना है, सब भूल जाती है। यह बात पुरुष को परिलक्षित नही होती। वस्तु परिलक्षित होती है उसकी स्थिति होने पर।

नारी क्षेत्र तीन भागों में विभाजित है। जननी, माता व सारा। प्रजनन करते समय तक वह जननी है। अपने स्तनों के दुग्धपान द्वारा शिशु का पालन पोषण और सभी प्रकार की देख-भाल तथा सभी प्रकार की विपरीत परिस्थितियों में उसे बचाते रहना, उसका मातृत्व है। अपनी सन्तान को योग्य बना देना जो आगे चलकर अपने देश व राष्ट्र का उपयुक्त स्तम्भ बन सके। यह तीसरा क्षेत्र साचा है। जिसकी महिमा बिना किसी अपवाद समार के सभी महान् पुरुषों ने मुक्त कण्ठ से गाई है। यह दिव्य रूप है, स्त्री क्षेत्र का। जो स्त्रियाँ परिस्थितियों वश अपने क्षेत्र की उपयोगिता को भुला देती हैं और विवाह रूपी ग्रन्थि को दासता की जंजीर समझकर तथा उससे भय खाकर इस बन्धन में नहीं बंधती, वे आगे चलकर पश्चाताप के उत्पीड़न से भाग भी नहीं सकती। बहुत-सी स्त्रियाँ उच्च शिक्षा के माध्यम से डाक्टर, इन्जीनियर, वकील, इत्यादि बन जाती हैं और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने में सुख व स्वतन्त्रता का स्वप्न देखती हैं। उनकी वह दशा होती है जो कि अवकचरे वैराग्य के जोश में आकर बने साधु-सन्यासी की होती है जो अपनी बुभुक्षा के निवारणार्थ दर-दर की ठोकरें खाते फिरते हैं। उनकी मन की कुढन का अन्दाज वे खुद ही लगा सकते हैं, कोई दूसरा नहीं।

मेरा सम्पर्क प्रौढावस्था में विवाहित डाक्टरनियों से हुआ है और मेरे यह प्रश्न करने पर कि उनके कितनी सन्तान हैं, उनका उत्तर उनके हृदय से निकली हुई गहरी आह से मिला है। उन्होंने बताया कि उनका जीवन सब तरह से सम्पन्न होने पर भी शून्य बना हुआ है, क्योंकि उनकी गोद खाली है। उन्हें माँ कहने वाला कोई नहीं है। इस मातृत्व ने जोर तो मारा किन्तु उस समय जबकि चिड़िया चुग गई खेत। ऐसी स्त्रियाँ अपने-अपने सगे-सम्बन्धियों के बच्चों का लालन-पालन कर अपने मन-बहलाव का साधन बना लेती हैं। कोई-कोई तो कुत्ते, बिल्ली पालकर उनके ऊपर अपना मातृत्व-प्रेम उड़ेलती रहती हैं।

नारी क्षेत्र बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। इस क्षेत्र में अल्पज्ञ जीव से लेकर परिपक्व महान आत्मा तक पनपती है। देवत्व प्राप्त करने हेतु विशेष कारणवश ईश्वरीय अंश भी इसी क्षेत्र के माध्यम से आविर्भूत हुआ करते हैं। रामकृष्ण परमहंस, हरिश्चन्द्र, भीष्म और बड़े-बड़े महान आचार्य, इसी क्षेत्र की देन है। जो नारी अपने क्षेत्र को जितना भी विशुद्ध बनाये रखेगी वह महान् व्यक्तियों को प्रसूत करने में सक्षम बनी रहेगी। इस मातृत्व क्षेत्र को हमारा शत्-शत् प्रणाम है। सत्य

शिव, सुन्दरम् इसी क्षेत्र की अभिव्यक्ति है। जब इस क्षेत्र से सत्य शिव निकल जाता है या निकाल दिया जाता है, तब इस क्षेत्र का रूप होता है रजतम्-सुन्दरम् जिसका कार्यरूप होता है व्यामोह और वह तबाही का कारण बने बिना नही रह पाता। माली बीज बोने से पूर्व भूमि को परिष्कृत बना लेता है क्योकि वह भली-भाति जानता है कि ऐसी भूमि मे ही बोया जाने वाला बीज फलीभूत हो सकता है।

नारी-क्षेत्र एव पुरुप-क्षेत्र न्यारे-न्यारे है और प्रत्येक की महिमा न्यारी-न्यारी है दोनो ही क्षेत्र अपने मे सबल है और एक-दूसरे से स्वतत्र है किन्तु कार्यान्वित होने के लिए एक-दूसरे के अपेक्षणीय है तथा एक-दूसरे पर परा-वलम्बित है। यह परावलम्वन किसी भी क्षेत्र की कमजोरी नही है। यह उनका गुण है जो प्राकृतिक है। भिन्न-भिन्न रूप होने के कारण चाहे वे एक-दूसरे से सबल दिखाई दे किन्तु एक-दूसरे के बिना नपुसक व निष्क्रिय है।

ये दोनो क्षेत्र स्वयभू तो नही है वल्कि स्वयभू शक्ति द्वारा सभूत होते है। एक को दूसरे से झिझक खाने का कोई कारण नही है, न एक दूसरे का बन्धन है। नि सन्देह नारी क्षेत्र मोहक है आकर्पक है और यह भी प्रकृति की ही देन तो है। इसमे प्रकृति का बहुत बडा उद्देश्य छिपा रहता है। ऐसी वात न होती तो स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध होना प्राय असभव ही बना रहता जिसका फल होता है सन्तानोत्पत्ति जो कि दोनो को इतने झझट मे डाल देता है कि यदि उनका वश चले तो इस ससार रूपी बगीचे के माली बनने का कोई भी साहस नही करे।

गीता मे कहा है—

> सहश चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति ॥ ३ ॥ ॥३३॥

अर्थात् सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति को प्राप्त होते है, ज्ञानी व अज्ञानी सभी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते है। इस चेष्टा मे किसी का हठ नही चलता। अपने-अपने क्षेत्रो के अनुसार ही उनकी शिक्षा का भी क्षेत्र बना है।

स्त्री-पुरुष क्षेत्र अपने मे सबल होने पर भी इनकी व्यापकता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। यह हैं—एक-दूसरे के परावलम्बी जिसमे कि कोई सन्देह नही, किन्तु इनके रूप व कार्य एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। एक दाता है तो एक ग्रहीता। दातव्य वस्तु दाता के हाथ मे रहती है और इसके त्याग के समय

दाता का कर ग्रहीता के कर के ऊपर बना रहेगा। दोनो हाथो को समानान्तर रखने पर दातव्य वस्तु ग्रहीता के हाथ मे न जा सकेगी। ग्रहीता का क्षेत्र उस पदार्थ का उपभोक्ता नही है। किन्तु वह उस वस्तु का विकास-क्षेत्र है। विकास-क्षेत्र होने के नाते नि सन्देह दाता के क्षेत्र से वहुत महत्वपूर्ण है। वस्तु की अव्यक्त अवस्था निष्क्रिय होती है। वीज मे अपने आप मे प्रस्फुटन शक्ति नही है। शक्ति तो है लेकिन सुपुप्त। इस सुपुप्त शक्ति का प्रस्फुटन भूमि मे जाकर ही होता है। जागृत अवस्था मे आने के लिए साधन की आवश्यकता है, वह साधन प्राप्त होता है भूमि से। यह क्रम सृष्टि ही का नियम है। दूध के अन्दर व्याप्त घृत अव्यक्त बना रहता है किन्तु विना प्रक्रिया के वह व्यक्त अवस्था मे आ नही पाता। दूध का औटाना, उसे जमाना, फिर उसे विलोना तब इतनी प्रक्रियाओ के माध्यम से गुजरने पर ही घृत का व्यक्त होना सभव होता है। ये नाना प्रकार की क्रियाये विना क्षेत्र के साध्य नही है। ये प्रक्रियाये एव क्षेत्र दोनो ही वडे महत्वपूर्ण हैं। ससार मे जितनी भी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती है, चाहे किसी भी रूप मे क्यो न हो, महत्वपूर्ण है। घास-फूस तृण के रूप मे वने रहने के कारण साधारण तथा हमारी दृष्टि मे महत्वहीन और त्याज्य वने रहते हैं, किन्तु इनके अन्दर अमृत रूपी पोषण तत्व वसा हुआ है। यही घास-फूस गाय, भैसो के उदर मे जाकर उनमे छिपा हुआ दूध इनके थनो के अन्दर व्यक्त हो जाता है। हमारी भ्रम-मूलक दृष्टि के अनुपात मे कोई भी चीज भले ही निरर्थक प्रतीत होती रहे, किन्तु है वास्तव मे वडी मूल्यवान और प्राणप्रद। एक-दूसरे के ऊपर निर्भर वने रहने के अनुपात मे भले ही एक वस्तु का मूल्य न्यूनाधिक बना रहे, किन्तु वात ऐसी है नही। प्रत्येक वस्तु अपने मे सवल है।

देखने मे ये वडे-वडे पहाड पृथ्वी पर भार रूप ही तो हैं, जिनकी उपयोगिता हमारे चर्म-चक्षुओ मे समा नही पाती। यदि इन पहाडो को हम उडा दे तो इस पृथ्वी की स्थिति क्या होगी, यह कल्पनातीत है। पृथ्वी को स्थिर वनाये रखने मे इन पहाडो का कितना महत्व है, यह प्रतीत नही होता। इसी प्रकार समस्त वस्तुए अपना-अपना महत्व लिए हुए हैं।

ब्रह्म व प्रकृति मे से ब्रह्म प्रकृति का स्वामी है। प्रकृति उसका कार्य-क्षेत्र है और विना उस कार्य-क्षेत्र के ब्रह्म निष्क्रिय है। ब्रह्म के सर्वशक्तिमान होने पर भी विना क्षेत्र के वह अव्यक्त ही बना रहता है। लीला रचाने के लिए क्षेत्र की आवश्यकता होती है। लीलामय तो है आप लेकिन लीला करने के

लिए भी तो क्षेत्र की अनिवार्यता बनी रहती है। यह प्रकृति भी तो उसकी प्रकृति का ही रूप है। पानी का वर्फ के रूप मे आना और बर्फ का गल कर फिर पानी मे मिल जाना, जिस प्रक्रिया के द्वारा यह सब होता है उस प्रक्रिया की शक्ति को ही प्रकृति कहते है। यह शक्ति जल मे निहित है। तत्व के अज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे ये दोनो भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। अज्ञान के निराकरण पर शेष एक ही तत्व रह जाता है।

कूडा, कर्कट, कीचड सब प्रकार के मलामत व गन्दगी मनुष्य द्वारा ही पैदा होती हैं और यह सब भूमि को भुगतना पडता है। इस मलामत के समूह के पास से गुजरने वालो को कष्ट भी कम नही होता और इस मलामत के घनीभूत हो जाने पर अनेक प्रकार की प्राणघातक बीमारिया पैदा हो जाती हैं, खासकर कालेरा यानी विषूचिका जो कि तत्क्षण प्राणलेवा है। जिस शहर की नगरपालिका के नियम कडे रहते है और उसके अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग सतर्क बना रहता है, उस शहर की गलियो व सडको पर मलामत जमा हो नही पाता। वहा का जनसमुदाय बड़ा सुखी व स्वस्थ बना रहता है।

अग्नि का उदाहरण ही लीजिए। मनुष्य के जीवन-यापन मे यह नितान्त आवश्यक है। यह प्राण-प्रदात्री है तो विनाशकारिणी भी है। सृष्टि का सृजन एव प्रलय इसी के द्वारा होता है। इसका एक रूप विनाशकारी होने पर भी इसका परित्याग नही किया जा सकता, क्योकि प्राण-रक्षा मे इसका साधन बडा महत्वपूर्ण है। इसका घन रूप है वरदान देने वाला, तो ऋण रूप है भयकारी विनाशकारी। यह प्रकृति का एक अग है जो कि तीन गुणो रज, तम, सत का कार्य रूप है। यह जड है। अपने स्वभाव के रूप मे इसका वर्णन है किन्तु जड प्रकृति का स्वामी चेतन तत्व है जिसका कर्तव्य है जड शक्ति को सीमाबद्ध बनाये रखना जिसके फलस्वरूप सृष्टि का सचार होता है और आनन्द की वर्षा होती है।

इसी आधार पर समाज व राष्ट्र को चलाने के लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं और इन नियमो का पालन जीवन है। उनका उल्लघन बडा ही विनाशकारी है। इन नियमो की परिधि मे चले चलना मर्यादा है। यह मर्यादा हमारी प्रगति को समुन्नत करने मे बडी सहायक होती है। नदी के किनारे उसके पानी को सीमा मे तो बाँधे रहते हैं, लेकिन उसे सीमित नहीं कर सकते। ये किनारे तो नदी के पानी को उपयोगी बनाने के ही हितार्थ होते हैं।

धीरे-धीरे समुद्र मे जाने के लिए भी तो पानी किनारो के बीच स्वय को सकुचित महसूस करता है, लेकिन इसी पद्धति द्वारा तो वह आगे चलकर महार्णव मे समाहित हो जाता है और महार्णव रूप हो जाता है। ये सीमायें तो मर्यादा हेतु हैं न कि रिपु। ना समझी से जब पानी इन किनारो को अपना रिपु मान लेता है, इनसे कुश्ती करने लगता है और जब उसकी फतह हो जाती है तो वह प्राणी मात्र का भक्षक बन जाता है, इसकी विनाश लीला हाहाकार मचाये बिना नही रह पाती। पानी का बाढ के रूप मे आना उसका पतन है, बडप्पन नही। इसी प्रकार हमारी ये सामाजिक मर्यादाए मनुष्य के विकास के लिए रची जाती है, विनाश के लिए नही।

किसी भी यान—जलयान, वायुयान, रेलगाडी, मोटर, स्कूटर आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचने के लिए गति आवश्यक है। इनमे बनी रहने वाली वाष्प-पद्धतिया आरोही के लिए घातक भी हो सकती है लेकिन इनका त्याग तो किया जा नही सकता।

पानी ईश्वर की अति श्लाघनीय उत्तमोत्तम कृति है। इस उत्तम कृति की रक्षार्थ इसी के अनुपात मे साधन भी अपेक्षित है। इन्ही साधनो का नाम है मर्यादा। हीरे, मोती, लाल, पन्ना इत्यादि रत्न हैं। ये मखमल जैसे मुलायम आवरण मे ही तो रखे जाते हैं न कि जग लगे हुए लोहे के बक्से मे जो कि इन्हे क्षति पहुचाये। राजा-महाराजाओ की मर्यादानुसार ही तो उनका स्वागत किया जाता है। ये स्वागत-योजनाए भी मर्यादाओ मे आबद्ध होती है। मर्यादा इन योजनाओं का आभूषण है, न कि ऐब। उदाहरण के लिए एक नगर मे एक सन्यासी आधमका, नर-नारी उसके पास जाने लगे। उनमे से एक स्त्री उसके घनिष्ठ सम्पर्क मे आ गई। दोनो के बीच की मर्यादा टूट चली और स्त्री गर्भवती हो गई। समाज की लाच्छना के परिप्रेक्ष्य मे वह घोर सकट मे पड गई। बाबाजी तो चलते बने और वह विनाश को प्राप्त हो गई। हमारे यहा कहावत है "चेली गत्ते गई, बाबाजी सिद्ध के सिद्ध।"

स्त्री स्वभाव बहुत भोला है। भोला हम उसी को कहेगे जो धोखा खाये। इस भोलेपन के कारण धोखेबाज, गुण्डो, शैतानो के हाथ मे पकडर वह कैसी घोर अधोगति को प्राप्त हो जाती है। उसकी आख तब खुलती है जब चिडिया चुग गई खेत'। इनकी भोली वृत्ति के कारण इनका बडी सख्या मे में हरण होता रहता है और ये विदेशो मे बेच दी जाती हैं। वहा के सम्पन्न

व्यक्ति इनको अपनी कामाग्नि शात करने के साधन बनाते हैं। इन पर बहुत अत्याचार होते है और उनकी कैद की गिरफ्त मे ये सास तोडने लगती है। कालिजो-स्कूलो मे जाने वाली लडकिया अपने भोले स्वभाव के कारण पथ से भटक जाती है, गुमराह हो जाती है। इस जाति मे सहज विश्वास कर लेने की बडी कमजोरी है और ये आदर की बहुत भूखी हे। इनकी कमजोरिया इन्ही के शिकारियो का अमोघ अस्त्र बन जाती है जो लडकिया मर्यादा का ख्याल रखती ह वे इन शिकारियो के हाथो नही पड पाती। आजकल कुवारी लड-किया गर्भनिरोधक उपकरण अपने पास रखती पाई जाती हे। गर्भवती हो जाने पर गर्भपात के लिए मिथ्या-चिकित्सक एव डाक्टरो के दरवाजे पर सर टकराती हुई मिलती ह। इस प्रकार की बुराई प्राय सभी देशो मे पाई जाती ह। किसी एक विशेप देश मे ही नही।

स्त्री शिक्षा का रूप यह होना चाहिए कि उसके माध्यम से नारीतत्व की आभा बढती चली जाय और बाह्य आघातो से बचने के लिए उसे जागरूक बना दे, और वह अपने क्षेत्र की उपयोगिता का भली-भाति सरक्षण कर सके तथा अपने मातृत्व का भली-भाति विकास।

आज के तथाकथित मनीपी, विचारक, नेतागण नारे लगाते नजर आते हें कि स्त्रियो के कार्य-क्षेत्र के परिवेश को चक्की, चूल्हा, चौका तक सीमित रखना स्त्री जाति के साथ पुरुप वर्ग का अन्याय है। स्त्री बच्चा पैदा करने वाली मशीन नही है न वह घर की दासी है जो कि जीवन भर सास, ससुर, पति इत्यादि की पद-चम्पी करती रहे, और चूल्हे मे सिर देकर रोटी बनाकर उनको खिलाती रहे। उसका सही स्थान है पुरुप-वर्ग के कधे-से-कधा मिलाकर राष्ट्र-निर्माण मे भाग लेना। पुरुप-वर्ग और स्त्री-वर्ग का कार्य-क्षेत्र समान होना चाहिये। यह आज के समय की समानता की पुकार जो ठहरी। पुरुष-वर्ग के साथ प्रतियोगिता मे उनको पूरा सहयोग एव अवसर प्रदान करना चाहिए। फिर देखो, स्त्री-पुरुप से आगे बढती है या नही। स्त्री जाति की प्रगति मे अवरोध पैदा करना पुरुप वर्ग का बडा अन्याय है। घी और आग का उदाहरण देकर स्त्री वर्ग के मनोबल की अहवेलना करना मनुष्योचित नही है। शारीरिक बल मे भी स्त्री-पुरुष से पिछडी हुई नही है। क्या आप नही जानते कि युद्ध मे दशरथ के रथ का एक पहिया टूट चला था, वह धुरी से अलग होकर गिर पडा तो कैकेयी उस धुरी को अपने बाहु पर धारण कर रथ की गति के साथ चलती चली गई ताकि दशरथ के लिए लड़ाई मे किसी तरह का व्यवधान

उपस्थित न हो। दशरथ युद्ध करने मे तल्लीन थे। न उनको पता चला कि कब चक्का चकनाचूर हुआ, कब उनकी रानी कैकेयी ने रथ से उतर कर धुरी को अपने बाजू मे ले लिया। युद्ध की समाप्ति पर जब उन्होने कैकेयी को रथ मे बैठा हुआ नही पाया, तब घबडाकर रथ के बाहर झाका और कैकेयी को उस अवस्था मे पाकर उसकी वीर सहयोगिता पर विमुग्ध होकर वर दे डाले। चाहे यह उदाहरण त्रेता युग का ही क्यो न हो, किन्तु ऐसा हुआ तो। कल की ही बात है, झासी की रानी लक्ष्मी बाई ने क्या ब्रिटिश फौज के दात खट्टे नही कर दिये थे ? जिसकी वीरता की गाथा गाने वाली सुभद्रा कुमारी चौहान भी लक्ष्मी बाई के साथ-साथ अमर हो गयी।

स्त्रियाँ गणित एव विज्ञान मे बडी-बडी विशेषज्ञ हुई है। उनका मानसिक क्षितिज पुरुष-वर्ग से तनिक भी कम नही।

इन्होने इस प्रकार की दलीले देकर स्त्री वर्ग को अपने कार्य-क्षेत्र से विमुख होने का काफी अवसर प्रदान किया है। हम तो यो कहेगे कि इन तथाकथित मनीषियो ने प्रकृति का कुछ अध्ययन किया ही नही। प्रकृति से कुछ सबक सीखा ही नही। यथार्थ मे स्त्री-पुरुष के क्या-क्या क्षेत्र है, इसका अध्ययन करने के लिए हम थोडा-सा प्रयास मात्र करेंगे। चूकि प्रश्न बडा गहन और व्यापक है, इसकी तह मे जाना परम आवश्यक है।

प्रकृति का सबसे बडा तकाजा है भूख और प्यास की निवृत्ति और यौन-बुभुक्षा की तृप्ति और फलस्वरूप जन-प्रजनन। जन्म लेते ही नवजात शिशु को भूख लगती है और वह उसकी निवृत्ति चाहता है। जन्म लेने के पहले गर्भ-स्थित वातावरण से वह सुरक्षित था अब वह वातावरण मे सुरक्षित होने के लिए कपडा चाहता है। वातावरण से बचाव के लिए, उसके शरीर को ढकने के लिए, किसी रूप मे भी आवरण चाहिये। बडे होने पर यौन सम्बन्धी बुभुक्षा इतनी तेज हो चलती है जितनी कि पेट की ज्वाला। ये दोनो प्रकार की बुभुक्षाए प्रकृति की देन है, न कि अभिशाप, क्योकि इन्ही के द्वारा प्रभु की सृष्टि का प्रसार होता है। यदि ये अदम्य न होती तो सृष्टि की रचना तो कुंठित हो ही जाती, और इसका क्या रूप होता यह कल्पना के परे की बात है। हम ऐसी कल्पना करें कि यदि जीवन से ये दो चीजे निकाल दी जा सकें—भूख प्यास और यौन-बुभुक्षा, तो फिर यह राष्ट्र-निर्माण विज्ञान की गवेषणा, अनुसन्धान, अन्वेषण, नाना प्रकार के आविष्कार के विचारो को काफूर होने मे

कितनी देर लगेगी। यह जितना भी विज्ञान है और उसके आविष्कार हैं, वे सब मनुष्य के उपयोगार्थ ही तो हैं। और मनुष्य मात्र को ये वैज्ञानिक आविष्कार सुगमता से प्राप्त होते रहे, ऐसी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राष्ट्र-निर्माण होता है। भिन्न-भिन्न राष्ट्र बनते है और उनमे परस्पर झझट इसलिए होते है क्योकि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति की सामग्रियो को हडप करने का इच्छुक-उत्सुक बना रहता है। ये भावनाएँ मनुष्य-मनुष्य के बीच मे भी व्यापक हो चलती है। यही छीना-झपटी, आपस की लडाइयाँ और राष्ट्रो के युद्ध के कारण बनती है।

किन्तु प्रकृति के अन्दर प्रधान बाते दो ही है, शारीरिक आवश्यकताओ की तृप्ति और आत्म-दर्शन। क्षुधा-निवृत्ति के लिए अन्न की आवश्यकता पडती है। जिस प्रकार बिना स्त्री-पुरुष के सयोग के प्रजा उत्पन्न नही हो सकती, उसी प्रकार बिना स्त्री-पुरुष के आपस के सहयोग के क्षुधा-निवृत्यार्थ भोजन भी तैयार नही हो सकता। एक छोटा-सा उदाहरण ले ले। हमको चिट्ठी लिखनी है हमको जितनी कागज, कलम, स्याही की आवश्यकता है उतनी ही लेखन-कला की। ये कागज, कलम, स्याही और लेखन कला एक दूसरे के पूरक है। इनमे से एक की भी कमी होने पर हम पत्र नही लिख सकते। और ये एक दूसरे की उपयोगिता की उपेक्षा नही कर सकते, चूकि ये एक-दूसरे के पूरक है, और अपनी-अपनी उपयोगिता मे अपने आप मे बडे बलिष्ठ है। ये वस्तुए प्रकृति मे तो नहीं पायी जाती। इनका तो निर्माण किया जाता है, और निर्माण के लिएआवश्यक है आविप्कार, आविष्कार के लिए विज्ञान और विज्ञान के लिए खोज। ये सारे कार्य एक ही व्यक्ति से सम्पन्न नही हो सकते। ये सारी बातें भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के द्वारा सम्पन्न होती रहती है। इन सभी का अपना-अपना महत्व है जो कि एक-दूसरे के द्वारा उपेक्षित नही की जा सकती। पाती लिखने के लिए सभी का सामूहिक सामजस्यपूर्ण सहयोग अनिवार्य है। देखो, तेल प्राप्त करने के लिए हमको सरसो, तिल, मूगफली, नारियल की आवश्यकता है। उसी प्रकार कृपक, तेली, कोल्हू, बढई, लोहार, लकडी, लोहा एव बैल की भी आवश्यकता है। इनमे से कोई एक-दूसरे की उपेक्षा कर नही सकता। इनमे से एक भी उपेक्षित होने पर हमे तेल प्राप्त नहीं हो सकता। यह तो प्रकृति का नियम है। यह ऋत है।

इसी प्रकार स्त्री-पुरुप मिलकर यदि भोजन तैयार करते हैं तो भोजन तैयार करने मे जिन वस्तुओ की आवश्यकता पडती है वे हे अन्न, लकडी, कोयला,

पानी, साग-भाजी, एव पाक कला। यदि पुरुष आवश्यक सामग्री को जुटाना अपने हिस्से मे लेले और स्त्री भोजन-कला को, तो इसमे महत्व किसका होगा ? पुस्तक इत्यादि लिखने मे श्रेय लेखक को मिलता है कि स्याही, कलम, प्रेस को ? और उस पुस्तक को पढने वाले कितने उपकृत होते है और सराहना करते अघाते नही—लेखक के दिल और दिमाग की शक्ति को ? और यही भोजन उस लेख के समान है जो कि समाज की सन्तान के अन्दर अदम्य सचालन-शक्ति का सचार करती है। अपनी पुरुष-सन्तान मे डायनेमिक-शक्ति को भर देने वाली स्त्री ही है। स्त्री वह पावर-हाऊस है जिसके द्वारा वडे-वडे कल-कारखाने और वडे-वडे प्रासाद और शहरो की वडी-वडी सडके जगमग-जगमग होनी नजर आती हैं।

इस भोजन मे केवल स्त्री की कला ही नही हे, वह तो अपने हृदय को उसमे उडेल देती हैं। भोजन का रस उसके भावो का निचोड है जो कि आगे चलकर शक्ति का रूप धारण करता है। रसोइये के हाथ का वना हुआ भोजन उपरोक्त रस से वचित रहता है। रसोइये का बनाया हुआ भोजन स्थूल हे, यह स्थूलता का पोपक हे, स्त्री या माता का वनाया हुआ भोजन शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्ति को सचारित करने वाला होता हैं, क्योंकि स्त्री शक्ति स्वरूपा है, शक्ति पुँज है, शक्ति का अवतार है। शक्तिवान ही शक्ति प्रदान कर सकता है। बोतल का दूध और माता का दूध यदि समान-धर्मा है तो हमे कुछ कहना ही नही। बोतल के दूध मे शरीर के पोपक तत्व तो अवश्य हें, किन्तु माता के दूध मे प्रधान तत्व होता है उसकी भावनाए जो कि सन्तान को आगे चलकर वडा भव्य वनाती हैं। देखो, अन्न को जुटाने मे पुरुप को कितना परिश्रम करना पडता है। स्त्री को हम यदि लेखक की उपमा दें, कागज को अन्न की और कलम को पुरुप की, तो क्या कुछ अत्युक्ति-सी मालूम होगी ? अन्न को कहीं, न-कही से जुटाना ही होगा। जुटाने वाला पुरुप। जुटाने मे तो उसका काफी समय भी लगेगा ही और उसको परिश्रम भी होगा ही। अन्न को जुटाने का काम यदि पुरुप का हुआ तो अन्न को रोटी के रूप मे परिणत करने का कार्य स्त्री का हुआ। तो इसमे बुराई कहा हुई ? एक दूसरे की गुलामी कहा से आ गई ? यह ही दोनो एक-दूसरे के पूरक हुए। अन्न को चूर्ण करने के लिए या चक्की का सहारा लेलो या सिल-लोढी का। जव तक आटा पिसने की चक्किया नही चली थी, तब भी तो प्रत्येक घर मे आटा पिसता ही था। धनाढ्यो के घर मे पिसनहारी पीस देती थी किन्तु

थी तो वह भी स्त्री ही।

अन्न को पुरुष बटोर कर नही ले आता। अन्न की कही ढेरी लगी हुई नही रहती कि गये और उसमे से ले आये। अन्न की प्राप्ति मे पुरुष को दर-दर की ठोकरे खानी पडती है और पसीना ऐडी से चोटी तक वह निकलता है। उसको वडी क्लान्ति और ग्लानि का भी शिकार वनना पडता है। इस अवस्था से पुरुष अपनी स्त्री को वचाये रखना अपना गौरव समझता है। आज कतिपय स्त्रियाँ जो अन्न के जुटाने मे लग जाती हैं, उनके सच्चे हृदय से पूछा जाए तो पता चलेगा कि शारीरिक एव मानसिक परिश्रम करने के वावजूद उनको अपने जीवन की वहुमूल्य वस्तु लुटा देने मे वाध्य-सा होना पडता है। यदि पुरुष स्त्री की असहायावस्था को अपना कलक समझे, तो स्त्री के प्रति यह उसकी सहानुभूति है या उसके प्रति अन्याय, दमन, दुर्व्यवहार या उसकी प्रगति को कुठित वना देना?

फिर प्रश्न उठता हे कि यह भोजन तैयारी का काम स्त्री-पुरुष आपस मे अदल-वदल क्यो न करले? क्या वात है कि सदा ही से सभी देशो मे चाहे वे प्राच्य हो या पाश्चात्य स्त्रियाँ ही भोजन वनाती नजर आती हैं। पर्ल-वक एक विशेष विदुषी लेखिका थी, जिनको उनकी रचनाओ के लिए नोवुल पुरस्कार तक मिल चुका था, कई सन्तान की माता थी वह भी अपने हाथ से भोजन वनाती थी। इसका एक विशेष कारण था। पालन पोषण करना स्त्री का नैसर्गिक स्वभाव हे। प्रथम भोजन, जो नवजात शिशु को चाहिए, वह तो उसके शरीर से ही उत्पन्न होता है। वच्चे को दूध पिलाने मे माता को वच्चे की क्षुधानिवृत्ति के आनन्द से भी विशेष आनन्द आता हे। यदि माता को दूध पिलाने मे आनन्द न आता, और यह क्रिया भार-रूप होती तो वच्चे का पालन पोषण असभव था। यह कार्य पुरुष तो न कर सकता है, न उससे आशा की जा सकती है, न उसे यह प्रकृति की देन ही है। और स्त्री का यही स्वभाव आगे चलकर चक्की-चूल्हे का रूप धारण कर लेता है। किसके लिए? अपनी सन्तान के लिए और अपने लिए। जिसमे उसका पति भी शामिल है। क्योकि स्त्री-पुरुष मिलकर ही तो एक इकाई वनती हे। इस इकाई के अन्दर द्वैत भाव वना रहे, तो वह इकाई नही। यदि हाथ शौच-निवृत्ति के लिए इनकार कर दे और मुह उन हाथो से ग्रास लेना इनकार कर दे, यह वोलकर कि तुम अशौच हो, तो भला शरीर का निर्वाह कैसे हो सकता है? इसको धराशायी होने मे कितनी देर लगेगी? यदि पुरुष अपनी स्त्री को दासी समझता, तो

अपने जीवन की कमाई, अपना सर्वस्व उसके चरणो मे समर्पित कदापि न करता। वह तो अपनी स्त्री को, अपनी पत्नी को, अपनी गृहिणी को अपने घर की रानी के रूप मे देखना चाहता है अपने सामर्थ्यानुसार। यहाँ तक कि अपने बच्चो को अपनी स्त्री के अधिकार मे बने रहने मे प्रसन्नता और गौरव प्रतीत करता है। जब कभी बच्चे ऊधम मचाते हैं या घर मे उपद्रव करते है तो स्त्री-पुरुप का आपस का उलहना देते और सुनते देखते ही बनता है। स्त्री कहती है, देखोजी, तुम्हारे बच्चे बेकाबू होते चले जा रहे हैं। पुरुप उत्तर देता है, मैं क्या करूँ ? तुम्हारे अनुशासन की डोरी की शिथिलता इसका कारण है। यदि आपस मे दासी और स्वामी का भाव बना रहता, तो इस प्रकार की भावनाओ का उद्भव होना क्या कभी सभव हो सकता था ? माँ ने कभी बच्चो को डाँट-डपट की तो वे कहते ही बनते हैं, देख माँ, इस तरह से करेगी न, तो हम पिताजी से शिकायत कर देंगे और कभी पिता से घुडकी खाई तो माता से शिकायत कर दी। बच्चो का ये दोनो अदालतें एक-दूसरे के ऊपर बनी रहती हैं और इन दोनो अदालतो का सामजस्य और समन्वय तो देखो, कितना अनुपम, कितना स्नेह-स्निग्ध, कितना प्यारा, मोहक और दिव्य है। तो फिर स्त्री-पुरुष के ऐसे सम्बन्ध को दासी-दासत्व के स्तर पर अवरोहण करा देना क्या बुद्धि का दिवाला नही है ?

स्त्री-पुरुपो के सम्बन्ध दो स्तर पर हुआ करते हैं। एक पशु स्तर पर और दूसरा मानव स्तर पर। गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, शृगाल, लोमडी इत्यादि का आपस मे मेल-फीमेल का मिलन, सहयोग, सभोग केवल मात्र बीज के आदान-प्रदान के लिए होता है। ये जानवर एक साथ रहते-विचरते नजर नही आते। केवल सिह, सिहनी ही जोडे के साथ रहते हैं। इसी प्रकार स्त्री-पुरुपो के सम्बन्ध जब केवल यौन तृष्णा की तृप्ति के लिए होते रहते हैं वे सम्बन्ध बडे निम्न स्तर के होते हैं और वे स्तर जाने जाते है व्यभिचार-दुराचार के नाम से। ये सम्बन्ध तामसिक बुद्धि के स्तर पर हुआ करते हैं। और जो सम्बन्ध सहवास-सहयोग की भावना से होते हैं वह आपस का ग्रन्थन विवाह के माध्यम से होता है निश्चित, स्थायी। यह सम्बन्ध केवल शारीरिक नही हुआ करता। यहाँ आत्मा का भी मिलन होता है। यह सम्बन्ध बडा दिव्य होता हे। इसमे समता रहती है। यह सम्बन्ध छोटे-बडे की भावना से शून्य रहता है। कार्य-क्षेत्र मे चाहे इस सम्बन्ध के रूपान्तर भले ही दृष्टिगत हो, किन्तु इन दोनो के हृदय मे न कोई छोटा है न कोईबडा है। ये एक हृदय के दो

टुकडे हैं जो कि एक इकाई मे आने के लिए बडे लालायित बने रहते हैं।

स्त्री-पुरुष दोनो की शरीर रचना एक-दूसरे से कितनी भिन्न है किन्तु ये दोनो है एक-दूसरे के पूरक। मिलन भोक्ता और भोग्य का होता है न कि समान धर्म वालो का। भोक्ता है यदि भोग्य नही, तो मडली मे बैठे हुए रोते रहे। वही अवस्था होगी भोग्य की। दूध है, भोक्ता नही, उस दूध का कोई मूल्य नही। भोक्ता है भोग्य नही, उसका भी कोई मूल्य नही। ये दोनो ही अपने आप मे अधूरे ह। स्त्री निश्चित रूप से भोग्य है, पुरुष भोक्ता। स्त्री के अग-प्रत्यग पुरुष के लिए सभी भोग्य वस्तुए हैं। यह है प्रकृति का नियम। भोक्ता यदि भोग्य वस्तु को हेय दृष्टि से देखे, तो इसमे उसकी मूर्खता ही है। जिसका काम जिसके बिना न चल सके, उसकी उपयोगिता की अवहेलना मूर्खता के लक्षण ही तो है।

किसी भोग्य वस्तु को तिरस्कृत करके उसको भोगना बुद्धि का निम्नतम स्तर है। गरीब लोहे और पीतल की थालियो मे भोजन करते है। धनाढ्य और राजा-महाराजा चादी की थाली मे भोजन करते है। भोजन का उद्देश्य तो एक ही है, किन्तु भोजन करने के पात्रो मे फर्क होता है। चादी-सोने की थाली मे भोजन करने वाला भोजन को बडा पवित्र समझता है और उस भोजन को थामने के लिए मूल्यवान धातु की बनी हुई थाली ही उपयुक्त समझी जाती है। इस प्रकार किये जाने पर भोजन स्वादु प्रिय, तुष्टिकारक होता है।

इस न्याय से स्त्री जाति को मनुष्य सदा ही आदर देता आया है। विवाह करने के लिए वर को वधू के घर पर जाना होता है और उसके स्वागत के लिए अपने साथ सगे, सम्बन्धी, परिजनो को ले जाता है। यह बारात का जाना वधू के स्वागत के लिए होता है। उसको सम्मान प्रदान करके तब वर वधू को अपने घर पर लाता है। यदि पुरुष स्त्री को हेय दृष्टि से देखता होता और स्त्री को दासी समझता तो यह विवाह के बधन मे न आता। नौकरानी को रखने के लिए तो हम उसके घर पर बुलाने नही जाते। वह स्वत. ही काम के फिराक मे अपने-आप आ जाती है। और नौकर-नौकरानी तो आते हैं और जाते हैं। उनका तो हमारे घर मे प्रभुत्व नही जमता व जम सकता है। वधू तो घर मे पदार्पण करते ही घर की स्वामिनी बन जाती है जो कि गृहिणी के नाम से पहिचानी जाती है। स्त्री को पुरुष के ऊपर निर्भर बना रहना न निन्दनीय है, न हेय। स्त्री निस्सहाय निन्दनीय तो तब बनती है जबकि पुरुष उसकी उस

निर्भरता की अवस्था की अवहेलना और उसका तिरस्कार करे।

प्रकृति ने ही स्त्री को ऋतु काल में तीन दिन ज्यादा-से-ज्यादा आराम करना चाहिए। इस काल में उसकी शारीरिक अवस्था निर्बल हो जाती है। आज की स्त्रियाँ इन चीजों पर ध्यान नहीं देती, किन्तु उसका असर उनको स्पष्ट महसूस किए बिना नहीं रहता। इस काल में किसी का पढ़ना, लिखना, सीना, पिरोना वर्जित है। गर्भाधान से लेकर प्रसव के समय तक का समय विशेष अवस्था होती है जबकि उन्हें मानसिक एवं शारीरिक श्रमों से दूर रहना बहुत आवश्यक है। इस काल में माता की मानसिक स्थिति का असर बच्चे पर बड़ा भारी पड़ता है। वैज्ञानिक विद्वान् मनोविज्ञान का कहना है कि बच्चे की शिक्षा का प्रारम्भ गर्भ में ही शुरू हो जाता है। माता निर्माण-कर्त्री है। यह उसके हाथ की बात है कि वह अपनी सन्तान को कितना गुणवान उत्पन्न करे। यह उनको प्रकृति की देन है। पुरुष की नहीं। पुरुष सिर्फ बीज डालता है, फल किस प्रकार होगा यह भूमि के क्षार (Salts) के ऊपर निर्भर करता है। एक ही किस्म के फल किसी भूमि के खट्टे होते हैं, किसी भूमि के मीठे होते हैं। कहीं के कुंठित, कहीं के परिपुष्ट। कई बच्चे जन्म-जात लूले, लंगड़े, अंधे, गूंगे, विकृत होते हैं। इसका कारण माता-पिता की गफलत है। आज तो यौन सम्बन्धी विज्ञान पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, लिखा जा रहा है, किन्तु हमारे ऋषियों ने हजारों साल पहले इस विज्ञान-दर्शन को सारगर्भित सूत्रों में आबद्ध कर दिया था जो कि आज भी काम-सूत्रों के नाम से जाने जाते हैं।

स्त्री का भरण-पोषण पुरुष का गौरव है न कि उसका भार। यह तो पुरुष की पालन शक्ति को प्रस्फुटित करता है। आज के युग में अपनी गृहस्थी के पालन के लिए स्त्री-पुरुष के एक साथ उपार्जन करने की पुकार है, यह दोनों के लिए हानिकर है। पुरुष की शक्ति को कुंठित बनाता है और स्त्री के कार्य-क्षेत्र के अन्दर बाधा पहुंचाता है। स्त्री का कार्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक, विस्तृत एवं बड़ा नाजुक है। अनाज इत्यादि तौलने के लिए थोड़े से रुपयों में तराजू उपलब्ध हो जाती है। विज्ञान की प्रयोगशाला की तराजू जो कि बड़ी नाजुक होती है, उसकी कीमत हजारों में होती है।

प्रकृति ने स्त्री का शरीर कमजोर नहीं, कोमल बनाया है और उसमें बड़ा राज है। पुरुष का शरीर बलिष्ठ, दृढ़ बनाया है। स्त्री और पुरुषों की हड्डियों की बनावट भी एक-सी नहीं होती हालांकि दोनों ही समान तत्वों

से बनती हे। कोमल शरीर वाली स्त्री के दूध ज्यादा उतरता हैं। कोमलता प्रचुर खून का द्योतक है, स्थूलता चर्वी का। हमने देखा है अच्छे हृष्ट-पुष्ट निरोगी पुरुषो की हथेलिया वडी नरम होती हैं। राम और कृष्ण की हथेलियो की कोमलता तो सर्वविदित है। किन्तु उनका बाहुबल असीम था। यदि स्त्री को ईमानदारी से अपने कार्य-क्षेत्र का निर्वाह करने दे, तो वह राष्ट्र निर्माण मे बडी सहायक बनेगी। स्त्रियो को फौज मे भरती होने, लडाई के के मैदान मे लडने की आवश्यकता नही। उसका कार्य-क्षेत्र तो वीरो को उत्पन्न करने का है। जब कभी माता, स्त्री, बहन, वीरो को रण मे जूझने के लिए विदाई देती है तो उस वीर मे एक अलौकिक शक्ति का सचार होता है। स्त्रियां तो विदाई देने वाली बन, न कि खुद विदा हो जाए। न रहेगा बास न बजेगी बासुरी कहावत चरितार्थ हो जायेगी।

नैपोलियन को नैपोलियन बनाने का श्रेय उसकी मा को था। उसके जैसी माता यदि उसको न प्राप्त होती तो वह फौज का एक साधारण सिपाही बना रहता। उसके बाल्यकाल मे उसमे महत्वाकाक्षा भर देने वाली उसकी मा ही थी। मदालसा के प्रथम बार गर्भाधान पर राजा ने कहा, 'हे मदालसे, तेरा पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा।' मदालसा मुस्करा दी। हुआ पुत्र अवश्य, परन्तु माता ने उसके हृदय मे आत्म-दर्शन की लालसा ५ वर्ष की आयु के अन्दर-अन्दर भर दी और बच्चे ने जगल की राह ली। इस प्रकार मदालसा के सात पुत्र हुए और सातो दफे राजा ने कहा कि उसके पुत्र चक्रवर्ती राजा होगे और सातो दफे मदालसा मुस्करा दी। आठवी बार गर्भाधान होने के पश्चात् राजा ने अपनी स्त्री मदालसा से प्रार्थना की, 'हे मदालसे! मुझे तू चक्रवर्ती राजा प्रदान कर।' मदालसा बोली, 'तथास्तु।' और उसके आठवे पुत्र के अन्दर चक्रवर्ती राजा होने की स्फूरणा भर दी। इस प्रकार के और उदाहरण देकर हम लेख के कलेवर को भारी बनाना उचित नही समझते।

स्त्री शक्ति स्वरूपा है। स्त्री जब तक इस शक्ति की रक्षा करने मे सफल बनी रहती है, देश और जाति बडे उन्नत बने रहते है और देश पडित, विज्ञानी, दानी, शूरवीर, पुरुषो से भरा रहता है। जब यह शक्ति ऋण-प्रवण हो चलती है तो व्यक्ति, समाज और देश को भस्मी-भूत होने मे देर नही लगती। स्त्री शारीरिक बल के नाते अबला कही गई है किन्तु उसका मनोबल बडा दृढ होता है, और इसी मनोबल के आधार पर यह माता बनने मे सफल होती है। यदि यौन-प्रेरणा इतनी उग्र और प्रबल न होती और गर्भाधान एव

प्रजनन के कष्ट के सहने मे इतनी दृढ़ता उनमें न होती, तो कोई भी स्त्री माता बनने का स्वप्न तक न देखती। साधारणत स्त्रियां हृदय से संतान-नियोजन नही चाहती। ये सब प्राकृतिक नियम है।

आज की यह चिल्लाहट कि स्त्री पुरुष के लिए सन्तान पैदा करने की निर्जीव मशीन नही है एक विडम्बनापूर्ण मिथ्यावाद है। हम यह सुनते आये है कि स्त्री जाति मे पुरुष से आठ गुनी अधिक काम-वासना होती। यह नितान्त मिथ्या बात है। स्त्री के अन्दर सन्तान-उत्पत्ति की एक भूख होती है जिससे कि पुरुष नितान्त अनभिज्ञ बना रहता है। स्त्री माँ शब्द सुनने के लिए कितनी आतुर, कितनी लालायित बनी रहती है, पुरुष उसका अन्दाज लगाने मे असमर्थ है। यदि इस प्रकार की अदम्य भूख उसके हृदय के अन्दर प्रज्ज्वलित न होती, तो स्त्री भूलकर भी प्रजनन-कार्य के अन्दर कभी भी पदार्पण न करती। यह सब प्रकृति के कार्य हैं। इसमे किसी का जोर नही चलता। यदि प्रजनन पुरुष की दृष्टि मे दासत्व की निशानी होती, तो कम-से-कम ब्रिटिश साम्राज्य की तख्तनशीन सम्राज्ञी विक्टोरिया कभी भी सन्तान उत्पन्न करने के पथ पर अग्रसर न होती।

हमने देखा है, नारी बॅरिस्टर, वकील, डाक्टर मजिस्ट्रेट, इंजीनियर, प्रोफेसर इत्यादि जो कि प्रजनन-काल व्यतीत होने के पश्चात् शादी कर लेती हैं और सन्तान से विमुख बनी रहती हैं उनकी बातें आह भरी होती है। वे कहती सुनी जाती है कि सन्तान के अभाव मे आज उनका घर शून्य है। इस कमाई मे, इन प्रासादो मे, जिनमे वे रहती हैं, आनन्द अनुभव नही करती। वे अपनी गलती के ऊपर दो आँसू ढुलकाये बिना भी नही रहती। माँ शब्द सुनने से वचित बना रहना स्त्री को आगे चलकर असह्य हो जाता है। स्त्री नैसर्गिक रूप से माता बनना चाहती है, और इसी के कारण वह विवाह-बन्धन मे सहर्ष बधने मे गौरव प्रतीत करती है। इसके विरुद्ध सारी चिल्लाहटें छिछले दिमाग की द्योतक हैं।

माता बनना यदि बन्धन है, हेय क्रिया है तो महारानी विक्टोरिया एक-दो सन्तान होने के पश्चात् और सन्तान प्रजनन के पथ पर आरूढ न बनी रहती। गर्भ धारण, प्रजनन, स्त्री को काफी कष्टदेह है, किन्तु उसके सन्तान का होना उसे दिव्य सुख का प्रदाता है। इस न्याय से स्पष्ट हो जाता है कि वह पुरुष के लिए प्रजनन की मशीन नही है, वह प्रकृति माता की प्रतिरूपा है जिसमे भगवान भी अपना बीज आरोपण करके सृष्टि की रचना करते है।

स्त्री प्रजनन द्वारा प्रकृति के प्रतिनिधित्व का निर्वाह करती है। स्त्री-पुरुष के बीच मे दास-दासीत्व की भावना उसी वक्त पनपती है जबकि दोनो के हृदयो का एकीकरण नही हो पाता। स्त्री-पुरुष मे आपस का प्रेम तब उद्‌भव हो पाता है जबकि दोनो का सामजस्यपूर्वक एकीकरण हो कर अपनी सतान के माता-पिता बन जाते है।

नारी स्तर के उत्थान का हिमायती व्यक्ति स्वामी शब्द मे गर्ह्य दुर्गन्ध का अनुभव करता है। उसको यह पता नही कि कितनी भी विदुषी नारी क्यो न हो वह पति को अपने से विशेष योग्य पाने की इच्छुक बनी रहती है। वह अपने को अपने पति से ढक देना चाहती है। इसमे वह आनन्द और गौरव अनुभव करती है। यदि ऐसी बात न होती, और पति केवल काम-वासना की तृप्ति का हेतु मात्र ही रहता, तो वह किसी का भी वरण कर सकती थी। स्त्री जाति मे सेवा वृत्ति की भावना नैसर्गिक है। आखिर वह भूमि-स्वरूपा ही तो ठहरी। सिंह और सिंहनी बल मे एक-दूसरे से कम नही है, किन्तु सिंहनी अपने पति सिंह के सान्निध्य मे बेखौफ सोते रहने मे बडा आनन्द अनुभव करती है। जब तक सिहनी उसके सान्निध्य मे सोयी हुई है वह निरन्तर- चौकन्ना बना रहेगा। स्त्री-जाति रक्षा चाहती है। रक्षा सबल ही कर सकता है, निर्बल नही।

पाश्चात्य देशो के अन्दर भी जिस घर मे अर्थाभाव नही होता, वहाँ की नारी घर की स्वामिनी बने रहने मे बडा आनन्द और गौरव अनुभव करती है और पति के आने की प्रतीक्षा करती रहती है, और उसके आ जाने पर उसके स्वागत मे अपने हृदय के प्रेम को उडेलने मे तनिक भी हिचकती नही। वरन् आनन्द की वर्षा करती है–अपने ऊपर एव पति के ऊपर। पति पत्नी का सम्बन्ध स्वर्गीय है, दिव्य है। इस सम्बन्ध मे स्वामी-दासी की भावना भर देना नितान्त गर्हित है। निन्दनीय है। अशोभनीय है। समाज, देश के लिए बडा अहितकारी है।

ससार के बडे-से-बडे पुरुषो के जीवन निर्माण मे यदि उनकी माता का हाथ न होता, तो वे अपनी माताओ की मुक्त कठ से गुण-गाथा कभी न गाते। इसलिए यह सिद्ध होता है कि नारी का कार्य-क्षेत्र इतना आसान, सहज नही है जितना कि वह दिखाई देता है। यदि माता का स्तर इतना हल्का होता जितना कि आज के लोगो ने मान रखा है तो वे महायोगेश्वर कृष्ण अपनी माता यशोदा के साथ किलोल करने मे इतने रत न रहते। कृष्ण के जीवन मे प्रेम के दो स्तर नजर आते है और दोनो स्तर अपने मे परिपूर्ण हैं। एक है राधा का प्रेम, दूसरा है माँ यशोदा का प्रेम।

आज तीसरी पुकार है कि स्त्रियो को वीरांगनाए बनना चाहिए, ताकि वे रणचडी बन सकें। यदि वीरो की माताए वीरागनाए नही हैं, या न होती, तो फिर वीर कहा से उत्पन्न होते ? दुर्गा रणचडी तो तब बनती है जब पृथ्वी पर मनुष्य का अत्याचार असह्य हो उठता है। ऐसी घटनाए आज भी होती हैं। जब मनुष्य नैतिक स्तर से बहुत नीचे गिर जाता है, तब उसको उबारने के लिए स्त्री तत्व की आवश्यकता पडती है और वह तत्व ही उसको उबारने में समर्थ होता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को जब-तक कि हम सही परिप्रेक्ष्य मे देखने की कोशिश न करेंगे, तब तक हमारा दृष्टिकोण भ्रमित-दूषित बना रहेगा, और पुरुष स्त्री से खिलवाड करने मे तनिक भी न झिझकेगा और दोनो रसातल मे जाये बिना न रहेगे। ऐसी अवस्था मे समाज के बेडे को डूबने मे क्या देरी लगेगी, जिस अवस्था के आज हम प्रत्यक्ष साक्षी है।

स्त्री नियत्रण चाहती है। उसको नियत्रण की बडी आवश्यकता है। यह नियत्रण उसकी रक्षा का ही रूप है। भोग्य पदार्थ जितने भी हैं उनको सुरक्षित न रखा जाए, तो वे विषैले बने बिना न रहेंगे। उन भोग्य पदार्थों को विषाक्त वातावरण से बचाये रखना उनका अपमान नही है, वरन् उनकी पूजा है। मनु कहते हैं, जिस कुल मे स्त्रियो की पूजा नही होती उस कुल मे देवता वास नही करते। इसका अर्थ यह नही है कि रोली-चावल से उनके चरणो को चर्चित किया जाए, वरन् उनकी इस प्रकार रक्षा की जाए, कि वें पूजा की पात्री बनी रहे ताकि उनकी दिव्य ज्योति पर किसी प्रकार का नामाकूल फतिंगा हमला करने की हिमाकत न कर सके। बल्कि जो कोई उनके सामने आए, वह नतमस्तक ही होता चला जाए। यह है सच्ची पूजा स्त्री की।

गुण्डा स्तर के पुरुष सभी देशो मे कम या ज्यादा मात्रा म पाये जाते है। इनके कुकृत्यो से पुरुष वर्ग को कलकित कर देना न बुद्धिमत्ता है, न दूरदर्शिता न ही गहन विचार का द्योतक है। पुरुष-वर्ग स्त्री-वर्ग के ऊपर अत्याचार करने मे असमर्थ हैं। स्त्री-वर्ग पर अत्याचार होता हे स्त्री-वर्ग के द्वारा ही। आप गुण्डो को आपस मे लडते हुए पायेगे और गायो को भी आपस मे, किन्तु साड और गाय की लडाई आपने कदाचित न देखी होगी। घरो मे कभी-कभी पुरुषो द्वारा स्त्रियो पर अत्याचार होते देखने मे आता है, लेकिन उसकी तह मे स्त्री का हाथ ही होता है। माता के द्वारा भडकाये जाने पर लडका अपनी स्त्री पर कभी-कभी हाथ चला बैठता है और अपनी स्त्री के भडकाये जाने पर कभी-कभी ससुर के द्वारा भी अत्याचार होता नजर आता है। भाई-भाई के आपस

मे क्लेश की जड के अन्दर स्त्री-तत्व ही क्रियाशील रहता है। इन सब अत्याचारो मे स्त्री का हाथ परोक्ष मे बने रहने के कारण पुरुष वर्ग बदनाम हो जाता है। यहा तक कि नामी गुण्डे, बदमाश के जीवन-यापन या उनकी क्रिया-कलापो का सूक्षता से अध्ययन किया जाए तो उनकी पृष्ठभूमि मे स्त्री तत्व सक्रिय मिलेगा।

पुरुष और स्त्री मे बहुत अन्तर है। पुरुष को अपने-आपको शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील बनना पडता है जबकि स्त्री जन्म से हो सहज रूप से शक्ति सम्पन्ना है। स्त्री का अपनी दिव्य शक्ति का ह्रास न होने देना ही उसकी सबसे बडी कुशलता है। स्त्री-लिंगवाचक पदार्थो को ही हम लेले। वे सब रसीले, उपकारी और स्वादिष्ट होते है जैसे नारगी, मौसमी, लीची दाल, कढी, पूडी, कचौडी, साग-भाजी, रबडी, रसमलाई, जलेबी, इमरती, रस भरी। पुलिंग-वाचक पदार्थ स्वादिष्ट होने पर भी जरा सख्त, कठोर पाये जाते हैं जैसे सेब, अमरूद, नारियल, परावठा, लड्डू इत्यादि। लड्डू और बरफी की होड मे बरफी की विजय होगी।

स्त्री सदा-सर्वदा पुरुष से सेविता बनी रहेगी। पुरुष सदा उससे प्रभावित बना रहेगा। पुरुष पर स्त्री का प्रभाव बडा प्रबल होता है। चाहे इस प्रभाव के दो रूप हो—ऋण और धन। ऋण प्रभाव पुरुष को मिट्टी मे मिला देता ह और धन प्रभाव मनुष्य को उच्च कोटि का बना देता है। आखिरकार पुरुष का स्रोत है तो स्त्री ही। जैसा स्रोत होगा उसीके अनुसार जल होगा। खारे स्रोत का खारा पानी और मीठे स्रोत का पानी मीठा ही होगा। श्रेय का भागी तो स्रोत ही रहेगा। इसीलिए पुरुष स्त्री जाति का कदापि अपमान नही कर सकता। आवश्यकता पडने पर जैसे स्त्रिया रण के अन्दर जूझने मे नही डरती थी, आज भी राजनैतिक क्षेत्र मे आ सकती है। किन्तु जिस प्रकार आजकल लडके-लडकिया मिलकर स्कूल और कालेजो मे आगजनी, तोड-फोड मे भाग लेते है, यह सब गतिविधि उनके नैसर्गिक स्वभाव को कुठित बनाये बिना न रहेगी। स्त्री तो शक्ति है। जब कभी पुरुष को शक्ति की आवश्यकता पडे, वह शक्ति का आवाहन कर सकता हे। हम देवी-देवताओ की पूजा करते है, लेकिन जीवन के हर पहलू से मुकाबला करने मे उनका आह्वान नही करते। अतिकष्ट होने पर, जहा कि हमारी सामर्थ्य काम न दे, तब शक्ति का आवाहन करना उचित है और करना भी चाहिए। लेकिन शक्ति को व्यर्थ नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नही।

किसे बड़ा कहें, किसे छोटा

छोटे-बडे का प्रश्न बडा ही विवादास्पद है। हम निश्चित ही नही कर पाते, किसे बडा कहा जाय, किसे छोटा ? शक्ति-सम्पन्न धनाढ्य व्यक्ति को ही हम बडा मान लेते है। धुरन्धर विद्वान व्यक्ति को भी हम बडा आदमी कहते है। उच्च पदस्थ व्यक्ति भी बडा आदमी कहलाता है। इस मापदण्ड के अनुसार सम्पत्तिहीन-साधारण स्थिति के लोग ही छोटे गिने जाते है। चोर-डाकू भी जब कभी सम्पत्ति-सचय मे सफल हो जाते है तो उनके वैभव को देख हम उन्हे भी बडा मान बैठते है। विदेशो से आततायी आये, हमे पददलित कर हमारे ऊपर शासन जमा लिया, उन्हे भी हम बडो की सज्ञा देने मे हिचके नही। अकबर जैसे आततायी को महान् अकबर कह बैठे। इस विपय मे हमारी वुद्धि इतनी भ्रमित है कि यह निश्चय ही नही कर पाती कि यथार्थ मे कौन बडा है और कौन छोटा !

प्रत्येक पदार्थ का अपना एक नैसर्गिक गुण होता है और विपम परिस्थिति मे आने पर भी उसका यह नैसर्गिक गुण नष्ट नही होता। शीतलता पानी

का नैसर्गिक गुण है, अग्नि का सान्निध्य पाकर पानी उबलने लगता है, पानी के उबलने की अवस्था उसका विषम रूप है, किन्तु कैसी भी प्रचण्ड अग्नि क्यो न हो उसे शान्त करने मे यह उबलता पानी सक्षम है। अग्नि का स्वभाव है दूसरे पदार्थ को जला कर अपना रूप दे देना, यहा तक की लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी यह अपना रूप दिये बिना नही रहती। उस अग्नि मे विष्टा जैसा अशुद्ध पदार्थ भी यदि डाल दिया जाय तो उसे भी आत्मसात करने मे यह हिचकती नही। इसी प्रकार अपवित्र वस्तु पवित्र वस्तु को अपवित्र किये बिना नही रहती। दुर्गन्ध-युक्त पदार्थ मे सुगन्धित पदार्थ कितना भी मिला दीजिए वह उसे विकृत किये बिना नही रहता। किसी भी पदार्थ का सानिध्य प्राप्त करने वाला पदार्थ उससे प्रभावित हुए बिना नही रहता। हम किसी भी तथाकथित बडे आदमी के घर चले जाय और वह हमे अपना वैभव दिखाने लगे तो दृष्टा के हृदय मे एक घुटन पैदा हो जाती है। वैभव प्रदर्शन-कर्ता का एक उद्देश्य होता है दृष्टा की दृष्टि मे बडा बनना एव उसे छोटा बनाना। उस दृष्टा की घुटन समाप्त होती है उस वातावरण से बाहर चले आने पर। एक मध्यम कद का आदमी किसी लम्बे कद वाले आदमी के सामने जा खडा हो तो अपने को छोटा अनुभव करने लगता है और एक अजीब घुटन का अनुभव करने लगता है। उसके सानिध्य से मुक्त होते ही फिर वह स्वस्थ हो चलता है, और अपने नैसर्गिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इन दो उदाहरणो से यह सिद्ध हुआ कि दरअसल मे छोटा वह है जो दूसरो को छोटा बना दे। एक पदार्थ अपना ही गुण तो दूसरे पदार्थ को दे सकेगा। जिसको हम बडा कहते है दरअसल मे वे बडे नहीं थे। देखने मे बडे थे, किन्तु उनकी वृत्ति तो हीन थी।

सुना जाता है बुद्ध भगवान जिस किसी भी स्थान पर रहते, उनके चारो तरफ तीन मील तक उनका ओज फैला रहता था। कैसा भी दुष्प्रकृति का मनुष्य क्यो न हो उस ओज की परिधि मे प्रवेश करते ही वह शान्ति अनुभव करता, और भगवान बुद्ध के सम्मुख पहुचते ही अपने स्वभाव को खो बैठता, और भगवान से निसृत शान्ति रूपी सरिता मे गोते लगाने लगता, और छोटे-बडे का भाव ही भूल जाता। शिकारी को देखते ही हरिण भागते हैं और जगल मे कही कोई सत-महात्मा बैठा हो तो उसके शरीर के सानिध्य मे आकर अपनी खाज को खुजलाने मे भी हिचकते नही। कभी उनके पैर चाटने लगते हैं, कभी उनका शरीर, तो कभी मुह-से-मुह मिलाकर आनन्द-

विभोर हो जाते हैं। वे जडबुद्धि पशु भी उस स्थिति मे कितने चेतन, कितने प्रसन्न और कितने स्वच्छन्द प्रतीत होते हैं। और उस महात्मा से निसृत प्रेम की सलिला मे अवगाहन करते अघाते नही।

शिकारी की क्रूरता उन निरीह हिरणो को झुलसाये विना नही रहती। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि वास्तव मे बडा तो वह है जो कि दूसरो को बडप्पन प्रदान करे और उसे भी अपने समकक्ष ले आये, छोटा वह जो दूसरे को दुत्कारते हुए उसमे हीन भावना पैदा कर दे।

कर्म की कसौटी

आज हमारे यहा का उन्नत समृद्धिशाली व्यक्ति अहकार के मद मे चूर, नियत्रण की डोरी को कुतरते हुए उद्धत् उच्छृखल एव स्वच्छन्द हो चला है। उसने धारणा बना ली है कि वह जो करता है, ठीक है, क्योकि वह अपने को विचारक, बुद्धिमान एव दूरदर्शी मान बैठा है। इसका प्रधान कारण है उसकी भौतिक उन्नति। भौतिकता की चकाचौंध से वह अपने केन्द्र से विचलित एव अनियन्त्रित हो चला है। उसके विचार मे आर्य सस्कृति पर आधारित आचार-विचार, सदाचार का पालन ढकोसले की टट्टी है। इसकी परिधि मे रहकर वह अपने को छोटा अनुभव करता है। उसने यह धारणा बना रखी है कि अन्य देशो के वासी जबकि इतना स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हुए द्रुत-गति से भौतिक उन्नति मे अग्रसर होते चले जा रहे है तो उनकी होड मे वह क्यो पिछडा बना रहे। यदि स्वच्छन्दता ही विनाश का कारण होती तो अन्य देशो का वासी इतना उन्नत एव समृद्धि शाली कैसे बन पाता। इसलिए वह अपनी परम पुनीत मर्यादा की परिधि को पैरो तले रौदने मे तनिक भी हिचकता

नही । हमारे यहा स्त्री-पुरुष का मुक्त-मिश्रण (Free Assosiation) इसी का परिणामहै और इसके अन्तर्गत कितने गर्हित काण्ड होते हुए सुनने मे आते रहते है जिससे हृदय कपित हो उठता है ।

एक वडा सैद्धान्तिक तथ्य है कि नकल करने वाला मौलिकता से बहुत दूर वना रहता है । वह जडमति समझ ही नही पाता कि प्रत्येक देश की भिन्न-भिन्न सस्कृति होती है । वह सभ्यता एव सस्कृति (Civilization and Culture) के भेद मे अन्तर नही देख पाता ।

किसी भी देश का भौतिक विकास उसकी सस्कृति, उसकी आध्यात्मिक चेतना एव उसकी सभ्यता पर निर्भर करता है । सस्कृति एव भौतिक विकास का समन्वय नितान्त वाछनीय है । यदि ये दोनो प्रकार के विकास एक-दूसरे से स्वतत्र हैं, तो भय के कारण वने रहते हैं । इनका यथोचित समन्वय ही मनुष्य के जीवन को साँगोपाग सफल वनाने मे समर्थ है किन्तु अध्यात्मवाद से शून्य भौतिकवाद घातक एव अन्धकार मे ले जाने वाला होता है जिसकी अभि-व्यक्ति मनुष्य के उद्धत स्वच्छन्द व्यवहार मे होती है । इसी प्रकार अध्यात्मवाद भौतिकवाद की अवहेलना करने पर विशेप रूप से पगु एव निष्क्रिय हो चलता है तथा समाज और देश के लिए भय का कारण वन जाता है । जव कभी केवल अध्यात्मवादी समाज या देश भौतिक विकास की अवहेलना कर एव भौतिक-वाद को अभिभूत कर वढ चलता है तो उस समय समाज एव देश का एक सवल पहलू निकम्मा हो चलता है और अन्य सवल भौतिकवादी जातिया आकर उसको धर-दवाती हैं ।

मनुष्य का शरीर पच भौतिक होने के कारण उसका निर्वाह उन्ही तत्वो के द्वारा होना अनिवार्य है और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर करती है, क्योकि वलहीन व्यक्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त नही कर सकता । उपनिपद् का भी यही कथन है । भूख लगने पर विचार-शक्ति कुठित हो जाती है, फिर जीवात्मा आत्म-विचार क्या खाक करेगा ? तभी तो कहा गया है 'भूखे भजन न होई 'गोपाला' । केवल आत्मवादी पतनोन्मुख एव भिक्षुक हुए विना नही रहते तथा इसी का परिणाम है कि हमारे यहा ६०-७० लाख साधु सन्यासी, भिक्षुक नजर आते हैं जो कि समाज के निकम्मे अग, परान्नभोजी (Parasites) वन गये है । समाज के ऊपर इनका भार ऋणात्मक वना हुआ है । इन सव का खर्च कम-से-कम २ रुपये प्रतिदिन गिन ले तो सवा से

डेढ करोड रुपया देश का प्रतिदिन निरर्थक व्यय होता है। किन्तु धर्मनिष्ठ कर्मनिष्ठ साधु-सन्यासी, जो घनात्मक रूप से समाज की सेवा करते हैं, उनकी हम इनमे गणना नही करते हैं। इतनी बात केवल एक पक्ष को सिद्ध करने के लिए लिखनी पडी है।

इसी प्रकार अध्यात्मशून्य भौतिकवादी, चाहे वह समाज का एक सामान्य सदस्य हो या समाज या देश का सबल शासक, वह क्रूर, अत्याचारी, निरकुश, स्वच्छन्द, उद्धत हुए बिना नही रह सकता। आज पाश्चात्य देशो ने जितनी भौतिक उन्नति कर ली है उतनी अतीत मे कोई भी देश नही कर पाया था। किन्तु इतना होने पर भी यह भौतिक उन्नति सारे ससार को भयभीत बनाये हुए है और समार की सारी जातियो मे एक-दूसरे को हडप करने की प्रकृति बडी जोर पकडे हुए है। आज प्रत्येक मनुष्य मनुष्य से, समाज समाज से, राष्ट्र राष्ट्र से भयभीत बना हुआ है। आज किसी को विश्वास ही नही हो पाता कि कल कादि न आज के दिन के समान बीत सकेगा। एक-दूसरे के खून का प्यासा हो चला है। इसका प्रधान कारण आध्यातिक चेतना का अभाव है।

यदि भारतवर्ष आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि पर भौतिकना की अव-हेलना न कर बैठता, तो क्या मजाल थी कि हमारी तरफ कोई विदेशी आख उठाकर देख पाता? किन्तु ससार के सभी देश शान्ति की खोज मे तो हैं, किन्तु शान्ति प्राप्त करना चाहते है एक-दूसरे को अभिभूत करके। शान्ति की आधार-शिला है प्रेम, निस्वार्थ परायणता। यदि आज का मनुष्य दूसरे का विनाश करके शान्ति चाहता है तो यह कभी सभव नही।

हम यह नही कहते कि अन्य देश अध्यात्मवाद से नितान्त शून्य हैं। ऐसी कोई बात नही। उनमे भी अनेक मत-मतान्तर है। उनके शास्त्र भी मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखलाते हैं। वहा भी सत्य एव अहिंसा की दुहाई दी गई है, किन्तु वे इस बात को जीवन मे कार्यान्वित नही करते। वे आज ऐसे सिद्धान्त की फिराक मे हैं जिसके द्वारा उन्हे शान्ति एव आनन्द मिल सके। वे प्रकाश की तलाश मे हैं।

सूर्य सदा प्राची दिशा मे उदित होता है जो प्रकाश का प्रदाता है। और ज्ञान आत्मा के प्रकाश का प्रदाता है। इसलिए पूर्व के देश आरम्भ से ही आत्मिक ज्ञान के उद्गमस्रोत और केन्द्र बने हुए है—उनमे भी विशेष रूप से भारतवर्ष। आज पाश्चात्य देशो के तत्त्ववेत्ता मार्ग-दर्शन के लिए पूर्व की तरफ

मुह किये हुए हैं । हमारे सिद्धान्त-शास्त्र जैसे वेद, उपनिषद, गीता आदि का अध्ययन करने से उनकी विचारधारा ने जबर्दस्त मोड लाया है और वे मुक्त कण्ठ से हमारे अध्यात्म-ग्रन्थो की प्रशसा करते अघाते नही, जैसे मैक्समूलर, शोपेनहावर, एमर्सन, थोरो आदि ।

दूसरी ओर स्थिति यह है कि हम उनकी तरफ मुख किए हुए, उनकी सभ्यता का अन्धानुकरण करने मे स्वय को गौरवान्वित महसूस करते हैं । हम अपने पुराने इतिहास को भूल चुके है और विश्वास ही नही कर पाते कि हम भी एक दिन भौतिक विकास के मूर्धन्य शिखर पर पहुच चुके थे । ऐसी अवस्था को प्राप्त करने पर भी, उस अवस्था से च्युत होने का कारण चेतना की रीढ की हड्डी मे अहम् का प्रवेश होना था महाभारत जिसका साक्षी है । यह तो बहुत दूर की बात नही जबकि यहा के व्यापारी बगाल एव अन्यान्य प्रान्तो का पक्का माल विदेशो मे ले जाकर अपने देश को समुन्नत बनाते रहे । अत भारत सदैव सोने की चिडिया कहलाया । मुहम्मद गोरी, मुहम्मद गजनवी यहा की धन-राशि लूट कर ऊटो की कतारो पर लाद कर ले गये थे । फिर इतनी धन-राशि बिना व्यापार के कैसे इकट्ठी हो सकती थी ? क्या इसकी आकाश से वर्षा हुई थी ? किन्तु विजेताओ ने हमारे इतिहास को बदलकर झूठा इतिहास गढकर हमको विभ्रमित बना दिया और हम अपने को निरीह, निकम्मा तथा पिछडा हुआ समझ बैठे । यह सदा याद रखने की बात है कि अध्यात्मवाद के बाद भौतिकवाद ही आता है । बिना रोग के हुए उसका निदान एव दवा का निर्माण हो ही नही सकता । भौतिकवाद से उत्पन्न रोग का इलाज है अध्यात्म चेतना । इसलिए हमारा युवक यह न समझ बैठे कि आध्यात्मवाद कोरा वितडावाद ही है, और पुरुषार्थहीनता का एक सहारा मात्र ।

हमारा आज का युवक हमारे आध्यात्मवाद के खजाने तक की छाया को छू नही पाया है । खजाना तो तभी मिलता है जबकि उसके पास जाकर तालो को खोल, उसमे प्रवेश करें । क्या यो ही पाश्चात्य विद्वान जैसे मैक्समूलर, शोपेनहावर, हक्सले, इमर्सन हमारे उक्त ग्रन्थो पर विमुग्ध हो गये थे ?

एक दफा गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगौर अमरीका गये थे तथा थोरो की कुटीर पर जा पहुचे, (उनका निवास-स्थान अब भी सुरक्षित है) और उस मकान के रक्षक से पूछा, यह तो बताओ, वह कौन-सी पुस्तक है जो गुरुदेव

को सबसे ज्यादा प्रिय थी और नित्य जिसका अध्ययन करते रहते थे। एक मेज के ऊपर एक सुन्दर परिवान मे लिपटी हुई पुस्तक रखी हुई थी। उसका सकेत इसी पुस्तक की तरफ था और वह परम पुनीत पयस्विनी गीता थी। जब विदेशी विद्वान तत्त्ववेत्ता हमारे शास्त्रो का इतना आदर करे और हमारे युवक इन पुस्तको की अवहेलना करने मे अघायें नही तथा प्रकाश पाने की थोथी आशा करे, तो यह केवल विडम्बना नही तो और क्या है।

अध्यात्मवाद भौतिकवाद का प्राण है। प्राण-रहित शरीर जड है। उसमे दुर्गन्ध आये बिना रहेगी ही नही। यही कारण है कि आज हमारे यहा का स्त्री-पुरुष और देशो की देखा-देखी सदाचार का नियन्त्रण किस हद तक खो बैठा है, जो कि किसी से छिपा हुआ नही है। क्लब एव होटलो मे आये दिन जिस प्रकार का विनिमय होता रहता है क्या वह हमारे समाज के लिए कलक नही है, और मजे की बात तो यह है कि इस नारकीय कृत्य के कर्ता इसे बुरा तो समझते है लेकिन अपनी बुरी आदतो से लाचार हे चूकि यह उनके स्वभाव मे रम गई है। सन्तोष की इतनी ही बात है कि अपनी सस्कृति का बाना खो बैठने पर भी उनका ताना अभी तक अक्षुण्ण है। तभी तो उनकी बुरी आदतो के अन्दर उन्हेबुराई झलकती रहती है। शराबी शराब को छोड तो नही पाता किन्तु उसे बुरा जरूर समझता है क्योकि उससे होने वाली बुराइया उसकी दृष्टि से ओझल नही बनी रहती। इस प्रकार हमारा ताना तो अभी तक अक्षुण्ण है, फर्क आया है सिर्फ बाने मे, यानी आर्य सस्कृति मे उत्पन्न एव पला हुआ वह जीवन-यापन करने जा रहा है पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के वातावरण मे।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम अपने भूले-भटके युवको को किस तरह से समझाये कि वे गलत रास्ते के अनुगामी हो चले हैं तथा यह विनाशक पथ उनकी मृत्यु का कारण बने बिना नही रहेगा। देखो, मनुष्य के लिए वही वाञ्छनीय है जो कि सुखद हो, हितकर हो और जन-साधारण के लिए सन्तोषजनक भी हो। बहुत से कार्य सुखद होते तो है और हितकर भी माने जा सकते है किन्तु वे दूसरो के लिए सन्तोपजनक नही होते। जिस कार्य के सम्पादन मे भय, शका एव लज्जा का सचार हो, सुखद होने पर भी, सभी इन्द्रियो को सुख देने पर भी, यानी तोश पाने पर भी, हितकर नही होता हे। आज होटलो एव क्लबो के अन्दर कुकृत्य सुखद तो प्रतीत होते हैं चूकि वहा इन्द्रियो की तृप्ति होती है किन्तु हितकर नही। वे लोग जानते भी हैं कि यह हितकर नही

हृदय

मेरे एक प्रिय सज्जन बात-चीत कर रहे थे। इतने मे पूछ बैठे, 'क्या आपने कभी किसी को अपना दिल भी दिया है ?'

मैं भी चक्का-सा रह गया। विस्मय से सोचने लगा, कही दिल भी दिया जा सकता है ? क्या यह भी लेन-देन की वस्तु है ? धन दे दो। मन दे दो, तन दे दो, किन्तु दिल कैसे दिया जाये। इसको लेने वाला पात्र भी तो चाहिये। यह बडा तरल और स्निग्ध है। इसके जरा-सी ठेस लगने पर इसको तडकते भी देर नही लगती। इतनी पवित्र, सुकोमल और अनमोल चीज क्या किसी मैली-कुचैली थैली मे डाली जा सकती है ?

मेरे मित्र कहने लगे, 'ऐसा न सोचो, सभी थैलियाँ मैली नही होती। अरे, जिधर दृष्टिपात करो उधर ही स्वच्छ थैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

मैंने प्रति उत्तर देते हुए कहा, 'आप ठीक कहते हो। देखने मे तो ऐसा ही नजर आता है, किन्तु जब कभी दिल को उनमे से किसी साफ-सुथरी झकाझक थैली मे डालने की नौबत आती है या प्रयत्न किया जाता है तब उस

हृदय

मेरे एक प्रिय सज्जन बात-चीत कर रहे थे। इतने मे पूछ बैठे, 'क्या आपने कभी किसी को अपना दिल भी दिया है ?'

मैं भी चक्का-सा रह गया। विस्मय से सोचने लगा, कही दिल भी दिया जा सकता है ? क्या यह भी लेन-देन की वस्तु है ? धन दे दो। मन दे दो, तन दे दो, किन्तु दिल कैसे दिया जाये। इसको लेने वाला पात्र भी तो चाहिये। यह बडा तरल और स्निग्ध है। इसके जरा-सी ठेस लगने पर इसको तडकते भी देर नही लगती। इतनी पवित्र, सुकोमल और अनमोल चीज क्या किसी मैली-कुचैली थैली मे डाली जा सकती है ?

मेरे मित्र कहने लगे, 'ऐसा न सोचो, सभी थैलियाँ मैली नही होती। अरे, जिधर दृष्टिपात करो उधर ही स्वच्छ थैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

मैंने प्रति उत्तर देते हुए कहा, 'आप ठीक कहते हो। देखने मे तो ऐसा ही नजर आता है, किन्तु जब कभी दिल को उनमे से किसी साफ-सुथरी झकाझक थैली मे डालने की नौबत आती है या प्रयत्न किया जाता है तब उस

हृदय

मेरे एक प्रिय सज्जन बात-चीत कर रहे थे। इतने मे पूछ बैठे, 'क्या आपने कभी किसी को अपना दिल भी दिया है ?'

मैं भी चक्का-सा रह गया। विस्मय से सोचने लगा, कही दिल भी दिया जा सकता है ? क्या यह भी लेन-देन की वस्तु है ? धन दे दो। मन दे दो, तन दे दो, किन्तु दिल कैसे दिया जाये। इसको लेने वाला पात्र भी तो चाहिये। यह बडा तरल और स्निग्ध है। इसके जरा-सी ठेस लगने पर इसको तडकते भी देर नही लगती। इतनी पवित्र, सुकोमल और अनमोल चीज क्या किसी मैली-कुचैली थैली मे डाली जा सकती है ?

मेरे मित्र कहने लगे, 'ऐसा न सोचो, सभी थैलियाँ मैली नही होती। अरे, जिधर दृष्टिपात करो उधर ही स्वच्छ थैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

मैंने प्रति उत्तर देते हुए कहा, 'आप ठीक कहते हो। देखने मे तो ऐसा ही नजर आता है, किन्तु जब कभी दिल को उनमे से किसी साफ-सुथरी झकाझक थैली मे डालने की नौबत आती है या प्रयत्न किया जाता है तब उस

थैली का मुंह खुलता है और अन्दर का स्तर नजर पडे बिना नही रहता। किसी का वह स्तर सद्भाव से भरा होता है तो कोई-कोई साफ भी नजर आता है, किन्तु उसमे भी बिन्दु-बिन्दु से इतर-बितर दाग लगे रहते हैं। ये दाग दिल को दागी बनाये बिना नही रहते। देखिये, हलवाई अपनी दूध वाली कडाई को कितनी साफ और चमकदार बनाये रखता है, और उसमे कही भी बिन्दु मात्र दाग दृष्टिगोचर होने पर अपना दूध उसमे नही डालता, वह भली प्रकार जानता हे कि यह दाग उसके समस्त दूध को दूषित कर देगा। यही कारण है कि आदमी की बाह्य तडक-भडक को देखकर हम उस आदमी को उतना ही सज्जन मान बैठते है अथवा उसके दिल को भी उतना ही बेदाग। किन्तु उसके साथ हमारा यथार्थ सम्पर्क हमे विपत्ति के गर्त मे गर्क किये बिना नही रहता। तो फिर बताइये, दिल किसे दे और किसे न दें ?

भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद

भौतिकवाद एव अध्यात्मवाद एक ही थैली के दो सिक्के है। सच पूछा जाये तो ये दोनो एक सिक्के के ही दो पहलू हैं। यदि भौतिकवाद एक मुद्रा का अग्रभाग (Obverse) है तो अध्यात्मवाद पृष्ठ भाग (Reverse) है। किसी भी वस्तु का पृष्ठ भाग जितना ही सबल और जागृत रहेगा उसका अग्र भाग भी उतना ही बलिष्ठ सक्रिय होगा। वृक्ष का तना जितना दृढ एव बडा होगा उसी के अनुसार उस की शाखाएँ, उप-शाखाएँ ज्यादा और बडी ही बलिष्ठ होती हैं। केला एव पपीते के वृक्षो के धड पोले होत हैं तथा जल तत्त्व से भरे रहते हैं। इनमे दृढता नही होनी और आंधी के झोको को सहने मे ये असमर्थ होते हैं। वेगवान आँधी इन्हे मूल सहित धराशायी बना सकती है। इनके फल बडे स्वादिष्ट एव मीठे तथा लाभदायक होते हैं किन्तु इनके वृक्ष का अस्तित्व बडा अनिश्चित और अल्पायु होता है। आम्र वृक्ष का तना दृढ एव बलिष्ठ होता है, उसकी शाखाएँ भी बलिष्ठ होती हैं, फल भी स्वादिष्ट लेकिन उसके बीज अर्थात् गुठली बडी ही कठोर होती है। इसी गुठली के

ऊपर आम का गूदा चारो तरफ चिपटा रहता है । मनुष्य को ही लेले मनुष्य की रीढ की हड्डी जितनी दृढ और मजबूत होगी वह उतना ही सीधा और मजबूत बना रहेगा । रीढ की हड्डी टूटने पर उसकी मृत्यु ही हो जाती है ।

इन उदाहरणो से यह सिद्ध होता है कि वृक्ष उसकी जडे और उसकी शाखाएँ, फल आदि आपस मे अन्योन्याश्रित है । इसी प्रकार भौतिकवाद एव अध्यात्मवाद एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित है । आम्र वृक्ष की डालियो पर बैठा हुआ मनुष्य, इनके खट्टे-मीठे फलो को खाकर अपनी तृप्ति और अपने शरीर को परिपुष्ठ करता भले ही चला जाय और उसका धड भले ही उसकी आँखो से ओझल बना रहे और भले ही वह फल-फूलो से भरपूर शाखाओ, प्रशाखाओ को ही पेड मान ले, लेकिन जब कभी उसके धड मे किसी कारणवश विकृति आ जाती है अथवा उसकी जडे अपने रस से उसको सीचना बन्द कर देती है तो उस मनुष्य को, डालियो वाले वृक्ष को धराशायी होने मे देर नही लगेगी । पहले तो वही धराशायी होगा, धड पीछे । धड की कमजोरी इन डालियो को सुखाये बिना न रहेगी । ये डालियाँ अपने ही बोझ से धराशायी होकर ही रहेगी ।

इसी प्रकार मनुष्य के शरीर के भी दो भाग है—एक बाह्य रूप जो दृष्टिगत होता है, दूसरा उसका अन्तर्जगत जिसका स्वामी आत्मा है । आत्मा के निकल जाने पर इस मानव शरीर को धरती पर लोटने मे देर नही लगती । यह शरीर पच भौतिक है । यह दृष्टिमान जगत भी पच भौतिक है । जैसे शरीर का स्वामी आत्मा है उसी प्रकार इस दृश्यमान ससार का स्वामी इसके पृष्ठ भाग मे छिपा-सा मालूम होता है, किन्तु यह जगत स्थित है इसी तत्त्व के आधार पर और वह तत्त्व इसमे इस प्रकार रमा हुआ है जैसे आम्रवृक्ष मे उसका रस । इसी रस के द्वारा धड बनता है, इसी के द्वारा शाखाये, प्रशाखाएँ एव फल । इस रस की अनुपस्थिति मे आम्रवृक्ष की कल्पना भी नही हो सकती । रस पेड मे जिस तरह मे फैलता है, जिस प्रकार ऊर्ध्वगति होकर वृक्ष के प्रत्येक कण मे समा जाता है, उसी प्रकार यह ईश-तत्त्व इस ससार सागर के मे और उसके प्राणी मात्र मे समाया हुआ है । जैसे रस की प्रक्रियाएँ नेत्रो को दृष्टिगत नही होती सिर्फ हमे आम्रवृक्ष का बाह्य रूप दिखाई देता है, उसी प्रकार वह विश्वात्मा अदृश्यमान होकर इस समस्त विश्व का सचालन कर रहा है । विश्व के निवासी उस आम्रवृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य के क्रिया-कलापो को अनुभूत कर सकते है, देख सकते है लेकिन यह बात बुद्धि मे भी नही समा पाती कि जिन

फलो का वह जायका ले रहा है वे आते कहाँ से हैं।

बडे-बडे सन्त-महात्मा भी केवल यही कहते हे कि इस विश्व का नियन्ता कोई अदृश्य शक्ति है जिसे इन चर्म-चक्षुओ से देखना असभव है। वे भी केवल इसका अन्दाज मात्र ही करते हैं क्योकि वे भी अपने केन्द्र के दर्शन करने मे असमर्थ है। वे इतना ही कहते हे कि जिस केन्द्र मे स्थित होकर हमने उसका रस पिया है, वह तुम्हारे भौतिक रसो से अत्यन्त मधुर, त्रिदोपनाशक और अमरत्त्व प्रदाता है। जो कोई भाग्यशाली पुरुप उनकी वातो को मान लेता है वह निहाल हुए विना नही रहता और बाकी के मनुष्य उन महात्माओ की वातो का मखौल उडाते हैं। इस भौतिक जगत के रस जो कभी खट्टे, मीठे और कभी तीते होते है, उन्ही मे मनुष्य लिपटे रहते हैं। खट्टा रस चखने पर वे चिल्लाते हे तथा मधुर रसास्वादन से मदान्ध हो जाते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि जब दोनो जगत (अध्यात्म व भौतिक) एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित है तो भौतिक जगत् अपने आप मे स्थित कैसे बना हुआ है। थोडे काल के लिए यदि यह मान भी ले कि पृष्ठ भाग का अस्तित्त्व हे ही नही क्योकि अग्रभाग से ही हमारा काम चल जाता है, तो प्रश्न कर्ता की बात ऊपर से देखने पर कुछ-कुछ सही तो लगती है किन्तु हम उसे पूर्णत ठुकराने की बात भी कहा करते है। अच्छा देखो, हाथ-पैर टूटने से मनुष्य का कुछ विगडता है क्या ? हमने देखा है, नेत्र हीन बडे-बडे विद्वान हुए है, पगु देश-देशान्तरो का चक्कर लगा लेते हैं, गूँगा अपनी साकेतिक भाषा तैयार करके भली प्रकार जीवनयापन मे सक्षम बना रहता है। यहाँ तक कि कोढी और कलकियो का भी जीवन कायम रहता हे। जिनके हाथ, पैर गलित हो चुके हैं, लेकिन रीढ की हड्डी सबल है तो उसका जीवन फिर भी बचा हुआ है। जब कभी हम सुनते हे कि अमुक आदमी की कमर मे चोट आ गई तो हमारा पहला प्रश्न होता है कि उसकी रीढ की हड्डी तो सुरक्षित है ? सुनने मे जब आता है कि रीढ की हड्डी टूट गई तो हमे निराशा घेरे विना नही रहती। हमारे ही समय की बात है, एक युवक को गाफिल करके उसकी रीढ की हड्डी तोड दी गई और उसे मकान से बाहर थोडी ऊँचाई पर से पटक दिया। उस मृतक का शरीर बडा शान्त व गभीर निद्रामग्न-सा लग रहा था और उसे आत्म-हत्या की सज्ञा देकर हत्यारे हत्या के दोष से वचे रहे।

उस आम्रवृक्ष के ऊपर बैठा हुआ कोई जिज्ञासु व्यक्ति उसकी पत्तियो को

ग्रौर छोटी-छोटी टहनियो को तोड लेता है, ग्रौर उनसे वहते हुए रस को चख लेता है जिसका स्वाद कसैला, चिपचिपा-सा मालूम होता है। उसे इतनी तो ग्रनुभूति हो जाती है कि यह रम ही ग्राम्रफल के रूप मे ग्रा जाता है। इसी प्रकार हम चाहे तो उस वहते हुए ग्रमृत रस का भी ग्रनुभव कर सकते है। यह विश्व ग्रनन्त रसो से ग्रोत-प्रोत है, छिपाने पर भी ये रस छिप कहाँ सकते हैं। जरा ग्रन्तर्दृष्टि से देखे तो वह वडा जागरूक लगता है। ऐसा कौनसा मनुष्य है जो सत्य शिव यानी सत्य व्यवहार ग्रौर मगलकारी व्यवस्था का लालायित नही वना हुग्रा हो ? मनुष्य चाहे निज मे कितना ही झूठ वोले, कितने ही ग्रत्याचार कर डारो, कितना ही दूसरो को भटकाता रहे किन्तु वह नही चाहता कि यही व्यवहार उसके साथ कोई दूसरा करे। वह नही चाहता कि उमे कोई झूठ वोल कर प्रवचित करके ग्रथवा उसके इर्द-गिर्द ग्रमगलकारी ग्रशिव दुख-दाह कारक किसी प्रकार का विचार, वातावरण उपस्थित कर दे। वह चाहे निज मे कितना भी ग्रसुन्दर हो किन्तु ग्रसुन्दर, घृणास्पद वस्तु के दर्शन करने मे वह स्वय ग्रसमर्थ वना रहता है। उसको केवल सत्य, शिव, सुन्दरम् की झाँकी ही प्रसन्नता का कारण वन सकती है। इसके विपरीत की ग्रवस्था उसके वर्दाश्त के वाहर की वात है।

यह सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् ही तो ऋत का रूप है। इस जगत-रूपी मुद्रा का वही पृष्ठ भाग है जिसे मनुष्य ठुकराये चला जा रहा है ग्रौर फलस्वरूप वह घोर रौरव नरक का विलविलाता नारकीय कीट वने विना नही रहता।

इस भौतिक जगत के उपासक, पुजारी भले ही थोडे काल के लिए सुख ग्रानन्द मे रहलें ग्रौर उसी को ग्रपना सव कुछ मान वैठे किन्तु इसके ग्रन्दर सुख-शान्ति ग्रानन्द देने वाली वस्तुग्रो का रस प्राप्त होता है इस पृष्ठ भाग से। उस पृष्ठ भाग को काटने पर ग्रग्रभाग धराशायी हुए विना नही रहता इसीलिए ऋषियो ने ईशोपनिषद मे ग्रपनी ग्रावाज वुलन्द करते हुए कहा है कि ये दोनो जगत—ग्रध्यात्मिक एव भौतिक—ग्रलग-ग्रलग सुख प्रदाता नही हैं। उनके समन्वय से ही मनुष्य विश्व का भरपूर ग्रानन्द ले सकता है, ग्रौर वस्तुत भरपूर ग्रानन्द लेने का वह ग्रधिकारी भी है। ग्राखिर सृष्टि की यह रचना तो उसी के लिए हुई है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि भौतिक उन्नति भरपूर करे, उन्नति करते-करते कभी ग्रघाये नही, किन्तु भूल से भी ग्रध्यात्म जगत का समन्वय हटने न पाये।

आगे चलकर ऋषियो ने कहा है कि अध्यात्म विद्या से मनुष्य अमृत को प्राप्त होता है। अमृत जीवन मे आत्म-दर्शन है। प्रत्येक मनुष्य अपने पिता का अभिमानी है। जिन बालको के पिता की उनके अबोध काल मे मृत्यु हो जाती है उन्हे अपने पिता का रूप स्मरण नही रहता है, वे अपने पिता के लिए अपनी माता से कुछ-न-कुछ सुनने को लालायित बने रहते है और जब कभी यदि भूल से भी उसकी माता यह कह दे कि बाबा, मैं तेरे पिता के बारे मे कुछ नही जानती। फिर देखो उस बालक का, उस का रुख अपनी माता के प्रति भी असन्तोष का हो जाता है जिसकी गोद मे वह फला-फूला था। माता यहा महामाया है और ब्रह्म पिता।

आज हम देखते है कि विज्ञान की इतनी उन्नति होने पर भी, जीवन के इतने सुख-साधन प्राप्त होने पर भी, क्या आज का मनुष्य सुखी है? उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा, कारण आज के मनुष्य ने अध्यात्म-जगत को अपनी आखो से ओझल बना रखा है, किन्तु वह ओझल बना नही रह सकता। मनुष्य के न मानने पर भी इसका विनाश नही हो जाता, किन्तु जब मनुष्य नितान्त भौतिकवादी बन जाता है तब रज एव तम उसे धर दबाते है और महामाया काली का रूप धारण करके चारो तरफ से हाहाकार मचा देती है।

पाश्चात्य देशवासी भी किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी अवश्य है। रूस का क्रातिकारी समाज किसी भी धर्म को मानने मे असमर्थ है किन्तु सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को तो वह भी चाहता ही है, किन्तु ये सभी धर्मावलम्बी होने पर भी उस धर्म के उसूलो को सच्चे दिल से मानने वाले नही है, इसीलिए आज के जगत मे हाहाकार मचा हुआ है। इतिहास के सारे पृष्ठो को उलट कर देखा जाए तो मालूम होगा कि कई विजेता देशो ने अपनी तलवार से अधीनता स्वीकार कराई तथा अपने धर्म का अनुयायी विजित देशो को बनाया। यह हिन्दू जाति ही एक ऐसी जाति है जिसने कि हजारो साल परतन्त्र रहकर भी, मुसलमानो के नारकीय अत्याचारो के माध्यम से गुजरने के उपरान्त भी, अपने धर्म का स्वरूप बिगडने नही दिया। अध्यात्मवाद मे इसके अनन्य विश्वास व परम् श्रद्धा ने ही इसे बचाये रखा।

ईशोपनिषद मे हमने एक ऐसी वस्तु पाई है, जिसका शायद विश्व भर के किसी भी मत-मतान्तरो मे मिलना प्राय असभव-सा ही प्रतीत होता है और ऐसी घोषणा सिवाय मत्र द्रष्टा के कोई और कर ही कैसे सकता है? वहा ऋषि

कहते हैं कि विद्या, अविद्या अर्थात् अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद दोनो ही अलग-अलग भय के कारण हैं और अन्धकार मे ले जाने वाले है। यह सुनकर विद्या अर्थात् अध्यात्मवाद के हिमायती चौके बिना न रहेंगे, बल्कि शायद इतना भी कहने की धृष्टता कर बैठे कि मुमकिन हो ऐसी घोषणा ऋषि ने भाग के नशे मे की हो, किन्तु वस्तुत इसमे कितना सत्य भरा हुआ है इसका हम यहा विश्लेषण करके देखलें।

आज पाश्चात्य देशो का भौतिकवाद अध्यात्मवाद से रहित कितना उन्नत, कितना जाज्वल्यमान परिलक्षित होता है। वहा आज विज्ञान अपने मूर्धन्य शिखर पर पहुचा हुआ है, शायद ही वह इतना समुन्नत अन्य किसी काल मे हुआ हो। आज हम घर बैठे हजारो मील दूर पर लोगो को व्याख्यान देते हुए सुन सकते हैं, देख भी सकते हैं। एक उद्‌जन बम लाखो मनुष्यो का सफाया कर सकता है। ये टेलीवीजन, रेडियो, ग्रामोफोन, द्रुतगामी वायुयान, हेलीकोप्टर सब इसी विज्ञान की देन हैं। इतना उन्नतिशील भौतिकवाद, लेकिन क्या इस उन्नतिशील भौतिकवाद का पुजारी आज सुखी है ? क्या एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मारे भय के तिलमिला नही रहा है ? क्या सही अर्थों मे आज का मानव सुख-सम्पन्न है ? क्या अमरीका जैसे उन्नत देश मे भी बडे-से-बडा आदमी भी अपने को पूर्ण सुरक्षित पाता है ? क्या वहा के लोगो मे खासकर पति-पत्नी मे परस्पर विश्वास है ? धन राशि को क्या वे बैंको मे अलग-अलग नही रखते ? अविश्वास, अश्रद्धा और अनिश्चितता से भरा जीवन ही इन सभ्य कहलाने वाले लोगो के जीने का जीवन है। जहा चोरी, डकैती, हत्या, आत्महत्या की बाढ-सी आरही हो, उस देश को उन्नत देश कहने मे आज का सभ्य कहलाने वाला मनुष्य लज्जा प्रतीत नही करता। इन सारी चीजो को दृष्टिगत करते हुए हम कहने को वाध्य हो जाते हैं कि इस विकास रूपी अन्धकार मे एक ऐसे प्रकाश की आवश्यकता है जिसमे आज का भौतिक विकास तो ज्यो-का-त्यो बना रहे किन्तु इसका अन्धकार काफूर हो जाए। वह प्रकाश आएगा अध्यात्मवाद से। जब तक इसकी रीढ की हड्डी मजबूत नही हो जाएगी, तब तक इसका अग्र भाग स्वस्थ नही रह पायेगा।

इसी प्रकार भारतवर्ष ने भी एक बहुत बडी गलती कर डाली थी। अविद्या या भौतिकवाद की अवहेलना कर वह केवल अध्यात्मवाद के पीछे ही अग्रसर हो चला। अध्यात्मवाद मे तो हमारी खूब प्रगति हुई लेकिन विद्या-अविद्या के बीच का सन्तुलन अर्थात् अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद के बीच का सन्तुलन

हम खो वैठे, उसका अग्रभाग कमजोर पड गया । विजातीय जातियों ने आकर हमारे देश को घर दवोचा और यह करीव-करीव डेढ हजार वर्षों की गुलामी की जजीरो मे जकडा पडा रहा । यवन लुटेरो ने हमारे ऊपर क्या-क्या अत्याचार नही किए और उनके खूखार खजरो ने हमारे पुरुष एव स्त्री वर्ग का जो वेरहमी से खून वहाया उस खून से उस समय के इतिहास के पृष्ठ सने पडे हैं । यदि हमने अपने अग्र भाग एव पृष्ठ भाग, दोनो को एकसा समुन्नत वनाया होता तो हमारी वात ही क्या, आज ससार भर मे सुख व शान्ति की वर्षा हो रही होती । इसीलिए ऋपियो ने कहा है कि विद्या और अविद्या दोनो ही भय के कारण है, इनका समुचित समन्वय वाछनीय है । आगे चलकर ऋषि कहते हैं—दोनो का समन्वय होने के वाद मनुष्य अविद्या के माध्यम से मृत्यु से तर जाता है और विद्या के माध्यम से अमृत को प्राप्त होता है । ऋषियो के कथन का तात्पर्य है कि भौतिक उन्नति भरपूर कर धन-धान्य सम्पन्न वने रहना और ऐसी विद्याओ का आविष्कार करना जिनसे अतिवृष्टि व अनावृष्टि का शमन हो जाए और यथेष्ट सुख-साधन प्राप्त हो सके । मृत्यु तो हम उसी को कहेगे जवकि मनुष्य किसी प्रकार के अभाव मे तडप-तडप कर मर जाए जोकि वुद्धिजीवी को शोभा नही देता और जिस मनुष्य ने अपना आत्म-दर्शन नही किया उसका जीवन ही अधूरा है ।

रंग

रग तो वह है कि ज्यो-ज्यो ढलता जाय त्यो-त्यो निखरता जाय। सुगन्ध की महत्ता तो इसी मे है कि ज्यो-ज्यो धीमी पडती जाये त्यो-त्यो भीनी पडती जाय, और घ्राण शक्ति को विमोहित करती जाय। वह रग भी क्या जो लगाया और फीका पड जाय तथा साथ ही साथ लगाने वाले को भी फीका बना दे। वह सुगन्ध ही क्या जो उडने के बाद दुर्गन्ध का भाव ले आये। आज के सेन्ट लगाते ही खुशबू देते है लेकिन खुशबू उड जाने के बाद शेष एक ऐसी गन्ध रह जाती है जो घ्राणेन्द्रिय को सुहाती नही है।

हमने यह भी देखा है कि कपडो मे असली इत्र के लगे रहने पर धोबी के यहा धुल जाने के बाद भी एक हल्की-सी भीनी-सी, मिठास लिए हुए गन्ध बनी रहती है। वैश्याएँ अपने युवा-काल मे बडी सुन्दर हृदयग्राही या मोहक प्रतीत होती है, लेकिन यौवन ढल जाने के बाद उनकी आकृति मे एक ऐसी शून्यता प्रतीत होती है जिसे देखने के लिए तो हिम्मत ही नही पडती बल्कि वितृष्णा और घृणा उत्पन्न हो उठती है। क्या वे

बुढापे मे सद्ग्रन्थो को लिए पूज्य भाव छिटकाने मे समर्थ हो सकती है क्या ? इतिहास उसका साक्षी नही हे और न कोई ऐसी वात सुनने मे ही आती हे । क्या एक हिन्दू ललना मुसलमान युवक के प्रेम मे पडकर उसे हिन्दू वनाकर विवाह-गुत्थी मे सम्वद्ध हुई है ? जितने भी किस्से-कहानिया सुने जाते हैं, हिन्दू लड-कियो को ही धराशायी होना पडा है और अपने पैतृक धर्म का त्याग करना पडा है जो कि आगे चलकर सुखी नही रह सकी । मुसलमान ऐसी स्त्रियो की दिल से इज्जत नही करते, ये पत्नी तो अवश्य वनती है उनकी, लेकिन वे उसकी विश्वासपात्री नही वन पाती और वह उसकी दृष्टि मे पत्नीभर ही वनी रहती हे । जो स्त्रिया जोर-जुल्म के भय से मुसलमान बनाई जाती थी या वनाई जाती हे उनका स्थान मुसलमान की नजर मे उक्त पतिता से ऊचा रहता है क्योकि वे पतन के भाव से शून्य होती है ।

यहा हमे एक वात जरूर स्मरण होआती है कि—एक अभिजात सम्भ्रान्त कुल मे उत्पन्न लडकी एक मुसलमान के प्रेम-पाश मे जकड गई । एक उच्च कोटि के महात्मा के सामने यह प्रश्न आया । उस महात्मा ने उस लडकी को वुलवाया और इतना कहा कि 'यदि तुम दोनो का प्रेम सच्चा है, उस प्रेम मे एक-दूसरे का विश्वास है, यदि तेरा प्रेम उसको तुम्हारी तरफ झुका देता हे तो मैं तुम्हे आशीर्वाद प्रदान करूगा । तुम जाकर इतना ही वोलना कि वजाय मुझे मुसलमान वनाए तुम हिन्दू हो जाओ और मेरा-तुम्हारा विवाह मेरे पिता के गृह मे यथोचित शानोशौकत से हो ।' ऊत्तर मिला, 'खव-रदार ! ऐसे शव्द अपने मुँह पर लाई तो मैं धर्म की तौहीन किसी भी हालत मे सहने को तैयार नही हू । तुम्हारी जैसी लडकियाँ मुझे अनेक मिल जाएगी, लेकिन मेरा प्यारा धर्म दुबारा नही मिल सकेगा । मेरी जिन्दगी मे यह कभी होने का नही ।' लडकी की आखे खुल गई और वह मुसलमान होते-होते वच गई और आगे चलकर उसके जीवन मे वह रौनक आई जिसने ससार को चकित कर दिया । हमे ऐसी ही लडकियो की आवश्यकता है जो अपने सिद्धान्त की पक्की तथा धर्म की हिमायती हो । यह कहलाता हे सच्चा रग ।

भोजन

मानव जीवन को प्राज्वल्यमान प्रतिभाशाली एव परम लक्ष्य प्राप्त कराने वाली भगवद्गीता है। यह शास्त्र अपने आप मे पूर्ण धर्म-शास्त्र है। इसमे यथायोग्य आहार एव विहार पर विशेष ध्यान दिया गया है। आहार-विहार का मनुष्य की बुद्धि व मन पर अत्यधिक प्रभाव पडता है और यह कहावत भी ठीक ही प्रमाणित होती है—"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।"

गीता मे आहार तीन प्रकार का बतलाया गया है। सात्विक, राजसी और तामसी—ये आहार के भिन्न-भिन्न प्रकार है। सात्विक आहार बल, बुद्धि, आरोग्यता और मन की प्रसन्नता का वर्द्धक होता है। यह रसयुक्त, स्निग्ध एव चिकने पदार्थों से मिश्रित आहार होता है। दूध, मक्खन, घी, हरे साग, जो मन को स्वभावत प्रिय है सात्विक आहार होते है। सात्विक आहार से मनुष्य वीर्यवान, धैर्यवान्, ओजस्वी एव आस्तिक एव निग्रह करने वाले होते है। ये दैवी सम्पदा के धनी होते है। इनमे मिथ्याचार का पाप प्रसार रहता है। इनकी बुद्धि सत्य असत्य के विवेचन मे बडी जागरूक होती है और ये आत्मा

के सानिध्य को प्राप्त करने को आतुर बने रहते है ।

राजसी स्वभाव वाले पुरुष को कडुवे, खट्टे, लवणयुक्त, अतिगर्म तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक पदार्थ अच्छे लगते है जो दुख, चिन्ता एव रोगो की जड होते है । ये पदार्थ उत्तेजना व कामना को तीव्र करने वाले होते है और अनेक प्रकार के ववासीर, भगन्दर, अजीर्ण जैसे रोगो को उत्पन्न करने वाले होते है। पुरुपो मे क्रोध, काम, लोभ आदि की मात्रा विशेप होती है । उनमे सत्य, असत्य का व्यवहार परिलक्षित होता रहता है किन्तु बुद्धि सत्-असत् के विचार मे विशेप निर्णायक नही हो पाती । इनमे सदिग्धता बनी रहती है ।

तमोगुणी भोजन आलस्य, प्रमाद, अन्त करण मे अन्धकार अर्थात् अविवेक इत्यादि की सर्जना करता है । इससे मनुष्य पशुवत् बन जाता है तथा अच्छे-वुरे का ज्ञान समाप्त हो जाता है । सच कहा जाये तो मनुष्य की बुद्धि ही कुण्ठित हो जाती है ।

जाति-भेद के कारण हमारे देश मे मिश्रित ढग के भोजन ही बनते हैं। अपवित्र रहनेवाले मनुष्य द्वारा पकाया हुआ भोजन भी अपवित्र ही समझा जाता है । इस भोजन मे तमोगुण का समावेश हुए विना नही रह पाता । भोजन पकानेवाले की वृत्तियो का असर भोजन पर भी पडता है । निरामिष भोजी यदि निरामिष भोजन किसी आमिष भोजी के घर पर लगातार लम्बे समय तक करता रहे तो एक न एक दिन वह भी आमिप भोजी बन ही जायेगा, इसमे सदेह नही । क्योकि आमिष पदार्थों के परमाणु निरामिष भोजन मे प्रवेश किये बिना नही रह पायेगे और धीरे-धीरे जब ये परमाणु खानेवाले को सहन हो जायेगे तो उसकी फिर आमिप भोजन से ग्लानि हट चलेगी । *आशव पीनेवाले एक-न-एक दिन शरावी बन ही जाते है ।* प्राय होटलो मे जानेवाले निरामिपी आमिष-भोजी वनकर ही रहेगे क्योकि सारे वातावरण मे आमिष-भोजन के परमाणु भरे रहते है और निरामिषी की नासिका के ऊपर आघात किये बिना नही रहते ।

जिसने बचपन मे प्याज न खाया हो वह बडे होकर सहज ही प्याज नही खा सकता, किन्तु यदि वह कभी कभी चाट-पकौडी इत्यादि मे मिला प्याज खाने का अभ्यासी हो जाय, तो फिर एक न एक दिन नियमित रूप से प्याज खाने वाला व्यक्ति वन जाता है । बिना प्याज के फिर उसे अपने भोजन मे रस ही नही आता । नासिका और आँख मास व अण्डो की वदबू व उनकी शक्ल देख भी नही सकती, धीरे-धीरे जव इनको धोखा दे

दिया जाता है, तव मनुष्य इन्हे खाने का आदी वन जाता है। स्वामी दयानन्द ने तो मासाहारी के हाथ से पका भोजन भी निषिद्ध माना है।

जोधपुर मे ओसवाल जाति के योग्य व्यक्ति वहा के राजाओ के मुसाहिव हुआ करते थे। फलत उनका सम्पर्क राजाओ से घनिष्ट हो गया। ये जैन मतावलम्बी होने के कारण मासाहारी तो नही वने किन्तु उसी की आकृति का भोजन गेहूँ के आटे से वना कर खाने के आदी हो गए। कहते है, स्वाद व आकृति मे वह उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार पकने पर मास। सपर्क अपना असर लाये विना नही रहता। आज का निरामिष-भोजी युवक इन चीजो की सजा खो बैठा है। निरामिषी वने रहने पर भी तामस् वृत्तियो का असर मनुष्य पर हुए विना नही रहता। इसलिए बुद्धि को सात्विक बनाये रखने के लिए आचार-विचार का विवेक सहज अनिवार्य है।

गीता के प्रणयनकर्ता ने भोजन की तीन सूचिया दी है जो कि परिणाम मे क्रमश सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण वाली है। तारीफ की वात तो यह है कि गीता मे किसी विशेष भोज्य पदार्थ का जिक्र तक नही किया गया है। मनुष्य को क्या प्रिय है, क्या अप्रिय, यह विवाद का विषय वन जाता है। गीता मे तो भोजन के तीन प्रकार त्रीगुणानुसार वखान किए गये है, अव भोजन-कर्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह किस प्रकार के पदार्थ ग्रहण करे क्योकि उसका स्वभाव समयानुसार वदलता रहता है। इस विषय मे गीता के तीन श्लोक अध्याय ११–८, ९, १० विशेष द्रष्टव्य है। श्लोक १० मे मास, मछली, लहसुन, प्याज का नाम न लेकर इतना ही कह कर सतोष कर लिया है कि जो भोजन दुर्गन्धयुक्त एवम् अपवित्र है—तामसी है।

मनुष्य का स्वभाव इन तीनो गुणो (सत्, रज, तम) के मिश्रण से ही बना हुआ है। ये तीनो गुण भी एक-दूसरे मे मिश्रित है, एकाकी कोई नही। यह दूसरी वात है और ऐसा होता भी रहता है कि एक गुण दो गुणो को दवाने के वाद विशेष रूप से उभर आता है। जव सतोगुण रज व तम को अभिभूत कर लेता है तो वह ऊपर उभर आता है। ऐसी दशा मे प्राणी को सतोगुणी भोजन ही प्रिय होता है। जव रजोगुण सत् व तम् को अभिभूत कर ऊपर उभर आता है तो उसकी रुचि रजोगुणी पदार्थों मे विशेष हो जाती है। किन्तु जव तमोगुण, सतोगुण एव रजोगुण को अभिभूत कर ऊपर उभर आता है तव उसे तमोगुणी भोजन विशेष प्रिय लगते है और इसी आधार पर निरामिष-आमिष भोजन की स्थिति पैदा हुई है। किन्तु जव मनुष्य का स्वभाव

विशेष रूप से सात्विक बनता चला जाता है, तो उसके जीवन मे रजोगुणी, तमोगुणी भोजन का इस्तेमाल प्राय लुप्त हो जाता है। महात्मा गाधी तो लवण तक का त्याग कर चुके थे, अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या। बहुत से व्यक्तियो का तो फल व दूध ही आहार बन जाता हे, अन्य पदार्थों को वे खाते ही नही। ऐसे पुरुषो को भय, क्रोध आदि का भान ही नही होता है और वे सदैव प्रसन्न व प्रशान्त मन होते हे। रजोगुणी पुरुषो को गरम-गरम, चटपटे मसालेदार पदार्थ बहुत प्रिय लगते है और तमोगुण के दबाव मे आकर निरामिषी रहने पर भी प्याज-लहसुन आदि का प्रयोग करते रहते है। उनका मिजाज तेज, चिडचिडा व रूखा होता हे। उनकी प्रकृति मे क्रोध, कामुकता आदि का प्राधान्य रहता हे।

प्याज व लहसुन को वैदिक ग्रन्थो मे तामस भोजन मे शामिल किया हैं। इनमे दुर्गन्ध रहती है और इन्हे खाने से सम्पूर्ण शरीर मे दुर्गन्ध का समावेश हो जाता है, यहा तक कि मल-मूत्र मे भी। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति प्रमादी बन जाता हे। कुछ-कुछ अशो मे इन पदार्थों मे रजोगुण का समावेष भी है किन्तु सतोगुण का नितान्त अभाव। लहसुन तो इतना गर्म है कि चर्म के ऊपर लेप करदे तो जले बिना नही रहेगा, तो बताओ शरीर के भीतर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती होगी ? मासाहारियो का पेट कब्र से क्या कम है ! इन मासाहारियो मे मानवता के सूक्ष्म तत्त्व अपने असली रूप मे विकसित नही हो पाते हें जिन्हे प्राप्त करना प्रत्येक मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है।

तमोगुणी-रजोगुणी मनुष्य सत्य के पथ का सही अर्थों मे अनुगामी नही हो पाता। पर-धन, पर-नारी पर इनकी दृष्टि विशेष रूप से जागरूक बनी रहती है। इनकी इन्द्रिया बडी प्रमादी होती है। सतोगुणी-भोजी भी वातावरण के प्रभाव मे आकर क्षणिक विकेन्द्रित हो सकता है।

जब विचार शुद्ध नही होते है और तम व रज के शिकार बने रहते है तब विचारो मे बडी विकृति आ जाती है जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य के शरीर एव उसकी हरकत मे परिलक्षित हुए बिना नही रहती। ऐसे विचारवालो का पसीना तक विकृत हुए बिना नहो रहता और उनके भाव दूसरो को भी दूषित बनाये बिना नही रहते। ऐसे अशुद्ध विचार वाले प्रवीण पाकशास्त्री द्वारा तैयार किया हुआ भोजन भी चाहे वह कितना ही सात्विक भोजन क्यो न हो, उसमे विकार उत्पन्न हुए बिना नही रहते जिसका बोध तीक्ष्ण बुद्धिवाले ही कर पाते है। सूक्ष्म

चीज को पकड़ने के लिए सूक्ष्म यन्त्र की ही आवश्यकता होती है। यदि हम चीमटे से बालो को उखाड़ना चाहे तो सफल नहीं हो सकते। बाल जैसी महीन चीज को उखाड़ने के लिए तीखी एव नुकीली चिमटी की आवश्यकता पडती है।

गाय व भैंस— इन दोनो का आहार एक-सा ही है एव दोनों ही नितान्त निरामिषी होने पर भी एक के शरीर से तीखी दुर्गन्ध आती रहती है जबकि गाय के शरीर की गन्ध सुगंध है। एक का मल-मूत्र निषेध, दूसरे का उपयोगी। यह सत्य घटना है कि एक डाक्टर जगल से हो कर किसी गाव की तरफ जा रहा था। रास्ते मे एक भयानक विषधर पड से लटका हुआ मिला। उसे भय हुआ कि वह उसी को डस न ले। डाक्टर ने उस पर पिस्तोल का वार किया। सर्प मरने को तो मर गया लेकिन मरते-मरते उसके मस्तक पर उसने ऐसी फूकार मारी की वह अन्धा हो गया। डाक्टर बेहोश हो गया तो आसपास के ग्रामीणों ने उसे उठा कर उचित स्थान पर पहुचाया। वहा गाव मे एक अन्य डाक्टर था। उसने उसकी आखो मे गौ-मूत्र डाल कर अच्छा किया।

पुराने जमाने मे घर, आगन, चौके आदि मिट्टी मिलाकर गाय के गोबर से पोते जाते थे। गाय का गोबर विषाक्त किटाणुओ का अच्छा नाशक है। गाय व भैंस—दोनो के स्वभाव एक दूसरे के विपरीत होते हैं। भैंस को पानी की अति आवश्यकता होती है और पानी मे डूबी रहने से उसे राहत मिलती है। इसका दूध भारी तथा कफ व पित्तकारक होता है। गाय का दूध निर्दोष है। यह सब तो माध्यम के करिश्मे है। हम जिस माध्यम मे गुजरेंगे, जिस माध्यम का अवलम्बन करेंगे, उसके प्रभाव से बचे रह सकना असभव प्रतीत होता है।

प्रकृति ने मनुष्य को मासाहारी नही बनाया है विशेष परिस्थितिवश वह मासाहारी बन गया होगा। यह एक दूसरी बात है, क्योकि मुँह मे खून लगा छूटता नहीं है। फिर देखा-देखी माग खाने वालो का समुदाय बन गया होगा। प्रकृति मे पशु व पक्षियो के भी दो वर्ग पाए जाते हैं—एक वर्ग है मासाहारी जो कि उसके स्वभाव गत है जैसे जगली जानवर सिंह, चीता, भेडिया इत्यादि। दूसरा वर्ग है निरामिषी जैसे गाय, भैंस, बकरी हाथी ऊट, बन्दर, लगूर इत्यादि। अरब देश मे वहाँ के निवासियो ने गाय को सूखी मछलियाँ खाने का आदी बना दिया है किन्तु वह मासाहारी पशु नहीं है। पक्षियो मे भी दो वर्ग हैं एक मासाहारी और दूसरा निरामिषी, जिनमे कबूतर निरामिष भोजी

है । निरामिष आहार न मिलने पर छोटे-छोटे ककड खाकर अपना जीवन निर्वाह कर लेता है । यहाँ तक देखने मे आया है कि घुन लगे हुए अन्न को वह ग्रहण नही करता । वैदिक दृष्टि से भी मनुष्य मासाहारी हो नही सकता । अन्न पहले पैदा हुआ और मनुष्य की सृष्टि पीछे । बालक के पैदा होने के पहले ही माता के स्तनो मे दूध उतर आता है । इस विषय के अन्तर्गत गीता का एक श्लोक हमारे कथन की पुष्टि करने मे बडा सहायक है । अत यहाँ वह दृष्टव्य है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ।। ३।१४।

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है और अन्न की उत्पत्ति वृष्ठि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है ।

इस श्लोक से स्पष्ट सकेत मिलता हे कि मनुष्य का आहार अन्न है । चूंकि अन्न को उत्पन्न होने के लिए वर्षा अनिवार्य है यहाँ मास अन्न की श्रेणी मे नही आता । यो तो क्षुधा निवारणार्थ जो कुछ भी खाया जाता हे, वह अन्न की ही गिनती मे आता है किन्तु यहाँ 'अन्न' शब्द को तोड मरोड कर उसका भिन्न अर्थ किया नही जा सकता ।

पहले पहल जीव का प्रादुर्भाव जल मे हुआ था । पहले मतस्य हुए फिर वडे-वडे मतस्य हुए फिर घडियाल मगर तथा अन्यान्य जल चर पैदा हुए होंगे । क्योकि ये मतस्य बडे जलचरो के आहार ही तो ठहरे । इन जलचरो के पास जीवन यापन करने के लिए दूसरा साधन ही नही था । ये जलचर अपने स्वभाव के वशीभूत बने हुए है । इसी तरह पृथ्वी पर छोटे-छोटे पशुओ की उत्पत्ति पहले हुई होगी, सिंह इत्यादि की उत्पत्ति तत्पश्चात् । क्योकि आहार इन्हे भी चाहिए था । प्राणी आहार के बल पर ही जीवित रह सकता है । आहार पहले जीव पीछे । फिर बारी आई होगी मनुष्य की उत्पत्ति की तब तक फल-अन्न इत्यादि का विकास हो गया होगा ।

प्रकृति माता ने मासाहारी पशु और निरामिषी पशु और मनुष्यो के वर्गीकरण मे स्पष्ट भेद कर दिया है । मासाहारी पशुओ के दात बडे दृढ मजबूत लम्बे पैने और छितरे होते हैं । जबकि निरामिषी के दात भौंतरे, डाढे चौडी, चपटी एव खुरदुरी और दात परस्पर सटे हुए और पक्ति बद्ध होते है । इसी प्रकार इन दोनो वर्गों के पैरो मे भी अन्तर है । निरामिष पक्षी पशुओ

हैं अरे, तू तो रोता है !

'विश्वनियन्ता, विश्वाधार, पतितपावन, अशरणशरण की नगरी मे प्रवेशार्थ तेरे लिए मै शुभ निमत्रण लाया हू । तेरे स्वागत के लिए वहा सभी उत्सुकता से प्रस्तुत है । यह तेरा बडा अहोभाग्य है ।' देवदूत ने आकर कहा।

उसने बडी आतुरता से पूछा, 'क्या इस नगरी से भी भिन्न प्रभु की कोई दूसरी नगरी है ? इस नगरी के प्रकाशार्थ, प्रकाशप्रदाता सूर्य, चन्द्र जैसे प्रकाश के लोटिये आकाश मे लटके हुए हैं । लाखो तारागणो के नेत्र इस नगरी की शोभा के दर्शनार्थ इस प्रकार टिमटिमाते रहते है—जैसे किसी लजवन्ती के चचल नेत्र अपने प्रिय के दर्शनार्थ उन्मीलन निमीलन मे सलग्न बने रहते हो । इस नगरी से भिन्न उस प्रभु की नगरी के बारे मे पहले तो कुछ सुना नही ।'

देवदूत ने उत्तर दिया, 'अरे ! यह तेरी नगरी भी उन्ही की है किन्तु वह नगरी उनकी इस नगरी से नितान्त भिन्न है । उनकी यह नगरी जिसमे तू रहता हे, प्राकृतिक आधारभूता है, नष्ट धर्मा है । ये सूर्य, चन्द्र तथा समस्त तारागण प्राकृतिक हे, त्रिगुणधर्मा है, शाश्वत नही, एक समान बने रहने वाले नही हैं ।

वह घवडा कर कहने लगा, 'हे देव ! तुमने तो मेरे लिए बडी उलझनदार समस्या प्रस्तुत करदी । मुझे तो ऐसा लगता है, मुझे आमन्त्रित करने मे तुमने भूल की है, इस निमन्त्रण के योग्य हो सकते है निष्णात विद्वान, पण्डित, कोई धर्मात्मा, दानी, धनाढ्य सेठ या कोई रूपसी सुन्दर स्त्री अथवा कोई अद्वितीय पुरुष । मै तो इनमे से किसी की भी गिनती मे नही आ सकता । देव, तुमने निश्चय ही मुझे निमन्त्रण देने मे भूल की हे । तुम्ही कहो, मैं किस मुह से उस प्रभु के दरबार मे जाने योग्य माना जा सकता हू जिसे न विद्या वल प्राप्त है, न धन न रूप— जो नितान्त सभी गुणो से हीन है, अद्वितीय पुरुप होने की तो बात ही दूर रही ।

देवदूत बोला, 'मेरे भोले-भाले भाई देख, उस दरवार मे केवल अनासक्त पुरुप ही प्रवेशाधिकारी हो सकते हे, वहिर्मुखी और अपने मे आसक्त अहकारियो की वहाँ पहुच नही है । तुम्हारे द्वारा गिनाये हुए व्यक्ति सवके सव इसी अहकार की कोठरी के पछी है । उनकी महिमा उनके पुण्यकर्मो का फल है जिन्हे भोगने पर वे कोरे के कोरे रह जायेंगे । तुम उनकी गिनती मे नही आते । नि सन्देह तुम उनसे भिन्न हो । अपनी समस्त कृतियो का तो तुमने अपने को केवल मात्र माध्यम ही तो समझ रखा है । तुम तो अपने को अपनी कृतियो का कर्ता मानते ही नही । तुमने तो अपने को एक नाला, एक पाइप के समान मान रखा है जिसमे से होकर पानी प्रवाहित होना रहता है, नाला या पाइप तो पानी उत्पन्न करता नही । पानी तो उनमे किसी स्रोत से वहकर आता रहता है । मनुष्य की विभूतियाँ प्रभु की कृपा का फल मात्र हे । मनुष्य अहकारवश अपने ऐश्वर्य को अपने पुरुषार्थ एव अपनी कुशाग्र वुद्धि का कार्य-रूप समझ वैठता है और प्रभु की कृपा पर कालिख पोतने मे जरा भी हिचकिचाता नही । अपने दृष्टिकोण को विशेष रूप से व्यक्त करने हेतु गीता का एक श्लोक उद्धरित करता हू, ध्यान देना-—

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश ।
अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३।।२७।।

प्रकृति के गुणो द्वारा सव प्रकार के लौकिक या शास्त्रीय कर्म सम्पन्न होते हैं । अहकार से विमूढ-चित्त पुरुष 'मै करता हू' ऐसा मानता है । प्रकृति के समस्त कार्य इन्द्रियो के द्वारा सम्पन्न होते हे । वह सव कर्म में ही करता हू, यह सोचने का कारण अहकार होता हे । अहकार के द्वारा इन्द्रियो मे रत वने

रहने के कारण विमोहित-चित्त होकर वह ऐसा सोचने लगता है। मन, बुद्धि तथा अहकार व त्रिगुणो के सारे खेल असत्य है। त्रिगुण सदा नही बने रहते, उनका अस्तित्व आत्मा के अस्तित्व से है। यह मनुष्य शरीर त्रिगुणधर्मा होने के कारण असत्य है, नाशवान् है, एकरस नही बना रहता है। बालक से युवा, युवा से वृद्ध और वृद्ध होने के बाद मृत्युग्रास बन जाता है। मन का स्वभाव है सकल्प-विकल्प, और अहकार का स्वभाव है कर्तृत्व भाव। क्रियातीत परावस्था मे आत्मरूप मे स्थिति होने पर जब मन, बुद्धि, अहकार वहाँ नही रहते हैं अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं तब यह खूब समझ मे आ जाता है कि आत्मा मे किसी प्रकार की क्रिया की चेष्टा नही होती। सब प्रकार की कल्पना मन के तिरोहित होने पर आत्मा का अकर्तृत्व भाव क्रिया की परावस्था मे खूब बोधगम्य होता है। तुम्हारे गिनाये हुए व्यक्ति अपने अहकार मे चूर अन्धे की तरह इधर-उधर भटकते फिरते रहते है। जब वृद्धावस्था के कारण इन्द्रियाँ शिथिल पड जाती हैं तब निस्तेज, कातिहीन, असहाय कर्महीन खाट पर पडे सिसकते नजर आते हैं। अहकार के वशीभूत होकर मनुष्य जा वेजा कर्म करते समय डरता नही और जब कर्म-फल भोगने पडते है तब रोता है। इस नगरी का यही खेला है। तू गुप्त रूप से मेरे साथ चल, उन सब व्यक्तियो का तुझे दिग्दर्शन करा लाऊँ।'

वे दोनो चलते-चलते एक सुन्दर मकान पर पहुचे। दूत ने कहा, 'यह मकान अपने समय के एक दिग्गज पण्डित का है। यह वडा निष्णात पण्डित था और वैसा ही उसका मधुर कण्ठ भी था। इसके व्याख्यान वडे प्रभावशाली एव ओजस्वी होते थे। जब यह वेदान्त सूत्रो पर, भागवत् एव रामायण का प्रवचन करता तो अमृतवर्षा होने लगती। श्रोतागण विमुग्ध, आनन्दविभोर हो उठते। समाप्ति पर धडाधड चढावा चढता। पण्डितजी के चरण कमलो की धूलि लेने के हेतु हजारो हाथ लपकते। कभी-कभी तो इनके पैरो का ऊपरी भाग हाथो के घर्षण से लाल पड जाता। एक दिन इनकी कितनी प्रतिभाशाली प्रतिष्ठा थी। अपने प्रवचनो मे मान, अपमान, निन्दा, स्तुति मे समान भाव बनाये रखने पर वडा जोर देते थे। किन्तु इन्ही का निज का उपदेश इनकी आत्मा को छू तक नही पाया था। अहकार मे धुत्त स्पर्धा के पुतले अपने को अद्वितीय मानने वाले और इस रूप मे बने रहने के लिए ये कोई भी उपाय बाकी उठा न रखते। कदाचित कभी कोई प्रतिस्पर्धी आ पहुचता तो इनका थर्मामीटर चढने मे और अपनी धोती से वाहर होने मे देर नहीं लगती और उस पर परोक्ष मे ही सही

लाछनाग्रो की बौछार करने मे कमर न रखते। इनके हृदय के ग्रन्दर द्वेप, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, भय आदि की अग्नि दहकती रहती। लोभ इनको अपनी आय का था। लोभ से कामना उत्पन्न होती है। कामना की पूर्ति मे रोडे अट-काने वाले पर क्रोध आता ही है। उससे द्वेप व घृणा करना स्वाभाविक ही है। भय इस बात का बना रहता कि कोई प्रतिस्पर्धी इनकी गद्दी को छीन न ले। इस अग्नि की झपेट इनको झुलसाती रहती। प्रतिस्पर्धी पर इन सब लपटो का असर कभी नही होता। वह विद्वान होने पर भी मूर्ख ही बने रहे। अद्वितीय का अर्थ ही उनकी समझ मे न आया था। वे तो इतना ही समझ पाये थे कि मेरे समान कोई दूसरा पण्डित नही है। जबकि अद्वितीय का अर्थ होता है अतुलनीय, जो कि प्रकृति की किसी भी आकर्षक वस्तु से भी तुल न सके। वे समझ ही न पाये थे कि प्रकृति हर घडी प्रत्येक मनुष्य को अपनी अचूक तराजू मे तोलती रहती है और उसके तौलने के बटखडे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—मनुष्य के ६ शत्रु है। जिसने इनसे छुटकारा पा लिया हे अथवा यो कहे कि जब ये शत्रु मनुष्य को अपने शिकजो मे जकडने मे असमर्थ बन जाते है वही मनुष्य अतुलनीय व अद्वितीय कहलाता है। किन्तु ये षट् शत्रु तो उन पण्डितजी को चारो तरफ से घेरे हुए थे, तो फिर वे अतुल-नीय कैसे हुए ?'

वह बोल उठा, 'देव प्रकृति की इस तराजू के तो दर्शन कराओ। यह तो कभी दृष्टिगत हुई ही नही ताकि मैं अपने को तो बचाये रखू।'

उत्तर मे दूत ने कहा, 'मनुष्य जीवन की विभिन्न परिस्थितिया ही प्रकृति की तराजू है और इनको पैदा करने वाले उपरोक्त षट् शत्रु है। जिस महापुरुष का मन कैसी भी कठोर परिस्थिति मे विचलित नही होता उसी का जीवन सफल बन पाता है। प्रकृति की यह तराजू किसी का भी लिहाज नही करती चाहे वह गरीब हो, अमीर हो, विद्वान हो या अनपढ चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष। फिर भला ये दभी पण्डित किस गिनती मे थे।'

प्रकट होकर देवदूत ने पण्डितजी को सम्बोधन किया, 'कहिए महाशय प्रसन्न तो हे ? खूब छनती है न ? और पाँचो अगुलियाँ घी मे तो हैं न ? किन्तु इतने जर्जर, कान्तिहीन, खिन्नमनस्क क्यो दिखाई पड रहे हैं ?

उत्तर मे पण्डित जी कहने लगे, 'हे देव ! अब क्या खाक छनेगी, न वह

कण्ठ रहा न स्मृति। मेधा भी जवाब दे गई। प्रवचन करने मे न उतनी उत्सुकता रही न उतनी मधुरता। अब तो केवल हाड-मास का यह पिंजडा बाकी रह गया है। अब तो भगवान जितनी जल्दी उठा ले उतना ही अच्छा है।'

देवदूत ने कहा, 'तो क्या अब आप भगवान का कीर्तन नही करते? प्रवचन के समय जब आप भगवान की स्तुति करते तो सबको ऐसा प्रतीत होता था कि सचमुच मे आप भगवद् भक्ति मे डुबकी लगा रहे हो।' 'पडितजी ने उत्तर दिया, 'देव, यदि उन स्थितियो मे मेरा हृदय भरा होता तो आज मेरी यह दुर्दशा न होती। मैंने केवल मनुष्यो को ही नही ठगा, उस अन्तर्यामी प्रभु से भी खिलवाड करने मे बाज न आया। मुझ जैसे प्रवचक की क्या गति होगी प्रभु ही जानें? मेरे भक्त मेरी ठगी मे फस कर ही मुझे सिद्ध पुरुष माने हुए थे। वे मेरे सच्चे रूप को न पहचान सके। वे मेरे सच्चे रूप को अगर पहचान लेते तो पास तक नही फटकते। ठीक ही है, भौंरे गधहीन फूल पर क्यो कर बैठेंगे?

अब वे अपने जमाने के दानवीर धनीमानी एक सेठ की ड्योढी पर जा खडे हुए। सन्नाटा छाया हुआ था। उन्होने अन्दर प्रवेश किया तो देखा कि एक वयोवृद्ध चिन्तामग्न व्यक्ति अकेला बैठा हुआ है। देवदूत प्रकट होकर बोला, 'सेठ, ऐसी सोचनीय अवस्था को कैसे प्राप्त हो गये?' उसने उत्तर दिया, 'अहकार मे विमोहित होकर और चाटुकारो की लच्छेदार बातो की चपेट मे आकर नाम और यश कमाने के हेतु मिथ्या आचरण मे बधकर मैंने अपने धन का एक अश दान मे दे डाला, और थोडी-सी धनराशि मेरे पुत्रो ने ऐशोआराम मे उडा दी। अब मै खाली होकर मक्खिया मार रहा हू। मै उस वक्त सोच ही नही पाया था कि धन चचल होता है—विशेषकर रज और तम के माध्यम मे कमाया हुआ धन। चिडिया चुग गई खेत, अब पछताये होत क्या?'

वे दोनो वहा से भी चल दिये, और अब अपने जमाने की एक रूपसी नगर-वधू के मकान पर जा पहुचे। अन्दर जो प्रवेश किया तो क्या देखते है कि सब ओर से सिकुडी हुई एक वृद्धा बैठी हुई अपने भाग को कोस रही है। देव-दूत प्रकट होकर बोले, 'अरी वरागना, ये तेरे फटे हाल कैसे हो गये? अब तो सारगी तक की तान सुनाई नही देती? क्या बात है?' उसने उत्तर दिया, 'नगर-छैल, जो यहा आकर मेरे साथ गुलछर्रे उडाते थे, अब वे इधर झाकते तक नही।

ठीक भी है, गधहीन पुष्प पर भौरे आकर नही बैठते । उन्होने मुझे पके आम के सदृश चूसकर फैंक दिया । छूछ पर मक्खिया ही तो भिनभिनाती हैं । यही दशा आज मेरी है । यदि मैं नगर-नायिका न बनकर किसी सम्भ्रात पुरुष की कुल-वधू बनी होती, तो आज मैं वयोवृद्ध होने पर भी अपने पति, सतान और कुल तथा नगर की एक सम्माननीय नारी बनी हुई होती, और माँ पद पर मैं अभिषिक्त भी बनी रहती ।

इस प्रकार उस नारी की व्यथाभरी वाणी को सुनकर वे वहा से भी चलते बने । रास्ते मे देवदूत बोला, 'जिन-जिन नर-नारी के मैंने तुझे दिग्दर्शन कराये, वे अपनी जवानी और धन के अहकार के मद मे चूर होकर अपना सर्वस्व खो चुके है । किन्तु अहकार तुझे काबू मे नही कर सका । बाल्यकाल मे तेरी शिक्षा अधूरी रहने पर भी आगे चलकर जब-जब बडे-बडे कार्य तेरे द्वारा सम्पन्न हुए, तू तो यही कहता रहा कि न जाने, प्रभु किस बात से मुझ पर इतने प्रसन्न हैं कि मुझे समय-समय पर निमित्त बनाकर यह सब कार्य करवा देते हैं, और सारा श्रेय मुझे दे देते है । तेरी इस विशुद्ध धारणा ने ही प्रभु के हृदय मे तेरे लिए स्थान पैदा कर दिया है, और अपनी शरण देने के लिए उन्होंने मुझे तेरे को लेजाने के लिए भेजा है ।'

अब वे दोनो ही परम धाम के लिए उड चले । अब उसका खोल दिव्य आभा से सप्लवित पडा हुआ था । जय बोलो उस अशरण शरण भगवान की ।

कर्म की गहन गति

कर्म की गति वडी गहन हे, यह तो ठीक है किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि कितनी गहन है ? समुद्र के समान तो गहन हो ही नही सकती । उत्तर मे हम यही कहेगे कि समुद्र की तले तक तो हम पहुच सकते है और पहु चे भी हैं किन्तु कर्म की तलहटी तक पहुचना असभव है ।

प्रत्येक कर्म बीज रूप है जिससे हजारो बीज पैदा होते चले जाते है और अन्त नही आता, या यो कहे, वह केन्द्र विन्दु है जिसमे से प्रकाश की रश्मियो के सदृश हजारो किरणे विकीर्ण होकर कर्ता को चारो तरफ से ढक लेती हैं । जैसे कर्म वैसी उसकी रश्मिया, अच्छा कर्म है तो उसकी रश्मिया अच्छी होगी यदि कर्म गर्हित है उसकी धारायें उसीके सदृश होगी यह प्रकृति का अटल नियम है । मनुष्य का प्रत्येक कर्म उसकी विचारधारा रूपी पृष्ठभूमि पर आधारित बना रहता है । कोई कार्य विना कारण के हो ही नही सकता, कारण पहले है, कार्य पीछे ।

इसी प्रकार प्रत्येक कर्म का कारण बना रहता है । अपने अशुद्ध विचारो को छिपाने के लिए मनुष्य अनेकानेक प्रकार से उन पर पर्दा डालने की कोशिश करता है । छिपाने का प्रयत्न उन्ही विचारो का होता है जो अशोभनीय होते हे किन्तु वह

भोला समझ ही नही पाता कि ये अशोभनीय, अशुद्ध विचार प्रेरित होते हैं कामना, क्रोध, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि से जो कि मन को इस प्रकार आच्छादित किये रहते हैं जैसे आकाश बादलो को। इनमे ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें भी पार नही हो पाती और उसकी यह विचारधारा बहने लगती है उसकी ज्ञानेन्द्रिय कामेन्द्रियो द्वारा जो कि उसके बेकाबू होकर उसकी पोल खोले बिना रहती नही, जैसे शरीर की सदिग्ध हरकत, सदिग्ध चितवन, सदिग्ध वाणी, लफ्फाजी का सहारा, किन्तु विचारो का राज छिपाये छिपता नही।

मनुष्य सुख की तलाश मे सदा व्यस्त बना रहता है। इसका एक विशेष कारण है। आत्मा-आनन्द-स्वरूप है और जब मनुष्य शरीर को ही अपनी आत्मा मान लेता है तो उस शरीर के लिए ही उसके साधन जुटाने मे लग जाता है। भौतिक साधन जितने भी है वे त्रिगुणमयी हैं। जहाँ मनुष्य का मन इन तीनो गुणो मे लटपटाया तो फिर इनकी चक्की चलनी शुरू हो जाती है, फिर उसके मन को काम, क्रोध, लोभ, मोह, से डगमगाते देर नही लगती है जो कि आगे चलकर प्रवचना के रूप मे आ जाते है।

प्रवचना की ये रश्मियाँ हैं—ठगी, धोखेबाजी, चोरी, अत्याचार, व्यभिचार इत्यादि। जब मनुष्य इन दुर्गुणो के स्तर पर आटिकता है तब वह अपने स्वरूप को भूल जाता है और शरीर को जीवात्मा की तरह अमर समझने लगता है, और उसके लिए सुख-साधन स्थायी आधार पर जुटाने लगता है। साध्य वस्तु के लिए साधन की शुभ एवम् शुद्ध व्यवस्था का ख्याल खो बैठता है। यदि साधन अच्छे नही है, अशुभ है तो इनके द्वारा प्राप्त वस्तु अच्छी कैसे हो सकती है? किसी भी माध्यम से गुजरने वाली वस्तु उसके गुण को लिए बिना कैसे रह सकती है? यदि माध्यम अशुद्ध है, अवाछनीय है तो उसमे से गुजरने वाली वस्तु उसकी अवस्था से कैसे वचित रह सकती है।

आज मनुष्य माध्यम की शक्ति को भूल बैठा है, वह माध्यम का ख्याल ही नही करता, उसे लफ्फाजी चाहिये, कार्य सिद्ध होना चाहिए चाहे जैसे भी हो। ऐसे मनुष्य बडे ही निम्न स्तर पर आ टिकते है और इनके पास प्रवचना रूपी एक इजेक्शन होता है जिसका प्रयोग करके अपने शिकार को बदहाल कर देते हैं और फिर उसके ऊपर अपना हाथ साफ कर देते हैं, किन्तु जब वह अपनी गफलत से ऊपर उठता है तब उसके चिरे हुए शरीर से वेदना की लहर उठे बिना नही रहती और ये लहरे मानो उसकी चीख है। प्रवचक चाहे कितना

ही आनन्द क्यों न मनाले, लेकिन उसका अशुभ कर्म उसे निगले बिना रह कैसे सकता है ? यही कारण है कि आज देश व समाज मे, घर-घर मे इतनी अशान्ति मची हुई है जिसका कारण है प्रत्येक व्यक्ति को येनकेन प्रकारेण अपने सुख की तलाश ।

जब मनुष्य इतना खुदगरज हो चलता है तब वह दूसरे की स्थिति का तनिक भी ध्यान नहीं करता । जैसे एक मनुष्य भोजन तैयार करके उसे खाने के लिए बैठा ही था, इतने मे किसी दूसरे ने आकर झपट्टा मार कर उसे खा लिया । ठीक है, झपट्टा मारने वाले का पेट तो भर गया लेकिन उसने यह विचार नही किया कि जिसने परिश्रम करके भोजन का सामान जुटाया, भोजन बनाया तो उस परिश्रमी का क्या हाल होगा ? क्या उसको भूख न लगेगी ? क्या उसकी आत्मा उसको आशीर्वाद देगी ? यदि इस पर भी प्रवचक उपहार मे इतना और कह दे कि तुम्हे मैने इस भोजन से वचित इसलिए रखा कि यह तेरे लिए हानिकारक था । उसको तुम समझ नही पाते । इस प्रकार प्रवचना मे लड़ियाँ जुड़ने लगती हैं । सत्य तो यह है कि प्रवचक दूसरे की भलाई-बुराई का विचार ही खो बैठता है ।

प्रवचना भी एक कर्म है और बड़ा घोर व नारकीय कर्म है जिसका फल चखने मे बड़ा मीठा होता है लेकिन अन्त बड़ा खोटा होता है । यदि मनुष्य अपने केन्द्र को न भूले तो फिर उससे नारकीय कर्म शायद न होने पावें, किन्तु मनुष्य अपनी लोभ व कामना की वृत्ति पर विजय तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह आत्मस्थित हो चलता है । स्थितप्रज्ञ का साइन-बोर्ड लगाने से वह आदमी और डूब जाता है । ये चीजे साइन-बोर्ड की नही है, ये तो आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली बाते हैं । जब मनुष्य आत्मस्थित हो चलता है, तो उसके सारे कार्यकलाप ही बदल जाते है ।

जिन लोगो को परधन परदारा अच्छी लगती है और उन्हे हडपने के लिए प्रयत्न भी करते हैं, वे इन तीनो गुणो के सम्बन्ध रूपी जलाशय मे डूबने से बच नही सकते और डूबते वक्त डूबने वाले की मानसिक स्थिति का पता वह खुद ही लगा सकता है, किनारे पर खडे रहने वालो को इसका क्या पता चलेगा ? विषयुक्त मीठे पदार्थ खाने मे कितने भी स्वादु क्यो न हो, विष अपना असर किए बिना रहता नही और उसका फल है मृत्यु ।

प्रकृति किसी का भी लिहाज नही करती । मनुष्य की अकड उसके सामने चल नही सकती । कुकर्मी के मुख पर तमाचा मारने मे उसे देर नही लगती ।

उसको भय ही किसका हे, जरा सोचो तो। उसके सामने किसी का भी रिरियाना काम नही करता। प्रकृति यदि स्नेह-स्निग्ध माता है तो वह कराल काल भी हे। आज्ञाकारी पुत्र पर यदि उसका वरदहस्थ बना रहता है तो दुष्ट को अपने करालगाल मे चबाये विना भी कहाँ रहती हे। आत्माभिमुख मनुष्य आनन्द की लहरो मे आनन्द लेता है और आत्मविमुख मनुष्य आपत्तियो के झझावात मे थपेडे खाता रहता है। जो कर्म-विज्ञान को समझते है वे अशोभनीय कर्मों को इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे काले नाग को। काले नाग से खेलना मृत्यु को बुलाना ही तो हे। इसी प्रकार अशोभनीय कर्मों के कर्ता दुख रूपी जलाशय मे डूबे बिना नही रह सकते। आँख खोल कर मार्ग पर चलने वाले ठोकरे नही खाते, गढ्ढो मे नही गिरते। जो आदमी मार्ग की स्थिति से अनभिज्ञ रहते हे वे अपने को वचा नही सकते।

कर्म जीवन का एक पथ है जिस पर समझ-बूझ कर चलना चाहिए। मनुष्य एक कुए के किनारे खडा हुआ है, एक भी गलत कदम उसे कुएँ मे ढकेले बिना नही रहेगा। मनुष्य का एक-एक कर्म जीवन के अन्दर विशेष अर्थ रखता है। जीवन की गति से मनुष्य को सदा-सतर्क बना रहना चाहिए। लोभ के विचार मे मृत्यु का आह्वान बुद्धिमत्ता नही है। शहद की लोभी मक्खी मधु से अपने प्राणो की रक्षा कहाँ कर पाती है ? लोभ की वृत्ति मनुष्य को रसातल मे पहुचाये विना नही रहती। लोभ मनुष्य को गिद्ध की वृत्ति मे लाये बिना नही रहता जो कि सदा मुर्दों पर झपट्टा मारता रहता ह। उसको मानव बनना चाहिए और अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए तथा इस ससार का आनन्द लूटना चाहिए जो कि लबालब आनन्द से भरपूर है।

यहाँ हम इतना दावे के साथ कहेगे कि मनुष्य बिना प्रवचना के ज्यादा सुखी रह सकता है। प्रवचना आत्महत्या के समान महान् पाप है। कर्म की गति बडी गहन और विचित्र है इस विपय मे बुद्धिमान पुरुप भी मोहित बने रहते हैं—इसलिये कर्म अकर्म और विकर्म को भलीभाति जान लेना चाहिये—यही कल्याण मार्ग है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता है, जैसे कि भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि एक पापी अपने दुष्कर्मों का परिणाम भोगे विना भगवदाभिमुख होते ही साधु कैसे बन जाता है यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कर्ता को तो कर्मो के फल भोगने ही पडते है। यह एक पहेली ही बन जाती हे जो कि साधारण बुद्धि के परे की वात है किन्तु यह तथ्य है। सहज-सुलभ उदाहरण के लिए एक

आदमी किसी तालाब या नदी मे कमर तक अथवा गले तक पानी मे खडा हुआ है। जब तक वह पानी मे खडा रहेगा तब तक ही उसे पानी मे डूबने की सभावना बनी रहेगी। यह पानी क्या है? यह तीनो गुणो के कार्यरूप विषय हैं। विषयासक्त होने पर ही मनुष्य विषयो मे लटपटाता चला जाता है और उनसे निवृत्ति पाना असभव है किन्तु वह पानी मे खडा हुआ मनुष्य यदि नदी के किनारे आ जाय और फिर जमीन पर आकर खडा हो जाय तब तो पानी उसका कुछ भी बिगाड नही सकता। जब वह पानी से निकलता है तो वह पानी से विमुक्त होकर ही तो निकल सकता है और उसकी दृष्टि रहेगी नदी के किनारे तक पहुचने की अथवा उसके ऊपर जाने की।

इसी प्रकार यदि हम ससार से विमुख हो जाएँ और प्रभु-उन्मुख हो जाएँ तो ससार से छुटकारा पाने मे क्या देर लगेगी? जब तक हम पानी मे है, तभी तक तो पानी हमारे शरीर को स्पर्श कर सकता है और जब पानी से हमारा सम्पर्क टूट ही गया फिर पानी हमारा क्या कर सकता है। पानी तो अपने पात्र मे ही बना रहेगा। पानी तो ऐसी कोई चीज नही है कि मनुष्य जिधर भी जाए वह उसका पीछा करता रहेगा। पानी तो मनुष्य को उसी समय तक लुभा सकता है जब तक कि मनुष्य पानी से खिलवाड करता रहे, उसके सम्पर्क मे बना रहे और सम्पर्क टूटने पर पानी उसे छू नही सकता। मन का स्वभाव है आनन्द लेना। जब तक मनुष्य पानी मे रहा, अपने मन के वशीभूत पानी मे डुबकिया मारता रहा और पानी का आनन्द लेता रहा किन्तु यह आनन्द खतरे से खाली नहीं रहता क्योकि जरा पैर उखडे और आगे बढे तो जल-समाधि।

विषय मनुष्य को खाये बिना नही रहते। आनन्दकन्द प्रभु के अभिमुख होते ही मन विषयानन्द से विमुख होने मे समर्थ बन जाता है और आनन्द-स्वरूप जो भगवान हैं, उनमे लीन हो जाता है। पानी से निकलना क्या है, पानी रूपी तीनो गुणो से पार होना है। इसी अवस्था को गुणातीत कहते है। गुणातीत होना क्या है? प्रभु के धाम मे प्रवेश करना है। जो मनुष्य इस कर्म की गुत्थी को नही समझ पाते वे अपने जीवन मे अनेकानेक विपत्तियो के शिकार बने बिना नही रह सकते।

कर्म की गहनता केवल विषयो का चक्र है विषयो से विमुख होते ही कर्म का जाल समाप्त हो जाता है, उसकी बेडियो को टूटते देर नही लगती किन्तु विषयो का जाल बडा ही मोहक होता है। एक जाल से छूटने पर दूसरे जाल

फसाने के लिये तैयार बने रहते हे। यह निरन्तर एक के बाद दूसरे जाल मे फँसते चले जाना विपयो की विवशता है और इसी को कर्म की गहन गति कहते है।

ये विपय क्या हे, ये इन्द्रियो की खुराक है। जब तक इन्द्रियो को विषय रूपी खुराक मिलती रहेगी तब तक इन्द्रियाँ परिपुष्ट बनी रहेगी और अपने विषयो मे रत रहेगी। जैसे कर्णेन्द्रिय-जब तक इसे मीठे स्वर सुनने को मिलते रहेगे तब तक उसी ओर यह आकर्पित बनी रहेगी। जब तक सुन्दर दृष्य देखने को मिलेंगे, चक्षु इन्द्रिय उसमे रत बनी रहेगी। जब तक स्पर्श अनुकूल मिलता चला जायेगा, तब तक स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श के लिए वेकाबू-वेताब बनी रहेगी। यही अवस्था बनी रहती है रसेन्द्रिय व घ्राणेन्द्रिय की। ये विषय इन इन्द्रियो मे अपना घर कर लेते है और इन्द्रिया इन विपयो को मानसिक एव स्थूल रूप मे भोगती रहती है।

इसी न्याय पर स्त्री-पुरुषो का आपस मे सम्पर्क वर्जित माना गया है। जैसे किसी स्त्री-पुरुप का आपस मे सान्निव्य स्थापित हो गया, पडौसी को इसका पता चला, उसने सोचा यह स्त्री पर-पुरुप के सान्निघ्य मे तो रहती ही है, इसने मर्यादा का तो उल्लघन कर ही दिया है, चलो हम भी इससे रगरेलिया करले। किन्तु वह भूल जाता है कि अभी तक वही पुरुष उसके हृदय मे स्थान ले पाया है या नही और बिना स्थान प्राप्त किए वह उसमे प्रवेश कर ही कैसे सकता है ? यदि कामना-वश वह भी उस स्त्री के सान्निध्य मे आ धमकता है, तो उसको थप्पड खाने मे देरी नही लगती।

इसमे स्त्री के दो कार्य सिद्ध होते है—आततायी का दमन और अपनी पवित्रता की दुदुभी का पीटना। किन्तु वह समझ नही पाती कि धोखा खाने वाले से धोखा देनेवाला ज्यादा रसातल मे जाता है जैसे जनता को चोर-डाकुओ से भय बना रहता है किन्तु स्वय ये भी तो भय के शिकार बने रहते है और हरदम मृत्यु की प्रतीक्षा मे रहते है। वे भली-भाति जानते हे कि वे सुरक्षित नही है। जब कभी पकड लिए जाएगे मृत्यु के घाट उतार दिये जाएगे।

मनुष्य अपने कर्मों को कितना ही छिपाये, छिपा नही सकता। उसकी इन्द्रिया उस की कलई खोले बिना नही रह पाती। जैसे स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को चाहते है, एक-दूसरे के प्रति उनकी चितवन, उनकी आखो की गति, उनके बीच का राज खोले बिना रहेगी नही और जो जिसके हृदय मे अपना घर बना लेता है उस घर से छुटकारा पाना सहज नही है। बद्चलन स्त्री को सभी पर-पुरुष

अच्छे लगते है और लगेंगे-यह नामुमकिन हे । न सारी स्त्रिया किसी पुरुष को अच्छी लगती है न लगेंगी । समस्त पदार्थ समस्त प्राणियो को अच्छे लगे, यह जरूरी नही । प्रत्येक मनुष्य अपने स्वाद के अनुसार शाक, फल, अन्न चुन लेता है । किसी को प्रिय भिण्डी, आलू, परवल है तो किसी को कोई दूसरी सब्जी ही प्रिय है । किसी का झुकाव सेव, केला, अगूर पर है तो किसी का नारगी, अमरूद पर । बहुत से ऐसे आदमी भी है जो फल खाते ही नही । उनकी इच्छा फल खाने की होती ही नही । बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जिन्होने आलू छोडकर दूसरी सब्जी खाई ही नही । बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जिन्होने अपने जीवन मे ज्वार-बाजरा कभी खाया ही नहीं किन्तु इससे यह तो सिद्ध होता नही कि उनकी रसेन्द्रियाँ उनके काबू मे है । मनुष्य जिन पदार्थों को पसन्द करता है उनको वह आसक्ति से भोगता है । उस रसासक्ति को हम-रस-विमुक्त तो कह नही सकते और है भी नही ।

इसी न्याय के बल पर ऋषियो ने, नीतिज्ञो ने पर स्त्री पर-पुरुष का आपस का घनिष्ठ सम्बन्ध निषिद्ध माना है । उनके उद्घोष को कभी विचारिये तो सही—'परदारेषु मातृवत्, परद्रव्येषु लोष्टवत ।' जिनकी दृष्टि मे यह बात समा जाती है वे ही शुद्ध दर्शन करने के अधिकारी माने जा सकते हैं, किन्तु जिनकी लोलुपता पर-स्त्री, पर-द्रव्य को हडपने को बनी रहती हे वे पण्डित कहलाने योग्य नही है । यहाँ पण्डित का अर्थ है सत्-पुरुष ।

जो अपनी इन्द्रियो के दास बने रहते हे उनके लिए ही कर्म की गति गहन बनी रहती है, विजेन्द्रिय पुरुष के लिए नही । इसलिए इन विषयो के ऊपर विजय प्राप्त करने का केवल एक साधन है, वह है तृष्णाविमुख होना, रामा-भिमुख होना, भगवताभिमुख होना । भगवान को प्रकृति स्पर्श नही कर सकती किन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी होने के कारण प्राणी के लिए इससे छुटकारा पाना सुगम कार्य नही है । इससे वही भाग्यवान् छुटकारा पा सकते हैं जो कि भग-वताभिमुखी हो चले है और जिनको भगवत्-प्रसाद प्राप्त हो गया हे । भगवत्-प्रसाद उन्ही महात्माओ को प्राप्त होता है जो अपनी इन्द्रियो को जीत लेते है और विषयो से उनकी निवृत्ति इतनी हो जाती है जैसे हम विष्टा का कदापि ध्यान नही कर सकते । इस अवस्था मे कर्म की जो लडियाँ हैं, जिन्होने हमे जकड रखा हे, उनको टूटते देर नही लगती ।

वहुत से स्त्री-पुरुष यह डीग मारते देखे गए है कि यदि मन सच्चा हे और

अपने काबू मे है तो आपस का सम्पर्क हमारा विगाड ही क्या सकता है ? किन्तु वे समझ ही नही पाते कि वे सम्पर्क उसी से स्थापित करते है जिन्होने एक-दूसरे के हृदय मे स्थान पैदा कर लिया है। हम चलते-फिरते तो किसी स्त्री-पुरुष के सम्पर्क मे आना नही चाहते। बाजार मे जाते है तो हमे फलो व मिठाई की अनेक दुकानें मिलती हैं किन्तु हम उन्ही पदार्थों को लेते है जिन पदार्थों ने हमारे हृदय मे स्थान पैदा कर रखा है। हम उसी वस्त्र को खरीदते हैं जो हमे पसन्द आता है मनुष्य की यह पसन्दगी पसन्द करनेवाले के हृदय मे उस पदार्थ के स्थान का द्योतक है।

मनुष्य का डीग मारना कि वह हरेक पदार्थ मे लटपटाता नही, वह विजेन्द्रिय है, अपनी रसना पर वह काबू पा चुका है—केवल भ्रममात्र है जो उस गढ्ढे मे ढकेले विना रहता नही। एक दफा अहिंसा के परमपुजारी अहिंसा-परमोधर्म' के उपासक भगवान बुद्ध को भिक्षा मे किसी ने शूकरी का मास दे दिया। वे गुणातीत थे और उस भिक्षा का पान कर गए। उनका तो कुछ नही विगडा किन्तु उनके अनुयायी मासाहारी बने विना न रहे। यदि उन्होने उस मास का भक्षण न किया होता तो आज बौद्धो का स्वरूप और ही होता। ऐसे गुणातीत महापुरुष के द्वारा एक जरा-सी गफलत ने उनके अनेक अनुयायियो का स्वरूप ही वदल डाला, तो हमारे-तुम्हारे जैसे पुरुपो के सदाचार का दम्भ हास्यास्पद नही तो क्या है ? यदि बौद्ध-भिक्षुक निरामिपी बने रहते तो इनमे तंत्र कभी नही घुस पाता। इनका तान्त्रिक होना क्या हुआ, बौद्ध धर्म की जड मे छाछ का सिंचन हो गया और इस धर्म के अपनी मातृ-भूमि से पैर उखड गए। कर्म-विपाक किसी का लिहाज नही करता, चाहे कुलवती, लजवती स्त्री हो या कोई सम्भ्रान्त पुरुप।

एक सज्जन एक श्रेष्ठ धनाढ्य मित्र के घर पर ठहरे हुए थे। घरवाले सभी उनको पूज्य दृष्टि से देखते थे। एक रात्रि उसी घर की एक सुशिक्षित वधू उनके पास अपनी शकाये निवारणार्थ आकर बैठ गई। उनके एक साथी भी बैठे हुए थे, इतने मे उसके पति का एक मित्र उनके पास आकर बैठ गया। आखे नशे की खुमारी बता रही थी। उसने स्त्री का हाथ पकडकर उसे नाम से सम्बोधित किया। वह ललना उस व्यक्ति के इस असद् व्यवहार का तो प्रतिकार न कर सकी या करना न चाहा होगा, किन्तु अपने मुख पर घूघट निकाल लिया और वडी सहमी-सी प्रतीत होने लगी। मित्र उठ कर चल दिए किन्तु उन दोनो के बीच की फुसफुसाहट मित्र के कानो मे पडे बिना न रही,'

'देखो, ऐसा व्यवहार सबके सामने नही करना चाहिए, बडे मूर्ख हो !" हठात् अनजान व्यक्ति इस प्रकार की हरकत कर बैठता तो उसके सिर की खैर न रहती ।

आजकल यह एक बडी सामान्य-सी बात है कि कलफदार साडियो का प्रचलन बहुत बढ गया है । यह कलफ क्या है ? साडी की अकडन। अकडन अहकार का द्योतक है और अहकार ही तो नीचे गिराता है । यह साडी का अहकार शरीर से साडी को खिसकाये बिना नही रहता और अग-प्रत्यग की रक्षा भी समाप्त हो जाती है । सान्निध्य] मे बैठे हुए पुरुप की आखो का अपनी भोग्य वस्तु पर जा टिकना स्वाभाविक है पुरुप भोक्ता है स्त्री भोग्या । भोक्ता का मन अपनी भोग्या को पाकर चचल न हो उठेगा यह कैसे मुमकिन है । लाख हाथ पीटो, ये चचल इन्द्रिया हृदय की पोल खोले बिना रहेगी ही नही ।

स्वभावत इन्द्रिया बहिर्मुखी हैं इनको अन्त मुखी बनाए रखना विरले ही वीरो का काम है । इसलिए जीवन को सुखमय बनाने हेतु कर्म की झीनी गति का अध्ययन नितान्त आवश्यक है । जो कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ बने रहते हैं उनके लिए कर्म की गति बडी गहन बनी रहती है और कर्म की गति की लहरियो से उनका छुटकारा पाना असभव है । जीवन मे जरा-सी असावधानी मृत्यु का कारण बने बिना रह नही सकती । मनुष्य अमृत-पुत्र है, और अमृत को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है और अपने सुख को पहचानने मे वह सदा-सर्वदा सचेष्ट बना रहे यही उसकी दक्षता है ।

कन्या-दान का महत्व

जब हिन्दू कोड बिल तरतीम हो रहा था, तो एक दिन मेरी छोटी लडकी मिथिला मुझसे एक बडा बेढब प्रश्न पूछ बैठी—बाबूजी, भला बताइये तो, अपनी लडकी को दान मे देने का पिता को क्या हक है ? हम घर की कोई निर्जीव वस्तु तो है नही कि मालिक जैसे चाहे अपनी इच्छानुसार किसी को भी दे दे !

प्रश्न टेढा था, इसलिए कुछ देर सोचकर मैने उत्तर दिया—बेटा, तेरा प्रश्न बडा समयानुकूल, जटिल और महत्वपूर्ण है, और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। इसलिए पूरे ध्यान और धैर्य से सुनो।

पाश्चात्य सभ्यता मे पला हुआ आज का विद्वत् वर्ग हमारे ऋषियो के मुख पर भी पक्षपात-रूपी कालिमा पोतने से बाज नही आता। ये जड मति समान अधिकार का अर्थ तक नही समझ पाये, और समझे भी कैसे ? इनकी दृष्टि मे तो भौतिकता की चमचमाहट ने इतनी चौध पैदा कर दी है कि इनको पदार्थ का असली रूप दीख ही नही पाता।

ससार मे जितने भी पदार्थ हैं, उनको प्राप्त करने का सभी को समानाधिकार है, यह तो निर्विवाद तथ्य है, लेकिन इनको प्राप्त करना, या कितनी मिकदार मे प्राप्त करना, यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता पर निर्भर करता है। एक कुएँ का उदाहरण ले लो। कुएँ मे से पानी खीचने का सबको समान अधिकार है, लेकिन कौन उसमे से कितना पानी खीच सकता है, यह निर्भर करता है उसके पात्र और उसके बाहु-बल पर। अगर एक व्यक्ति का पात्र छोटा है और दूसरे का बडा, तो उन दोनो को अपने-अपने पात्र के अनुपात मे ही तो पानी मिलेगा। लेकिन यदि ये दोनो व्यक्ति परस्पर लड मरे और छोटे पात्रवाला बडे पात्रवाले को कोसने लगे कि तेरा क्या अधिकार है कि तू मुझसे अधिक पानी का उपभोग करता है, तो यह कोसनेवाले की सरासर मूर्खता नहीं तो और क्या है ? कोसने वाले की तकलीफ तो तभी मिट सकती है जब कि वह भी अपने पात्र को उतना ही बडा बना ले जितना कि दूसरे का है। तब झगडा अपने-आप खत्म हो जायेगा। कुएँ ने तो पानी देने मे पक्षपात किया ही नही। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने पात्र की उपादेयता पर सन्तोष करना ही होगा।

इसी प्रकार, स्त्री-पुरुष के पात्र भी भिन्न-भिन्न आकार के है, और उनकी उपादेयता की योग्यता भी भिन्न-भिन्न है। यही नही, यह दोनो ही पात्र अलग-अलग इकाई के रूप मे अधूरे हैं, यानी यह दोनो ही स्वतत्र रूप से कुएँ से पानी खीचने मे असमर्थ है। जब तक इन दोनो पात्रो का एकीकरण नही हो जाता, तब तक ये कुएँ से पानी खीच ही नही सकते, और यदि एकीकरण के समय सधि के अन्दर कही छिद्र रह गये, तब भी पात्र के अनुपात मे उन्हे पानी प्राप्त नही हो सकेगा....थोडा-बहुत पानी छिद्रो के द्वारा नष्ट हो ही जायेगा। लेकिन यदि इन दोनो पात्रो का एकीकरण इस प्रकार किया जाए कि सधि का पता ही न चले, तो छिद्रो के रह जाने की गुजाइश बिलकुल भी नही रहेगी। इसी सिद्धान्त के ऊपर ऋषियो द्वारा प्रणीत हमारी यह पाणि-ग्रहण सस्कार की व्यवस्था आधारित है।

देखो, अगर हम एक रगीन कपडे पर कोई दूसरा रग चढाएँ, तो दोनो रग ही क्षति-ग्रस्त हो जायेगे और उस कपड़े का एक तीसरा ही रग बनेगा जो कि बदरग के नाम से पुकारा जाता है। कोरे कपडे पर रग जितना बढिया खिलता है, उतना किसी रगीन या मैले-कुचैले कपडे पर खिल ही नही सकता। यही नियम स्त्री और पुरुष पर भी लागू होता है।

स्त्री-पुरुष मे एक-दूसरे के साथ आत्मसात होने की भावना नितान्त प्राकृतिक है। देखो, यदि मटमैला पानी दूध के साथ आत्मसात होने की कोशिश करे, तो वह अपने इस प्रयत्न मे कभी सफल नही हो सकता, बल्कि ऐसा करने पर न तो वह खुद दूध के भाव बिक सकता है, और न दूध ही बिकने लायक रहता है। निर्मल पानी ही दूध मे आत्मसात होने के योग्य होता है। ऐसा पानी दूध की हस्ती को प्राप्त कर लेता है, और दूध का रूप भी अक्षुण्ण बना रहता है, लेकिन पानी को होना पडेगा निर्मल, अथवा यो कहे—बेरग।

इसी तरह कन्या के ऊपर भी एक रग चढा रहता है—वह रग है उसके माँ-बाप का प्यार। पति मे आत्मसात होते समय यदि लडकी अपने पिता के रग को अपने साथ ले जाती है, तो नया रग चोखा नही आ सकता, रग बदरग हो जायेगा। इसलिए उसको निर्मल होकर ही, यानी पहले का सब कुछ त्याग करके ही, पति मे आत्मसात होना होगा। इसीलिए जिस वक्त पिता अपनी लडकी को अपने से पृथक करता है, उस वक्त वह उसे ऐसी अवस्था मे ले आना चाहता है कि न लडकी का मुख पिता की तरफ बना रहे, न पिता का लडकी की तरफ। मन की यह स्थिति प्राप्त करने के लिए दान ही एक ऐसी विधि है जिससे यह ध्येय प्राप्त हो सकता है। दान के अन्दर यह भावना निहित रहती है कि एक बार दे देने के बाद दाता उस दातव्य वस्तु पर तनिक भी अधिकार नही रख सकता। हम किसी को रुपये उधार दे, तो वापस लेने की भावना प्रबलता से बनी रहती है, लेकिन यदि हम अपनी निधि किसी सत् कार्य मे लगा दे, तो फिर उसे वापस लेने की भावना नही रहती। वह सत् कार्य की ही हो जाती है।

आज-कल के हिसाब से दान शब्द कुछ निम्न भावनाओ का द्योतक हो चला है, लेकिन वस्तुत अपने मूल रूप मे दान शब्द बडा व्यापक और ओजस्वी है। इसमे तिरस्कार की भावना निहित नही है, इसमे यह भावना तो हमे आज-कल अपनी हीन वृत्तियो के कारण दृष्टिगोचर होने लगी है और इसका सम्बन्ध तमोगुणी और रजोगुणी दान से है, सतोगुणी दान से नही। सतोगुणी दान के दाता को अपने हृदय के दो टूक करने होते है। जिस प्रकार अपनी निधि का अश जब हम किसी को देते है, तो वह अश उसकी निधि मे जाकर उसकी निधि को समुन्नत बनाता है, उसी प्रकार पिता की हृदय-रूपी कन्या का यह दान पति के हृदय मे प्रवेश कर उस हृदय को पूर्ण बनाता है। यदि दो हृदयो की यह सधि अभिन्न न हो पाई, और दोनो की हस्ती पृथक-पृथक बनी

रही तो दोनो ही एकीकरण का वास्तविक ग्रानन्द नही ले सकते ।

हमारे जमाने मे जब लडकी का पाणि-ग्रहण हो ।। था, तो वह कोरे कपड़े का लहँगा ग्रौर कोरे कपडे का ग्रोढना पहनकर ही विवाह सस्कार के लिए बैठती थी । तात्पर्य यह था कि निर्मल, विशुद्ध, बेदाग, बेरग यह कन्या पति के ग्रर्पण की जा रही है।

लेकिन ग्राज के रस्मो-रिवाज के ग्रनुसार लडकियो को बहुत बेशकीमती साडिया पहनाकर विवाह-सस्कार मे बैठाया जाता है, क्योकि ग्रपनी सस्कृति की तह तक न पहुच सकने के कारण हम उसको ठुकराते चले जा रहे हैं ।

हमारे परम्परानुगत सस्कारो की विधिया कितनी महत्वपूर्ण हैं, इसको जरा देखो तो सही । कन्या-दान हो गया, फेरे पड गये, लेकिन फिर भी ग्रभी तक विवाह-सस्कार पूर्ण नही हो पाया है । ग्रभी तो दोनो को वचन-वद्ध होना शेष है । दोनो ही ग्रपनी-ग्रपनी शर्तें पेश करते है, ग्रौर लडकी ग्रपने पति से कहती है, 'तुम्हारी सभी शर्तें मुझे मजूर है, लेकिन जब तक तुम भी मेरी शर्तो को मजूर नही कर लोगे, तब तक मैं तुम्हारे वाम-ग्रग मे नही बैठूंगी, ग्रौर जब तक मैं तुम्हारे वाम-ग्रग मे नही बैठती हू, तब तक बावजूद सब सस्कारो के मैं क्वारी हू ।'

लडकी द्वारा वाम-ग्रग के उल्लेख करने मे क्या वैज्ञानिक रहस्य है, यह लडकी के ही शब्दो मे सुनो । वह कहती है, 'वाम-ग्रग मे ग्रा जाने का तात्पर्य है पति के हृदय मे प्रवेश कर जाना ।' हृदय वाम-ग्रग ही मे तो स्थित होता है । ग्रौर हृदय मे प्रवेश करने के बाद तो फिर एकीकरण हो ही जायेगा । इसलिए वाम-ग्रग मे ग्राने के बाद ही विवाह पूर्ण रूप से सम्पादित हो पाता है ।

ग्रब प्रश्न उठता है कि सतीत्व एव उसकी पवित्रता के ऊपर ऋषियो ने इतना जोर क्यो दिया ?

इस प्रश्न को हम बीज ग्रौर भूमि के उदाहरण द्वारा ठीक से समझ सकते हैं । बरगद के बीज को ही लो । यह सरसो से भी बारीक होता है, जब कि बरगद के समान महाकाय वृक्ष दूसरा नही होता । दरग्रसल इस बीज मे छिपे हुए महाकाय वृक्ष को विकसित करने का श्रेय पृथ्वी को है । यदि पृथ्वी उस बीज के ग्रनुकूल नही है, तो वहा बरगद की सृष्टि हो ही नही सकती । हम लोग रोज सुनते है कि ग्रमुक फल तो ग्रमुक देश मे ही उग

मकता है, और पनप जाता है। इसी तरह किसी भूमि के अगूर खट्टे होते हैं, तो किसी भूमि के बडे मीठे। इसका रहस्य यह है कि यदि बीज के अनुपात मे पृथ्वी से सानुकूल साल्ट यानी रस प्राप्त नही होता, तो उस भूमि मे उत्पन्न अगूर के स्वाद मे कही-न-कही कमी रहे बिना न रहेगी। वे खट्टे हो सकते है, छोटे हो सकते है, छिलका मोटा हो सकता है इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह पिघली हुई धातु का कोई रूप नही होता, वह तो रूप लेना चाहती है, और वह रूप लेती है साचे के अनुसार ही। साचे मे खामी रहने पर उसमे ढली हुई वस्तु का रूप आदि देखना हो, तो हम लोहे के कारखाने मे जाकर देख सकते है। साचे को तैयार करनेवाला मिस्त्री पूर्ण सतर्क रहता है कि साचे के अन्दर का भाग चिकना, स्वच्छ और किसी भी प्रकार की वक्र से रहित होना चाहिए। साचे मे कही भी खराबी रहने पर उसमे ढला हुआ पदार्थ उस सांचे की कमी को परिलक्षित कराये बिना न रहेगा।

इसी तरह भूमि जितनी परिष्कृत, कोमल, स्निग्ध होगी, उसमे उगे हुए फल भी वैसे ही होंगे। बजर भूमि मे उगे हुए पौधे प्राय कँटीले, कडवे, और कभी-कभी विषयुक्त भी पाये जाते है।

अब तुम समझ गयी होगी बेटी, कि योग्य सतति के उत्पादन के लिए मातृरूपी भूमि का कितना पवित्र, कितना स्वच्छ, कितना स्निग्ध और कितना त्यागमय बने रहना अनिवार्य है।

प्रत्येक मनुष्य को अपने मूल स्रोत का अभिमान होता है। गगा के भक्त गगोत्री के दर्शन करके ही अपने को धन्य मानते हैं। पुरुष शक्ति धन (पोजीटिव) है, तो स्त्री शक्ति है ऋण (निगेटिव)। दोनो शक्तिया स्वतत्र रूप से निष्क्रिय है, और सानिध्य पाकर ही दोनो मे एक आकर्षण पैदा होता है जो दोनो को मिलाये बिना रहता नही। इसीलिए पर-स्त्री और पर-पुरुष को सानिध्य मे नही आना चाहिए, वरना मर्यादा और पवित्रता की रक्षा सभव नही होगी।

सृष्टि की उत्पत्ति तो एक बिन्दु से ही हुई हे। बिन्दु की परिभाषा के अनुसार बिन्दु का अस्तित्व तो है, लेकिन उसका कोई रूप नही है। वह अपरिमेय है। जब वह परिमेय की अवस्था मे आना चाहता है, यानी व्यक्त होना चाहता है, तो उसको प्रकृति का सहारा लेना पडता है। प्रकृति बनती है उस बिन्दु की अधिष्ठात्री। प्रकृति शक्ति है। अपरिमेय बिन्दु का इस

हृदय की कोमलता

प्रभु की इस नगरी मे खोज करते पर एक वडी ही अद्‌भुत और अनमोल, साथ-ही-साथ जीवन को सार्थक वनाने मे परम आवश्यक वस्तु, जो नजर आती है वह है—'हृदय की कोमलता'। यह दिव्य गुणो मे प्रधान गुण है। कोमलता मे सारे-के-सारे सद्‌गुणो का समावेश है—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि जिनका जीवन को दिव्य बनाने मे अनिवार्य स्थान है। इनका अधिष्ठान है हृदय की कोमलता, जोकि प्रभु की परमपुनीत सर्वोत्तम देन है—भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक। हृदय वडी ही सूक्ष्म सवेदनशील प्रयोगशाला है जिसमे जीवन के खट्टे, मीठे, कडुवे भावो का हाथ-के-हाथ परिलक्षण होता रहता है। हृदय की कोमलता का व्यक्त रूप है जीव मात्र पर दया, हिंसा का अभाव और जीव मात्र के प्रति प्रेम के अजस्र स्रोत का उद्रेक। यह सन्त हृदय की एक हल्की-सी झाँकी है। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—

'सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह परि कहै न जाना,
निज परिताप द्रवह नवनीता, पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।

इसी तरह प्रसादजी कहते है—

'औरो को हसते देखो, मनु, हसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो, जग को सुखी बनाओ।'

(कामायनी)

जिनका हृदय सन्त हृदय हो गया है वे धन्य है। ऐसे कोमल हृदय के धनी को ही वैष्णवजन कहते है। सत-शिरोमणि नरसी मेहता के शब्दो मे वैष्णव हृदय के दर्शन करे, वे कहते हैं—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।'

वैष्णव हृदय करुणा से ओत-प्रोत होना चाहिए, प्रेम से सरावोर होना चाहिए। हृदय जब करुणा, दया, प्रेम और क्षमा से लबालब भरा रहे तभी मनुष्य समझ पाता है दूसरे की पीडा को, तभी मनुष्य दौड पाता है दूसरे की सेवा को। वैष्णव हृदय जहा कही भी कष्ट देखता है, उसे दूर करने के लिए आतुर हो उठता है। इतना ही नही, वह—

'पर दु खे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे।'

पराये दु ख को दूर करने मे सफलता मिलने पर उसे अभिमान, घमड नही आता। उपकार करते समय यदि यह भाव बना रहे कि मैंने किसी का उपकार किया है तो उपकृत उसके अहसास से दबने लगता है और वह स्वयम् भी अभिमान के बोझ से दबने लगता है। उपकार करने मे किसी भी तरफ भार आ गया तो सन्त हृदय को ठेस लगे बिना नही रहती।

साराश यह कि कोमल हृदय होता है प्रेम का पुतला, करुणा का पुतला, सत्य का पुतला। सेवा उसका लक्ष्य, आत्म-सशोधन उसका मार्ग, निर्विकार उसका पाथेय। यह है रूप कोमल हृदय का। उपनिषदो मे तो हृदय को ब्रह्म का निवासस्थान ही कहा है, तो फिर जरा विचार करो कि ब्रह्म का हृदय-रूपी आसन कितना विशुद्ध, कितना परम पवित्र, कितना सुकोमल होना चाहिए। तभी तो वह ब्रह्म आपके हृदय-रूपी आसन पर आसीन हो सकेगा और साथ ही उसकी थोडी-थोडी झलक मिलती रहेगी, अन्यथा वह आपके हृदय मे रहते हुए भी अव्यक्त ही बना रहेगा।

सत हृदय नवनीत से भी कोमल होता है जिसके दर्शन हम ऊपर कर चुके हैं, किन्तु यह आततताइयो के दमनार्थ मन्यु का रूप भी धारण कर लेता है

जैसा कि राम और कृष्ण के जीवन मे परिलक्षित होता है। ऐसे सत हृदय को दु खी व्यक्ति के दु ख से द्रवीभूत होने मे देर नही लगती, किन्तु दूसरी ओर आततायी के जुल्म सहने मे वह सदा ही असमर्थ बना रहता है। आततायी के दमन मे व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना शून्य बनी रहती है। इस दमन मे हिंसा के दर्शन तो होते है किन्तु यह हिसा दैवी हिंसा है जो कर्ता को छू तक नही पाती। हिसा करते समय यदि अहकार का उद्रेक न होने पाये तो वह हिंसा प्रतिफल देने मे नपुसक ही बनी रहेगी। यहा गीता का एक श्लोक द्रष्टव्य है—

यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्ववापि सइमा ल्लोकन्न हन्ति न निबध्यते ॥

गीता १०-१७

अर्थात--जिस पुरुष के (अन्तकरण मे) मैं कर्त्ता हू (ऐसा) भाव नही है (तथा) जिसकी बुद्धि (सासारिक पदार्थों मे और सपूर्ण कामो मे) लिपाय मान नही होती वह पुरुष इन सब लोको को मारकर भी वास्तव मे न (तो) मरता है और न पाप से बधता है।

इसके विपरीत जब हृदय के अन्दर दाँत उग आते है तो इसका बडा ही वीभत्स रूप हो उठता है, फिर तो उसके काटे मनुष्य सास तक नही ले सकता। इसकी फुफकार काले नाग की फुफकार से भी भयानक और घातक होती है। आप हसे बिना न रहेगे कि कही हृदय मे भी दाँत उगते है, किन्तु उसके दाँत साधारण दाँतो से भिन्न होते है। मुँह के दाँत तो दिखते हैं किन्तु हृदय के दाँत दृष्टिगत नही होते, बडे सूक्ष्म होते है। हृदय के दाँत है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, कपट, छल-छिद्र, दम्भ, अहकार आदि जिनके वशीभूत होकर मनुष्य अपने शिकार के ऊपर आघात करता रहता है। मनुष्य इनकी चपेट मे आकर अपनी खैर नही मना सकता। ऐसा हृदय मनुष्य को दानव बना देता है, फिर तो उसमे मनुष्यत्व की झलक तक नही रहती। उसका जीवन बडा विपाक्त हो जाता है। इसको हृदय की कठोरता भी कह सकते है। ऐसा कठोर हृदय वाला मनुष्य आसुरी वृत्तियो का दास हो जाता है, और नरक के द्वार पर जा खडा होता है। मनुष्य जीवन की सफलता इसी मे है कि वह इन दातो को जड से उखाड कर फेक दे। साधारणत देखने मे आता है कि दूषित दाँत मनुष्य को बडे कष्टप्रद होते है, उनको निकलवाने के पश्चात् ही वह अपने कष्टो से राहत पा सकता है। हृदय के इन दाँतो के दमन-शमन का ही फल है—'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के दर्शन।

मातृ-भूमि की पवित्रता

पिता अपनी कन्या को उसके भावी पति को दान मे दे देता है। दान की वस्तु गृहीता के भोग के लिए ही हे, इसलिए वह किसी दूसरे की भोग्या नही बन सकती। भोग्या बनने का विचार विकृति लाये बिना नही रहेगा, उसको कार्यान्वित करने की तो बात ही बहुत दूर रही। सन्तान को जन्म देने के बाद वह उसकी जन्म-भूमि बन जाती है। जन्म-भूमि बनते ही वह सन्तान के लिए परम पवित्र-भूमि हो जाती हे जिसका कि अधिकारी उसकी सन्तान का पिता है और वही उसका भोक्ता बन सकता है। स्त्री माता के रूप मे अपनी सन्तान की पवित्र जन्म-भूमि बनने के बाद किसी प्रकार की भी विकृति लाने का अधिकार खो बैठती हे। उसका शरीर वह पवित्र जन्म-भूमि है जिसके दर्शन पिता एव सन्तान के अलावा दूसरा नही कर सकता। यह शाश्वत आर्य सस्कृति है।

चोली, पारदर्शी साडी, चिलकते-चमकते पेट और पीठ का प्रदर्शन, खुद को तो छिछला बनाता ही हे, दूसरो को भी छिछला बनाये बिना कहा रहता

है। दुर्गन्धित पदार्थ दूसरो को भी दुर्गन्धमय वना डालते है। गिरा हुआ आदमी दूसरे के हाथ को खीचकर उसे गिराने मे जल्दी सफल होता है। एक खडा हुआ आदमी दूसरे खडे हुए आदमी को गिरा ही नही सकता जब तक कि वह अपने को भी गिराने का उपक्रम न कर ले। आज तक ऐसा नही हुआ कि कुश्ती लडने वाला दूसरो को तो गिरादे और खुद खडा रह जाय। माना कि ऐसे दाव-पेंच होते है कि एक आदमी दूसरे आदमी को खडे-खडे गिरा सकता है, किन्तु उस उपक्रम मे झुकना तो उसे भी पडता ही है। जासूसी एव रोमास-पूर्ण उपन्यास पढनेवाले, चाहे स्त्री हो या पुरुष, को रोमान्टिक बनाये विना नही रहते। जव हम कोई अच्छी पुस्तक पढते है, जैसे रामायण, गीता आदि तो कम-से-कम थोडे समय के लिए तो हमारे मन मे यह भाव आता ही है कि हम भी ऐसे बने। चाहे वह मसानीया वैराग्य के समान ही हो। श्मसान मे जब तक हम रहते है ससार की असारता का भान तो वना ही रहता है। जैसा भाव तैसी वाणी तथा उसी के अनुसार कार्य। धनुष की प्रत्यन्चा के कसे विना तीर छूट ही कैसे सकता है। यहाँ भाव धनुष की प्रत्यन्चा है, वचन तीर। यह हो ही कैसे सकता है कि भाव मीठे, वाणी कडवी ? वाणी मीठी, भाव कडुवे ? लेकिन ऐसा देखने मे आता है कि हम मीठी वाणी मे कटुता, छल, विष, मिठास की परत मे ढके रहते है क्योकि यह मानी हुई वात है कि जब किसी भी मनुष्य की वाणी अति मीठी निकलती है तो मनुष्य सतर्क हुए बिना नही रहता। उसको ख्याल आता है कि कही यह व्याध का चुगा तो नही है। अबोध पक्षी उसे पहचानने मे असमर्थ बने रहते है, लेकिन उस चारे को मुह मे डालते ही जाल के शिकजे मे आने मे उन्हे कितनी देर लगती है। कीडी-नगरा सीचने वाले, कबूतरो को अन्न डालने वाले, पशु-पक्षियो के पीने के पानी का इन्तजाम करने वाले, फल के इच्छुक बने रहते है, यानी ऐसा करने से हमे लाभ होगा, सकट मिटेगा, धन की प्राप्ति होगी, निष्काम-भाव से यह काम करने वाले कितने है ! जव गुडे हमारे यहाँ की लडकियो, स्त्रियो की तरफ विशेष प्रेम-आदर का प्रदर्शन करते है तो वह भोली-भाली लडकियाँ अपना आपा खो बैठती है। तब अजगर एव हिरण की गति इनकी हो जाती है। घर से बाहर निकलते ही तो पता चल जाता है कि यह तो हमारा हितैषी नही, अजगर है।

मातृ-पितृ पूजन

गुरू-पूर्णिमा के दिन ऋषि-पूजन हुआ करता है। यह उत्सव बडे समारोह

के साथ मनाया जाता है और उस दिन आर्य जाति के अतीत का दृश्य हमारे सामने आये बिना रहता नही। उस दिन द्विजो के हृदय मे एक पवित्रता की लहर दौडे बिना नही रहती और उसका असर बहुत काल तक बना रहता है। यदि हम अपने माता-पिता की भी पूजन करने की पद्वति अपना ले, वह पूजन चाहे रक्षा-बन्धन के शुभ अवसर पर हो, चाहे दशहरे को या दीपावली के दिन सम्पन्न कर दिया जाय, नही तो जिस किसी अच्छी तिथि को चुनकर यह कार्य सम्पादन किया जा सकता है। अपने माता-पिता के चरण कमलो पर अपनी श्रद्धा-अर्चना के पुष्प चढाकर, उनका पूजन कर, पुत्र को चाहिए कि वह उन्हे उनकी इच्छानुकूल पाचो नये वस्त्र धारण कराये और उन्हे बहुत सुस्वादु भोजन कराये। यह कार्य कार्तिक मास मे किया जाना चाहिए ताकि सर्दियो की ऋतु मे काम मे आने वाले वस्त्र ज्यादा उपयोगी सिद्ध हो सके। जिनकी स्त्री हो वह अपनी स्त्री के सहित यह पूजन सम्पादन करे। इससे उस पुरुष के हृदय मे अपने माता-पिता के प्रति सच्ची भक्ति का उद्‌भव होगा, और उसकी स्त्री का भी मन निर्मल और द्रवीभूत हुए विना न रहेगा और गृहस्थी मे सुख-शान्ति व एकता की कडी वनी रहेगी, क्योकि यह मनुष्य का स्वभाव है कि अपने आराध्य-देव के प्रति वह डण्डे का प्रयोग नही करता, न इतनी उसकी हिम्मत बन पाती है। इससे अनेक प्रकार के अनाचारो की सृष्टि अवरुद्ध होगी और आज के घर का विपाक्त वातावरण दूर होगा। आज भी इस प्रकार के पूजन मैथिल प्रदेश मे किसी-किसी घरो मे प्रचलित है। हमे यह प्रेरणा इन्ही सद्‌पुरुषो से मिली है।

इस प्रकार की पूजन पद्धति कम-से-कम उन पुरुषो के जीवन मे अवश्य कुछ-न-कुछ रग लाये बिना न रहेगी जो कि माता-पिता के जीवन-काल मे उनको ठुकराये बिना नही रहते और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके श्राद्ध मे लड्डू-कचौडी से ब्राह्मणो को तृप्त कर उनकी वाह-वाह लूटने के इच्छुक बने रहते है। जो माता-पिता को देवता के रूप मे मानते है उनके जीवन को तो यह पूजन कल्याणमय बनायेगा ही, और घर के अन्दर सुख-शान्ति-समृद्धि की वृद्धि किए बिना न रह पायेगा, और छोट-बडे सभी का मन-स्तर उच्च हुए बिना न रह सकेगा, तभी इस 'मातृ देवोभव, पितृ देवोभव' श्रुति वाक्य की सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

प्रसाद

प्रभु का प्रसाद प्राप्त करने की एक ही रीति है, वह है हृदय की सरलता। प्रसाद बरजोरी से प्राप्त करने की वस्तु नही है, इसमे बरजोरी नही चलती। बरजोरी से प्रसाद प्राप्त करने के लिये परम आवश्यकता है प्राप्त करने वाले की बेदाग शुचिता की जोकि बडी टेढी खीर है। प्रसाद तो मिलता है, पाया जाता है, प्रसाद पाना, पाने वाले की स्वच्छता पर निर्भर नही। देने वाला देता है, देता चला जाता है, आँख मूंदे देता चला जाता है। कोई भी हाथ पसार दे, जरा मांग ले, प्रसाद तुरन्त मिल जाता है। प्रसाद तो देने के लिये ही है। लूट-खसोट होने पर तो प्रसाद गायब ही हो जाता है।

वह देता है, देता रहता है, पाने वाले पाते है, पाते रहते हैं, केवल आवश्यकता है सरलता की। उसके यहाँ प्रसाद की कहाँ कमी है? वह तो प्रसाद का अजस्र भण्डार है, वहाँ तौल-झोक नही है। किस की तौल-झोक, वह तो अनवरत अजस्र देने वाला है। उसका स्वभाव जो ठहरा देने का, न दे तो वह बिचारा करे भी क्या। वह देकर कहाँ अघाता है, कहाँ पछताता है, पछ-

ताता है केवल मनुष्य, लेखा-जोखा रखने वाला जो ठहरा ! ऐसे तौल-झोक से देने वाले से कहीं कुछ दिया भी जा सकता है ! ऐसे नक्को को कहाँ प्रसाद मिल सकता है, ऐसो को क्या कोई अपना तरल हृदय रूपी प्रसाद दे भी सकता है, वह तो पाने की वस्तु है, दिल तो देने वालो को ही दिया जा सकता है, उसी को सौपा जाता है जहाँ कि वह कलुषित न होने पाये। लेना-देना कैसा उपहास है, कैसी विडम्बना है ! फिर अरे, किसका लेना, किसका देना !

भव-सागर की तीन धाराएं

यो तो भव-सागर की अनेकानेक धाराए है, किन्तु उनमे से मुख्य धाराए तीन है—कचन, कामिनी और कीर्ति।

कचन की धारा वडी गभीर और तेज है जिसमे वहुत-से तरे और वहुत-से डूबे। कचन जीवन की अति आवश्यक वस्तुओ मे से एक है। जीवन-यापन करने मे पद-पद पर इसकी आवश्यकता पडती है। इसका कोई निर्विशेष, नैसर्गिक रूप तो है नही, भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राए प्रचलित हैं। जीवन की आवश्यक वस्तुओ के विनिमय के हेतु ये मुद्राए काम मे आती है, इसीलिए कचन मे इतना आकर्षण केन्द्रित बना रहता है। सोना, चादी, जवाहरात आकर्षण की वस्तु अवश्य है, किन्तु इनका भी विनिमय मुद्राओ द्वारा ही हो पाता है। यदि ऐसी व्यवस्था कायम हो जाए, कि मनुष्य मात्र को जीवन-यापन की आवश्यकताए उपलब्ध बनी रहे, तो फिर मनुष्य इनकी तरफ झाके तक नही। किन्तु ऐसा होना असम्भव है। न कभी ऐसा हुआ, न भविष्य मे ऐसा हो सकेगा। इसलिए मनुष्य कचन सग्रह करने के लिए

इतना उत्सुक बना रहता है ।

कामिनी की धारा कचन की धारा से भिन्न है, और वडी गहरी तथा साथ-ही-साथ द्रुत गतिशील है । इस धारा मे वहुत-सारे डूवे और थोडे ही तर पाये । इसका मुख्य कारण हे कि स्त्री पुरुष के आकर्षण का केन्द्र-स्थल है । नारी के प्रत्येक अग आकर्षण से भरे पडे है और वडे मोहक है । वडे-वडे महर्षि मुनि भी इस तत्व के सामने झुके विना न रह सके । इसके सामने सयम भी काम नही करता । केवल इससे दूरस्थ वने रहने मे ही खैर है ।

कीर्ति की धारा इन दोनो धाराओ से वडी विलक्षण, प्रवल और वेगवती है । इसमे सव डूवे, केवल बिरला ही तर पाया । इसका कारण है मनुष्य का नैसर्गिक अहकार । प्रत्येक मनुष्य अपने-आपका वडा अभिमानी है । वह अपने-आपको सवके आगे वडा-चढा हुआ देखना चाहता है । इसका एक वडा गुण भी है कि मनुष्य अपनी कीर्ति वनाये रखने के लिए वडे-वडे दुर्गुणो से बचे रहने का भरसक प्रयत्न करता रहता है । यदि मनुष्य मे से अपनी कीर्ति की भावना जाती रहे, तो वह किस अधोगति को प्राप्त होगा, इसका अन्दाज नही लगाया जा सकता । इसी कीर्ति को कमाने के लिए मनुष्य वडे-वडे धर्म-स्थान वनाता रहता हे । स्कूल, कालेज, गौ-शाला इत्यादि की स्थापना का भी कीर्ति ही कारण है । निष्काम से किये हुए विशुद्ध कर्म मनुष्य से मुश्किल से ही वन पाते हे । कीर्ति अच्छे अच्छे कार्यों की प्रेरणा देने वाली हे । इसलिए इसको हेय दृष्टि से नही देखा जा सकता । किन्तु है वधक कारक और मोक्ष मार्ग मे रोड अटकाये विना रहती नही—सकाम कर्मो का फल मिलता है और कर्ता को भोगना पडता है इसलिये यह वधन रूप है । यदि हम निस्काम भाव से सत कार्य करने मे सफल हो सकें तो शुभ है । उपरोक्त तीनो एषणाये वन्धन रूप हे—इनसे वच निकलना ही मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करना है ।

एक आदर्श दत्तक पुत्र

एक वैश्य कुल मे उत्पन्न गरीब लडका भटकते हुए एक सजातीय सेठ की गद्दी पर जा पहुचा । वह कई दिनो का भूखा था, अत उसने सेठ से कुछ खाने को मागा । सेठ ने अपने मुनीम से उसे दो आने देने को कह दिया । किन्तु लडका स्वाभिमानी था, फिर ठहरा वैश्य पुत्र, दान रूप मे कोई वस्तु स्वीकार कर ही कैसे सकता था ? इसलिए वह बोला, 'मैं ब्राह्मण नही हूँ, वैश्य पुत्र हू । अच्छा हो कि आप मुझसे इन दो आने के बदले कोई काम करा लें ।' सेठ को लडका सस्कारी जँचा, और उसे दो आने रोज के हिसाब से गद्दी पर काम करने के लिए रख लिया गया । गद्दी पर हर वक्त तो काम रहता न था, जब वह लडका खाली रहता तो मुनीम उसे महाजनी के अक्षरो का ज्ञान कराता रहता । चूकि लडका कुशाग्र बुद्धि था, अत उसने बहुत जल्दी ही महाजनी आक तथा साथ ही हिसाब भी सीख लिये । मुनीम ने उसे रोजनामचा लिखने को दे दिया और उसे काफी मदद मिलने लगी । वह लडका मुनीम का आज्ञाकारी व विश्वासपात्र बन गया । फिर तो मुनीम ने उसने बही

खाते भी कराने शुरू कर दिए ।

लडका सदा प्रसन्न मुद्रा मे रहता और उसका चेहरा भी काफी निखर आया और वह आकर्षक दिखाई देने लगा । उज्ज्वल भविष्य की आशा ही उसे प्रसन्नचित्त और कर्मण्य बनाये हुए थी ।

उधर होनहार की गति कि सेठ सन्तानहीन था अत बडा उदास और खिन्न रहता था । एक दिन सेठ ने झुझला कर मुनीम से कहा, मुनीम जी, कितनी बार कहा है कि गोद लेने के लिए कोई सुयोग्य और सस्कारी लडका तलाश कर दो । किन्तु आपका इस ओर ध्यान ही नही जाता ! क्या किया जाय ।

'सेठ जी, घर आई गगा मे अवगाहन क्यो नही कर लेते । यह लडका सस्कारी और सजातीय है, साथ ही हर तरह से होनहार भी है ।' मुनीम ने कहा ।

इसे हर तरह से परख लिया है और अभी तक तो यह सभी प्रकार की कसौटियो पर खरा उतरा है ।' मुनीम ने आगे कहा ।

सेठ किंचित चिन्तामग्न हो गये और सकल्प-विकल्प के झोको मे झूमने लगे । थोडी देर बाद सेठ जी उठकर ऊपर चले गये । बडे शहरो मे पहले ऐसी व्यवस्था थी कि गद्दी नीचे तल्ले मे होती थी और निवास-स्थान ऊपर के तल्ले मे ।

सेठ और सेठानी के बीच मे विचार-विमर्श होने के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि मुनीम जी का सुझाव ठीक है । सेठ जी निश्चिन्त मन से नीचे उतर आये और उन्होने इस बारे मे लडके की एव उसके मा-बाप की भी अनुमति लेनी चाही । वे तो काफी गरीब थे, आपत्ति के लिए वहा गु जाइश ही कहा थी ! वे तुरन्त राजी हो गए । गोद की रस्म सम्पन्न हो गई और लडका सेठ-सेठानी के घर पुत्र रूप मे आ गया, और उसी स्तर से रहने लगा । फलस्वरूप उसका मेल-जोल भी उसी स्तर के लोगो के साथ होने लगा । कुछ समय पश्चात् उसका विवाह भी अच्छे और सम्पन्न घराने मे हो गया ।

सयोग की बात कि इसी बीच सेठ जी को भी पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गई । सेठानी का स्नेह और झुकाव, अब अपने पुत्र के प्रति अधिक हो गया—और यह स्वाभाविक भी था ही । फलस्वरूप अपने दत्तक पुत्र के

पति ने कहा, 'पगली ! दो इकाइया एक हो जाने पर आधा-परदा कैसा ? जैसे पहले थे फिर वैसे ही एक हो जायेंगे ।'

और आगे चलकर ऐसा ही हुआ—दो घर फिर एक हो गये । उस दत्तक पुत्र ने नि स्सदेह समाज मे एक अभूतपूव आदर्श उपस्थित किया था । धन्य है ऐसी आत्माएँ ! ऐसी आत्माओ को हमारा शत-शत प्रणाम है । यह एक सत्य घटना है ।

आकर्षण

आकर्षण प्रभु की महान कृति है। इसी के आधार पर सृष्टि का सृजन हुआ है। आकर्षण महान शक्ति का केन्द्रस्थल है। तारे, सूर्य, चन्द्रमा, हमारी पृथ्वी ये सब आपस मे आकर्षण की जजीरो से जकडे हुए है और ये सब आकर्षण की शक्ति के द्वारा ही अपनी-अपनी धुरी पर स्थित गतिवान है। यदि इन आकर्षण की जजीरो मे तनिक भी व्यतिक्रम आ जाए, या यो कहे ढिलाई आ जाये तो इन सबको चकनाचूर होने मे देर न लगे। और जहा भी आकर्षण के दर्शन होते हैं—जिस किसी भी पदार्थ मे अथवा प्राणी मे—वे सब आकर्षण के आधार-भूत अपनी स्थिति मे बने हुए हैं।

नारी-पुरुष मे नारी-पुरुष से विशेष आकर्षक है। नारी प्रभु की उत्कृष्ट कृति है चूंकि यह आकर्षण का केन्द्रस्थल है, इसलिए यह शक्ति-पुंज है। हमने नारी के शक्ति-स्वरूपा के रूप मे दर्शन किए है। इस शक्ति के आकर्षण मे कही भी व्यामोह का आघात लगने पर इसके किसी भी तन्तु मे ढिलाई आने पर विनाश की सृष्टि हुए विना रहेगी नही। इसलिए आकर्षण मे किसी

प्रकार का अतिक्रमण मृत्यु का आह्वान मात्र है।

नारी अपने इस आकर्षण-शक्ति की पवित्रतम माध्यम से ही रक्षा कर सकती है। यह आकर्षण ही ऋत है, ब्रह्म की शक्ति का व्यक्त रूप है। इस आकर्षण के द्वारा ही इन सारे मण्डलो के कण-कण का रूप सुव्यवस्थित और नियन्त्रित है। यदि यह आकर्षण अपनी धुरी से जरा-सा भी विचलित हो जाए, तो इस समूची सृष्टि का विनाश हुए विना नहीं रहेगा। यही वात ब्रह्म की इस सवसे आकर्षण कृति नारी पर भी लागू होती है। यदि वह अपनी इस आकर्षण-शक्ति का तनिक भी दुरुपयोग करना चाहेगी तो विनाश अवश्यम्भावी है। यह ऋत का अटल नियम है।

उसको भय ही किसका है, जरा सोचो तो। उसके सामने किसी का भी रिरियाना काम नही करता। प्रकृति यदि स्नेह-स्निग्ध माता है तो वह कराल काल भी है। आज्ञाकारी पुत्र पर यदि उसका वरदहस्थ बना रहता है तो दुष्ट को अपने करालगाल मे चबाये बिना भी कहाँ रहती हे। आत्माभिमुख मनुष्य आनन्द की लहरो मे आनन्द लेता है और आत्मविमुख मनुष्य आपत्तियो के झझावात मे थपेडे खाता रहता है। जो कर्म-विज्ञान को समझते हैं वे अशोभनीय कर्मों को इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे काले नाग को। काले नाग से खेलना मृत्यु को बुलाना ही तो है। इसी प्रकार अशोभनीय कर्मों के कर्ता दुख रूपी जलाशय मे डूबे बिना नही रह सकते। आँख खोल कर मार्ग पर चलने वाले ठोकरे नही खाते, गढ्ढो मे नही गिरते। जो आदमी मार्ग की स्थिति से अनभिज्ञ रहते है वे अपने को बचा नही सकते।

कर्म जीवन का एक पथ है जिस पर समझ-बूझ कर चलना चाहिए। मनुष्य एक कुए के किनारे खडा हुआ है, एक भी गलत कदम उसे कुएँ मे ढकेले बिना नही रहेगा। मनुष्य का एक-एक कर्म जीवन के अन्दर विशेप अर्थ रखता है। जीवन की गति से मनुष्य को सदा-सतर्क बना रहना चाहिए। लोभ के विचार मे मृत्यु का आह्वान बुद्धिमत्ता नही है। शहद की लोभी मक्खी मधु से अपने प्राणो की रक्षा कहाँ कर पाती है ? लोभ की वृत्ति मनुष्य को रसातल मे पहुचाये बिना नही रहती। लोभ मनुष्य को गिद्ध की वृत्ति मे लाये बिना नही रहता जो कि सदा मुर्दों पर झपट्टा मारता रहता ह। उसको मानव बनना चाहिए और अपने स्वरूप को पहचानना चाहिए तथा इस ससार का आनन्द लूटना चाहिए जो कि लबालब आनन्द से भरपूर है।

यहाँ हम इतना दावे के साथ कहेगे कि मनुष्य बिना प्रवचना के ज्यादा सुखी रह सकता है। प्रवचना आत्महत्या के समान महान् पाप है। कर्म की गति बडी गहन और विचित्र है इस विपय मे बुद्धिमान पुरुप भी मोहित बने रहते हैं—इसलिये कर्म अकर्म और विकर्म को भलीभाति जान लेना चाहिये—यही कल्याण मार्ग है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता हे, जैसे कि भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि एक पापी अपने दुष्कर्मों का परिणाम भोगे बिना भगवदाभिमुख होते ही साधु कैसे बन जाता है यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कर्ता को तो कर्मो के फल भोगने ही पडते है। यह एक पहेली ही बन जाती है जो कि साधारण बुद्धि के परे की बात है किन्तु यह तथ्य है। सहज-सुलभ उदाहरण के लिए एक

आदमी किसी तालाब या नदी में कमर तक अथवा गले तक पानी में खड़ा हुआ है। जब तक वह पानी में खड़ा रहेगा तब तक ही उसे पानी में डूबने की सम्भावना बनी रहेगी। यह पानी क्या है? यह तीनों गुणों के कार्यरूप विषय है। विषयासक्त होने पर ही मनुष्य विषयों में छटपटाता चला जाता है और उनसे निवृत्ति पाना असम्भव है किन्तु यह पानी में खड़ा हुआ मनुष्य यदि नदी के किनारे आ जाय और फिर जमीन पर आकर खड़ा हो जाय तब तो पानी उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। जब वह पानी से निकलता है तो वह पानी से विमुख होकर ही तो निकल सकता है और उसकी दृष्टि रहेगी नदी के किनारे तक पहुँचने की अथवा उसके ऊपर जाने की।

इसी प्रकार यदि हम संसार से विमुख हो जाएँ और प्रभु-उन्मुख हो जाएँ तो संसार से छुटकारा पाने में क्या देर लगेगी? जब तक हम पानी में हैं, तभी तक तो पानी हमारे शरीर का स्पर्श कर सकता है और जब पानी से हमारा सम्पर्क टूट ही गया फिर पानी हमारा क्या कर सकता है। पानी तो अपने स्थान में ही बना रहेगा। पानी तो ऐसी कोई चीज नहीं है कि मनुष्य जिधर भी जाए, वह उसका पीछा करता रहेगा। पानी भी मनुष्य को उसी समय तक छू सकता है जब तक कि मनुष्य पानी से खिलवाड़ करता रहे, उसके सम्पर्क में बना रहे और सम्पर्क टूटने पर पानी उसे छू नहीं सकता। पानी का स्वभाव है आनन्द देना। जब तक मनुष्य पानी में रहा, अपने मन के वशीभूत पानी में डुबकियाँ मारता रहा और पानी का आनन्द लेता रहा किन्तु यह आनन्द खतरे से खाली नहीं रहता क्योंकि जरा पैर उखड़े और आगे बढ़े तो जल-समाधि।

विषय मनुष्य को नचाये बिना नहीं रहते। आनन्दकन्द प्रभु के अभिमुख होते ही मन विषयानन्द से विमुख होने में समर्थ बन जाता है और आनन्दस्वरूप जो भगवान हैं, उनमें लीन हो जाता है। पानी से निकलना क्या है, पानी रूपी तीनों गुणों से पार होना है। इसी अवस्था को गुणातीत कहते हैं। गुणातीत होना क्या है? प्रभु के धाम में प्रवेश करना है। जो मनुष्य इस कर्म की गुत्थी को नहीं समझ पाते वे अपने जीवन में अनेकानेक विपत्तियों के शिकार बने बिना नहीं रह सकते।

कर्म की गहनता केवल विषयों का चक्र है विषयों से विमुख होते ही कर्म का जाल समाप्त हो जाता है, उसकी बेड़ियों को टूटते देर नहीं लगती किन्तु विषयों का जाल बड़ा ही मोहक होता है। एक जाल से छूटने पर दूसरे जाल

फसाने के लिये तैयार बने रहते है। यह निरन्तर एक के वाद दूसरे जाल मे फँसते चले जाना विपयो की विवशता हे और इसी को कर्म की गहन गति कहते हैं।

ये विषय क्या हे, ये इन्द्रियो की खुराक है। जब तक इन्द्रियो को विषय रूपी खुराक मिलती रहेगी तब तक इन्द्रियाँ परिपुष्ट वनी रहेगी और अपने विषयो मे रत रहेगी। जैसे कर्णेन्द्रिय-जब तक इसे मीठे स्वर सुनने को मिलते रहेगे तब तक उसी ओर यह आकर्पित वनी रहेगी। जब तक सुन्दर दृष्य देखने को मिलेंगे, चक्षु इन्द्रिय उसमे रत वनी रहेगी। जब तक स्पर्श अनुकूल मिलता चला जायेगा, तब तक स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श के लिए वेकाबू-बेताब बनी रहेगी। यही अवस्था वनी रहती है रसेन्द्रिय व घ्राणेन्द्रिय की। ये विषय इन इन्द्रियो मे अपना घर कर लेते हे और इन्द्रिया इन विषयो को मानसिक एव स्थूल रूप मे भोगती रहती हे।

इसी न्याय पर स्त्री-पुरुषो का आपस मे सम्पर्क वर्जित माना गया है। जैसे किसी स्त्री-पुरुप का आपस मे सान्निध्य स्थापित हो गया, पडौसी को इसका पता चला, उसने सोचा यह स्त्री पर-पुरुप के सान्निध्य मे तो रहती ही है, इसने मर्यादा का तो उल्लघन कर ही दिया है, चलो हम भी इससे रगरेलिया करले। किन्तु वह भूल जाता हे कि अभी तक वही पुरुष उसके हृदय मे स्थान ले पाया है या नही और बिना स्थान प्राप्त किए वह उसमे प्रवेश कर ही कैसे सकता है? यदि कामना-वश वह भी उस स्त्री के सान्निध्य मे आ धमकता है, तो उसको थप्पड खाने मे देरी नही लगती।

इसमे स्त्री के दो कार्य सिद्ध होते है—आततायी का दमन और अपनी पवित्रता की दुदुभी का पीटना। किन्तु वह समझ नही पाती कि धोखा खाने वाले से धोखा देनेवाला ज्यादा रसातल मे जाता है जैसे जनता को चोर-डाकुओ से भय बना रहता है किन्तु स्वय ये भी तो भय के शिकार बने रहते है और हरदम मृत्यु की प्रतीक्षा मे रहते है। वे भली-भाति जानते है कि वे सुरक्षित नही हैं। जब कभी पकड लिए जाएगे मृत्यु के घाट उतार दिये जाएगे।

मनुष्य अपने कर्मों को कितना ही छिपाये, छिपा नही सकता। उसकी इन्द्रिया उस की कलई खोले बिना नही रह पाती। जैसे स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को चाहते है, एक-दूसरे के प्रति उनकी चितवन, उनकी आखो की गति, उनके बीच का राज खोले बिना रहेगी नही और जो जिसके हृदय मे अपना घर बना लेता है उस घर से छुटकारा पाना सहज नही है। बदचलन स्त्री को सभी पर-पुरुष

अच्छे लगते है और लगेगे-यह नामुमकिन हे । न सारी स्त्रिया किसी पुरुष को अच्छी लगती है न लगेगी । समस्त पदार्थ समस्त प्राणियो को अच्छे लगे, यह जरूरी नही । प्रत्येक मनुष्य अपने स्वाद के अनुसार शाक, फल, अन्न चुन लेता है। किसी को प्रिय भिण्डी, आलू, परवल है तो किसी को कोई दूसरी सब्जी ही प्रिय है। किसी का झुकाव सेव, केला, अगूर पर है तो किसी का नारगी, अमरूद पर। वहुत से ऐसे आदमी भी है जो फल खाते ही नही। उनकी इच्छा फल खाने की होती ही नही। वहुत से ऐसे आदमी मिलेगे जिन्होने आलू छोडकर दूसरी सब्जी खाई ही नही। वहुत से ऐसे आदमी मिलेगे जिन्होने अपने जीवन मे ज्वार-वाजरा कभी खाया ही नही किन्तु इससे यह तो सिद्ध होता नही कि उनकी रसेन्द्रियाँ उनके कावू मे हे। मनुष्य जिन पदार्थों को पसन्द करता है उनको वह आसक्ति से भोगता हे। उस रसासक्ति को हम-रस-विमुक्त तो कह नही सकते और है भी नही।

इसी न्याय के वल पर ऋषियो ने, नीतिज्ञो ने पर स्त्री पर-पुरुप का आपस का घनिष्ठ सम्वन्ध निपिद्ध माना है। उनके उद्घोप को कभी विचारिये तो सही—'परदारेपु मातृवत्, परद्रव्येपु लोप्टवत।' जिनकी दृष्टि मे यह वात समा जाती हे वे ही शुद्ध दर्शन करने के अधिकारी माने जा सकते है, किन्तु जिनकी लोलुपता पर-स्त्री, पर-द्रव्य को हडपने को वनी रहती हे वे पण्डित कहलाने योग्य नही है। यहाँ पण्डित का अर्थ हे सत्-पुरुष।

जो अपनी इन्द्रियो के दास वने रहते हे उनके लिए ही कर्म की गति गहन वनी रहती है, विजेन्द्रिय पुरुष के लिए नही। इसलिए इन विपयो के ऊपर विजय प्राप्त करने का केवल एक साधन हे, वह है तृष्णाविमुख होना, रामा-भिमुख होना, भगवताभिमुख होना। भगवान को प्रकृति स्पर्श नही कर सकती किन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी होने के कारण प्राणी के लिए इससे छुटकारा पाना सुगम कार्य नही है। इससे वही भाग्यवान् छुटकारा पा सकते हैं जो कि भग-वताभिमुखी हो चले है और जिनको भगवत्-प्रसाद प्राप्त हो गया हे। भगवत्-प्रसाद उन्ही महात्माओ को प्राप्त होता है जो अपनी इन्द्रियो को जीत लेते है और विपयो से उनकी निवृत्ति इतनी हो जाती है जैसे हम विष्टा का कदापि ध्यान नही कर सकते। इस अवस्था मे कर्म की जो लडियाँ हैं, जिन्होने हमे जकड रखा है, उनको टूटते देर नही लगती।

वहुत से स्त्री-पुरुप यह डीग मारते देखे गए है कि यदि मन सच्चा हे और

अपने काबू मे है तो आपस का सम्पर्क हमारा बिगाड ही क्या सकता है ? किन्तु वे समझ ही नही पाते कि वे सम्पर्क उसी से स्थापित करते है जिन्होने एक-दूसरे के हृदय मे स्थान पैदा कर लिया है। हम चलते-फिरते तो किसी स्त्री-पुरुष के सम्पर्क मे आना नही चाहते। बाजार मे जाते है तो हमे फलो व मिठाई की अनेक दुकानें मिलती है किन्तु हम उन्ही पदार्थों को लेते हैं जिन पदार्थों ने हमारे हृदय मे स्थान पैदा कर रखा है। हम उसी वस्त्र को खरीदते है जो हमे पसन्द आता है मनुष्य की यह पसन्दगी पसन्द करनेवाले के हृदय मे उस पदार्थ के स्थान का द्योतक है।

मनुष्य का डीग मारना कि वह हरेक पदार्थ मे लटपटाता नही, वह विजेन्द्रिय है, अपनी रसना पर वह काबू पा चुका है—केवल भ्रममात्र है जो उस गड्ढे मे ढकेले बिना रहता नही। एक दफा अहिंसा के परमपुजारी 'अहिंसा-परमोधर्म' के उपासक भगवान बुद्ध को भिक्षा मे किसी ने शूकरी का मास दे दिया। वे गुणातीत थे और उस भिक्षा का पान कर गए। उनका तो कुछ नही बिगडा किन्तु उनके अनुयायी मासाहारी बने विना न रहे। यदि उन्होने उस मास का भक्षण न किया होता तो आज बौद्धो का स्वरूप और ही होता। ऐसे गुणातीत महापुरुष के द्वारा एक जरा-सी गफलत ने उनके अनेक अनुयायियो का स्वरूप ही बदल डाला, तो हमारे-तुम्हारे जैसे पुरुषो के सदाचार का दम्भ हास्यास्पद नही तो क्या है ? यदि बौद्ध-भिक्षुक निरामिषी बने रहते तो इनमे तंत्र कभी नही घुस पाता। इनका तान्त्रिक होना क्या हुआ, बौद्ध धर्म की जड मे छाछ का सिंचन हो गया और इस धर्म के अपनी मातृ-भूमि से पैर उखड गए। कर्म-विपाक किसी का लिहाज नही करता, चाहे कुलवती, लजवती स्त्री हो या कोई सम्भ्रान्त पुरुष।

एक सज्जन एक श्रेष्ठ धनाढ्य मित्र के घर पर ठहरे हुए थे। घरवाले सभी उनको पूज्य दृष्टि से देखते थे। एक रात्रि उसी घर की एक सुशिक्षित वधू उनके पास अपनी शकाये निवारणार्थ आकर बैठ गई। उनके एक साथी भी बैठे हुए थे, इतने मे उसके पति का एक मित्र उनके पास आकर बैठ गया। आखे नशे की खुमारी बता रही थी। उसने स्त्री का हाथ पकडकर उसे नाम से सम्बोधित किया। वह ललना उस व्यक्ति के इस असद् व्यवहार का तो प्रतिकार न कर सकी या करना न चाहा होगा, किन्तु अपने मुख पर घूघट निकाल लिया और बडी सहमी-सी प्रतीत होने लगी। मित्र उठ कर चल दिए किन्तु उन दोनो के बीच की फुसफुसाहट मित्र के कानो मे पडे बिना न रही,'

'देखो, ऐसा व्यवहार सबके सामने नही करना चाहिए, बडे मूर्ख हो !" हठात् अनजान व्यक्ति इस प्रकार की हरकत कर बैठता तो उसके सिर की खैर न रहती ।

आजकल यह एक बडी सामान्य-सी बात है कि कलफदार साडियो का प्रचलन बहुत बढ गया है । यह कलफ क्या है ? साडी की अकडन । अकडन अहकार का द्योतक है और अहकार ही तो नीचे गिराता है । यह साडी का अहकार शरीर से साडी को खिसकाये बिना नही रहता और अग-प्रत्यग की रक्षा भी समाप्त हो जाती है । सान्निध्य| मे बैठे हुए पुरुष की आखो का अपनी भोग्य वस्तु पर जा टिकना स्वाभाविक है पुरुष भोक्ता है स्त्री भोग्या । भोक्ता का मन अपनी भोग्या को पाकर चचल न हो उठेगा यह कैसे मुमकिन है । लाख हाथ पीटो, ये चचल इन्द्रिया हृदय की पोल खोले बिना रहेगी ही नही ।

स्वभावत इन्द्रिया बहिर्मुखी है इनको अन्त मुखी बनाए रखना बिरले ही वीरो का काम है । इसलिए जीवन-को सुखमय बनाने हेतु कर्म की झीनी गति का अध्ययन नितान्त आवश्यक है । जो कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ बने रहते हैं उनके लिए कर्म की गति बडी गहन बनी रहती है और कर्म की गति की लहरियो से उनका छुटकारा पाना असभव है । जीवन मे जरा-सी असावधानी मृत्यु का कारण बने बिना रह नही सकती । मनुष्य अमृत-पुत्र है, और अमृत को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का नैसर्गिक धर्म है और अपने सुख को पहचानने मे वह सदा-सर्वदा सचेष्ट बना रहे यही उसकी दक्षता है ।